अनुक्रमणिका

जनवरी

फरवरी

मार्च

अप्रैल

मई

जून

जुलाई

अगस्त

सितम्बर

अक्टूबर

नवम्बर

दिसम्बर

दिसम्बर

आनन्द रस-रत्नाकर

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
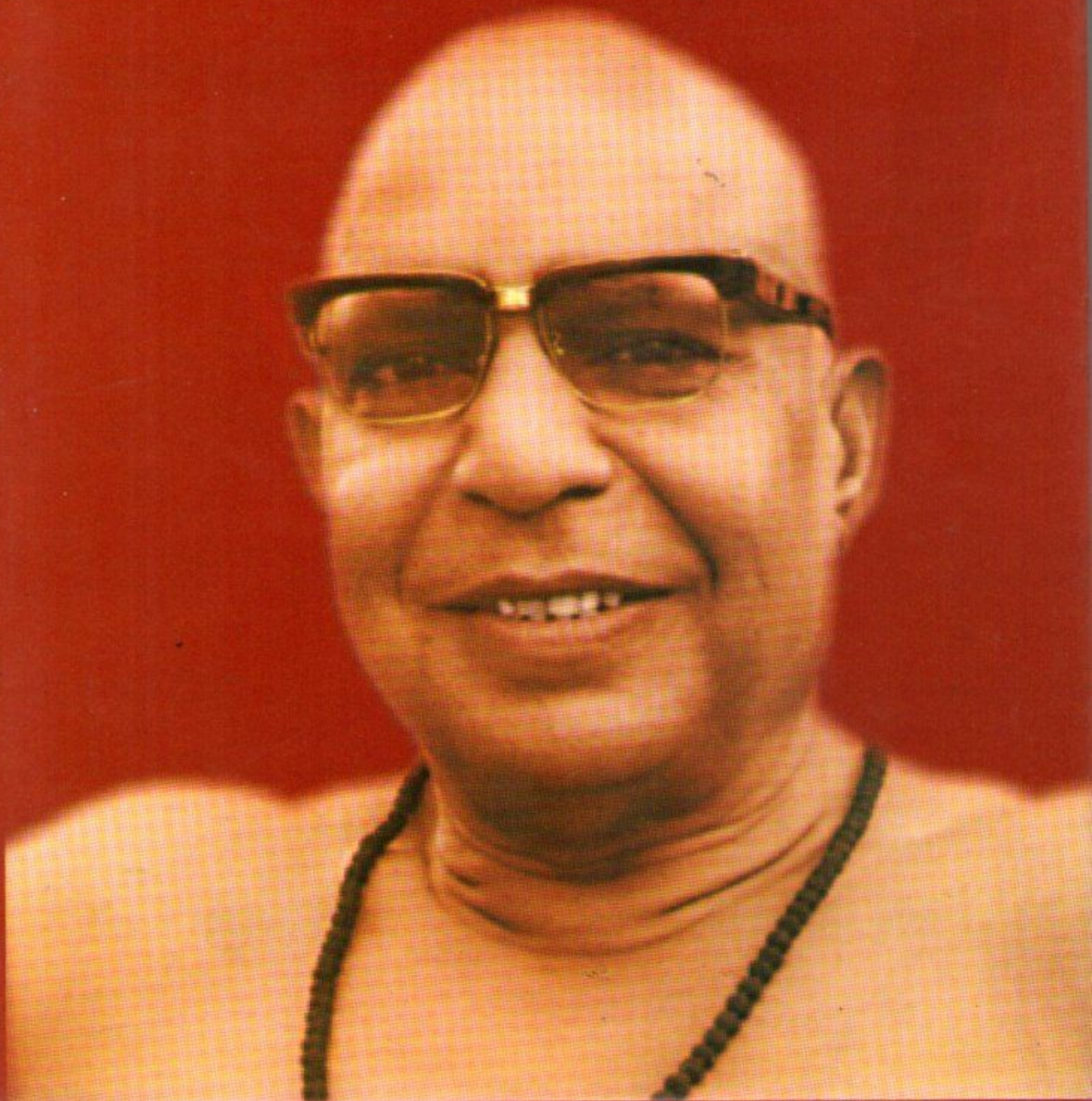
नारायण आपके साथ हैं!

जो नारायणको अपने जीवनका संचालक बनाकर व्यवहारके रणक्षेत्रमें अवतीर्ण होता है, वह सफल होता है और जो अकेले आता है, वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

यह आपके दैनिक जीवनकी बात है। मालवीयजीकी बात तो मैंने आपको कई बार सुनायी होगी। वे कहा करते थे कि आप घरसे कोई भी काम करनेके लिए चलें तो चार बार-नारायण, नारायण, नारायण, नारायण बोलकर निकलें। इससे क्या होगा कि जिस प्रकार कोई नदी बहती है, कोई नहर चलती है और उसके मूल उद्गमसे उसका सम्बन्ध बना रहता है तो वह नदी, वह नहर सूखती नहीं हैं। लेकिन यदि ऐसी कोई नदी या नहर हो जिसका अपने मूल उद्‌गमसे कोई सम्बन्ध नहीं रहे तो वह नदी, वह नहर सूख जायेगी। ठीक इसी प्रकार जीवकी बात है। इसका मूल उद्‌गम है नारायण, परमेश्वर। यदि यह परमेश्वरके साथ सम्बन्ध रखकर संसारके व्यवहार करेगा तो उसकी शक्ति बनी रहेगी।

परमेश्वरसे सम्बन्ध बनाये रखनेसे तीन बात आपको हमेशा मिलती रहती हैं-1. आपकी जीवन धारा कभी विच्छिन्न नहीं होगी। 2. बुद्धि-पर-बुद्धि निकलती रहेगी। आपकी बुद्धि कभी समाप्त नहीं होगी। 3. आपके जीवनमें हमेशा आनन्द आता रहेगा।

और; इसके विपरीत यदि आप ईश्वरके साथ सम्बन्ध तोड़ देंगे तो जीवनकी धारा कट-पिट जायेगी; आपके ज्ञानकी धारा, बुद्धिकी धारा, आपकी प्रज्ञा क्षीण हो जायेगी; और आपके भीतरसे आनन्द आता है वह आना बन्द हो जायेगा और आप उधार आनन्द लेनेमें लग जायेंगे। तब आप जीवन लेने लगेंगे दवाओंसे, बुद्धि लेने लगेंगे किताबोंसे और दूसरे लोगोंसे तथा आनन्द लेने लगेंगे विषय-भोगोंसे-यह इस बातका नमूना है कि हमारे भीतर जो जीवनका, ज्ञानका और आनन्दका मूल स्रोत है, उससे हम कट गये हैं।

हम समझते हैं कि और सब बातें भूल जायें तो भूल जायें, परन्तु यह बात भूलने लायक नहीं है कि यह जो हमारा मनुष्य शरीर दिखलायी पड़ता है, इसके भीतर जो समष्टिका स्वामी है वह परमेश्वर बैठा हुआ है!

जो बड़े-बड़े लोग हैं, बड़े-बड़े व्यापारी हैं, बड़े-बड़े विचारक हैं, वे नारायणको भूल जाते हैं। दुर्योधन गया रणभूमिमें, तो नारायणको साथ लेकर नहीं गया, पर अर्जुन रणभूमिमें नारायणको साथ लेकर गया। तो, गीताकी ओरसे हम आपसे यह निवेदन करते हैं कि आप कोई भी काम करें तो अकेले, असहाय, दीन-हीन नरके रूपमें न करें, नारायणको अपना साथी बनाकर उसकी मददसे अपना काम प्रारम्भ करें। आप असहाय हैं, यह मत समझें; यह समझें कि आप जो भी काम करने जा रहे हैं, नारायण आपके साथ हैं।

(दैनिक जीवनमें गीता-पृ. 6,7,8)

ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

तत्त्वज्ञके जीवनमें ब्रह्माकार वृत्ति निरन्तर बनी रहती है। तत्त्वज्ञ पुरुषको यह अनुभव नहीं होता कि अविद्या निवृत्त हो गयी। ऐसा तो तब होता जब अविद्या नामकी वस्तु पहले कोई सत्य होती और बादमें निवृत्त होती। तत्त्वज्ञका अनुभव तो यह है कि अविद्या कभी थी ही नहीं-नासीदस्ति भविष्यति।

निरन्तर अभ्यास करते रहने और वासनाओंका पूर्णतया नाशकर देनेपर ही अनुभवकी प्राप्ति होती है। केवल शास्त्र पढ़नेसे कुछ नहीं होता। वासनाके रहते चित्तमें शान्ति नहीं आ सकती। वासना रहित चित्त ही परम तत्त्वके चिन्तनका अधिकारी होता है। निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे ही वासनाओंका निर्मूलन होता है और तत्त्वकी उपलब्धि होती है। वासनाओंके उच्छेदके लिए विषयोंसे सर्वदा वैराग्य रखे और सर्वदा भगवदाकार वृत्ति रखें।

वैराग्यका फल बोध है और बोधका फल है उपरति। दोनोंमें अन्तर यही है कि वैराग्य होनेपर विषयोंमें ग्लानि होनेके कारण उन्हें भोगा नहीं जाता। उपरति होनेपर वस्तु सामने रहनेपर भी उसे भोगनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसके उपरान्त उपरतिका फल है-आनन्द और आनन्दका फल है शान्ति।

राग-यदि किसी वस्तुसे मन इस प्रकार फँस जाय कि किसी भी प्रकारका अपमान, निरादर या दुःख होनेपर भी न हटे तो मानना चाहिए कि उसमें राग है। द्वेष-यदि किसी वस्तुसे मन ऐसा हट जाय कि उसमें दोष ही दोष दिखायी दे, कोई भी गुण न दीख पड़े तो मानना चाहिए कि उसमें द्वेष है। राग-द्वेषकी उत्पत्ति गुण-दोष या निन्दा-स्तुतिके चिन्तनसे ही होती है। राग-द्वेषसे मुक्ति, निन्दा-स्तुतिके न करनेकी प्रतिज्ञासे एवं पूर्णज्ञानी या भक्त जो राग-द्वेषसे मुक्त होते हैं, उनका ध्यान करनेसे राग-द्वेष छूट सकते हैं। राग-द्वेष छूट जानेसे चित्त हलका हो जाता है और उसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता हो जाती है। निर्विकल्प तत्त्वके साक्षात्कारकी योग्यता आ जाती है। राग-द्वेष वाला व्यक्ति उन्नतिकी सुनहली पगडण्डीपर नहीं बढ़ सकता। हाँ, राग-द्वेषकी निवृत्ति केवल विवेकसे नहीं होती। विवेकसे तो राग-द्वेषसे छुटकारा पानेकी कुञ्जी मिल जाती है। उसकी पूर्ण निवृत्ति होती है भगवत्प्रेम और आत्मप्रेमसे।

प्रतिष्ठा और गर्व माया मोहमें भटकायेगा उससे क्या लाभ होनेवाला है?

महाराजजी जिह्वाके स्वादको सारे अनर्थोंकी जड़ मानते थे।

जीवन्मुक्ति क्या है? पूछनेपर महाराजजी कहते थे कि जो जिस प्रकार अज्ञात भाषामें तुम्हारी निन्दा या स्तुति की जाय तो तुम्हारा चित्त तनिक भी डाँवाडोल नहीं होगा, उसी प्रकार यदि तुम्हारी परिचित भाषामें तुम्हारी निन्दा या स्तुति की जाय और तब भी तुम्हें क्षोभ न हो तो मानना चाहिए कि तुम जीवन्मुक्त हो।

महाराजजीके सत्संगमें ऐसी-ऐसी अनेक अश्रुतपूर्व विचार-परम्परा श्रवण गोचर हुई। आपका जीवन दर्शन और ब्रह्मदर्शन अभिन्न था। मान-अपमानमें समत्व, उदारता, क्षमा, अक्रोधके आप मूर्तिमन्त प्रतीक थे। बड़ी-से-बड़ी विपत्ती, संघर्ष या बाह्य घटना आपको छू नहीं पाती थी। वे ब्रह्मके व्यावहारिक स्वरूप थे। जिज्ञासुओंके लिए वे ब्रह्मविद्वरिष्ठ महात्मा थे। भक्तोंके लिए भगवान् थे, परन्तु वे स्वयं क्या थे, उसको वे भी नहीं बतला सकते थे। वह ज्ञान, प्रेम और आनन्दकी मूर्ति अब कहाँ देखनेको मिलेगी?

(पावन प्रसंग/साधना और ब्रह्मानुभूति)

यज्ञकी गति

व्यक्तिमें जो कर्तापन है कि मैंने यह किया, मैंने वह किया-इसके मूलमें अज्ञान है। यही अहंता मनुष्यको परिच्छिन्न बनाती है। जितनी चोट संसारमें पड़ती है, वह सब कर्ता और भोक्तापर ही पड़ती है। यदि अपने भीतर कर्तापनका अभिमान न हो तो चोट न पड़े। असलमें महाकर्ता, महाभोक्ता, महात्यागी जो परमेश्वर है, उसके कर्मपर, उसके भोगपर, उसके त्यागपर दृष्टि रहे तो मनुष्य कभी अपने अभिमानके वशमें न हो।

कर्तृत्वकी शिथिलता होती है भगवान्‌की शरणागतिसे। जबतक अपना कर्तापन है, तबतक जीवनमें ईश्वरका आविर्भाव नहीं होता।

देखो, यहाँ अधिकारीका भेद है। यदि एक निकम्मा अधिकारी है तो उसके लिए कहा गया कि काम करो। जब वह काम करने लगा तब कहा गया कि निषिद्ध कर्म मत करो, विहित कर्म करो। जब वह सकाम विहित कर्म करने लगा तब कहा गया निष्काम कर्म करो। जब वह निष्काम कर्म करने लगा तो इस उपदेशका अधिकारी हुआ कि तुम कर्तापनका अभिमान मत करो। कर्तृत्वाभिमानीके कर्तापनको तोड़नेके लिए ही शरणागतिका उपदेश किया जाता है। असलमें सब काम भगवान्‌की सत्ता महत्तासे ही हो रहे हैं। यदि सकामको भी, बुरा काम करनेवालेको भी कहें कि भगवान् करा रहे हैं तो यह जो अध्यारोप हुआ वह बिलकुल गलत स्थान पर हो गया। वस्तुतः भगवान् किसीको निकम्मा नहीं रखते। निकम्मा तो मुर्दा रहता है। निषिद्ध कर्म भगवान् नहीं कराते, अपनी वासना कराती है। सकाम कर्म भगवान् नहीं कराते, अपना स्वार्थ कराता है। इसी तरह हमारे अन्दर जो कर्तापनेका अभिमान है, वह भगवान् नहीं देते, हमारी मूर्खता देती है। इसलिए जो जिसका अधिकारी होता है, उसके लिए उसी प्रकारका उपदेश शास्त्रमें आता है। यदि व्यभिचारीसे कह दिया कि ईश्वर तुमसे व्यभिचार करा रहे हैं तो ये सब बातें अविवेकमूलक हैं, मूर्खताजन्य हैं, मनुष्यको ईश्वरसे पृथक करनेवाली हैं।

आप अनुभव करें, ईश्वरकी कृपासे मेरे द्वारा अच्छा काम हो गया। लेकिन हमसे जो बुरा काम हुआ, वह हमारी भूलसे हुआ। इसी दृष्टिसे तुलसीदासजीने कहा है- *'गुन तुम्हार समुझहिं निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।।'* इसलिए कोई अच्छा काम हो तो अभिमान मत करो और समझो कि वह ईश्वरकी प्रेरणासे हुआ है और बुरा काम हो तो मान लो अपनी त्रुटिसे, अपनी गलतीसे हुआ है।

अब यदि कहो कि हम तो कर्ता नहीं रहे, ईश्वर कर्ता रहा तो यह ठीक है। भक्तके मनमें ऐसा ही आता है। शरणागत कहता है कि भगवान् मैंने तो कुछ नहीं किया। तुमने किया, इसलिए तुम जानो। इस तरह कर्तृत्वको उठाकर पूर्णतः परमेश्वरके ऊपर डाल देना, देखना और शरणागत हो जाना-यह अभिमानको तोड़नेकी युक्ति है। यदि आप क्रमसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए ऊपर उठते जायेंगे तभी आपकी उन्नति होगी। अन्यथा यदि बीचमें ही कहीं पकड़कर बैठ जायेंगे और कहेंगे कि भाई, अच्छा-बुरा तो सबसे होता है, कामना तो सबके हृदयमें ही रहती है, कर्तापन तो सबमें ही रहता है गलत काम तो सबसे ही होते हैं, तब क्या होगा कि उन्नतिकी जो प्रक्रिया अपने जीवनमें शुरू होनी थी, प्रगतिका जो रसायन बनना था, उसका द्वार बन्द हो जायेगा। इसलिए कर्मारम्भसे लेकर परिपूर्ण ब्रह्मपर्यन्त यज्ञकी ही गति है।

(व्यवहारशुद्धि -पृ. 27,28,29,30)

धैर्य रखो

जैसे हवाकी आँधी आती है वैसे ही दुनियामें भावनाओंकी आँधी आती है। बयारकी ओर पीठ करनी चाहिए, सामना नहीं करना चाहिए। धैर्य रखो-सह लो।

जैसे सोते समय सपना आता है वैसे ही जागते समय तुम निकम्मे बैठे हो इसलिए पिछली बातें याद आ-आकर तुम्हें परेशान कर रही हैं। धीरः, उनमें धीर रहो।

अच्छा, कभी भविष्यकी कल्पना आयी-हमको छः महीने बाद यह काम करना है, तो तुम यह नहीं समझना कि आज जो वेग आया है, वह छह महीने तक बना रहेगा, अरे, वह घंटे-आध घंटेमें ढीला पड़ेगा कि दूसरा वेग आवेगा, फिर तीसरा वेग आवेगा-यह तो सपने पर सपने आते-जाते रहते हैं-धैर्यसे इनको आने दो और मिट जाने दो, उनका मूल्यांकन मत करो-इसकी कोई कीमत नहीं है, यह नहीं कि अच्छे-ही-अच्छे आवें। जो यह कोशिश करता है कि हमारे मनमें अच्छे-ही-अच्छे भाव, विचार आवें, उसको भी बहुत दुःख होता है। अरे बाबा, सपने पर जैसे किसीका नियन्त्रण नहीं रहता है, सपना कभी अच्छा आता है, कभी बुरा आता है वैसे ही यह जो मनोराज्य होता है यह अनियन्त्रित मनमें होता है-है न! अरे आयी धारा, बह गयी-गंगाजीमें कभी फूल माला बह गये, कभी मुर्दा बह गया, ऐसे ही अपने मनमें भी दोनों प्रकारके दृश्य आते हैं।

पहले ठाकुर साहब लोग होते थे न, तो अपने दरवाजेपर पलंगपर बैठे रहते और हुक्का गुड़गुड़ाते रहते। किसी अछूतके घरमें ब्याह था तो उसका लड़का घोड़े पर चढ़कर निकला। तो पूछा यह कौन जा रहा है घोड़े पर? पता चला कि अमुक अछूत है; तो बोले पकड़कर ले आओ-तुम हमारे दरवाजेके सामनेसे घोड़ेपर चढ़कर निकलते हो? और जूता लेकरके मारने लगे। तो उस जमींदारकी जैसी मनोवृत्ति थी वैसी मनोवृत्ति उस साधककी है जो मनमें कोई खराब बात फुर्फुरा गयी और लेकर जूता उसको मारनेके लिए दौड़ा! तो, एक तो गंदी मनोवृत्ति आयी और दूसरे उसपर क्रोध? धैर्य रखो।

तुम्हारा जो ज्ञान है वह स्वच्छ है, निर्मल है, वह निर्विषय है, वह निर्द्वन्द्व है, वह अविनाशी है, वह परिपूर्ण हैं। यह जो तुम्हारा ज्ञान है न, ज्ञानस्वरूप, इस पर दृश्यकी कोई छाप छूटनेवाली नहीं है-दृश्य आवेगा और अपना तमाशा दिखाकर बह जायेगा, तुम काहेको परेशान होते हो? इसको धैर्य बोलते हैं धैर्य-बाहर कोई मरे चाहे जरे, कोई आये चाहे जाये, चाहे गरीबी हो चाहे अमीरी हो बाहर और मनमें चाहे कैसा भी सपना आये और कैसा भी मनोराज्य होवे, उसको मनोराज्य-मात्र समझो, उसको स्वप्नमात्र समझो। उसको यह मत समझो कि तुम्हारे कलेजेमें पहाड़ घुस गया। हल्के रहो, हल्के रहो और अपनी जगह पर बैठे रहो-धीरः।

तो इसप्रकार जो बाहर या भीतर परिस्थितियाँ आती-जाती हैं, उनकी ओरसे, उनकी चोटसे बचकर-'धीर होना है, उसकी चोट अपने ऊपर मत लगने दो'-अरे आया आया, गया, गया।

(कठोपनिषद् प्रवचन-2, पृ. 14,15,16)

मनकी आवाज धोखेबाज है

मनकी आवाज धोखेबाज है। यह मैं बड़े-बड़े अनुभवियोंसे प्राप्त और अपने अनुभवमें आयी हुई बात बताता हूँ।

एक महात्माने बचपनमें एक बात सुनायी थी-'यदि तुम्हारे सामने ईश्वर प्रकट हो और वैराग्य और निवृत्तिके विरुद्ध आदेश दे, तो उससे कहना कि मनमें वासना रही होगी, उसे पूरी करनेके लिए तुम ऐसा कह रहे हो। हमको वैराग्य और निवृत्तिके विरुद्ध क्यों चलाते हो? हमारे राग और वासनाको मिटा दो न! तुम्हारा सामर्थ्य है। तुम कैसे हो कि हमारे अन्त:करणकी अशुद्धिको दूर नहीं करते? उसको पूरी करनेकी सलाह देते हो! ईश्वर आवे तो ऐसे बात करना।' महात्माने सिखा दिया।

कहो कि-'हमारा शुद्ध अन्त:करण है, यह आवाज देता है।'

तो, कितने संस्कार हैं तुम्हारे अन्त:करणमें और कितनी वासनाएँ छिपी हुई हैं-यह तुम नहीं जानते हो। इसलिए चलना चाहिए शास्त्रानुसार, गुरु अनुसार, अपने इष्टदेवकी प्राप्तिके लिए एवं जिससे वासना शान्त हो, उसके लिए।

इस अन्त:करणकी आवाज एक दिन ऐसा धोखा देती है कि आदमी कहींका नहीं रहता। 'इलहाम-इलहाम' जो बोलते हैं न, वह अन्त:प्रेरणा महात्माओंको होती है, सबको नहीं और वह कभी-कभी सच्ची भी होती है।

अपनी वासनाके विपरीत इलहाम हो तो उसे मानना और अपनी वासनाके अनुकूल हो तो नहीं मानना। जैसे किसीके लिए पाँच रुपया देनेका मन हो और अन्त:प्रेरणा आवे कि 'मत दो-तो आप क्या समझते हैं? ईश्वरने मना किया है देनेसे? ईश्वरने मना नहीं किया है, लोभने मना किया है। उसको आप पहचानते नहीं हैं।

अन्त:करणसे प्रेरणा आवे कि 'इस लड़कीसे ब्याह कर लो।'-तो ईश्वरने आज्ञा दी है? ईश्वरने नहीं कामने आज्ञा दी है। यह नहीं पहचान सकता मनुष्य।

मनके कहे पर मत चलो। यह वासना दोनों तरफसे डुबोती है-

(1) जब हम अपनी वासनाके अनुसार काम करते हैं और सफल हो जाते हैं-तो अभिमान होता है कि मेरी बुद्धिमानीसे काम बन गया। इससे अपनेमें बुद्धिमानपनेका अहंकार आता है। यह अहंकार फिर दूसरी, फिर तीसरी वासनामें लगाता है। तब मनुष्य अहंकार और वासनाके चक्करमें परमार्थसे च्युत हो जाता है। और;

(२) यदि वासनाके अनुसार काम न हुआ, तो? विषाद होता है। विषाद होगा कि 'हाय, हाय! हमारी वासना पूरी नहीं हुई।' तो अन्त:करणका जो प्रसाद (निर्मलता) है वह भंग हो जाता है-अशुद्ध हो जाता है अन्त:करण।

तो अपनी वासनाके अनुसार जो कर्म करते हैं, वे सफलता मिले तब भी बुरे रास्ते पर जाते हैं और विफलता मिले तब भी बुरे रास्ते पर जाते हैं। क्योंकि अहंकार और वासनाकी सृष्टि ऐसी ही है।

(माण्डूक्य-अद्वैत प्रवचन-पृ. 411,412,414)

अपमान-प्रसादका जनक

शिष्य : 'भगवन्! कई बार अपमानका बड़ा कटु अनुभव होता है, लोग तरह-तरहसे अपमान कर देते हैं, क्या करूँ?'

गुरुदेव : 'जब तुम्हें अपमानका अनुभव होता है, तब तुम ऐसी भूमिमें उतर आये रहते हो, जहाँ अपमान तुम्हारा स्पर्श कर सकता है। तुम ऐसी भूमिमें-ऐसी स्थितिमें रहा करो, जहाँ अपमानकी पहुँच ही नहीं है।'

(मैं सोचने लगा, जब मुझे अपमानकी अनुभूति होती है, तब मैं कहाँ रहता हूँ? अपमान होता ही किसका है?

(1) मैं उस समय सम्मान या और किसी कामनाके पाशमें बद्ध रहता हूँ। उस समय मेरा निवास स्थान 'काम' होता है, 'राम' नहीं।

(2) मैं उस समय शरीर, मन और बुद्धि इनके अभिमानमें मत्त रहता हूँ या इनके विलासोंमें भूला रहता हूँ।

(3) मैं अपने भगवान्को भूलकर, आत्माको भूलकर अहंकार या ममकारके अधीन रहता हूँ।

अपना अपमान स्वयं मैं ही करता हूँ, मुझे स्वयं अपनेको ही दण्ड देना चाहिए। दूसरोंके द्वारा हुआ अपमान मेरा स्पर्श नहीं कर सकता)'

शिष्य : 'ठीक है गुरुदेव! अपमान मेरा स्पर्श नहीं करता।'

गुरुदेव : 'इतना ही नहीं, बेटा! अपमान तो तुम्हारी आत्मज्योतिको जाग्रत् करनेवाला है। तुम्हारी विस्मृतिको नष्ट करके स्मृतिको ताजी बनानेवाला है। अपमान क्षोभका नहीं, प्रसादका जनक है। अपमान होते ही प्रसन्नतासे खिल उठना चाहिए कि 'मेरी स्मृति ताजी करनेके लिए साक्षात् भगवान्के दूत, नहीं-नहीं स्वयं भगवान् आये हैं। महान् सौभाग्य है-जीवनमें यह अपूर्व अवसर है।'

शिष्य : 'ठीक है-गुरुदेव! आपकी कृपा और आशीर्वचन सर्वदा मेरे साथ है।'

(पवित्रताके प्रयोग-साधना और ब्रह्मानुभूति-पृ. 162)

निरन्तर भजन करते चलो

जिज्ञासु : भगवन्! व्यवहारमें न चाहने पर भी चिन्ता आजाती है और जब चिन्ता आजाती है तो सब कुछ भूल जाता है तथा पहले कुछ भजन होता भी रहे तो बन्द हो जाता है, यह चिन्ता कैसे मिटे?

महात्मा : चिन्ता किस बातकी है? शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंको लेकर चिन्ताएँ आती हैं। अमुक वस्तु मुझको चाहिए या मेरे कुटुम्बीको चाहिए। वह कैसे मिले? कहाँ मिले? लौकिक चिन्ताका यही स्वरूप है। पारलौकिक चिन्ता अन्त:करणको लेकर होती है। सार बांत यह है कि अपने पास कुछ संग्रह होता है तो उसकी रक्षाकी चिन्ता होती है। थोड़ा हो तो और बढ़ानेकी चिन्ता होती है।

चिन्ता छूटनेका सबसे बढ़िया उपाय यह है कि अपने पास आन्तरिक और बाह्य किसी प्रकारका भी संग्रह न हो। वास्तवमें संग्रह आन्तरिक ही होता है, बाह्य नहीं। मनसे जिस वस्तुको पकड़ लिया कि यह 'मेरी' वही बाह्य संग्रहके रूपमें बन गयी। मनसे किसी वस्तुको अपनी न माने, चाहे शरीरके आसपास बहुत-सी वस्तुएँ रखी हुई हों। शरीरको भी अपना न माने। और तो क्या, मनको भी अपना न माने एवं आत्मा भी जिसका अंश है, जिसका अपना है, जो है उसको वहीं रहने दें, उसमें भी अहंकृतीका भाव न आने दें। वास्तवमें यह शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा सब-के-सब भगवान्के हैं। जो इनके सम्बन्धी प्रतीत होते हैं, वे भी भगवान्के ही हैं, फिर इनके या उनके साथ अपनापन क्यों रक्खा जाय? यह ममता ही चिन्ताकी जननी है। ममता नष्ट होनेपर चिन्ता भी नष्ट हो जाती है।

क्या तुम्हें भगवान् पर विश्वास नहीं है? उनके देखते-देखते, उनके अन्दर जबकि सब कुछ वही हैं, कहीं कुछ अन्याय हो सकता है? तुम्हारी कोई हानि हो सकती है? तुम्हारा कोई कुछ चुरा सकता है? सोलहों आने झूठी बात है। अभी भगवान् पर तुम्हारा विश्वास ही नहीं हुआ।

भगवान् जो कुछ करें, उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिए। योगक्षेमकी चिन्ता न करके निरन्तर उन्हींका चिन्तन करना चाहिए।

क्या हम शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंको इतना महत्त्व देते हैं कि उनके लिए भगवान्का चिन्तन छोड़ दिया जाय? यदि ऐसी बात है तो समझना चाहिए कि अभी हमारी साधनाका प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। साधना प्रारम्भ होते ही भगवत्स्मरण और भजनमें रस आने लगता है और उसके सामने त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ हो जाता है। फिर चिन्ता किस बातकी, निरन्तर भजन करते चलो।

(साधना और ब्रह्मानुभूति-पृ. 34-35)

क्या हम इतना भी नहीं कर सकते?

श्रीभगवान्‌की लीला बड़ी रसमयी है। अपनी लीलाके रूपमें वे स्वयं अपनेको ही प्रकट करते हैं। भगवान् और भगवान्‌की लीला ये दोनों भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। एक प्रकारसे यह सम्पूर्ण संसार भगवान्‌की लीला ही है। ये सब नाम-रूप उन्हींके हैं, वे ही हैं, परन्तु वे इतने ही नहीं, इनसे परे भी हैं। उनकी सत्ता, उनका स्वरूप और उनकी लीला अनिर्वचनीय है।

जब जीव प्रमादवश भगवान्‌के स्वरूप और लीलाको भूलकर उनसे भिन्न प्राकृत पदार्थोंसे सुख पानेकी आशा एवं अभिलाषा करता है और बहिर्मुख होकर उन्हींके पीछे भटकने लगता है, तब वह उद्वेग, अशान्ति एवं दुःखसे घिर जाता है। भगवान् वैसी स्थितिमें भी उसे बार-बार चेतावनी देते रहते हैं और प्रतीक्षा किया करते हैं कि वह अभिमान तथा भौतिक-पदार्थोंका भरोसा छोड़कर सच्चे हृदयसे पुकारे तो मैं अभी चलकर उसे गलेसे लगा लूँ, उसपर अपना अनन्त प्रेम प्रकट करूँ तथा सर्वदाके लिए सुख-शान्तिके साम्राज्यमें वास दे दूँ। वे स्वयं उसके लिए कई बार मौका देते हैं, हृदयमें प्रेरणा करते हैं, सन्तोंको भेजते हैं और स्वयं आते हैं।

परन्तु जीवकी यह मोहनिद्रा टूटे तब तो यह आयोजन सफल हो। भगवान्‌की दयाका तो क्या वर्णन किया जाय? उन्होंने तो समस्त जीवोंको दयाके समुद्रमें ही रख छोड़ा है। उनके अनन्त उपकार, अपार कृपा और अपरिमित प्रेमसे सब-के-सब दबे हुए हैं।

जब अभिमान, कामना और भयके थपेड़ोंसे व्याकुल होकर, रजोगुणके नाना व्यापारोंसे ऊबकर नरक, स्वर्ग आदिमें चक्कर खाते-खाते परेशान होकर भी लोग सात्त्विकता, दैवी सम्पत्ति एवं भगवान्‌की शरण नहीं ग्रहण करते; उलटे तमोगुणकी प्रगाढ़ निद्रामें सो जाते हैं, चराचरका प्रलय हो जाता है, तब यदि भगवान् प्रकृतिको क्षुब्ध करके इन्हें जगाते नहीं तो उस मोहनिद्रासे कैसे छुटकारा मिलता? सोतेसे जगाया, ज्ञानका संचार किया। तमसे रजमें लाकर सत्त्वकी ओर अग्रसर किया। अब क्या जीवन-दान करनेवाले प्रभुकी शरण लेना ही हमारा कर्त्तव्य नहीं है? क्या हम इतना भी नहीं कर सकते?

केवल कृतज्ञताकी दृष्टिसे ही नहीं चल सकता। हम चाहे जितना प्रयत्न करें, जितना हाथ-पैर पीटें, उनके बिना हमारे सुख-शान्ति आदि स्थायी भी तो नहीं रह सकते। दो-चार दिनके लिए कुछ गुणोंकी छाया भले ही आजाय, भगवान्‌के बिना उनका टिकाऊ होना असम्भव है। यह आजकी बात नहीं है-सर्वदासे ऐसा ही होता आया है।

(भगवान्‌के पाँच अवतार-पृ. 131-132)

साधनाके मार्गमें चलो।

देखो! यदि आपके मनमें धन कमानेकी या भोग-भोगनेकी तृष्णा है तो ढोंग करनेकी आवश्यकता नहीं है। धन कमाना पाप नहीं है। भोग-भोगना भी पाप नहीं है। हाँ! केवल यह करो कि ईमानदारीसे धन कमाओ और धर्मके अनुसार भोग भोगो। मात्र इतना करनेसे भी आप योगकी दशा प्राप्त कर लेंगे। आप संसारसे उपरामता प्राप्त कर लेंगे।

वृन्दावनमें श्रीविहारीजीसे एक सज्जनका बड़ा प्रेम था। ठाकुरजीकी कृपासे उन सज्जनका कारखाना चल निकला। उनका एक भागीदार था। वह ऊपरसे तो उन सज्जनके प्रति बड़ा प्रेम दिखलाता था; लेकिन, भीतर मनसे यह सोचता था कि-'यदि यह व्यक्ति मर जाये, तो पूरा-का-पूरा कारखाना मेरा हो जायेगा।' एक दिन उन सज्जनने किसी धातुको साफ करने कि लिए एसिड मँगवाया साथमें पान भी मँगाया। भागीदार ही दोनों वस्तुएँ ले आया। जब वे सज्जन पान लेने लगे, तब भागीदार बोला-'आप हाथ धोये बिना पान मत लो। आओ! मैं आपके मुखमें ही पान दे देता हूँ। आप अपना मुख खोलो।' उन्होंने अपने भागीदारके इस प्रेम-दर्शन पर मुस्कराते हुए मुख खोलकर पान ले लिया। उसी समय अचानक ही एसिडकी शीशीका कार्क उछला और उनके पान लेते हुए खुले मुखमें चला गया। तुरन्त ही उन्होंने कार्कके साथ पान थूक दिया। थूकते ही उन्होंने देखा कि पानमें पारा पड़ा है। उन्हें वह भागीदार कदाचित् पहले भी थोड़ा पारा खिला चुका था; क्योंकि, वह प्रतिदिन उन सज्जनसे पूछता था-'आप सुस्त क्यों लगते हो? आपका स्वास्थ्य तो ठीक है? आपका कान कैसा है? आपको ठीक सुनायी तो पड़ता है न? नेत्रोंसे ठीक दिखायी तो देता है?' इत्यादि। नारायण! यह है संसारका रूप। अब भला बताओ जब जानकीनाथ सहाय करे, तब कौन बिगाड़ करे नर तेरो? यह तो आपने सुना ही होगा- '*जाको राखे साईंया, मार सके ना कोय। बाल न बाँका कर सके, जो जग वैरी होय।।*' बिहारीजीने अपने प्रियभक्तको कल-कारखाना करवा दिया। धन-सम्पदा प्रदान की। विषसे बचा दिया। गुप्त शत्रुकी पहचान करा दी। संसारके दुःखदायी बनावटी प्रेमका अनुभव भी करा दिया। भाई मेरे! संसारका सम्बन्ध सर्वथा स्वार्थपरायण है। आप अपने इष्टपर अटल विश्वास करके अत्यन्त धैर्य पूर्वक एवं श्रद्धाके साथ साधनाके मार्गमें चलो। आप बेईमानीसे धन एकत्र करनेका मत प्रयत्न करो। भोग उतना ही भोगो, जितना न्यायोचित हो। जिस वस्तुके खाने-पीनेसे आपकी बुद्धि संतुलन खो देती हो, उसका सेवन मत करो। धीरे-धीरे संसारसे उपराम होनेका प्रयत्न करो और भगवान्‌से जुड़नेका अभ्यास करो। संसारके प्रति सहिष्णु बनो। भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-विश्वास-प्रेम करो।

(आनन्द मंजूषा-पृ. 227-228)

प्रयत्न करो

मनुष्य-जीवनमें भूलें होती हैं। भूल होना अपराध नहीं है। भूल न सुधारना दोष है। प्रयत्नपूर्वक साधन करते रहनेसे मनुष्यका मन शुद्ध हो जाता है और वह अपने परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार कर पाता है। प्रयत्न करो।

बचपनमें पढ़ने जाता था। गाँवका पगडण्डीका मार्ग था। वर्षामें कई बार फिसलकर गिर पड़ता था। यदि गिरने पर उठकर स्कूल चला जाता तो ठीक। यदि गिरनेपर घर लौटकर आता, तो डाँटा जाता था।

गिरना अपराध नहीं है। गिरकर न उठना अपराध है। उठकर पीछेकी ओर मुड़ना-पीठ दिखाना, कायरता है। उठो और बहादुरीके साथ अपने लक्ष्यकी ओर उन्मुख होओ। गिरते-उठते अनेक जन्मोंमें, हम अपने लक्ष्य तक पहुँच ही जायेंगे। हम परम गतिको प्राप्त करके ही रहेंगे। यह ठीक है कि पूर्वाभ्यास अपनी ओर खींचता है। जैसे धारामें पड़े मनुष्यको धारा बहाती है, वैसे पूर्व जन्मके अभ्याससे व्यक्ति विवश होकर खींचा जाता है। पूर्वाभ्यास रुचि-प्रवृत्ति देता है, किन्तु प्रयत्न किया जाये तो वह रुचि-प्रवृत्ति नष्ट हो जायेगी।

आप व्यापारके लिए कितना प्रयत्न करते हो? भोगके लिए कितने व्यस्त रहते हो? वासनापूर्तिके लिए क्या-क्या नहीं करते हो? क्या समाधि, भगवत् प्राप्ति या ब्रह्मज्ञान ही सबसे गया-बीता है कि आप उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना चाहते हो? यदि आप प्रयत्न करना नहीं चाहते हो, तो परमार्थमें आपकी रुचि नहीं है। जब मनुष्यके मनमें इच्छा होती है। तब वह प्रयत्न अवश्य करता है। जहाँ-चाह, वहाँ राह। यदि आपके मन में परमार्थ प्राप्तिकी इच्छाका उदय हो जायेगा, तो कहीं-न-कहीं से आपको मार्ग अवश्य-मेव मिलेगा। यदि आपको राह नहीं मिलती है, तो समझना कि आपकी चाह दुर्बल है। यदि आपके मनमें समाधि लगाने की या ईश्वर से मिलनेकी या अपने स्वरूपमें अवस्थित होनेकी चाह है, तो आप प्रयत्न करो। जब मनुष्य प्रयत्न करता है तो उसके पाप छूट जाते हैं। उसकी वासनाएँ दूर हो जाती हैं। उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। अपना प्रयत्न करना चाहिए। अपने मनमें यह दृढ़ आग्रह होना चाहिए कि हम परमात्माको अवश्य पाकर ही रहेंगे।

जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरौं संभु न त रहऊँ कुमारी।।

(आनन्द मंजूषा-पृ. 21-22)

भक्तिका स्वभाव

निम्नलिखित कुछ ऐसे बाधा-विघ्न हैं, जिनके कारण मनुष्य, धर्म, योग या ज्ञानकी साधना करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। 1. मानसिक दुर्बलताओंके कारण पग-पगपर वासनाके वशीभूत होकर दुश्चरित्रताके गर्तमें गिरना। 2. हीनताकी ग्रन्थिसे आबद्ध होना। 3. भोग्य वस्तुओं एवं ममतास्पद व्यक्तियोंके प्रति अनर्थकारक आसक्ति 4. विद्या-बुद्धि-धन आदि आगन्तुक विनश्वर वस्तुओंके प्रति मिथ्याभिमान। 5. अज्ञानको ही ज्ञान समझ बैठना। यह साधना न कर पाना अपनी अयोग्यताओंके कारण है।

इन अयोग्यताओंसे ऊपर उठानेके लिए किसी प्रबल आश्वासन अथवा दृढ़ आलम्बनकी आवश्यकता होती है। फिसलता हुआ सम्भल जाय, गिरा हुआ उठ जाय, पिछड़ा हुआ भी आगे बढ़े इसके लिए कोई दृढ़ आश्रयकी अपेक्षा होती है। गिरे हुएको गोदमें उठा ले, दीन-हीनको हृदयसे लगा ले, बेसहारेका सहारा बन जाय; ऐसा कोई-न-कोई होना चाहिए और ऐसा अवश्य कोई है।

वह ऐसा होना चाहिए जो हमारी अयोग्यताओंकी ओर न देखें। अपने सहजशील-स्वभावसे ही हमारा रक्षण, पालन पोषण एवं संवर्द्धन करे। **मनुष्यकी इसी आशाकी पूर्तिके लिए भागवतधर्म अथवा भक्ति प्रकट हुई है।**

भागवतधर्ममें हमारे द्वारा चाहे जो भी कर्म हो वह भगवान्के प्रति अर्पित होना चाहिए। कर्म विशेषका नियम नहीं है, समर्पण भावकी विशेषता है। इसलिए शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे, संस्कारजन्य स्वभावसे, जो कुछ भी करे वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर नारायणके उद्देश्यसे समर्पित कर दें।

भक्ति माता अपने किसी भी पुत्रको अपनी गोदमें उठा लेती हैं और उसके रोम-रोमको अपने वात्सल्यरससे आप्लावित एवं आप्यायित कर देती हैं। उन्हें शास्त्रोक्त अधिकारी, एकान्ताभ्यासी अथवा जिज्ञासुकी अपेक्षा वह बालक अधिक प्यारा लगता है जो अज्ञानी है, अबोध है, साधना करनेमें असमर्थ है। एकान्त होने पर रोता है, डरता है, जिसे मुक्ति नहीं चाहिए, प्रेम-माधुरीका बन्धन ही जिसको भाता है, वह कभी-कभी अपनी माताको भी भूल जाता है परन्तु माता उसे नहीं भूलती। माता अपने अबोध शिशु पर करुणाकी गंगा बहा देती है। भगवती भक्ति जब देखती है कि हमारा शिशु मलिनतासे लथपथ हो रहा है, आगमें हाथ डालने जा रहा है, अहंकार-ममकारकी विघ्न-बाधासे व्यथित हो रहा है तब वह माँके समान ही उसपर छा जाती हैं और अपनी स्नेह माधुरीसे उसको निर्मल बना देती हैं, कुमार्गसे बचा लेती हैं, उसके तन-मनमें मुस्कान भर देती हैं। वे नासमझको ज्ञान देती हैं, मलिनको स्वच्छ करती हैं, पीड़ितको सुखी करती हैं। वे अबोधको सम्भालती हैं, मलिनता दूर करनेमें रुचि लेती हैं, स्वयं मुस्कान बिखेरकर बच्चेके मुख-कमलको भी विकसित कर देती हैं, रोतेको चुप कराती हैं, चुपको हँसाती हैं, भूखे-प्यासेको तृप्त करती हैं। इन्हें भगवान्के किसी रूपसे, किसी शिशुसे, किसी लीलासे कोई परहेज नहीं है।

सबमें अपने प्रभुका अनुभव करना ही भक्तिका स्वभाव है।

(चारु चिन्तन : पृ. 25,26,27,30)

तुम जैसे रखोगे, हम वैसे ही रहेंगे, हे हरि!

यहाँ हम थोड़ी साधनकी बात बताते हैं।

असलमें जो प्रेमी लोग होते हैं, उनकी स्थिति विलक्षण होती है।

जो ईश्वरके सच्चे भक्त हैं, उसमें-से कुछ ऐसे होते हैं, जो ईश्वरके सामने जानेमें थोड़ा हिचकिचाते हैं। उनकी हिम्मत नहीं पड़ती। उन्हें इस बातका संकोच होता है कि हम इतने गन्दे हैं, ईश्वरके सामने कैसे जायें? ऐसे लोगोंका मन ईश्वरकी कृपा ईश्वरके प्रेम, ईश्वरकी कोमलता तो भूल जाता है और केवल अपना ध्यान रखता है। अपने दोषों को उनके निवारणकी दृष्टिसे देखना तो ठीक है परन्तु उन दोषोंके कारण पतित पावन परमेश्वरके पास जाने से संकोच मत कीजिये।

जो इच्छा होते हुए भी अपनी अयोग्यता देखकर भगवान्‌के पास नहीं जाते वे भक्त तो हैं, किन्तु वे आत्मनिष्ठ हैं। उनका मन अपनी ओर रहता है, ईश्वरकी ओर नहीं जाता।

जब भक्ति आगे बढ़ती है तब अपनी ओर देखना छोड़ देती है। तब भक्त भगवान्‌की ओर ही देखता है। हम कैसे हैं–इसको भगवान् देखना चाहे तो देखें और न देखना चाहें तो न देखें। हम तो भगवान्‌को ही देखते हैं। भगवान् हमें देखेंगे, तो उनकी नज़र पड़ते ही सबकुछ ठीक हो जायेगा। हम जैसे भी हैं, उनके हैं। हमारे अन्दर क्या गुण है, क्या दोष हैं–यह हम नहीं जानते। परन्तु प्रभो, हमारे लिए तुम बड़े प्यारे हो, बड़े कोमल हो, बड़े उदार हो, हमसे बहुत अधिक प्रेम करनेवाले हो। तुम्हारे बारे में हमको सबकुछ मालूम है, अपने बारेमें हमको कुछ भी मालूम नहीं। तुम्हें अगर हमारी कोई गलती मालूम हो, उसको दूर करना। यदि मैं जैसा हूँ वैसा ही पसन्द होऊँ, तो मुझे बदलनेकी कोई जरूरत नहीं। मैं जन्म-जन्मान्तर तक ऐसे ही रहूँगा। यह है भगवत्परायण भक्तका चिन्तन।

जबतक मनुष्यका मन अपने बारेमें सोचता है, तबतक भक्ति प्रारम्भ नहीं होती, किन्तु जब ईश्वरके बारेमें सोचने लगता है तब उसकी भक्ति प्रारम्भ होती है।

अब प्रश्न यह है कि आप जहाँ प्रेम करते हैं, वहाँ अपनी इच्छाके अनुसार उसे सुख पहुँचाना चाहते हैं? अगर आप उसकी इच्छा दबाकर अपनी इच्छा लागू करना चाहते हैं, तो यह सुख पहुँचानेकी रीति नहीं है। जब आप उसकी इच्छाके अनुसार उसे सुख पहुँचाना चाहते हैं, तो आपको उसके अधीन होना पड़ेगा। इसलिए प्रेमी अपने प्रियतम प्रभु के अधीन होता है।

जैसे जैसे रखियत हौं, वैसे वैसे रहियत हौं हे हरि!

–हे हरि, तुम जैसे रखोगे, हम वैसे ही रहेंगे, यह वृन्दावनके भक्त बोलते हैं।

(उद्धव व्रजगमन-पृ. 191,192,193)

दुःख भी कृपा

मूल बात यह है कि जब हमारे मनके अनुसार होता है, तब तो हम भगवान्‌की कृपा मानते हैं और जब हमारे मनके विपरीत होता है, तब भगवान्‌की कृपा नहीं मानते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम कृपा को पहिचानते नहीं हैं और उसको महत्त्व नहीं देते हैं, बल्कि अपनी वासना और अपनी इच्छाको ही महत्त्व देते हैं।

भगवान्‌का जो विधान है वह सर्वथा मङ्गलमय है। उसमें कमी तभी मालूम पड़ती है जब हम भगवान्‌की इच्छाको न देखकर अपनी वासनाके अनुसार चाहते हैं कि हमको जो पसन्द है और जरूरी मालूम पड़ता है, वही काम भगवान् करें।

भगवान्‌की कृपा को यदि आप विशेष रूप से देखेंगे कि भगवान् इतना धन दें तो बड़े कृपालु; ऐसा तन दें तो बड़े कृपालु; ऐसा ऐश्वर्य दें तो बड़े कृपालु और ऐसा परिवार दें तो बड़े कृपालु, तो आप कृपाको नहीं पहचान सकेंगे।

जब भगवान् हमारे मनका न करके अपने मनका करते हैं तब, उसमें हमारी ऐसी तैयारी होनी चाहिए कि हम अपने अहंसे, अपने अभिमानसे, अपनी ममतासे व अपनी इच्छासे भी ज्यादा, भगवानकी इच्छाका आदर करें और कहें कि यह तो भगवान्‌ने बहुत बढ़िया किया, जो आज अपने मनका तो किया।

भगवान्‌की ओर से जो आता है उसमें भगवान्‌का हाथ देखिये। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्ति हैं, परमदयालु हैं। वे जो क्रिया हमारे सामने भेजते हैं, जो वस्तु भेजते हैं, जो भोग भेजते हैं, जो परिवार भेजते हैं, उन सबमें उनकी कृपा ही भरपूर रहती है। भगवान्‌की कृपाका आदर हर रूपमें करनेसे भगवान्‌की कृपाका अनुभव होने लगेगा। उसमें अपनी इच्छाकी प्रधानता न रखकर, भगवान्‌की इच्छाकी प्रधानता रखनी चाहिए। भक्तिका सिद्धान्त भी यही है और वेदान्तका भी सिद्धान्त यही है। हम अपनी इच्छाको जितना-जितना शिथिल करते जायेंगे, उतना-उतना अपने स्वरूपकी अनुभूतिके पास पहुँचते जायेंगे।

असलियतमें प्रभुकी कृपाको पहचानना ही कठिन है। जिनके मनमें संसारसे राग होता है, वे उनकी कृपाको नहीं पहिचानते हैं और जिनके मनमें संसारसे वैराग्य होता है, वे प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌का हाथ देखते हैं, भगवान्‌की कृपा देखते हैं।

प्रभु-मूरत कृपामयी है। उनके कृपामय हाथोंसे कभी किसीका अमङ्गल होता ही नहीं है। तो, यह जो हम लोगोंको दुःख सरीखा मालूम पड़ता है, उसमें भी भगवान्‌की कृपा है और मङ्गल-ही-मङ्गल है।

(हृदयाकाशके हीरे-पृ. 7,8,9,10,129)

श्रीकृष्णके सुखमें ही गोपियोंका सुख है

मनुष्यमें पूर्णता तब आती है, जब उसमें सद्भाव–माने कर्मकी शक्ति पूरी हो, और चिद्भाव–अर्थात् बुद्धिकी शक्ति पूरी हो और आनन्दभाव–माने दिलमें मजा बना रहे। लोग जीते हैं, पर जीनेकी कला सबको नहीं आती है। जीनेकी कला देखनी हो तो एक दृष्टि श्रीकृष्णपर डालो। ज्ञानी देखना हो तो देख लो, कर्म देखना हो तो देख लो और उनके जीवनमें आनन्द देखना हो तो देख लो। केवल बातचीत करनेमें सच्चिदानन्द होना और अपने जीवनमें सच्चिदानन्द होना–दोनों अलग–अलग हैं। आखिर सच्चिदानन्दका कोई व्यावहारिक रूप होना चाहिए न!

इसलिए अपने जीवनकी जो रहनी–सहनी है, वह घरको स्वर्ग बनानेके लिए है।

एक सज्जन हैं हमारे! कमाई तो बहुत करते हैं, लेकिन रोज चख–चख, चख–चख होती है घरमें। अब वह कमाई करनेके बाद उनके बेटोंके काम आवेगी। जिन्दगीको तो निस्सार बना दिया न! तुम्हारे काम करनेकी शक्ति हो, कमाईकी ताकत हो–तो जीवनमें सुख भी होना चाहिए न! अपने सुखको बेचकर, नष्ट करके तुम्हारी कमाई किस काम आवेगी?

अब देखो, हम गोपियोंके प्रेमकी चर्चा करते हैं न! इसलिए कि गोपियोंके प्रेमकी बात सुनकर हमारे हृदयमें प्रेमकी कल्पना होवे। हम तुम्हारे हृदयका जो रेगिस्तान है, उसको हरा–भरा बनानेके लिए प्रेमकी–भक्तिकी कथा सुनाते हैं। अब देखिये–गोपीके प्रेममें क्या हरियाली है!

गोपी यह बोल रही है कि हम सुखी हैं कि नहीं है–इसकी फिक्र श्रीकृष्ण क्यों करते हैं? हमें खुद इस बातकी कोई फिक्र नहीं है कि हमें सुख मिलता है कि नहीं, हमें शान्ति मिलती है कि नहीं। हमने प्रेम किया था तो इस शर्त पर तो नहीं किया था कि जब सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी, तब प्रेम करेंगे। उन्होंने हमें शान्ति नहीं दी, जलन दी और हमको सुख नहीं दिया, दुःख दिया। उसका कोई शिकवा–शिकायत हम श्रीकृष्णसे नहीं करते हैं। हमने तो प्रेम इसलिए किया है कि हमारे प्यारे श्रीकृष्णको सुख पहुँचे। और यदि उनको मथुरामें सुख पहुँच रहा है, तो हमें इसके कारण कोई ईर्ष्या नहीं; कोई स्पर्धा, कोई दुःख नहीं, कोई शिकायत नहीं। श्री सनातन गोस्वामी कहते हैं कि **श्रीकृष्णके सुखमें ही गोपियोंका सुख है।**

व्यवहारमें समता

यह जो श्रीकृष्ण-प्रेमकी चर्चा है-यह हृदयको श्रीकृष्णमें लगानेकी है। जब हमारे जीवनमें सबसे ज्यादा कीमती ईश्वर हो जाता है-तब दुनियाकी कीमत अपने आप कम हो जाती है। फलस्वरूप जिससे दुनिया मिलती है-उसके प्रति पराधीन होनेकी जरूरत नहीं, और जो दुनिया मिलनेमें बाधा डालता है-उससे दुश्मनी करनेकी जरूरत नहीं। तब व्यवहारमें समता आ जाती है।

(उद्धव व्रजगमन-पृ. 463,464,465,589,590)

जीवनकी शैली : शरणागति

बोले कि महाराज, आप तो बस ईश्वर, ईश्वर, ईश्वरकी बात करते हो। ईश्वरके चक्करमें पड़ जायँ तो खाना-पीना भूल जाय। कहाँसे पैसे आयेंगे? श्रीमतीजी कैसे खुश रहेंगी? बोले कि देखो, जो तुम्हारी चिन्ता करता है वह सबकी चिन्ता करता है। तुम फिक्र मत करो।

अच्छा, तुम्हारे जीवनमें ऐसी बात आती है कि नहीं जो तुम नहीं चाहते हो? तुम दुःख चाहते हो? बोले कि नहीं। उससे बचनेका परहेज करते हो? हाँ करते हैं। फिर भी दुःख क्यों आता है? है न तुमसे ज्यादा बलवान कोई-जो तुम्हारे बचनेकी चेष्टा करने पर भी तुमको दुःख देता है। जो तुम्हारे कर्मके अनुसार फल देनेमें इतना सजग है-वह क्या तुमको सुख नहीं देगा? मैंने अपने जीवनके अनेक अवसरोंपर देखा है-जब मैं चुप हो गया तो ईश्वरने मेरी ओरसे बोलना शुरू कर दिया। जिस कामको मैंने छोड़ दिया उसको ईश्वरने किया। जब हमने रोटी बनानी बन्द कर दी तब ईश्वरने बनी-बनायी रोटी दी। यह मैंने देखा है और एकबार नहीं हजार बार देखा है। आप क्या समझते हैं? अपनी बुद्धिके अभिमानमें फँसे हैं। कहीं इसको झुकने दो, नम्र होने दो। थोड़ी बुद्धिमें भी विनय आने दो।

कर्मानुसार, धर्मानुसार ईश्वर फल देता है। उसका भोग करो। इन्कार मत करो। इन्कार करनेका समय कब होता है? जब बुरा कर्म करनेके लिए पाँव उठते हैं, हाथ उठते हैं, बुरी बात बोलनेके लिए जीभ उठती है, उस समय अगर तुम इन्कार कर देते तो तुम्हारे जीवनमें दुःख आता ही क्यों? अब इन्कार करनेसे नहीं चलेगा। वह समय तो बीत गया।

हमारे सामनेकी यह बात है। एक आदमीने एक गलतीकी सत्पुरुषके सामने। उनको वह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने बाँये हाथसे गलती करनेवालेका हाथ पकड़ा, दाहिने हाथसे दो चपत गाल पर मारे कि तुमने यह काम क्यों किया है? वह जो साधक था, वह तो खुश हो गया कि आप मेरी गलती दूर करनेके लिए, मेरे ऊपर क्रोध करके चपत लगावेंगे-यह आपके बारेमें हमारी कल्पना नहीं थी। आप हमको इतना अपना समझते हैं!! मनुष्य अपनापन समझनेमें गलती करता है। वह समझता है कि हमारे साथ अन्याय हुआ।

अरे बाबा, अपना प्यारा जो दे, उसका भोग करो। तुम चीज क्यों देखते हो? हाथ क्यों नहीं देखते। देनेवाला कौन है? दुश्मन आज अगर मिठाई भी दे तो कल जहर भी दे सकता है और दोस्त आज जहर भी दे तो वह दवा हो सकती है। तो, ईश्वर पर क्या इतना भी विश्वास नहीं है कि वह हमारा दोस्त है! वह हमें जन्म दे, रुलावे, वियोग दे, अपमानित करे, गाली दे, भूखा रखे-इन सबमें उसकी दया है। वह हमको जब मारता है, एक शरीर छुड़ाकर जब दूसरे शरीरमें ले जाता है-वह भी दया है।

प्रश्न यह आया कि जीवनकी शैली क्या हो? बोले-हृदय, वाणी और शरीर-इनको नम्र कर दो। ईश्वरके सामने झुका दो। सख्त मत करो। ईश्वरके मनमें अगर खेलनेका आवे तो तुम अपनेको गीला आटा अथवा मोम बनाकर रख दो। वह चाहे जिस शक्लमें तुमको बनावें और तुम्हें उस शक्लमें नंगा देखकर कि रोते देखकर कि हँसते देखकर, अगर ईश्वर खुश होता है तो तुम्हारा जीवन सफल हो गया। ऐसे भगवान्‌के सामने बोल दो-जैसे आपकी मर्जी हो, वैसा आप करें। हमारे प्राणनाथ तो आप ही हैं।

(उनकी कृपा-पृ. 21,22,23,24)

भक्ति प्राप्त होने पर भक्तमें प्रगट होनेवाले लक्षण

'सिद्धो भवति'-भक्त सिद्धिके लिए प्रयास, इच्छा या संकल्प नहीं करता। उसमें जो चमत्कार प्रकट होते हैं, उन्हें तो भगवान् भेजते हैं। परमहंस रामकृष्णसे किसीने पूछा-'सिद्धिका लक्षण क्या है?' परमहंस बोले-'चावल पहले कड़ा रहता है किन्तु सिद्ध होने पर नरम हो जाता है। न उसमें कोई कणिका रहे और न वह गल ही जाय।'

तात्पर्य यह कि व्यक्ति तो बना रहे किन्तु अभिमानका कोई कण शेष न रहे। यह भक्तकी सिद्धि है। उसमें विद्याका, बलका, जातिका, पदका, संयमका, धनका-किसी भी प्रकारका कोई अभिमान नहीं रह जाता। सिद्धका अर्थ है कोमल। भक्त बाहर-भीतरसे अत्यन्त कोमल होता है।

'अमृतो भवति'-अमृत पीनेसे मनुष्य अमर हो जाता है। किन्तु भक्त इस स्थूल शरीरको अमर नहीं बनाना चाहता। यह ठीक है कि शरीर रहेगा तो उससे प्रभुकी सेवा करेंगे; किन्तु एक शरीरसे ही सेवा करनेका आग्रह क्यों किया जाय! मयूर, कोकिल, गिलहरी आदि नाना प्रकारके रूप धारण करके प्रभुको रिझानेमें भक्तको तो आनन्द ही है। कोई पतिव्रता नारी यह आग्रह क्यों करे कि उसकी एक ही साड़ी अजर-अमर हो जाय। नयी-नयी साड़ी, नया-नया वेश बदलकर स्वामीको सन्तुष्ट किया जाय!

'अमृतो भवति'-भक्त अमर नहीं होता, स्वयं अमृत बन जाता है। वह इतना मधुर हो जाता है कि जो उसके सम्पर्कमें आते हैं उन्हें भी माधुर्य तथा आनन्दकी प्राप्ति होती है। उसके शब्द प्रभुके शब्द हो जाते हैं। वह किसीको दुःख नहीं देता, सबको प्यार देता है। 'तृप्तो भवति'-भक्तमें जो प्यास है, उस प्यासका ही नाम तृप्ति है।

प्यारीजू को रूप मानो प्यास ही को रूप है।

श्रीराधाका-भक्तिका रूप क्या है? वह तो प्यासका ही रूप है। यह प्यास ही भक्तकी तृप्ति है। इसमें 'इति' कभी कहीं है ही नहीं। न इसके आदिका किसीको पता है न अन्तका, क्योंकि प्रेमका आदि भी परमेश्वर और अन्त भी परमेश्वर तब मध्यमें जिसे तुम प्रेम कहते हो वह भी परमेश्वर ही है।

भक्त भगवान्के विरहमें जितना सुख, जितना आनन्द प्राप्त कर लेता है, विषयी पुरुषको विश्वके सारे विषय-भोग प्राप्त हो जायँ तो भी वह आनन्द, वह तृप्ति नहीं मिलेगी।

(नारदभक्तिदर्शन-पृ. 57,58,59,69)

भागवत धर्म सबके कल्याणके लिए है

कोई भागवत धर्मका अर्थ यह न समझे कि वह केवल मन्दिरमें बैठे रहनेके लिये है या गुफामें बैठने या जंगलमे बैठनेके लिए है। भले ही संन्यास-धर्म, परमहंस-धर्ममें जंगलमें रहना आवश्यक हो, गुफामें जाना जरूरी हो, परन्तु भागवत-धर्ममें यह सब कुछ जरूरी नहीं है।

आप ध्रुवके जीवनमें देखेंगे कि पहले मिले भगवान् और बादमें मिला राज्य। भगवान्की भक्ति और राज्यमें कोई विरोध नहीं है। उसके बाद हुआ विवाह, तो भगवान्की भक्ति और विवाहमें भी कोई विरोध नहीं है। अच्छा, उसके बाद हुआ युद्ध-तो आवश्यकता पड़ने पर भागवत-धर्ममें युद्धके लिए भी विरोध नहीं है। भगवद् इच्छानुसार यदि युद्धमें कूद पड़ना पड़े तो हिंसा-अहिंसा दोनोंके निर्वाहक, संचालक एवं प्रेरक भगवान् ही हैं। ध्रुवके मनमें कोई ग्लानि नहीं है-वह जानते हैं कि हमारे हृदयमें बैठे हुए जो प्रभु हैं, उन्हींकी यह सब लीला है।

भागवत-धर्म केवल निवृत्ति-परायण लोगोंका धर्म नहीं है। निवृत्ति-परायण शुकदेव भी भागवत धर्मी हैं और प्रवृत्ति-परायण ध्रुव भी भागवत-धर्मी हैं।

अब एक बात पर आपका ध्यान खींचता हूँ। ध्रुवने भगवान्के पार्षदोंसे पूछा-कि हमको वैकुण्ठमें ले चलनेके लिए तुम लोग विमान लेकर आये हो, पर हमारी माँका क्या हुआ?

पार्षदोंने कहा-'महाराज! आप बिलकुल फिक्र न करें। भगवान्ने आपकी माताकी चिन्ता पहले ही की, कि जिस माताके ध्रुव सरीखा पुत्र हुआ उस माताको पहले वैकुण्ठ मिलना चाहिए।' माँके पुत्रके भक्त होनेसे माताका भी कल्याण हो जाता है। यह भागवत धर्मकी विशेषता है।

कभी भगवान् बड़ा विलक्षण विनोद करते हैं। मनुष्य चाहता कुछ है और होता कुछ है। इसमें भी भगवान्की बड़ी भारी कृपा रहती है। बहुत पुरानी बात है, एक महात्माने हमको एक बार समझाया था कि मान लो तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी होने लग जायँ, जो तुम चाहते हो वही होने लग जाय तो क्या ईश्वरकी सत्ता-महत्ताका पता लग सकता है? कोई मानेगा ही नहीं ईश्वरको! जब कोई ऐसा रहता है, जो कभी-कभी हमारी इच्छाके विपरीत भी कर देता है, तब पता चलता है कि हाँ और कोई है। इसीसे माँको यह हक होता है कि अपने बच्चेको वासनाके अनुसार चलनेसे रोके। पति-पत्नीको भी परस्पर अधिकार होता है, क्योंकि अपने ही मन, अपने मनकी हमेशा होवे तो मनुष्य इतना अहंकारी हो जायेगा कि वह ईश्वरको नहीं मानेगा। दूसरी बात यह भी है कि मनुष्य तो एक है नहीं, अनेक हैं और सबकी इच्छाएँ आपसमें टकरायेंगी-फलस्वरूप सृष्टिमें दुःख और संघर्षकी वृद्धि होगी। तो इन इच्छाओंका एक नियन्ता है, वह है ईश्वर।

भागवत-धर्म सिर्फ ब्राह्मण अथवा संन्यासीके लिये नहीं है, जो भी भगवान्की सृष्टिमें पैदा हुआ-उन सबके कल्याणके लिए भागवत-धर्म है। जैसे पिताकी सम्पत्ति अपने सब पुत्रोंके लिए होती है वैसे भगवान्की सम्पत्ति धर्म है और उन्होंने उसे सम्पूर्ण प्रजाके लिए दिया है।

(मानव जीवन और भागवत धर्म-पृ. 103,104,105,117)

भगवान्‌की लीलाका रहस्य

मत्स्य भगवान्‌ने कहा-'राजन्! जिसके हृदयमें दुःखी प्राणियोंके प्रति दया नहीं है, उसका कभी उद्धार नहीं हो सकता। वह कभी मुझे पहचान नहीं सकता। या यों कहिये कि उसके सामने मैं कभी प्रकट नहीं हो सकता।'

'मेरे अवतारका कोई कारण नहीं हुआ करता। मैं भक्तोंकी भलाईके लिए अपनी इच्छासे समय-समयपर स्वयं ही अवतीर्ण हुआ करता हूँ। यह सम्पूर्ण संसार मेरी लीला है। यह सब मैं ही हूँ। इसीसे चाहे किसी भी शरीरमें मैं प्रकट हो सकता हूँ। किसी भी समय, किसी भी स्थान पर और किसी भी वस्तुके रूपमें मुझे पहचाना जा सकता है और वास्तवमें मैं वहीं रहता हूँ। परन्तु जब लोग मुझे नहीं पहचान पाते, तब मैं अपने-आपको स्वयं प्रकट करता हूँ और किसी भी रूपमें प्रकट करता हूँ। मेरे लिए मनुष्य और मछलीके शरीरमें भेद नहीं है। मैं ही सब हूँ। जिसने सब रूपोंमें मुझे पहचान लिया, उसने मेरी लीलाका रहस्य समझ लिया। कहींसे मुझे हटाया नहीं जा सकता। चाहे जिस रूपमें मेरे अस्तित्वका विश्वास किया जा सकता है।

बात असलमें यह है कि भगवान्‌की लीलाका रहस्य **कठिन-से-कठिन** और **सरल-से-सरल** है।

कठिन इसलिए कि सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण उनका वर्णन करते-करते हार गये, उन्हें ढूँढते-ढूँढते थक गये, अन्तमें 'नेति-नेति' कहकर चुप हो गये। भगवान्‌का रहस्य उतना ही दुर्बोध बना रहा। स्वयं भगवान्‌ने अपनी लीलाका सहस्त्र-सहस्त्र मुखसे वर्णन करनेके लिए शेषनागका रूप धारण किया। न जाने वे कबसे वर्णन कर रहे हैं और न जाने कबतक करते रहेंगे, परन्तु वे भी लीलाके रहस्यका पार नहीं पा सके और न तो पानेकी सम्भावना ही है। कारण, भगवान् अनन्त हैं, उनकी लीला अनन्त है, उनका रहस्य अनन्त है। जब अन्त है ही नहीं, तब वे स्वयं अन्त कैसे पा सकते हैं?

सरल इसलिए कि वे इतने कृपालु हैं कि उन्हें कभी ग्वाल-बालोंके साथ नाचना पड़ता है; ग्वालिनोंके घर माखन-चोरीकी लीला करनी पड़ती है और रस्सीसे बँधकर रोना पड़ता है। छोटे-छोटे राक्षसोंको मारनेके लिए उस अजन्मा भगवान्‌को जन्म लेना पड़ता है, जिनके कि संकल्पमात्रसे सारी सृष्टिका संहार हो सकता है। यह दयाकी बात इतनी सरस एवं सरल है कि कोई भी सहृदय व्यक्ति भगवान्‌की दयाका स्मरण करके रोये बिना नहीं रह सकता।

(भगवान्‌के पाँच अवतार-पृ. 111,115,116)

नौका-लीला

एक बार गोपियाँ दही बेचकर लौटीं तो सायंकाल हो गया। थोड़ा दिन बाकी रह गया, जमुना बहुत बढ़ गयी थी, पार जाना था। कोई नाव नहीं थी वहाँ। इसी बीचमें एक काला-काला मल्लाहका बालक नाव लिये आया। गोपियोंने पुकारा तो बोला–हम तो भूखे हैं नाव कैसे लेकर चलें? तो उनके मटकोंमें जो दही, दूध, मक्खन बचा था। वह बालक सब सफाचटकर गया। इसके बाद उसने कहा तुम बहुत हो एक-एक, दो-दो करके चलो। उन्होंने कहा–नहीं, हम तो एक साथ ही चलेंगी, जल्दी करो हमको श्याम सुन्दरका दर्शन करना है। बोला-अच्छा तो मटके फेंक दो।

ग्वालिनोंने कृष्ण-दर्शनकी उत्कट लालसासे अपने मटके जमुनाजीमें फेंक दिए। बादमें कहा तुम्हारे आभूषण बहुत भारी हैं, उनको भी जमुनाजीमें फिंकवा दिया। बाद में बोला कि तुम्हारे कपड़े भी भारी-भारी हैं, उनको भी जमुनाजीमें फिंकवा दिया। बादमें किसी तरह जब नौका लेकर चला तो बोला कि गोपियों! अब तो हमसे नाव चलायी नहीं जाती है, बहुत खाकरके मेरा शरीर जरा भारी हो गया है, मैं लेटता हूँ और तुम हमारा पाँव दबाओ। नावको छोड़ दो, जमुनाजीमें बहने दो। नौका-लीलामें आखिरमें वह कहता है कि नाव तो अब डूब जायेगी। तो गोपियाँ कहती हैं कोई उपाय करो जिससे हम जल्दी पार हो जायें, श्याम सुन्दरका दर्शन करे, नावका डूबना ठीक नहीं है।

गोपियोंके मनमें यह ख्याल है कि हम जल्दी श्यामसुन्दरके पास पहुँचे, इसलिए सब कुछ त्याग करती जाती हैं, सब कुछ सहती जा रही है। अन्तमें उसने कहा कि अब हमसे मन्त्र लो नहीं तो नाव डूब जावेगी। उसकी भी स्वीकृती दी। तो उस मल्लाहके छोकरेने कहा कि अच्छा कान हमारी तरफ करो। अब वह कानके पास मुँह ले गया और बोला कि जिससे तुम लोग मिलनेके लिए इतने व्याकुल हो, वह तुम्हारा प्राण प्यारा श्यामसुन्दर तो मैं ही हूँ।

यह अर्जुनका जो रथ है, यह नौकाके समान है। इसपर जो पहले सारथि बनकर आकरके बैठा, अन्तमें उसने ठीक उसी मल्लाहके छोकरेकी तरह यह कहा कि मैं केवल तुम्हारा सारथि नहीं हूँ; मैं तो जिस ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान तुम प्राप्त करना चाहते हो, वह ईश्वर, वह ब्रह्म, वह आत्मा, वह जगत् कारण-कारण मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं है।

तो अब यह देखो कि तुम्हारे जीवन रथकी बागडोर नारायणके हाथमें है कि नहीं है? न होय, तो अभी कुछ बिगड़ा नहीं। अनादि कालसे अबतक जो भूल हुई सो हुई, अब सावधान हो जाओ और नारायणके हाथमें अपने रथकी बागडोर सँभला दो और देखो वह नारायण कह रहा है कि मैं सिर्फ तुम्हारा अन्तर्यामी सारथि ही नहीं हूँ। सारथि होना माने अन्तर्यामी होना। अन्तर्यामी माने भीतर रहकर जानने वाला नहीं होता, चलानेवाला होता है।

नारायण कहते हैं–मैं केवल सारथि ही नहीं हूँ, बल्कि जिसको तुम पाना चाहते हो, जो तुम्हारे जीवनका इष्ट है, जो लक्ष्य है, वह मैं ही हूँ। यह क्या बात हुई? यही है 'नौका-लीला!'

(ज्ञान-विज्ञानयोग : पृ. 121,122,123)

ईश्वरकी भक्तिका चमत्कार!

भगवान्‌को शकल-सूरतसे जानना, जानना नहीं होता, मानना होता है। क्योंकि जब हम एक साढ़े तीन हाथका कोई व्यक्ति देखते हैं, तो इसीने यह सृष्टि बनायी है, यह सर्वज्ञ है, ये सर्वशक्तिमान है- यह तो मानना पड़ेगा। जब हम एक छोटी-सी चीजमें, छोटेसे आकारमें, भगवान्‌का भाव करेंगे तो वहाँ मानना पड़ेगा। लेकिन जब उसमें पूरी भक्ति जावेगी, तब हम जान जावेंगे कि यह कितना बड़ा है कि देश, काल और द्रव्यकी कल्पना उसके अन्दर, उसके एक कणमें होती रहती है और मिटती रहती है। वह है क्या? उसका तत्त्व क्या है? जैसे आभूषण हम बहुत देखते हैं-छोटा बच्चा चमकता हुआ आभूषण देखता है, पहनता भी है लेकिन वह सोनेको नहीं पहचानता है। उसी प्रकार भगवान्‌को जो लोग बहुत छोटे रूपमें देखते हैं, वे आभूषण तो पहनते हैं, परन्तु आभूषण स्वर्ण है, यह ज्ञान उनको नहीं होता। जब सोनेसे प्रेम होगा तब पता लगावेंगे कि यह क्या है?

भगवत्-तत्त्वका ज्ञान तब होता है जब हमारे जीवनमें भक्ति आती है। जब परमात्माका ज्ञान होता है तो जैसे आभूषण और स्वर्णमें फर्क नहीं है, इसी प्रकार आत्मा और परमात्मामें कोई फर्क नहीं रह जाता। इसका अर्थ बहुत विलक्षण एवं व्यावहारिक है। जबतक आप अपने अन्दर पूर्ण ज्ञानका और पूर्ण शक्तिका अनुभव नहीं करेंगे तबतक आपके सारे काम एवं संकल्प तथा सफलताएँ अधूरी रहेंगी। लेकिन यदि आप अपने में, पूर्णताका अनुभव कर लें तो आप जो-जो करेंगे, वही पूर्ण होगा। आपके जीवनमें उत्साह बना रहेगा, कभी टूटेगा नहीं। आपको हमेशा सफलता मिलेगी, कहीं विफलता है ही नहीं। कभी आप दुःखी नहीं होंगे। हमेशा सुखी रहेंगे। कभी आप अपनेको दीन-हीन महसूस नहीं करेंगे।

श्रीरामचन्द्र भगवान्‌ने पहले अपनी पूर्णताका ज्ञान प्राप्त कर लिया, उसके बाद वे जीवन्मुक्त पुरुषके समान अपनी भगवत्ताके साथ सारे कर्म करते थे और कहीं उदासी, नैराश्य उनके जीवनमें नहीं था। सम्पूर्ण समग्रताके साथ भगवान्‌के रूपमें उन्होंने सम्पूर्ण विश्वका हित किया, कल्याण किया। इसीलिए यह जो ज्ञान है, यह केवल समाधि लगानेके लिए नहीं है, हिमालयमें जानेके लिए नहीं है या केवल मन्दिरमें बैठनेके लिए नहीं है। यह केवल यज्ञशालामें रहनेके लिए नहीं है। भाव जहाँ रहें-रणमें, वनमें, आप पहाड़पर रहें, एकाकी रहें, भीड़में भले लोगोंमें रहें, बुरे लोगोंमें रहें, आप सबको आनन्द बाँटते रहेंगे, सबको ज्ञान बाँटते रहेंगे; सबको जीवन-दान करते रहेंगे। यह तत्त्वज्ञान भक्तिके द्वारा प्राप्त होता है।

अनन्य भक्तिका अर्थ होता है, ईश्वरके साथ भक्तिका सम्बन्ध रखें जो कभी बदलेगी नहीं। फिर आप परिवारमें रहिये, ईश्वरकी भक्ति बनी है, समाजमें जाइये, ईश्वरकी भक्ति बनी है। व्यापारमें जाइये, राजनीतिमें जाइये-फँसिये कहीं नहीं। दुनियाके सारे फँसावोंको, पक्षपातोंको क्रूरताओंको मिटानेके लिए, हमारे हृदयमें जब ईश्वरकी भक्ति आती है तो वह ऐसा चमत्कार दिखाती है कि मनुष्यके जीवनमें कोई दुःख, कोई दीनता, कोई हीनता रहती ही नहीं है।

(गीता दर्शन 11 (13वाँ अध्याय): पृ. 60, 61, 62)

ये बाँके बिहारी हैं!

भगवान्‌ने देखा–कि संसारके लोग दुःखी हैं। क्यों दुःखी हैं? कहा–हमसे बिछुड़े हुए हैं। देखो, जो अपनेको आनन्दस्वरूप अनुभव करे और दुनियामें किसीको दुःखी देखे तो उसका क्या ख्याल बनेगा? यही न बनेगा कि मैं आनन्द स्वरूप, इन्होंने मेरी ओर पीठ कर ली है इसलिए दुःखी हैं। यही तो सोचेगा और क्या सोचेगा? संसारमें ज्यादातर लोग दुःखी हैं–स्वव्यक्तित्वनिष्ठ होनेके कारण, अपना धन, अपना कर्म, अपना भोग, अपना शरीर, अपनी परिच्छिन्नता–इसीपर जो नजर बँध गयी है–इसके कारण संसारके लोग दुःखी हैं। जरा सामनेवालेपर जाने दो नजर–जो मन्द-मन्द मुस्करा रहा है, टेढ़ी टांगवाला! टेढ़ी टांगवालेको आप जानते हैं? बाँके बिहारी, त्रिभंग ललित–टेढ़ी कमर, टेढ़ा चिबुक, टेढ़ा पाँव–तीन जगहसे टेढ़े, फिर भी ललित! यह बाँकेबिहारी हैं! मन्द-मन्द मुस्कान, आँखोंमें प्रेम, भौहोंमें अनुग्रहवाले क्या तीर हैं! क्या बाण हैं!!

वे सम्पूर्ण सौन्दर्यका आधार हैं। वक्षःस्थल जिसपर लक्ष्मी निवास करती हैं, श्रीवत्स है। जिनका रोम-रोम पुकारता है, आओ, आओ! सुख चाहते हो तो हमारी ओर आओ!! उसका चिबुक हिलता है तो कहता है हमारे पास आ जाओ; हाथ हिलाता है तो कहता है हमारे पास आ जाओ! आँख हिलती है तो कहती हैं, हमारे पास आओ! भौंह हिलती है तो कहती है हमारे पास आ जाओ! आमन्त्रण करनेवाला देवता है, यह! निमन्त्रण देनेवाला देवता है!

और देवताओंको तो निमन्त्रण देना पड़ता है कि हे रामजी महाराज! एक दिन रथ पर बैठकर हमारे घरमें पधारना! राजकुमार, आपका स्वागत है! और ये तो आँखसे निमन्त्रण दें, होठसे, दाँतसे, उँगलीसे निमन्त्रण दें, नुपूर बजाकर पाँवसे निमन्त्रण दें, कमर हिलाकर किंकणीसे निमन्त्रण दें, बाँसुरीसे निमंत्रण दें; अपनी गन्धसे, अपने रूपसे, अपने रससे निमन्त्रण दें; ये तो सारी दुनियाको मानो अपने पास बुलाना चाहते हैं।

ये संसारके बिछुड़े हुए लोग, ये विरही लोग, ये दुःखी लोग संसारके विषयोंसे प्रेम करके दुःखी हो गये। उनके दुःख निवारणके लिए ये परमकृपालु, ये करुणावरुणालय, ये करुणारुण नयनहृदयमें करुणा लिये और करुणाके कारण आँखे लाल-लाल किये, पुकार-पुकारकर आमन्त्रण दे रहे हैं, निमन्त्रण दे रहे हैं कि आओ-आओ-आओ–तुम्हें गन्ध चाहिए तो गन्ध लो, रस चाहिए तो रस लो, रूप चाहिए रूप लो, स्पर्श चाहिए स्पर्श लो, शब्द चाहिए शब्द लो, दिल चाहिए दिल लो, दिमाग चाहिए दिमाग लो और कुछ न चाहिए तो हमको ही ले लो।

योगमायामुपाश्रितः –माने जीवोंको ईश्वरकी प्राप्ति हो जाय, उनको अविनाशी सत् मिले, उनको स्वयं प्रकाश चित् मिले, उनको अनायास नित्यानन्द मिले, इसके लिये योगमायाका आश्रय लिया।

(रासपञ्चाध्यायी : पृ. 63, 64)

यथार्थ परमार्थका साक्षात्कार औपनिषद् ज्ञानसे होता है

वेदान्तकी दृष्टिसे तत्त्वज्ञानी पुरुषमें तीन बातोंका होना-बिना प्रयत्नके ही देखा जाता है :-

(अ) एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञान-इसका अर्थ यही है कि वह विश्वके प्रत्येक नाम, रूप एवं क्रियाको जानता है। इसका अर्थ है कि स्वयं प्रकाश, अधिष्ठान-स्वरूप ब्रह्मात्माके बोधसे अन्य पदार्थ बाधित हो जाते हैं। यही निरुत्तर तथा निरतिशय वैदुष्य है।

(ब) सर्वत्यागका सामर्थ्य होना-क्योंकि अधिष्ठानमें अध्यस्त वस्तुकी सत्ता ही नहीं है तो वह नितान्त परित्यक्त ही है।

(स) अभयकी प्रतिष्ठा होना-उसे लोक-परलोक, भाव-अभाव, सुख-दुःख, राग-वैराग्य, जीव-ईश्वर, बन्धन-मोक्ष आदिके ह्रास-विकासका कोई भय नहीं होता।

अधिकांश वेदान्ती देहादिरूप दृश्यसे अपने द्रष्टा आत्माका विवेक तो कर लेते हैं और महावाक्यजन्य चरमावृत्तिसे आत्माको ब्रह्म भी जान लेते हैं। परन्तु अपवादका संस्कार उनकी बुद्धिमें इतना प्रबल हो जाता है कि अन्वयकी दृष्टि स्फुट नहीं हो पाती। विवेकके समय व्यतिरेककी प्रधानता रहनी चाहिए। परन्तु बोधके अनन्तर अन्वयकी दृष्टि स्वयं ही हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि घट, कुल्हड़ादिसे मृत्तिका विलक्षण अवश्य है; परन्तु मृत्तिकासे पृथक घट-कुल्हड़ादिका कोई अस्तित्व नहीं है। अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्मात्मैक्य बोध हो जाने पर जगत्की सत्ता, स्फूर्ति भी अधिष्ठान चैतन्य-स्वरूप ही है। अतएव बोधवान्को दृश्यकी प्रतीतिसे द्वेष करनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत दृश्य भी उसका आत्मा ही है। 'संक्षेप शारीरककार'ने साधारण बुद्धिसे परिणाम, शुद्ध, बुद्धिसे विवर्त और ब्रह्म-बुद्धिसे प्रपञ्चको अपना स्वरूप ही बताया है।

एक महात्माके जीवनमें, मैंने देखा कि सबके लिए अनुज्ञा अर्थात् स्वीकृति थी क्योंकि उनका सर्वात्म बोध अत्यन्त दृढ़ था। दूसरी ओर उनके जीवनमें सर्वका निषेध भी था। ऐसा इसलिए था-क्योंकि 'सर्व' आत्माका स्वरूप नहीं है।

'आत्मा' एक है। 'सर्व' अनेकताका समूह है।

'आत्मा' चेतन है। 'सर्व' दृश्य है।

'आत्मा' एकरस है। 'सर्व' परिवर्तनशील है।

'आत्मा' परमानन्द स्वरूप सत्य है। 'सर्व' दुःख, जड़ विनश्वर है।

'आत्मा' अबाधित सत्य है। 'सर्व' अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान चेतनमें प्रतीयमान होनेके कारण बाधित है, अतएव मिथ्या है।

सर्वात्मभावका वास्तविक स्वरूप यही है।

इसी यथार्थ परमार्थका साक्षात्कार औपनिषद् ज्ञानसे होता है।

(पावन प्रसंग : पृ. 97,101,102)

भावना और बोध

भावना दो प्रकारकी होती है। एक तो बोधसिद्ध वस्तुके अनुकूल और दूसरी प्रतिकूल। सिद्ध वस्तुके प्रतिकूल भावना अनर्थका हेतु है। परन्तु जो भावना ज्ञान न होने पर भी ज्ञानसिद्ध वस्तुके अनुकूल है, वह ज्ञानके समान ही है। उदाहरणार्थ ज्ञानसे यह सिद्ध है कि विज्ञानानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, सब परमात्मा ही है। ऐसी वस्तुस्थितिका ज्ञान और निश्चय न होने पर भी यदि कहीं परमात्माकी भावना होती है, तो वह सत्यतत्त्वकी भावना होनेके कारण ज्ञानानुकूल ही है। उस एक वस्तुमें परमात्माकी भावना दृढ़ होने पर उसका स्वरूप अनन्त हो जायगा। भावना, प्रारम्भमें अभ्यासजन्य वृत्ति होने पर भी अन्तमें बोधकी योग्यता उत्पन्न कर देती है। परन्तु सिद्ध वस्तु परमात्मामें यदि कुछ अन्य वस्तु होनेकी भावनाकी जाय तो यह प्रतिकूल भावना है। और द्वैत, जड़ता एवं दुःखकी जननी है। भावना वृत्ति होने पर भी ज्ञानीकी दृष्टिमें तो ज्ञानस्वरूप ही है। इसलिए वह बोधसे पृथक् नहीं है।

भावना और बोधमें क्या अन्तर है?

भावनाकी मूल प्रेरणा 'श्रद्धा' है। पुनः पुनः आवृत्ति ही भावनाका स्वरूप है। अपने अभीष्ट साध्य वस्तुकी उपलब्धि अर्थात् साध्याकारवृत्ति भावनाका फल है। बोधकी मूल प्रेरणा है-प्रमाणवृत्तिकी प्रधानतासे अनुसन्धान, शोध अथवा खोज। 'बोध'में श्रद्धा और मान्यताकी भूमिका गौण है। 'बोध'में नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा काम करती है। इसलिए आवृत्ति भी इसमें गौण हो जाती है। बोध, सिद्ध वस्तुपर पड़े हुए अविद्या-आवरणका भङ्ग कर देता है। भावना कर्ताके अधीन होती है। वह चाहे करे, न करे, उलटी करे, वह स्वतन्त्र है। परन्तु बोध कर्तृतन्त्र नहीं है, वस्तुतन्त्र है। अर्थात् उसमें कर्ताकी मनमानी नहीं चलती। वस्तुका जैसा स्वरूप होता है, वैसा ही बोध होता है।

'बोध'के करने, न करने या बदलनेमें कर्ताका कोई स्वातन्त्र्य नहीं है।

भावनासे कर्तृत्वाभिमानकी शान्ति होती है और बोधसे कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदिके भ्रमकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

इसलिए साधनकी दृष्टिसे भावना और बोधमें बहुत अन्तर है; परन्तु बोधवान् पुरुषकी दृष्टिसे अपने बोधस्वरूप प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी वस्तु न होनेके कारण अखण्डार्थ भावना और अखण्डार्थ बोध-दोनों ही अपने स्वरूप हैं, परमार्थतः कोई भेद नहीं है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 75-76)

हम ऐसा काम करते हैं कि जिसको खुदा भी नहीं देखता

ईश्वरको कहीं जानेमें आपत्ति नहीं है। वह 'सर्वग' है।

एक बार मोकलपुरके बाबाने बताया कि जहाँ यह मिलकी गन्दगी निकलती है, और धुँआ उठता है, उसके चारकोसके भीतर कोई देवता नहीं रहता है। मैंने पूछा-'महाराज! ईश्वर?'

तो वे हँसने लगे, बोले-'वह तो रहता ही है। वह बेचारा कहाँ जायेगा?'

मैंने कहा-'भले देवता न रहें, पर ईश्वर रहता है तो काम चल जायेगा।'

ईश्वर सब जगह है-सर्वत्र गच्छति इति सर्वग। जिस समय तुम पाप करते हो, उस समय तुम्हारे पापी रूपके भीतर भी वह रहता है। और जिस समय तुम दुःखी होते हो तो दुःखी रूपके भीतर भी वह रहता है। और जिस समय तुम सो जाते हो उस समय तुम्हारे सुषुप्त रूपके भीतर भी वही रहता है।

ईश्वर वह है जो तुम्हें कभी छोड़े नहीं-सर्वगः।

कि भई बच निकलेंगे ईश्वरसे!

कि यह कोशिश नहीं करना। उसकी सेना सब जगह है।

उसकी सेनामें धरती है। सूर्य उसकी सेनामें, चन्द्रमा उसकी सेनामें, हवा उसकी सेनामें, हमारी आँख उसकी सेनामें। मन उसकी सेना, बुद्धि उसकी सेना, इन्द्रियाँ उसकी सेना।

यह नहीं समझना कि हम ईश्वरसे छिपाकर कोई काम कर लेंगे। सब जगह उसकी सेना मौजूद है और तुम्हारे सब कर्मोंको देखती है। और तुम्हें काबूमें रखनेवाली है। उसका नाम 'विश्वकसेन' है।

लोग छिपा-छिपाकर बातें करते हैं!

मैंने सुना कि एक मुसलमान रोजेके दिनोंमें पानीमें डुबकी लगाता और भीतर-ही-भीतर मुँह खोलकर पानी पी लेता और बाहर निकलता तो कहता कि हम ऐसा काम करते हैं कि जिसको खुदा भी नहीं देखता।

एक दिन क्या हुआ, जब पानी पीने लगा, तो उसके मुँहमें मछली घुस गयी और गलेमें अटक गयी। अब महाराज वह हाय-हाय करता निकला पानीके बाहर। डाक्टरने गलेमें-से मछली निकाली नहीं तो मर जाता।

वह बोला-भई! आज तो देख लिया खुदाने!

तो सब जगह ईश्वरकी सेना रहती है और वह सब जगह देखता है।

(श्रीविष्णुसहस्रनाम : पृ. 80-81)

मनको श्मशान बना दो!

गुरु वाणीने मेरे आत्मासे कहा-

वत्स! आत्मोन्नतिके इतिहासके समान आकर्षक कोई वस्तु नहीं है।

यह आत्मोन्नति है जिससे जीवन सुखमय होता है।

यह बुरा नहीं है कि बहुत कष्टोंके बाद तुम्हें अनुभव हो कि संसार मिथ्या और दुःखमय है। तुम जितना दुःख पाते हो उतने ही मेरे समीप आते हो।

सहिष्णुताका अभ्यास करो। अपने उत्तरदायित्वको समझो।

किसीके दोषोंको देखने और उनपर टीका-टिप्पणी करनेके पहले अपने बड़े-बड़े दोषोंका अन्वेषण करो!

नम्रता, सरलता, साधुता, सहिष्णुता, अनसूया-ये सब आत्मानुभवके प्रधान अङ्ग हैं। दूसरे तुम्हारे साथ क्या करते हैं, इसकी चिन्ता न करो।

सब वस्तुओंके मूलमें अहङ्कार स्थित है। उसे समूल नष्ट कर दो। रही कामना, सो सावधानीसे उसकी देख-रेख किया करो। उसपर विजयका तबतक विश्वास नहीं किया जा सकता जबतक कि यह शरीर श्मशानमें न पहुँच जाय।

इस मनको श्मशान बना डालो। यदि जीवनकालमें ही मुक्त होना है तो समस्त कामनाओंको जला डालो। तुम्हें बिना विचारके आज्ञापालन सीखना चाहिए। तुम एक बच्चेके अतिरिक्त और क्या हो? क्या तुममें वास्तविक ज्ञान है? इसलिए बच्चेकी भाँति मार्गमें पीछे-पीछे चलो।

अपनेको सब प्रकारसे मेरी इच्छाका अनुगामी बनाओ।

क्या मैं प्रेममें तुम्हारे लिये माताके सदृश नहीं हूँ?

तुम्हारे लिए मैं पिताके समान भी हूँ क्योंकि आवश्यक होने पर दण्ड भी देता हूँ।

यदि तुम्हारी इच्छा गुरु बनने की है तो पहले शिष्य बनना सीखो।

मैं तुम्हें उत्तरदायी, लगनका सच्चा और सदाचारी बनाऊँगा।

मैं तुम्हारी भक्ति और अनुरक्तिको सच्चाई तथा दृढ़ताके रूपमें प्रकट कर दूँगा। अग्रसर होओ, मेरा प्रेम और आशीर्वाद सर्वदा तुम्हारे साथ है।

(ध्यानके समय : पृ. 75-78)

आपके ही लिए-1

समयकी वेगवती धारामें सब कुछ बहा जा रहा है। दृश्यमान प्रपञ्चमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो स्थिर हो। हमारे सामने संसारमें कितने ही उत्थान-पतन और उथल-पुथल होते रहते हैं। जब हम किसी लुभावनी वस्तुमें आसक्त हो जाते हैं या डरावनी वस्तुसे द्वेष करने लगते हैं तब हमारा अन्तरङ्ग राग-द्वेषके रंगमें रंग जाता है। उसीके आवेशमें हम अपने स्वरूपको और उसके अनुरूप स्थिति, भावना, अभ्यास और धर्मको भूल जाते हैं तथा आमूल-चूल संसारके दलदलमें निमग्न तथा संलग्न हो जाते हैं। वर्तमान स्थिति यह है कि न हमें अपने स्वरूपका ज्ञान है, न पररूपका। न हृदयमें सद्भावना है, न जीवनमें सत्कर्म। जिसका अंग-अंग राग रङ्ग और दुःसङ्गमें रंग गया है उसके लिए अज्ञान-निवर्तक तत्त्वज्ञान की तो चर्चा ही क्या है! जहाँ भगवदअर्चा नहीं वहाँ ब्रह्मचर्चा भी शोभाहीन है।

देहावेशकी निवृत्तिके लिए देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान आवश्यक है। वह देह नहीं देही है। पाप-पुण्यका कर्ता है। सुख-दुःखका भोक्ता है। जीवनका आदि-अन्त यह शरीर ही नहीं है। इस शरीरके पूर्व भी जीवन था और पश्चात् भी रहेगा। आकार, आयु, शक्ति, संकल्प, प्रज्ञा, सुख-दुःख आदिमें तारतम्य भी स्पष्ट ही देखनेमें आता है। शून्य, विज्ञान, भौतिक द्रव्य, प्रकृति, परमाणु अथवा ब्रह्मरूप उपदानोमें, चाहे वे एक हों अथवा अनेक हों, सदृश हों अथवा विसदृश हों, संस्काररूप बीज-पूर्वकर्मानुसार ही होते हैं। संस्काररूप बीजके बिना परस्पर विलक्षण, विचित्र एवं विभिन्न जातियों तथा व्यक्तियोंके शरीरकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

इसलिए देहातिरिक्त आत्माको कर्ता, भोक्ता एवं गमनागमनशील जानकर सुखदायक संस्कार उत्पन्न करनेके लिए मनुष्य-शरीरमें धर्मनिष्ठाकी नितान्त आवश्यकता है। धर्मनिष्ठामें ही स्वभावके परिवर्तन और निर्माणकी शक्ति है और देहावेशकी निवृत्ति भी धर्मनिष्ठा ही करती है।

धर्मनिष्ठाके साथ-ही-साथ भक्तिनिष्ठाका होना भी आवश्यक है। क्योंकि मनुष्यका हृदय अत्यन्त संवेदनशील और भावुक है। वह तत्काल प्रिय, अप्रियके प्रति क्रमशः राग-द्वेषके वशीभूत होकर अपने हृदयमें सद्भाव या दुर्भावको स्थिर आश्रय दे देता है और दुःख भोगने लगता है। राग-द्वेष दोनोंका ही अन्तिम परिणाम जलन है; इसलिए अपने हृदयमें निरन्तर लोकोत्तर चमत्कारकारी परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिए। इसीसे लौकिक-पारलौकिक विषयोंके प्रति वैराग्य होता है। अल्पके प्रति वैराग्य हुए बिना अनन्तके प्रति जिज्ञासा, लालसा या प्रगति सम्भव नहीं है। संसारकी छोटी-छोटी वस्तुओंमें लुभा जानेवाला पुरुष परमात्माकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं हो सकता।

आपके ही लिए-2

यह देखनेमें आता है कि चित्तवृत्तिको भौतिक जगतसे ऊपर उठा लेने पर जीवनमें एक प्रकारका अभिमान उदय होता है। धर्मनिष्ठासे दुश्चरित्रताकी निवृत्ति होकर जीवनमें सच्चरित्रताको स्थान मिला। भक्ति निष्ठासे संसार-सम्बन्धी राग-द्वेषकी निवृत्ति होकर वैराग्यकी प्राप्ति हुई। धन्य है ऐसा जीवन! दोषोंका निर्वाण हुआ, सद्गुणी स्वभावका निर्माण हुआ; परन्तु इस निर्वाण और निर्माणके ऊँचे सिंहासन पर अभिमानके रूपमें एक असुरने अपनेको आसीन कर दिया और अपनेको सम्मानका भोक्ता बना बैठा। इस असुरको जीवनके अन्तरङ्गसे निकाल बाहर करनेके लिए आध्यात्मिक रूपसे उच्चकोटिकी समाधि अपेक्षित है। भले वह समाधि ऐश्वर्यानुसन्धान करते-करते तत्पदार्थमें तन्मयता हो अथवा चित्तवृत्तियोंके प्रतिलोम परिणामसे त्वं-पदार्थमें निर्वृत्तिक स्थिति हो।

यह सब कुछ हो जाने पर भी अर्थात् व्यावहारिक रूपमें अभिमान अथवा अस्मिताकी निवृत्ति हो जाने पर भी अविद्या महारानी ज्यों-की-त्यों अपने सिंहासन पर विराजमान रहकर अपने स्वच्छन्द साम्राज्यका संचालन करती रहती हैं। ब्रह्मात्मैक्यबोधकी प्रचण्ड अग्निके बिना उनका भस्मीभाव नहीं हो सकता। इसलिए अन्ततोगत्वा उपनिषद् विद्या, वेदान्तज्ञान अथवा ब्रह्मात्मैक्य बोधकी शरण ग्रहण करनी पड़ती है। सम्पूर्ण साधन उसीके सहायक हैं।

अभी-अभी यह बात कही गयी है कि ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान ही साक्षात् साधन है, अविद्या निवृत्ति ही फल है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म, भक्ति अथवा योग साधन ही नहीं हैं। आप देख चुके हैं कि चरित्रकी पवित्रता और अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए वे कितने उपयोगी हैं। पदार्थ शोधनमें भी उपरोक्त साधन स्वाभाविक रीतिसे क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म भ्रान्तिकी परतोंको हटाते हैं। इन साधनोंके अनुष्ठान और अभ्यासका सर्वोत्तम लाभ तो यह है कि वे जिज्ञासुके जीवनमें सहज स्वभाव बनकर बैठ जाते हैं और ऐक्यज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्तिके अनन्तर भी व्यावहारिक ज्ञानी पुरुषको लोक व्यवहारमें महात्मा बनाकर रखते हैं। वे बिना किसी प्रयत्नके बने रहते हैं और जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख देते हैं। उनके बिना न कोई ज्ञान-सम्प्रदायका आचार्य हो सकता है और न तो सम्प्रदाय-परम्पराका संरक्षण और संवर्द्धन ही हो सकता है। जन-साधारण, पवित्र-सच्चरित्र-लोकोत्तर महापुरुषके ज्ञान पर ही श्रद्धा करता है। उसके बिना ज्ञान भी श्रद्धा-भाजन नहीं होता।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. (4)-(5)

जीवनकी सबसे बड़ी भूल और सबसे बड़ा दुःख

देखो, मनुष्य जो है वह साधारण रूपसे देहमें बँधा हुआ है। यह अपनेको देह ही समझता है और देहके जो सम्बन्धी हैं, उनको समझता है मेरा। इसका फल क्या निकला? एक व्यवहारकी बात देखो! जब हम साढ़े तीन हाथके शरीरको 'मैं' समझते हैं तो इस शरीरके सुखसे सुखी और इस शरीरके दुःखसे दुःखी होते हैं और इस शरीरके लिए जो सुखकारक पदार्थ हैं, उनसे राग करते हैं और इस शरीरके लिए जो दुःखकारक पदार्थ हैं, उनसे द्वेष करते हैं। हमने अपनेको एक सीमामें बाँध दिया। अब बोले भाई, इतना मैं हूँ और मेरे सिवाय और सब दूसरा है। जब हमने अपनेको शरीर समझा, तब दूसरे भी हमको शरीर समझते हैं और संसारके सुख-दुःख इसी बात पर आते हैं।

एक बार मैं रेलगाड़ीसे यात्रा कर रहा था। बरेलीसे हरिद्वार जा रहा था। रात्रिका समय था। एक पेशावरी उस डिब्बेमें सो रहा था। मैंने सोचा कि यह पाँव फैलाकर सो रहा है, तो मैं इसके पाँवके पास बैठ जाऊँ तो कोई हर्ज नहीं है। और, मैं बैठ गया। अब बैठ गया तो वह बड़ा नाराज हुआ। नाराज होकर गाली भी देने लगा और पाँवसे मारने भी लगा। मैं चुपचाप बैठा रहा। दुःख तो मनमें होता था। पर, मैं जब बहुत देर तक नहीं बोला तो वह कहने लगा कि यह तो कोई गाँधीका चेला मालूम पड़ता है! मैं स्टेशन आने पर उतर गया। मनमें दुःख तो बड़ा था। एक महात्मासे मिलने गया और उनसे मैंने कहा कि महाराज, आप लोग तो समझाते हो कि देह नहीं हो, देह नहीं हो और इधर देहका कोई तिरस्कार करता है, कोई गाली देता है तो बड़ा दुःख होता है! यह क्या बात है? उन्होंने कहा कि भइया, जिस समय तिरस्कार होता है, उस समय तुम ऐसी जगह पर बैठे रहते हो, जहाँ बैठने पर तिरस्कार होना ही चाहिए। जब-जब तुम्हें अपमानका अनुभव होता है, तब-तब तुम्हारी बैठक ऐसी जगह पर रहती है, जहाँ तुम अपमानके पात्र रहते हो।

मैंने पूछा कि महाराज, यह कैसे? तो उन्होंने कहा कि अच्छा, जहाँ कूड़ा फेंका जाता है, वहाँ जाकर कोई आदमी बैठ जाय या जहाँ गन्दा पानी बहाया जाता है, उस नालीमें जाकर कोई आदमी लेट जाय और उसपर कोई एक बाल्टी गन्दा पानी और डाल दे या एक कचरेकी टोकरी और उसके ऊपर उड़ेल दे तो वहाँ बैठनेवालेका दोष है, उड़ेलनेवालेका दोष नहीं है। बोले कि तुम जब हड्डी, मांस, चाम, विष्टा, मूत्रकी जो यह पुड़िया है, इसको जब 'मैं' और 'मेरा' करके बैठते हो तो तुम कौनसे पूज्य स्थानमें बैठते हो? हड्डी, मांस, चाम, विष्टा, मूत्र, पीप-ये सब क्या चीज है? गन्दी जगह हैं न! यह सब कूड़ा है, वह इसी पर तो फेंका। तुम अपमानकी जगह पर बैठे हुए हो! इसलिए तुम्हारा अपमान होता है। महात्माने पूछा कि न केवल वह उचित तिरस्कार करता है, बल्कि वह भला करता है। कोई बुरा काम करने लगे और माँ-बाप कभी एकाध चपत उसको मार भी दें तो वे उसकी भलाई करते हैं कि तुमको ऐसा नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार, जब किसीने देहमें बैठे तुम्हारा तिरस्कार किया तो उसने तो माँ-बाप सरीखा आचरण किया। एक चपत लगाया। माने वह सावधान करता है कि तुम देहमें मत बैठो, देह बनकर मत बैठो, इससे ऊपर बैठो।

तो नारायण, हम तो यह बात कह रहे हैं कि हम जो आकर कूड़ेपर बैठ गये हैं न, यहाँ तो अपमान ही मिलेगा, तिरस्कार ही मिलेगा! देहमें 'मैं' कर लिया-यही तो हमारे जीवनकी सबसे बड़ी भूल और सबसे बड़ा दुःख है।

(माण्डूक्यकारिका आगम प्रकरण-पृ. 226-7)

वेदान्त समझनेमें देर क्यों?

बात यह है कि कहनेमें तो थोड़ी देरमें ही वेदान्तकी बात कह दी जाती है। हमारे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कभी-कभी कहा करते थे कि यह वेदान्तकी जो इतनी ऊँची, सच्ची बात है, यह है तो बिलकुल ठीक। परन्तु, यह जो हम ऐसा सोचते हैं कि सुनते ही हमारा श्रोता इसको ग्रहण कर लेगा, इसको समझ जायेगा, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, वह अभीतक भोगोंको समझता रहा है, विषयोंको समझता रहा है, कर्मोंको समझता रहा है और मनोवृत्तियोंको ही समझता रहा है। बिना स्वार्थके, बिना भोगके, बिना प्रयोजनके उसने अबतक कुछ भी समझनेकी कोशिश नहीं की है। केवल सचाईकी दृष्टिसे हम कुछ समझना चाहते हैं कि फायदेकी दृष्टिसे समझना चाहते हैं? तो अबतक उसने जितने कर्म किये हैं या जितने संग्रह किये हैं या जितना पढ़ा, लिखा, सोचा, समझा है-वह किसी-न-किसी फायदेके लिए ही किया है। केवल हमको सच्चाईका ज्ञान हो जाय, इस दृष्टिसे कभी निष्काम ज्ञानका सम्पादन किया ही नहीं। निष्काम-ज्ञानपर उसकी दृष्टि कभी गयी ही नहीं। वे कहते थे कि तुमको बीसों वर्ष जिस बातको समझनेमें लग गये और जिसके लिए तुमने उपासना भी की, अन्तःकरणशुद्धिके लिए धर्मानुष्ठान भी किया, ध्यानका अभ्यास किया, वेदान्तका स्वाध्याय किया। तुम्हें जिस बातको समझनेमें बीसों वर्ष लग गये, उसके बारेमें यह आशा करना कि हमारा श्रोता जो है, वह सुनकर (अथवा पढ़कर) मिनटोंमें ही समझ लेगा, यह आशा कोई बहुत अच्छी नहीं।

लोगोंको समझनेमें देर लगती है। क्योंकि असलमें वे एक ही चीजको समझनेमें नहीं लगे हैं। वे दिन भरमें चार घंटे कुछ और तो दो घंटे कुछ और चीज समझनेकी, कुछ पानेकी, कुछ छोड़नेकी कोशिश करते हैं। उनकी अपनी समझ उनके साथ लगी हुई है। वे एकाएक इस वस्तुको समझ नहीं सकते।

परन्तु बात ऐसी है कि जो सच्चाई है, उसको बतानेमें कोई संकोच नहीं करना चाहिए। क्यों नहीं संकोच करना चाहिए? 1. कुछ तो संस्कार पड़ेगा न! कुछ संस्कार पड़ेगा कि सच्चाई ऐसी होती है। 2. जिसके चित्तमें सच्ची जिज्ञासा नहीं है, वह कहेगा कि आओ भाई, हम एक बार उसको समझकर देखें कि सच्चाई क्या है। 3. जो संसारमें दुःखी हो रहा है, वह कहेगा अरे भाई, यह तो बहुत बढ़िया है! इससे तो हम सब दुःखोंसे छूट जायेंगे। 4. यदि सच्चाईको सुनकर उसके बारेमें संस्कार तुम्हारे चित्तमें पड़ेगा तो बीचमें जो भटकाव (मनोराज्य, लोक-परलोक, चमत्कार, सिद्धियाँ) के जो रास्ते हैं-जिसमें आदमी भटक जाता है; यदि वह सत्यके सम्बन्धमें यह सुनता है कि यह तो केवल समझने मात्रसे ही सारा झगड़ा छूट जाता है, कितनी आसान बात है, तो उसकी रुचि, प्रवृत्ति इस रास्तेमें होती है। वह फिर भटक नहीं सकता। 5. जो जिज्ञासु हैं और सोच-विचारकर चुके हैं, उनके चित्तमें जो थोड़ी बहुत ग्रन्थि रह गयी है, उसका भेदन हो जाता है। 6. जिनके चित्तमें संसारकी आसक्तियाँ हैं, वे जब वेदान्त सुनकर समझते हैं कि अरे भाई, जहाँ-जहाँ हम सुख लेते हैं, जहाँ-जहाँ हम बँधे हैं, फँसे हैं, ये सारी-की-सारी हमारी मनकी कल्पना है, तब वे भी विचार करने लगते हैं। 7. जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं, ज्ञानी पुरुष हैं, उनको भी वेदान्तकी उच्चकोटिकी बात सुननेमें आनन्द आता है-वस्तुतः उनको समझना तो है नहीं, आनन्द भी लेना नहीं, परन्तु उनको सुननेमें अच्छा लगता है। क्योंकि, अपनी आदत है, अपना स्वभाव है। 8. इस तरहसे सच्ची बात कहनेसे लोगोंके मनमें ज्ञानके प्रति उत्कण्ठाका उदय होता है। यदि संशय विपर्यय हो तो निवारणकी प्रेरणा प्राप्त होती है।

(माण्डूक्यकारिका आगम प्रकरण-पृ. 313-315)

ब्रह्मविद्याका वक्ता आश्चर्य है!

श्रीमद्भागवतमें बताया है कि जब हृदयमें ईश्वर विषयक चर्चा श्रवण करनेकी इच्छा होती है तो ईश्वर तत्क्षण हृदयमें आकर बैठ जाता है। असलमें ईश्वरकी कृपा, जन्म-जन्मके पुण्य सत्कर्मोंका परिपाक, गुरुकी कृपा, अपने हृदयमें शुभेच्छा होवे तब वेदान्त सुननेको मिलता है। सुननेके बाद समझमें आवे-यह और भी कृपाकी बात है।

एक बात तो यह है कि बहुत लोगोंको तो यह सुननेको मिलता ही नहीं-सुनानेवाला मिले तब तो सुनें। दुनियामें तो राजकथा, भोगकथा, जगत् कथा, बहू-बेटीकी बात सुनानेवाला मिलेगा, ब्रह्मविद्याको सुनानेवाला तो जल्दी मिलेगा नहीं! और सुननेको मिले भी, तब भी सुनने पर भी, यदि बुद्धि परिच्छिन्न-ग्राहिणी होवे, पूर्वाग्रहसे ग्रस्त हो तो?

एक बार मैं पैदल जा रहा था कि रास्तेमें परिचित एक सेठ मिल गये। रास्तेमें चलते-चलते उन्होंने मुझको संसारकी इतनी चर्चा सुनायी, इतना राग सुनाया, इतना द्वेष सुनाया-इतने गुण-दोष सुनाये कि हमको तो सुनकर आश्चर्य हो गया कि इन लोगोंका दिमाग कितना पक्का होता है कि इतने राग-द्वेषके वातावरणमें रहते हैं, उसकी चर्चा करते हैं, और इनका हार्ट-फेल नहीं होता! इतनी जलन अपने दिलमें रखते हैं, नारायण! उनके लिए तो उनमें यह दोष है, उनमें यह दोष है-संसारमें सब दोष हैं, गुणकी कोई चर्चा ही नहीं। हम लोग तो ऐसा सुन नहीं सकते-अरे, इसमें परब्रह्म परमात्मा है, यह बात तो भूल गयी! नितान्त असत् चर्चामें संसार लगा हुआ है। इसमें तो भगवान् किसीको सद्बुद्धि दे, थोड़ा परिच्छिन्न पदार्थोंसे वैराग्य होवे और यह मनमें आवे कि हम तो अपरिच्छिन्न ब्रह्म-पदार्थका श्रवण करेंगे, तब यह महाराज, जो सबके दिलमें एक है, वह सुननेको मिले।

जिससे अपना हृदय अशुद्ध होता हो ऐसी चर्चा न तो करनी चाहिए और न सुननी चाहिए। पर लोग तो यही नहीं समझते कि हृदय अशुद्ध होता कैसे है? लोग तो यह कहकर डराते हैं कि वेदान्त सुनोगे तो घर-गृहस्थी छूट जायेगी; पर वेदान्तकी घर-गृहस्थीसे कोई दुश्मनी तो है नहीं; वेदान्तकी अर्थात् ज्ञानकी दुश्मनी अगर किसीसे है तो केवल अज्ञानसे है। ज्ञान तुम्हारा घर, तुम्हारा परिवार, तुम्हारा धन, तुम्हारा शरीर-इन सबका कुछ नहीं बिगाड़ेगा, और यह जो तुम्हारे मनमें मान्यताएँ हैं, संस्कार हैं-छोटी-छोटी बातोंमें जो तुम उलझे हुए हो-ये बेवकूफीकी जो मान्यताएँ हैं, इनको तो जरूर मिटा देगा-बिलकुल मिटाकर छोड़ेगा उनको!

अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करो। अपने दुर्भाग्यको मत कोसो, अपने प्रतिबन्धोंके बारेमें भी सोच-सोचकर निराश मत होओ। वेदान्तके अधिकारी सब हैं-अपने घरमें जाना है, यह पराया घर नहीं है। यह अपना आत्मा अपना घर है, अपने पास लौटनेके लिए क्या झगड़ा? घरके दरवाजे पर लिखा हो कि बिना इजाजत अन्दर आना मना है और घरका मालिक आजाय तो क्या वह उसके लिए भी लिखा है? बोले भाई, यह बात जरूर है कि अपने घरमें भी जब ठाकुरबाड़ी बनाते हैं तब जरा पाँव धोकर जाते हैं, गन्दे पाँवसे प्रवेश नहीं करते हैं, पवित्र होकर जाते हैं। तो वेदान्त श्रवणके लिए पवित्र-बुद्धिसे आओ-ईर्ष्या, द्वेष, कलुषित बुद्धिसे नहीं; राग-द्वेष कलुषित बुद्धिसे नहीं; अहंता, ममतासे कलुषित बुद्धिसे नहीं। इस वेदान्त-विद्याका वक्ता आश्चर्य है!

(कठोपनिषद् प्रवचन भाग-1-पृ. 199 से 209)

वैदिक धर्मकी विलक्षणता

हाथ जोड़कर परमेश्वरको मानना-'वह कहीं है' और 'कुछ है'-यह दूसरी चीज है। हमारे अपने भीतर परमेश्वरको मानना यह दूसरी चीज है। तो अपने भीतर हम परमेश्वरको क्यों नहीं देख पाते? इसलिए कि दुकानसे, व्यापारसे, बाहर देखनेसे फुर्सत ही नहीं है। रुचि होय, दिलचस्पी होय तो सब समय निकल आता है। तो बोले-'यदि परब्रह्म परमात्माको तुम्हें ढूँढ़ना है, तो आओ, ढूँढो!

हमारा परमेश्वर जो है, बड़ा ही विलक्षण है। देखो, कई लोग ऐसा मानते हैं कि परमेश्वर तो केवल हाथ जोड़नेकी ही वस्तु है। सात दिनमें एक बार हाथ जोड़ लो, काम बन गया। वह कभी मिलने वाला नहीं है। व्यवहारमें आनेवाला नहीं है। बस काम करते जाओ। हम बताते जाते हैं : जैसे-जैसे उसके कानून हैं-यह, वह! उसके कानूनके अनुसार काम करते जाओ।

हमारे देखो, यदि परमेश्वर हमारा निराकार है, तो निर्विशेष, साक्षातअपरोक्ष अपना आत्मा है। साक्षात् अनुभव होता है अपनी आत्माके रूपमें। और, यदि वह साकार है तो वैकुण्ठमें, गोलोकमें, अपने अवतारके समय, भक्तों पर अनुग्रह करके प्रत्यक्ष प्रकट होता है।

ये लोग विश्वास-विश्वास बोलते हैं न, विदेशी और विधर्मी संस्कारोंसे संस्कृत हो करके वे ऐसा मानने लगे हैं कि ईश्वर तो केवल विश्वासकी ही वस्तु है। यह हमारा वैदिक धर्म नहीं है। जिसके बारेमें बार-बार यह कहा जाय-'यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म।' उस पर यह दोष लगावें कि वह तो कभी किसीको दिखता ही नहीं है, यह आक्षेप ठीक नहीं है। बात यह है कि व्यक्ति वेद और उपनिषद्का स्वाध्याय तो करता नहीं अपितु 'बाईबिल' और 'कुरान'की निराकारताको मानकर वैदिक धर्म पर आक्षेप करने लगता है।

यह वैदिक सनातन धर्मको छोड़कर कहीं किसी भी धर्ममें नहीं है कि इस दीखनेवाले जगत्का, अभिन्न निमित्तोपादन कारण पर ब्रह्म परमात्मा है। माटी भी वही, कुम्हार भी वही है! बना भी वही, बनाता भी वही!! चलता भी वही, चलाता भी वही!!! यह समग्र साकार सृष्टि उन्हींका रूप है। शालिग्राम भी परमात्मा है, नर्मदेश्वर भी परमात्मा है। पीपलका पेड़ भी परमात्मा है, गाय भी परमात्मा है और यह महात्मा भी परमात्मा है!

यह बात अन्य धर्मोंमें नहीं आ सकती क्योंकि उनका परमात्मा जो है, वह जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण नहीं है। जबकि हमारे यहाँ अनुभूति हो जाने पर परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं। यह जो स्थिति है, आप उसको काहेको दूसरे मजहबोंसे मिलाते हैं? सब एक है! सब एक है! अरे बाबा, मेल-मिलाप रखनेके लिए सब एक है; दोस्ती करनेके लिए सब एक है-परन्तु जहाँ तत्त्वका निर्णय होगा वहाँ? कहाँ वह सातवें आसमानमें छिपा हुआ! कहाँ वह केवल निराकार रहनेवाला! कहाँ वह कभी भी किसीके अनुभवमें न आनेवाला; और हमेशा हाथ जोड़नेका विषय!! परन्तु हमारे तो चलनेमें, फिरनेमें, बोलनेमें, सारी क्रियामें वही-वही भरा हुआ है। अनुभवरूपसे भी वही अद्वितीय है और व्यावहारिकरूपसे भी वही सर्वात्मा है, वही सर्व है। यह बात हमारे औपनिषद् सिद्धान्तकी ऐसी विलक्षण है कि यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है!

(बृहदारण्यकोपनिषद्-पृ. 267,8,9;338)

स्वामीश्री करपात्रीजी महाराज

स्वामीश्री करपात्रीजी महाराज अब जिनका नाम श्रीहरिहरानन्दजी सरस्वती हो चुका था के दर्शनका सुयोग मुझे झूसीमें प्राप्त हुआ। हमें ज्ञात हुआ कि उन्होंने श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीसे दण्ड ग्रहण किया है। उनके साथ मुझे 40-45 वर्ष तक सत्सङ्ग एवं आलापका सौभाग्य मिलता रहा। उन दिनों विरक्तोंमें उनकी ब्रह्मविद्या, दर्शनशास्त्र एवं अद्भुत प्रतिभाकी प्रतिष्ठा बढ़ रही थी और वे उदीयमान सूर्यके समान चमक रहे थे। श्रीकरपात्रीजीकी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा साधारण जनताको भी श्रुति-स्मृति पर विश्वास करनेके लिए बाध्य कर देती थी। उनका कहना था कि वर्णाश्रमोचित व्यवहार ब्रह्मज्ञान पर्यन्त करना ही चाहिए। वर्णाश्रम-मर्यादाका उलंघन करने वालोंका व मनमाने अनुष्ठान करने वालोंका वे खुले रूपसे खण्डन करते थे।

मेरे एक प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने हँसते हुए कहा—ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही वास्तविक नित्यता होती है। वेदका यथार्थ परमार्थ आत्मा ही है। और तो सभी अनात्म पदार्थोंकी नित्यता आरोपित एवं कल्पित ही है। 'ईश्वर' सम्बन्धित मेरे प्रश्नके उत्तरमें वे बोले—मायाके द्वारा परमार्थ-ब्रह्मसत्तासे किञ्चित् न्यूनसत्ताक ईश्वरका निरूपण किया जाता है।

उनका कहना था-'वस्तुतः उपनिषदोंमें रस, आनन्द, सुख-भूमा आदिके नामसे निरुक्त रसस्वरूप आत्माका ही वर्णन है।' सिद्धान्ततः अद्वैत एवं भावतः भक्तिका प्रतिपादन उन्हें बहुत प्रिय था। वे कहा करते थे-मुक्ति-भुक्ति-स्पृहा रहित भक्तोंको भगवान्‌का निर्विशेष स्वरूप सन्तृप्त नहीं कर सकता, उनके लिए भगवान्‌को श्रीराम-कृष्णादि रूपोंमें व्यक्त होना पड़ता है। सन्त ज्ञानेश्वर, निवृत्तिनाथ, मुक्ताबाई, तुकाराम, एकनाथ, समर्थरामदास आदि सब अद्वैतवादी होते हुए भी अनन्य वैष्णव थे।

श्रीकरपात्रीजी महाराजमें संघटनकी एक विशिष्ट शक्ति थी। वे अपनी निपुणता, बुद्धि-कौशल एवं सौजन्यसे विरोधियोंको भी अपने अनुकूल बना लिया करते थे। मुझपर उनका सहज स्नेह था। धर्म और ब्रह्मके मर्मज्ञ श्रीस्वामीजीने भक्तिसुधा, भक्ति रसार्णव और भागवत-सुधाके माध्यमसे जिस लोकोत्तर अमलात्मा-मुनीन्द्र-श्रीमत्परमहंसोंके जीवनका अनुपम रीतिसे चित्रण किया है, उसके वे स्वयं मूर्तिमान स्वरूप ही थे। वेदवाणी और तदनुकूल समस्त शास्त्रोंका जैसा समन्वित और समञ्जस स्वरूप उन्होंने अपनी वाणी और लेखनीके द्वारा व्यक्त किया है, वह आत्मसात् करने योग्य है।

जीवनके चरम चरणमें देश-काल-कलना विमुक्त अखण्ड बोध रूप शिवतत्त्वके रूपमें ही वे श्रीवाराणसी केदारखण्डमें विराजमान थे। भागवत-कथामृतका पान करते अघाते नहीं थे। रोमाञ्च-कण्टकित प्रेमाश्रुपरिप्लुत उनके स्वरूपका वह मङ्गलमय दर्शन भावुक-रसिकोंके और रसज्ञोंके हृदयमें स्फुरित रहे!

(पावन प्रसंग : पृ. 31,34,35,38,40,43,44,53,56)

जीवका धर्म क्या है?

एक शरीर और उसके सम्बन्धियोंमें क्रमशः अहंता और ममता करके जीवने स्वयं ही अपने-आपको संसारके बन्धनमें जकड़ लिया है। अब धर्मका काम यह है कि जीवकी अहंता और ममता को शिथिल करके उसे संसारके बन्धनसे सर्वदाके लिए छुड़ा दे। ऐसे धर्मका स्वरूप यही है कि मनुष्य केवल अपने सुखसे फूल न उठे और अपने ही दुःखसे मुरझा न जाय। उसे चाहिये कि वह समस्त प्राणियों के सुख-दुःखके साथ अपना नाता जोड़ दें। सबके सुखमें सुखी हो और सबके दुःखमें दुःखी। इससे अहंकारका बन्धन कटता है और ममता भी शिथिल पड़ती है। परन्तु इतना ही धर्म नहीं है। धर्मकी गति इससे आगे भी है। मनुष्यमें कुछ विशेषता होनी चाहिए। वह विशेषता क्या है? बस, इतनी ही कि किसीको दुःखी देखकर उसका हृदय दयासे द्रवित हो जाय और वह उसके प्रति सहानुभूतिके भाव से भर जाय। यद्यपि सहानुभूतिभी एक बहुत बड़ा बल है, इससे दुःखियों को बड़ी शक्ति प्राप्त होती है, तथापि जो सज्जन कुछ प्रत्यक्ष सहायता कर सकते हैं-वे तन, मन, धनसे दीनोंकी रक्षा करें। उनकी प्रभुता और ऐश्वर्यकी सफलता इसीमें है।

जो दुःखी प्राणियों की उपेक्षा करके अथवा किसी भी प्राणीसे द्वेषभाव रखकर केवल सूखे पूजा-पाठमें लगे रहते हैं,उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती और न तो उन्हें परमात्माकी प्रसन्नता ही प्राप्त हो सकती है। भागवतके चौथे स्कन्धमें कहा गया है कि चारों वेदोंका ज्ञाता और समदर्शी महात्मा भी यदि दीन-दुःखियोंकी उपेक्षा करता है तो उसका सारा वेदज्ञान नष्ट और निष्फल हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे फूटे घड़ेसे पानी बह जाता है।

प्रशंसनीय तो वह है जो कि अपने कष्टोंको मिटानेकी क्षमता होने पर भी उन्हें सहन करें। अर्थात् स्वयं दुःख सहन करके दूसरोंका दुःख मिटावे; अपनी इच्छा अपूर्ण रखकर दूसरेकी इच्छा पूर्ण करे। यह सत्य है कि इससे अपनी साम्पत्तिक, पारिवारिक और शरीरिक हानि होनेकी सम्भावना है। परन्तु उस लाभके सामने, जो इससे स्वयं होता है यह हानि कुछ भी नहीं है। क्योंकि हानि तो होती है केवल सांसारिक पदार्थोंकी और लाभ होता है परमार्थका। ऐसा मनुष्य अपने धर्म-पालनके द्वारा परम कल्याणका अधिकारी होता है।

यह तो हुई जीवके सामान्य धर्मकी बात। एक परम धर्म भी है।

परमधर्मका तो ज्ञान भी बड़े सौभाग्यसे होता है। वह श्रीमद्भागवतमें सुनिश्चित रूपसे बतलाया गया है। ब्रह्माजी बार-बार शास्त्रोंका आलोचन करके इसी निश्चयपर पहुँचे कि समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य, भगवान्के नामोंका जप, कीर्तन और अर्थ-चिन्तन द्वारा परमात्माके निरन्तर स्मरणमें ही है। शास्त्रोंमें इसे ही परमधर्मके नामसे कहा गया है।

(भागवत दर्शन-1 : भूमिका पृ. 114-116)

जीवनमें सद्‌गुणोंकी वृद्धि कैसे हो ? (1)

एकबार भाई लक्ष्मीपतिसे कोई सत्सङ्गका प्रसंग चल रहा था। मनुष्यके जीवनमें सद्‌गुणोंकी वृद्धि कैसे होती है, इसपर मैंने उनको श्रीमद्‌भागवतका यह श्लोक सुनाया–

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः।। (11.13.4)

इस श्लोकका अर्थ उन्हें बहुत पसन्द आया जो इस प्रकार है–

मनुष्यके जीवनमें सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुणका प्रकाश-विकास अथवा वृद्धि-समृद्धिके लिए दस बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है। यदि वे सात्त्विक होंगी तो जीवनमें सद्‌गुणोंका विकास होगा। वे दस बातें इस प्रकार हैं–

1. आप **अध्ययन** क्या करते हैं? हृदय पवित्र करनेवाले उपनिषद् गीता, भागवत, रामायण आदि ग्रन्थ! भोग-विलास, धनोपार्जन सम्बन्धी पुस्तकें अथवा भूत-प्रेत, चोर, डाकू आदिके काल्पनिक ग्रन्थ या बेईमानी, चालाकी, तिलस्माती या वासना बढ़ानेवाली फिल्मी कहानियाँ? आपके जीवनको अपनी-अपनी दिशामें आकृष्ट करनेवाली यही किताबें हैं।

2. आप कैसे **जल**का सेवन करते हैं? स्नानमें, पानमें, भोजनमें? भगवानका चरणामृत, पवित्र नदी एवं स्रोतोंका जल, फलोंका रस, शाकोंके द्वारा निर्मित पेय अथवा सुरा आदि? आप जलके प्रभावसे मुक्त नहीं रह सकते।

3. आप कैसे **लोगों**में रहना, मिलना-जुलना पसन्द करते हैं? आप जैसे लोगोंमें रहेंगे, बड़ा मानकर सेवा करेंगे और जैसा होना चाहेंगे वैसे हो जायेंगे।

4. आपके मनको कैसे **स्थान** प्रिय है? नदी-तट, पर्वत, हरी-भरी वनराजि, तीर्थ, मन्दिर, सन्तोंका निवास अथवा जहाँ सत्सङ्ग हो रहा हो वैसी भूमि। आप स्वयं अपनी रुचिको परखिये, निरखिये। आप वैसे ही होने जा रहे हैं।

5. आप अपना **समय** कैसे व्यतीत करते हैं, निद्रा, आलस्य, प्रमादके कारण निकम्मे तो नहीं हो रहे हैं? आप पौरुषसे वञ्चित हो जायेंगे। आप अर्थलिप्सा एवं भोगवासनासे आक्रान्त होकर कर्म करते हैं? निश्चय ही आपके जीवनमें विक्षेपकी वृद्धि होगी। आप अपने जीवनके अमूल्य क्षणोंका कौनसा अंश सत्यके चिन्तनमें, एकाग्रतामें, भगवद् भक्तिमें एवं लोकहितमें लगाते हैं? आपका एक क्षण, आपके जीवनको स्वर्ग एवं नरक बनानेमें समर्थ है।

(पावन प्रसंग पृ. 260)

जीवनमें सद्‌गुणोंकी वृद्धि कैसे हो ? (2)

6. आपको क्या **करना** पसन्द है? क्या आप चोरी, जारी, हिंसा, पक्षपात आदि मोहसे प्रेरित कर्मोंसे बचनेका प्रयास करते हैं? स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका हित करनेका प्रयत्न करते हैं या नहीं? कर्म देखनेमें (बाहरसे) कितना भी छोटा हो, उसका प्रभाव बहुत व्यापक होता है। भले दूसरोंको उसका पता न लगे, परन्तु आपका अन्त:करण उसके प्रभावसे मुक्त नहीं रह सकता। प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होती है और वह अपने अंग-अंग और अन्तरंग पर भी होती है। कर्मका फल बहिरंग वस्तुके उत्पादनमें नहीं होता, अन्तरंगके निर्माणमें होता है। सबसे अच्छा यह होगा कि आप कोई कर्म करनेके पहले इस ओर गम्भीरतासे ध्यान दे लें कि इससे मेरी आदतें सुधरेंगी या बिगड़ेगी? जिससे किसीका अहित होता हो और अपनी आदत बिगड़ती हो, ऐसा कर्म कभी नहीं करना चाहिए।

7. किस वंशमें आपका **जन्म** हुआ? अध्यात्म शरीरका जन्मदाता शिक्षक अथवा गुरु होता है। उत्तम वंश परम्परा, दोषापनयन एवं गुणाधान रूप संस्कार और सदाचार पालन, ये तीनों ही हमारे जीवनको संवारते हैं। जीवनमें सदाचारकी स्थिति ही पक्का जीवन है।

8. आपके **चिन्तन** की दिशा क्या है? जागते समय, बैठे हुए, एकान्तमें, सोनेके पूर्व आप मन ही मन क्या सोचते रहते हैं? आत्म चिन्तन, लोक-कल्याण या शरीर, भोग, रोग, राग, योग। सावधान! यदि चिन्तनकी दिशा अनुचित एवं अशुद्ध दिशामें चली गयी तो आप कहींके नहीं रहेंगे, न घरके न घाटके। मनुष्यका वास्तविक चिन्तन ही उसका सच्चा जीवन है। ठोस जगतमें आप अपनी वाणी एवं शरीरके व्यवहारको अपने पवित्र चिन्तनका अनुयायी बनाइये। दूसरोंकी बुराई सोचना अपनेको बुरा बनाना है। ध्यान बुरा है तो आप बुरे हैं। ध्यान अच्छा है तो आप अच्छे हैं।

9. आप **मन्त्रणा** किस लक्ष्यसे करते हैं? आपके संकल्प एवं योजनाका उद्देश्य क्या है? आपके मनमें बार-बार क्या आता है? आप कैसे मन्त्रका जप करते हैं? हृदय पवित्र करने वाले मन्त्र, संयम एवं परमात्म चिन्तनसे भरपूर होते हैं। भूतभैरवके मन्त्र या दूसरोंका अहित करनेवाली मन्त्रणा हमारे जीवनको बुराईके गडढेमें डाल देती है।

10. प्रकृतिका गुण-दोषमय प्रवाह अनादि, अनन्त है। चित्त-वृत्तियोंकी नदी, अन्तर्मुखता एवं बहिर्मुखता दोनोंकी ओर जाती है। उसमें कभी विष बहता है, कभी अमृत। कभी शान्ति, करुणा तो कभी ईर्ष्या-द्वेष। इसीमें सावधान रहनेकी घाटी है। आप अपनेको **उत्तम विचारों**की धारामें डाल दीजिये, कभी डूबेंगे, कभी उतरायेंगे। कभी-कभी दाये-बाँये भी होंगे। परन्तु उत्तमताकी धाराको न छोड़िये, वह केवल बाह्य जीवनको ही नहीं सुधारेगी बल्कि अन्तरंग जीवनको भी अमृतमय बना देगी। थोड़े ही दिनों में आप स्वयं आश्चर्यचकित रह जायेंगे कि आपके जीवनको इतना मधु-मधुर इतना सरस, इतना सौरभमय, इतना सुकुमार और इतना संगीतमय क्यों बनाया गया? आप अमृतके पुत्र हैं और अमृत होने, रहनेमें ही आपके जीवनकी सफलता है।

(पावन-प्रसंग-पृ. 261-262)

इन्द्रिय संयमका आधार 'समत्व' होना चाहिए

बहुत-सी बातें जीवनमें अभ्यास करके लानी पड़ती हैं।

'सब ब्रह्म ही है'—यह बार-बार अभ्यास करने योग्य है।

इन्द्रिय समूहका संयम तो हो, पर सब अपना ही स्वरूप है, इस आधारपर हो। जो भीतर है वही बाहर है, जो बाहर है, वही भीतर। जो मुझमें है उससे अधिक कहीं नहीं है।

जिसके विषयमें यह विचार होता है कि 'यह यहाँ नहीं है, वहाँ है; अभी नहीं है, फिर कभी होगा; अपनेमें नहीं, अन्यमें है', वह ब्रह्म नहीं है। जो परमानन्द वैकुण्ठमें है, स्वर्गमें है, समाधिमें है, वही जब तुम्हारे हृदयमें विद्यमान है तो अन्यसे आनन्द प्राप्त करनेकी कंगाली दिखलाना व्यर्थ ही है। वह आनन्द स्वरूप तो तुममें ही है, तुम्हीं हो।

सर्वत्र एकरस परिपूर्ण अविनाशी ही भरा हुआ है। अतः इन्द्रियोंको चञ्चल करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। इन्द्रियोंको चञ्चल रहनेका स्वभाव हो गया है। यह स्वभाव करनेसे पड़ा है, अतः न करनेसे छूट जायेगा। जैसे चाय पीनेका स्वभाव हो गया है। किन्तु कुछ दिन इसे सहकर चाय पीना छोड़े रहें तो फिर चायका स्मरण भी नहीं आवेगा।

इस इन्द्रिय संयमका आधार 'समत्व' होना चाहिए।

हम किसीके घर जाते हैं और वह हमें रुपया भेंट करके प्रणाम करता है तो सोच लेते हैं—'इसमें श्रद्धा है।' किसीके घर जाते हैं, वह केवल प्रणाम ही करता है तो समझते हैं—'यह हमको विरक्त मानता है।' इसमें कोई बुरा-अच्छा नहीं है। इस प्रकार समत्वका अभ्यास करो।

एक प्राकृतिक चिकित्सक हैं। मुझे जुकाम हो जाय तो वे कहते हैं—'बड़ा अच्छा हुआ। शरीरमें एकत्र मल निकला जा रहा है।' ज्वर आ जाय तो कहते हैं—'शरीरका विकार अब निकल गया।'

एक मनुष्य प्रतिदिन आता है। प्रेम है, तब तो प्रतिदिन आकर घण्टे भर बात करता है।

दूसरे परिचित बुद्धिमान् हैं। वे हमारे समयका बहुत ध्यान रखते हैं। वे यह सोचकर नहीं आते कि जायँगे तो स्वामीजीको हमसे बातें करनी होंगी, उनका समय नष्ट होगा।

इस प्रकार सब ब्रह्म है, इस आधारपर इन्द्रियोंका संयम हो, इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

(अपरोक्षानुभूति-प्रवचन : पृ. 217,219,220)

धर्मपालन हृदयकी पवित्रताके लिए होना चाहिए

धर्म अर्थात् बहते हुए मन-इन्द्रिय-प्राणको धारण करके एक मर्यादामें स्थापित करनेकी 'शक्ति'- यह अनुशासनके द्वारा जाग्रत करनी पड़ती है। इसके बिना मनुष्य और पशुका भेद नहीं हो सकता। धर्मानुरोधी 'अर्थ','काम',श्रेय एवं प्रेयके साधन हैं। धर्मके बिना, 'अर्थ','काम', अनर्थके हेतु हैं। किसी-किसीके मनमें शंका रहती है कि धर्मके अनुसार आहार-विहार, व्यवहार अथवा आचार-विचार बनानेपर लौकिक उत्थानमें बाधा पड़ती हैं; क्योंकि आज समाजका काम-काज, लेन-देन ऐसी अवस्थामें पहुँच गया है कि केवल धर्मानुकूल आचरणको लोग एक सनक एवं पागलपन समझते हैं। देखनेमें आता है कि लोक व्यवहारमें जो अधिक धार्मिक होता है उसका लोग उपहास करते हैं और उसकी सफलता संदिग्ध रहती है।

वर्तमान वातावरण और परिस्थितिमें उपर्युक्त बातें कुछ अंशतक सही हैं। फिर भी धर्मानुष्ठान थोड़ेसे तप, कष्ट, सहिष्णुता और धैर्यकी अपेक्षा रखता है। हमारा यह निश्चित मत है, अनुभव है, और लोक-व्यवहारमें ऐसा देखा-सुना है कि सच्चे, सदाचारी, धर्मात्मा पुरुषका उपहास अधिक दिनोंतक नहीं होता। यदि कोई उत्साह, धैर्य और साहसके साथ आसपास रहने वाले लोगोंकी रहनी सहनीकी अपेक्षा न रखकर ईमानदारीके साथ व्यवहार करता जाय तो थोड़े ही दिनोंमें अधिकाधिक जनता उसपर विश्वास करने लगती है।

व्यवहारके क्षेत्रमें सफलता प्राप्त करनेके लिए इससे उत्तम कोई मार्ग नहीं है कि लोग उसपर विश्वास करें। व्यवहार क्षेत्रमें जो बहुतोंका विश्वसनीय हो जाता है, उसे पद-पदपर सफलता वरण करती है-उसका एक-एक कदम सुख-समृद्धिकी ओर बढ़ता है। लोग धर्मवान् अथवा दीन-ईमानसे युक्त पुरुषसे ही व्यवहार करना पसन्द करते हैं, स्वयं चाहे जैसे भी हों।

मैंने देखा है कि छोटे-छोटे व्यापारी अपनेको जनताका विश्वस्त बनाकर अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध बन गये हैं। ठीक है, आजकल विज्ञापनका युग है; परन्तु प्रचारित विज्ञापनपर शंका होती है और सहज विज्ञापन स्थायी होता है। यदि हम सहज भावसे सच्चे धर्मात्मा बनें तो देर-सबेर जनसाधारणका ध्यान खिंचेगा ही। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपना धर्मपालन लोगोंका ध्यान खींचनेके लिए नहीं, अपितु अपने हृदयकी पवित्रताके लिए होना चाहिए।

(व्यवहार और परमार्थ : पृ. ९,१०)

गीताके गुटकेका परिवार

वैसे तो सब लोग ठीक रहते हैं, परन्तु जब अत्यन्त विपरीत या अत्यन्त आकर्षक स्थिति सामने आ जाती है, तब प्रलोभन हमको खींचकर कहाँ पहुँचा देता है–इसका जल्दी पता नहीं लगता।

एक महात्मा बिलकुल विरक्त रहते थे। उनके पास कुछ नहीं था, लँगोटी भी नहीं थी। किसीने उनको गीताका छोटा-सा गुटका देते हुए कहा कि महाराज, आप अवधूत हैं तो ठीक है; कभी मनमें आया तो इसको पढ़ लिया कीजिएगा। महात्माने कहा-कि गीता ही तो है क्या हर्ज है इसको लेनेमें और ले लिया।

अब जब वर्षा आयी तो महात्माने गीताको भींगनेसे बचानेके लिए काँखके नीचे दबा लिया। किसीने कहा कि महाराज, आप इस तरह गीताको हर समय काँखके नीचे कैसे दबाये रखेंगे? हम एक छप्पर डाल देते हैं, उसमें आप भी रहिये और गीताको भी सुरक्षित रखिये। हम गीताके लिए छप्पर बनाते हैं, आपके लिए थोड़े ही बनाते हैं। महात्मा बोले कि क्या हर्ज है और छप्पर बन गयी।

जब रातको सोये तब एक चूहा आ गया और उसने गीताकी पोथी काट दी। भक्तोंने कहा कि महाराज, चूहे बहुत बदमाश हैं। हम उनको भगानेके लिए एक बिल्ली रख देते हैं। इसमें आपको क्या हर्ज है? महात्मा मान गये। बिल्ली रख दी गयी। अब बिल्लीके लिए खाने-पीनेकी आवश्यकता पड़ी। गाँवसे दूध आने लगा। भक्तोंने कहा कि एक गाय ही यहाँ रख देते हैं, गौ सेवा भी हो जायेगी, दूध भी मिलेगा। महात्माने कहा कि क्या हर्ज है, मँगा लो। फिर गायके लिए भूसा भी चाहिए, खेती भी चाहिए। इसमें क्या हर्ज है। इसलिए उसका भी प्रबन्ध हो गया। फिर दासी-दास भी चाहिए तो भक्तोंने कहा कि हम उनका भी प्रबन्ध किये देते हैं। महात्माने कहा कि अच्छा भाई, कर दो प्रबन्ध, क्या हर्ज है? जब दासी-दास रहने लगे तो महात्माजीके हाथ-पाँव दबाने शुरू किये। महात्मा बोले कि क्या हर्ज है? उसके बाद दासी-दासके बच्चे हो गये तो महात्मा बोले कि क्या हर्ज है? कुछ दिन बीतनेपर वही व्यक्ति जिसने गीताका गुटका दिया था-आ गया और बोला कि महात्माजी, यह सब क्या है? महात्मा बोले कि यह सब तुम्हारे दिये हुए गीताके गुटकेका वंश है, उसीका परिवार है।

इसलिए कोई भी बात 'क्या हर्ज है' कहकर स्वीकार नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसकी क्या आवश्यकता है जीवनमें यह देखना चाहिए।

(आप सबसे श्रेष्ठ हैं : पृ. 74,75)

सत्सङ्ग, बच्चोंके लिए ज्यादा जरूरी होता है

जब तक निर्गुण ब्रह्मसे एकताकी प्राप्ति नहीं हो जायेगी और जबतक आत्मातिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च बाधित नहीं हो जायेगा, तबतक संसारमें कोई भी वस्तु शक्तिहीन है, यह कहना सत्यसे मुँह मोड़ना है।

तो यह जो सगुण ईश्वर है, यह आपके लिए शक्ति है। भगवान्‌के श्रीचरणोंमें जो अनुरक्ति है, वह भक्ति है–वह जीवनके लिए बहुत बड़ी शक्ति है। सिद्ध पुरुषका संकल्प, मंत्रकी स्वाभाविक शक्ति और हमारी श्रद्धा–ये तीनों मिलकर जीवनके सब कषाय-कल्मषोंको मिटा देते हैं। हम बड़े अनुभवसे यह बात कह रहे हैं कि सृष्टिमें केवल शिक्षासे काम नहीं चल सकता। श्रद्धाका होना आवश्यक है।

यदि सृष्टिमें-से श्रद्धा मिटा दी गयी तो सृष्टिमें दुःखकी वृद्धि ही होगी।

जो हमारे हृदयमें बनी-बनायी श्रद्धाको बिगाड़ता है, वह हमारी साधनाका शत्रु है। ऐसे लोगोंसे बचना चाहिए।

अज्ञानीसे अज्ञानी मनुष्य द्वारा सच्चा भजन यदि उससे न बने तो अनुकरण रूप भजन करे। जैसे महात्मा लोग सीताराम-सीताराम बोलते हैं, वैसे बोले। जैसे वे माला फेरते हैं वैसे वह फेरे। जैसे वे शंकरजीको बिल्वपत्र चढ़ाते हैं, वैसे वह चढ़ावे! यह क्या हुआ? अपने जीवनमें महान् औषधका सेवन हुआ। गोपियोंका अपने जीवनमें, अपने शरीरमें, अपने मनमें, वचनमें जैसे कोई औषधिका वह उपयोग करता है, ऐसे श्रीकृष्णका उपयोग था। इसका नाम है, 'भक्ति'।

लोग छोटी-छोटी बातोंमें फँसे हुए हैं। वे समझते हैं कि यही सब कुछ है। आजकल बड़े-बूढ़े सत्सङ्गमें जाते हैं और बच्चोंको कहते हैं कि नहीं, तुम्हारी बुद्धि कच्ची है। मानो बच्चे तो सत्संगमें जाकर बिगड़ जाएँगे और खुद बननेके लिए जाते हैं! बड़े-बूढ़ोंके लिए सत्संग नहीं होता है, बच्चोंके लिए ज्यादा जरूरी होता है। बच्चोंपर जो सत्संगका संस्कार पड़ेगा, वह तो उनको बुढ़ापेतक काम देगा।

तो यह भक्ति जो है, यह सेवा है। यह उन लोगोंकी सेवा है, जिनके अन्तःकरणमें कोई राग है, द्वेष है, कोई शोक है। जहाँ रोग है, वहाँ भक्ति प्रवेश करती है और जाकर वहाँ राम, कृष्ण अथवा शिवका चिंतन-सगुण ईश्वरका चिंतन-ऐसा हृदयमें ले आती है कि हृदयकी एक-एक गंदगी धुल जाय। इसलिए जीवनमें भक्तिकी खास जरूरत है।

तो गोपियोंका जीवन धन, उनका प्राणेश्वर, उनका प्राण सर्वस्व उनके मुखमें कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण बनकर बैठ गया। उद्धवजी कहते हैं–'हमें तो इन गोपियोंके चरणोंकी धूलि मिले, वही बहुत है।'

(उद्धवगीत : पृ. 29,30,31,37,38,41)

वाणीका पाप

मैंने सुना है कि किसी गाँवमें एक स्त्रीके यहाँ उसकी लड़कीका विवाह था। उसने लड़कीको देनेके लिए यथा-शक्ति जेवर आदिकी सामग्री एकत्रित की थी। डाकुओंको पता चला तो उन्होंने रातमें धावा बोल दिया और लूटनेके लिए उसके घरमें घुस गये। लड़कीकी माँ डाकुओंके सरदारसे बोली कि भैया, तुम मेरे भाई हो। तुम्हारी बहिनकी लड़कीका ब्याह है। तुम्हारी मर्जी हो तो ले जाओ और तुम्हारी मर्जी हो तो छोड़ दो। इसपर डाकुओंका सरदार द्रवित हो गया और उसने कहा कि वापिस् चलो भाइयों, यहाँ लूटना नहीं, देना है। यथा समय उसने लड़कीका ब्याह अपनी जिम्मेवारीपर, सारा खर्च करके कर दिया।

मनुष्य वह है, जो अपने संकल्पसे, अपनी भावनासे, अपने प्रेमसे दूसरोंको अपने साथ जोड़ ले, परायेको भी अपना बना ले, पशु-पक्षीको भी अपना बना ले। इस तरह एक डाकूको भी भाई बना देनेकी जो शक्ति है, यह मनुष्यके स्वभावकी अभिव्यक्ति है। हमको अपने जीवनकी शैलीसे, रहनीसे यह सिद्ध करना होता है कि हम मानव हैं। यह जिम्मेवारी न पशुपर है, न पक्षी पर। मनुष्य पर ही इसका दायित्व है कि वह अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करे।

मनुस्मृतिका कहना है कि मनुष्यके बोलनेमें चार दोष नहीं होने चाहिए-

(1) हम परुष भाषण नहीं करें, कठोर न बोलें।

(2) हम अपनी जानकारीके विरुद्ध न बोलें। अपनी जैसी जानकारी है, उसको न बोलना तो चल सकता है, परन्तु जब हम किसीसे झूठ बोलते हैं, तब दूसरेको नहीं ठगते, अपने ज्ञानका अपमान करते हैं।

(3) हमारे बोलनेमें 'पैशुन्य' नहीं होना चाहिए अर्थात् चुगली न हो। यहाँकी बात वहाँ और वहाँकी बात यहाँ पहुँचाते रहनेका नाम चुगली है। यह आसुरी सम्पत्तिके अन्तर्गत है। इससे लोगोंमें कलह होता है, दुर्भाव पैदा होता है। भला दूसरेके रहस्यको जानने और फैलानेके प्रयासकी क्या आवश्यकता है?

(4) बोलनेका चौथा दोष है-असम्बद्ध प्रलाप। जैसा प्रश्न हो, प्रसंग हो, उसके अनुरूप ही बोलना चाहिए। ब्याहकी चर्चा जहाँ हो वहाँ मरनेकी चर्चा नहीं और मरनेकी चर्चा जहाँ चल रही हो वहाँ ब्याह अथवा जन्मकी चर्चा नहीं करनी चाहिए। इसीको असम्बद्ध प्रलाप कहते हैं, जो हमारे जीवनमें भर गया है।

अतः मनुष्यके बोलनेमें गुण भले ही बहुतसे न हों, पर ये चार दोष नहीं होने चाहिए। इनको वाणीका पाप बताया गया है। इसलिए मनुष्यको इनसे बचना चाहिए।

(आप सबसे श्रेष्ठ हैं : पृ. 7,8,10,11,12)

यह हृदय बड़ी सुन्दर मंजूषा है

प्रेमकी एक विशेष बात यह है कि वह पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष, अपनी बात और अपने प्यारेकी बात-दोनोंका ऊहापोह स्वयं कर लेता है। हम यह कहेंगे तो वह यह कहेंगे आदि-यह उधेड़-बुन प्रेमीके मनमें होती रहती है।

यदि आपका मन छोटी-मोटी बातोंको पकड़कर बैठ जाता है कि उसने हमें यह कह दिया, उसने हमारे साथ ऐसा कर दिया, तो उससे बहुत बड़ी हानि यह होती है कि अपना प्रियतम छूट जाता है।

मैंने देखा; एक आदमीने किसीको गाली दी। जिसको गाली दी गयी, वह तो तीन-चार दिन तक तमतमाता रहा, और जिसने गाली दी, वह तुरन्त रेस्तराँमें गया, जलपान किया और लोगोंसे हँस-हँसकर बातें करने लगा। असलमें दुःखी होना चाहिए था उसको, जिसने गाली देनेका पाप किया। हुआ यह कि जबानसे एक आवाज निकली और आसमानमें उड़ गयी, अपने कानमें टिकी नहीं-वह सज्जन उसको अपने साथ चिपकाकर बैठा है। दो-तीन दिन तक आँख लाल, मुँह टेढ़ा, सिर टेढ़ा किये बैठे रहा।

तो देखो, छोटी-छोटी चीजको पकड़ लेनेसे बड़ी चीज छूट जाती है। इस संसारमें जितनी चीजें हैं, वे छोटी-छोटी हैं। उनको हम पकड़ लेंगे, तो हमारे दिलमें बहुत बड़ी चीज रखनेकी जो जगह है, वह फँस जायगी। तो सुखी जीवनकी रीति यही है कि इसमें छोटी-छोटी चीजोंको न भरा जाय। आपका यह हृदय बड़ी सुन्दर मंजूषा है। इसमें तो जो आपके घरमें बहुत कीमती हीरा हो, उसको रखिये। यह कबाड़ा रखनेके लिए नहीं है।

तो प्रेमी अपने प्रियतमसे ही उलझता है। उसीके लिए रोता है, उसीके लिए हँसता है। उसीके लिए खाता है, पीता है, उसीके लिए जीता है।

यदि यह कहो कि हँसनेके लिए दूसरा, रोनेके लिए दूसरा, खाने-पीनेके लिए दूसरा; तो तुम्हारा दिल क्या होगा? मुसाफिरखाना हो जायगा। दस आते हैं उसमें और दस जाते हैं। वह अपने प्रियतमका विश्रामधाम नहीं रहेगा। वह तो धर्मशाला हो जायेगा, सराय हो जायगा।

तो प्रेमीका यही स्वभाव है कि वह हर समय अपने प्रियतम प्रभुके साथ, अपने दिलको उलझाये रखे, हर समय उन्हें पकड़े रखे।

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय।।

(प्रणयगीत : पृ. 84,85)

भाई! अपनेको कुछ हल्का करो!

हमारे वेदोंमें मूल संहितामें ही ऐसे मन्त्र आते हैं, जिनमें कहा गया है कि हमारे जीवनमें रुकावट डालनेवाली चार बड़ी भारी दीवारें हैं। तुम्हारे जीवनमें कोई बड़ी अड़चन आ गयी है, उसको पार करो। उसमें एक है अश्रद्धा। अश्रद्धा आपके जीवनमें सबसे बड़ी रुकावट है, उसको श्रद्धाके द्वारा पार करो। दूसरी है—अनृत अर्थात् झूठ। झूठकी चाहरदीवारीको सत्यके द्वारा पार करो। तीसरी है-क्रोध। क्षमाके द्वारा क्रोधपर विजय प्राप्त करो। और चौथी है 'अदान'—यह जो हमको केवल लेना-ही-लेना, लेना-ही-लेना आ गया है; इकट्ठा करो-इकट्ठा करोकी दीवार बन गयी है-इस अवरोधको दानके द्वारा पार करो। माने जीवनके इन चार अवरोधोंको पार करनेके लिए हममें श्रद्धा, सत्य, अहिंसा और दान-होने चाहिए।

आध्यात्मिक दृष्टिसे दान आपके ममत्वको, आपकी ममताको कम करता है। आपके सिरका बोझ कम करके आपको हल्का-फुल्का बनाता है।

एक सज्जन एक महात्माके पास गये। बोले—'महाराज, हमको परमात्माका साक्षात्कार करा दो!'

महात्माने कहा—'अच्छा कल आना तब हम सामने वाले पहाड़के शिखर पर चलेंगे और तुम्हें परमात्माका दर्शन करा देंगे।' दूसरे दिन वह आया ही। महात्माने पहलेसे ही एक पोटलीमें बहुतसे पत्थर बाँध रखे थे। उसके आने पर बोले—'उठाओ इसको और मेरे साथ-साथ चलो।'

दोनों चलने लगे। कुछ दूर जानेके बाद वह बोला—'महाराज! अब यह बोझ लेकर मुझसे और नहीं चला जाता।' महात्मा बोले—'अच्छा, एक पत्थर निकाल दो।' निकाल दिया उसने। कुछ हल्का हो गया। फिर चलने लगा। थोड़ी देर चलनेके बाद वह फिर बोला—'अब तो मुझसे बिलकुल नहीं चला जाता, लगता है मैं मर ही जाऊँगा।' बाबा बोले—'एक पत्थर और फेंक दो।' फेंक दिया। इस तरह पहाड़के शिखर पर चढ़ते-चढ़ते सारे पत्थर फेंक देने पड़े। फिर जरा साँस लेकर उसने कहा—'महाराज, आपने इतना पत्थर उठवाया, पहाड़ पर चढ़ाया, अब तो ऊपर चढ़ आये, अब तो परमात्माका दर्शन करा दीजिये!' महात्मा बोले—'जब पत्थरके पाँच टुकड़े लेकर पहाड़पर नहीं चढ़ सके तब दुनियाँका इतना बोझ दिमागमें लेकर परमात्माके पास कैसे पहुँच सकते हो?' तो भाई, अपनेको कुछ हल्का करो।

(गृहस्थाश्रम धन्य है : पृ. 37,38,39)

भजन करनेकी रीति यही है!

माया मिटानेका क्या उपाय है? आप देखो, यह भक्ति-सिद्धान्तका सार है। मायाकी गोदमें आप भगवान्को डालो। आपके जीवनमें चाहे जितनी माया हो, उसमें एक नन्हें-मुन्हें छोटेसे भगवान्को भी डाल लो! तो यह तो महाराज छिगुनी छूकर पहुँचा पकड़नेवाला है–यह व्रजकी कहावत है, छुई तो अंगुली; लेकिन देखा कि अंगुली छूनेका कोई विरोध नहीं है तो पहुँचा अर्थात् हाथ ही पकड़ लिया।

भगवान् थोड़ी-सी जगह लेनेके लिए दिलमें आते हैं कि हमारे लिए अपने दिलमें अंगूठे भरकी जगह कर दो, हम तुम्हारे जीवनमें प्रवेश करते हैं। और जब भगवान् जीवनमें प्रवेश करते हैं, तब यह माया रूप जो पूतना है, यह नष्ट हो जाती है।

तुम झूठ-मूठ कल्पना ही कर लो कि भगवान् हमारे हृदयमें आ गये। अरे नारायण, भगवान्की कल्पनामें ही वह सामर्थ्य है कि मायाकी कल्पना नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। आपकी मोह ममता जिससे हो, लोभ जिसका हो, उसके साथ भगवान्को जोड़ो। दुहरी याद करो। तो धीरे-धीरे क्या होगा कि संसार हार जायेगा और भगवान् जीत जायेंगे। विष मर जायेगा और अमृत रह जायेगा। हम जानते हैं कि तुम तो दुनिया पकड़े हुए हो। परन्तु, भगवान्के भजन करनेकी रीति यही है।

एक बार हम बहुत परिश्रम करके एक महात्माके पास गये। नदीकी बड़ी तेज धारा थी और जाँघ बराबर पानी था और पत्थर ही पत्थर थे। कभी भी पाँव फिसल जाये तो सीधे गंगाजीमें जाकर गिरते। बड़ी हिम्मत की! जान हथेली पर लेकर नदी पार की और महात्माके पास पहुँचा। बड़े ही भयंकर थे वे। लाल-लाल, बड़ी-बड़ी आँखें निकली हुई, काले-कलूटे, लम्बे-तड़ंगे। वे बोले कि देखो, 'हाथमें धूल रखोगे तो उसमें मक्खन कैसे आवेगा? पहले हाथ साफ कर लो तब उसमें मक्खन लो! तब देखो उसका मजा आता है।'

'अन्तःकरणमें-से जरा यह माया, मोह, ममता जो है, इसको कम करके भगवान्के साथ जोड़ो।' बस इतनी ही बात उन्होंने बतायी। तो वह भयंकर सन्ध्या जब याद आती है तो वह उपदेश याद आ जाता है। लेकिन बड़ी तकलीफ सहकर हमको यह मिला। हम लोग तो देखो आपके बीच आते हैं, पर्चा छपवाते हैं, लाउडस्पीकर लगवाते हैं और आपको एक बात नहीं दस बात सुनाते हैं; पर आपको ये बातें याद नहीं रहेंगी। यदि आप थोड़ा-सा इसके लिए तपस्या करते, तप करते और तत्पश्चात् यदि यह बात आपको मिलती तो मालूम पड़ता कि इसमें कितना महत्त्व है।

(भागवत विमर्श-2 : पृ. 63,64,65)

भौतिकतामें ही सब कुछ नहीं है!

ऐसा भी है कि अगर दुष्टका शासन हो तो वैर-विरोध करके, शान्तिसे बैठना मुश्किल होता है तो थोड़ी-बहुत उसकी भी तृप्ति करनी चाहिए।

हमारे एक सत्संगी थे। उनके यहाँ जब सत्संग होता तो चार-चार घण्टे लगातार होता था। लेकिन बीच-बीचमें थोड़ा-बहुत हँसी-मजाक भी हो जाता था। एक दिन किसीने पूछा-'यह सत्संगके बीचमें चुटकुले-लतीफे क्यों?' तो वे बोले-'देखो, हम भीतरसे तो भगवान्‌से प्रेम करते हैं! तो कलियुग आता है विघ्न डालनेके लिए; सो एक-दो बात उसकी भी कर देते हैं कि हाँ तुम्हारा स्थान यहाँ है! इस प्रकार वह विघ्न नहीं डालता है।' नन्दबाबाने कंसको भी सन्तुष्ट करनेकी जो चेष्टा की, यही उसको कर देनेके लिए जाना है।

अब यह हुआ कि घरमें आये भगवान् और उन्हींकी रक्षा-दीक्षाके लिए नन्दबाबा गये मथुरा! भले थोड़ी देरके लिए ही सही! प्रेम हृदयमें होनेपर वैमुख्य तो हुआ।

वसुदेवजीने नन्दबाबाको बता दिया कि ब्रजमें उत्पात होगा।

तो नन्दबाबा यह सुनते ही 'हरि जगाम शरणं'-भगवान्‌की शरणमें चले गये। सत्पुरुषका यह स्वभाव है कि जब उसके ऊपर कोई विपत्ति आती है तो वह भगवान्‌का ध्यान करता है कि हे प्रभु, तुम हमारी रक्षा करो। वह अन्तर्मुख होगा। भगवान् पर विश्वास आवेगा। इससे हृदयको बड़ा बल मिलता है। तो नन्दबाबा भगवान्‌की शरणमें चले गये।

अब इधर राजा परीक्षितको शंका हुई कि ब्रजमें पूतना जा रही है तो वहाँ तो यह क्या सत्यानाश करेगी। तो शुकदेवजीने उनको सान्त्वना देते हुए कहा-

'देखो, राजा! यह राक्षसी कहाँ विघ्न डालती है? जहाँ भगवान्‌का श्रवण नहीं, नाम कीर्तन नहीं, पूजन नहीं, वहाँ राक्षसी विघ्न डालती है। तो परीक्षित, तुम डरो मत। यहाँ तो गोकुलमें साक्षात् भगवान् हैं। खुद वही हैं। जिनके नाममें राक्षसी विनाशकी शक्ति है, वे गोकुलमें प्रकट हो गये हैं।'

देखो, तुलसीकी थोड़ी गन्ध नाकमें चली जाये, भगवान्‌की याद तो आवेगी। आँखसे भगवान्‌की मूर्ति देख लें, जिह्वासे भगवान्‌का नामोच्चारण कर लें, कानसे श्रवण कर लें, हृदयसे थोड़ा ध्यान कर लें, देखो, जीवन निर्विघ्न हो जायेगा।

भौतिकतामें ही सब कुछ नहीं है।

(भागवत विमर्श-2 : पृ. 49,54-56)

हमारे भगवान्‌का भण्डार भरा पड़ा है

जब अखबारोंमें ऐसा छपता था कि-'भूखसे इतने मर गये।' हमको क्षणभरके लिए भी इस बात पर विश्वास नहीं होता था। हम सोचते थे कि भगवान्‌के राज्यमें भगवान्‌ने जिन प्राणियोंको बनाया है, वे क्या कभी भूखे मर सकते हैं? वे आलसी होंगे, ऐसा हम सोचते थे।

भक्त जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ देखता है कि हमारे भगवान्‌का भण्डार भरा पड़ा है। एक बार मैं घरसे निकला; पाँच आना पैसा था अपनी जेबमें। निकल गया, तो रातको जाकर जिनके यहाँ सोया, वे परिचित थे। और समझो कि हम उस समय अट्ठारह वर्षके हो गये होंगे। तबतक उनके साथ कभी एक पैसेका भी लेन-देनका सम्बन्ध हो, सो बात नहीं। सबेरे उठकर जाने लगे तो लाकर बीस रुपये हमको दिये।

मैंने पूछा-'क्यों? क्या बात है?'

बोले-'भगवान्‌ने हमको आज ऐसी प्रेरणा की है कि हम आपको बीस रुपये दें। उनको मालूम नहीं था कि हम कहाँ जा रहे हैं। वहाँसे हम आसनसोल गये। वहाँ एकने हमको अठावन रुपये दिया। फिर जगन्नाथपुरी चले गये। तो जहाँ-जहाँ जाते हैं ईश्वरका आश्रय लेकर; वह व्यवस्था कर देता है। यह डरना नहीं कि रोटी खानेको कैसे मिलेगी? यह आत्माकी दुर्बलता है।

एक दिनकी बात है, उसी समयकी। सुदर्शनसिंह 'चक्र' और मैं दोनों साथ-ही-साथ थे। स्टेशनका नाम तो स्मरण नहीं है, कहीं 'झरिया'की तरफसे सम्भवतः आ रहे थे। जहाँ तकका किराया था, वहाँ तकका टिकट ले लिया था। रातको नौ बजेका समय था। स्टेशन पर उतर गये। वहाँ एक साधुने कहा-'भोजन करो', तो खा लिया। हम उन दिनों सफेद कपड़ेमें थे। उसके बाद सबेरे चले। दिन भर चलते रहे-छब्बीस-सत्ताईस मीलके करीब चले।

दिन भरके भूखे! रातको एक मुसाफिर खानेमें जब अपना चादर बिछाकर सोने लगे, तो दो बालक हमारे पास आये। सुन्दर-सुन्दर! गोरे-गोरे! स्वच्छ! जैसे कोई स्वर्गसे उतरे हों! अपने मनमें उस समय कोई अलौकिक भाव नहीं हुआ। बालकोंने पूछा-'कुछ खावोगे?' खोआ ले आये। रातको ग्यारह बजे खिलाया। बोले-'हम यहीं रहते हैं।'

दूसरे दिन हमने ढूँढकर चारों तरफ तलाश कर ली। उस स्टेशन मास्टरके सिवा वहाँ कोई रहनेवाला नहीं। कोई बालक नहीं। कहनेका अभिप्राय यह है कि जो भगवान् पर विश्वास रखता है, उसको अन्न-धनकी कमी कभी नहीं पड़ती है। कब भगवान् किसको प्रेरणा करेंगे, इसका पता नहीं लगता है।

(माधुर्य-कादम्बिनी : पृ. 7,8)

इतने दयालु प्रभु!

जब भक्तको तृप्ति नहीं होती, प्यास बढ़ती जाती है, तब भगवान् बोलते हैं–'अरे भक्तवर्य! तुमने बहुत जन्मों तक मेरा भजन किया। तुमने मेरे लिए अपनी स्त्री छोड़ी, अपना घर छोड़ा, अपना धन छोड़ा, मेरे लिए अपनी सुख-सुविधा छोड़ी। केवल मेरी सेवाके लिए तुमने ठंडी-गरमी सही, भूख-प्यास सही! अरे मेरे भक्त! तूने मेरे लिए बड़ा क्लेश सहा। मैं तो उसका बदला कभी चुका नहीं सकता। मैं तो केवल तुम्हारा कर्जदार हूँ!'

'मैं देखता हूँ कि यदि मैं तुम्हें बादशाह बना दूँ, तो क्या तुम्हारे भजन और तुम्हारी तपस्याका फल मिल जायगा? अगर तुमको इन्द्र बना दूँ, ब्रह्मा बना दूँ, योगकी सिद्धि दे दूँ, तो भी ये सब तुम्हारे भजनकी बराबरी नहीं कर सकते।'

'माना, कि पशुको घास-भूसा बहुत अच्छा लगता है। उसको अच्छा लगता है इसलिए मनुष्यको देना तो ठीक नहीं है न! ठीक इसी प्रकार संसारी मनुष्यको राजा होना, इन्द्र होना, ब्रह्मा होना अच्छा लगता है; वह हम भक्तको कैसे दे सकते हैं? इसलिए वैसे तो मैं अपराजित हूँ; किन्तु तुमने अपने प्रेमसे, भक्तिसे मुझको पराजित कर दिया।'

'मैं तो तुम्हारे वशमें हूँ। अब तुम अपने साधु-स्वभावसे, सुशीलतासे हमको अपने ऋणसे उऋण करो, नहीं तो हम अनन्तकालके लिए तुम्हारे कर्जदार हैं।'

यह भगवान्की बात सुनते ही भक्तका हृदय ऐसा पिघल जाता है–'अरे प्रभो! यह क्या बोलते हो? तुम तो कृपाके समुद्र हो। मैं तो संसारके घोर प्रवाहमें पड़ा हुआ हूँ और अबतक तो बड़े-बड़े क्लेश हमको बारम्बार निगल जाते थे। हमारी ओर देख करके तुम्हारे हृदयमें करुणा आयी। अखिल लोकातीत होकर भी तुम श्रीगुरुदेवका रूप धारण करके हमारे सामने प्रकट हुए और ऐसा मन्त्र बताया हमको कि हमारे मनमें जो विकार थे, वे सभी शान्त हो गये।'

'हमारी अविद्या दूर हो गयी। जैसे कोई बाघके मुँहमें पड़ा हो, वहाँसे तुमने हमको छुड़ा लिया। और अपने चरण कमलोंका दास बनाया। ऐसा मन्त्र हमारे कानमें पड़ा कि हमारी सब व्यथा मिट गयी और बारम्बार तुम्हारे नामका श्रवण किया–'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण!' कीर्तन प्राप्त हुआ, श्रवण प्राप्त हुआ और हमारा हृदय शुद्ध हो गया।'

'मैंने तो एक दिन भी तुम्हारी सेवा नहीं की। मैं तो इतना अधम हूँ, इतना दुर्बुद्धि हूँ कि सब कुछ समझता हुआ भी तुम्हारी सेवा नहीं की। मेरा आचरण पवित्र नहीं रहा। मैं तो दण्ड देने योग्य हूँ। लेकिन हे प्रभु! तुमने हमारे ऊपर कितनी कृपा की! तुम अपनी वाणीसे बोलते हो कि 'मैं तुम्हारा ऋणी हूँ?' यह तो सुनकर आश्चर्य हो गया।

इतने दयालु प्रभु! मैं क्या करूँ?

(माधुर्य कादम्बिनी : पृ. 74,75)

यह मनुष्य शरीर कोई साधारण शरीर नहीं है!

'एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वः'–उद्धवजी कहते हैं कि धरती पर यदि कोई सच्चा शरीरधारी है और किसीने अपने जीवनको सफल किया है–तो इन गोपवधुओंने किया है, इन गोपियोंने किया है।

श्रीधर स्वामीने यह बात बड़े सुन्दर ढंगसे समझायी है।

प्रेमकी महिमा किससे? तो बोले कि प्रेम, किससे? मरनेवालेसे कि अमरसे? अधूरेसे कि पूरेसे? इन्द्रियके भोग्यसे कि परमात्मासे?

गोपियोंके प्रेमकी क्या महिमा है? बोले कि गोपियोंके प्रेमका जो विषय है, उसकी ऐसी महिमा है कि उनके प्रेममें बड़प्पन आगया। बड़ेसे प्रेम करनेके कारण वे बड़ी हो गयीं। और, छोटेसे प्रेम करें तो? मच्छर क्या मच्छरीसे प्रेम नहीं करता? कुत्ता क्या कुतियासे प्रेम नहीं करता? संसारमें कितने लोग महाराज, लैला-मजनूं बने फिरते हैं! उनके प्रेमकी कोई कीमत है!! प्रेमकी कीमत, तब होती है, जब वह परमेश्वरके साथ जुड़ता है।

अब देखो, शरीर सफल किसका? तो देखो, यह धन कमाने अथवा भोग करनेसे शरीर सफल नहीं होता है। बोले कि अच्छा, बढ़िया कर्म किया तो शरीर सफल है? नारायण कहो, बहुत कर्म करनेकी मजदूरी तुमको मिलेगी। अतः बहुत कर्म करनेसे शरीर सफल हो गया, सो बात भी नहीं है।

अच्छाजी, हमने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया। सो अब तो सच्चे शरीरधारी हो गये? नहीं तुम अशरीरी हो गये। जहाँ तक साधनका सम्बन्ध है, तुम्हारा शरीर सफल हो गया। लेकिन ब्रह्मज्ञानीका शरीर ब्रह्मज्ञानके अनन्तर किसी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए नहीं रह जाता।

सो, असलमें शरीर सफल किसका हुआ? जिसका शरीर ईश्वरके काम आया।

गोपियोंने अपने शरीरको, अपने जीवनको, अपने यौवनको, अपने हृदयको, अपने सर्वस्वको सिर्फ कृष्णके काममें लगाया। इसलिए, शरीर होवे तो ऐसा होवे!

अच्छा देखो, तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य बुद्धिसे ज्ञान होता है तो बुद्धि सफल। और, मनसे योगाभ्यास होता है, सो मन सफल है। इन्द्रियोंके संयमसे तपस्या होती है, सो इन्द्रियाँ सफल। लेकिन बाबा, इस शरीरसे अगर ईश्वर मिल जाय तो क्या पूछना! धन्य-धन्य। पकड़ ले हाथ! सूरदासने कहा–

हाथ छुड़ाए जात हो, निबल जानि के मोहि। हृदय से जब जाओगे, मरद कहोंगो तोहिं।।

कभी अविश्वास नहीं करना। इसी मनुष्यके शरीरमें, इन्हीं आँखोंसे भगवान्का दर्शन होता है। इसी हाथसे भगवान् पकड़े जाते हैं। इन्हीं कानोंसे उनकी वाणी सुनी जाती है। यह मनुष्य शरीर कोई साधारण शरीर नहीं है!

(उद्धवगीत : 2-17)

प्रेमकी गुरु गोपियाँ हैं

अपने जीवनको यदि धन्य-धन्य करना चाहते हो तो *'हरिकथा कथा, और सब वृथा व्यथा।'* कभी ध्यान देकर देखना और नहीं देखोगे तो जिन्दगी खराब हो जायेगी! हम बात सीधी-सीधी कहते हैं कि यदि तुम इसी कथामें लगे रहोगे कि उनकी बहू ऐसी, उनकी बेटी ऐसी और वह व्यक्ति ऐसा और यह ऐसा! तो तुम्हारे दिलका मटियामेट हो जायगा। तुम्हारा दिल संसारी हो जायगा! तुम ईश्वरके रास्तेमें नहीं बढ़ सकोगे।

जब तुम यह चर्चा अपने घरोंमें निकालोगे कि कृष्ण ऐसे और ग्वाले ऐसे और गोपियाँ ऐसी और वृन्दावन ऐसा और यमुनाजी ऐसी और रास-लीला ऐसी! तब तुम्हारा मन भगवान्‌में लगेगा और तुम्हारा कल्याण होगा। यदि जरा भी मनमें होवे कि हम संसारसे निकलें तो अपनी चर्चाका विषय बदलना पड़ेगा।

तो ये गोपियाँ जब बैठती थीं तब आपसमें कृष्णकी चर्चा करती थीं। गोपियोंने जो कृष्ण-कथा की, वह कथा करो। गोपियोंकी कथा कृष्णकी कथाके समान है और जो उनको सुनता है और पढ़ता है और आपसमें उनकी चर्चा चलाता है, जो उनके बारेमें सोचता है—वह तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।

देखो, गोस्वामी तुलसीदासजी रामके कवि हैं। लेकिन उन्होंने कृष्ण गीतावली लिखी है। बड़ी सुन्दर रचना है। अरे बाबा, बिना कृष्ण-कथाके कवित्त पूरा नहीं होता और बिना गोपियोंकी कथाके कृष्ण कथा पूरी नहीं होती। लोगोंके लिए मंत्र बताया कि देखो, तुम कृष्णको पाना चाहते हो तो 'गोपीजन वल्लभ' मंत्रका जप करो! इस मंत्रका जप माने गोपीकी भावना दुहरा-दुहरा कर, गोपी कैसे-कैसे कृष्णकी सेवा करती थी—इसको दुहरा-दुहराकर श्रीकृष्ण प्रेमकी शिक्षा प्राप्त करो।

गोपी जब दही मथ रही है तो उसकी मथानी गोपीके स्वरमें स्वर मिलाकर नाच रही है। उसके कंगन 'किं-किं' की आवाजकर रहे हैं, मानो झांझ बजा रहे हैं और गोपी गा रही है—कृष्ण....कृष्ण....कृष्ण! ये गोपियाँ प्रेमकी ध्वजा हैं। आप चाहे किसीसे प्रेम करो-रामसे करो, कृष्णसे करो, शिवसे करो, नारायणसे करो; लेकिन प्रेम अगर सीखना है तो गोपीसे सीखो। प्रेमकी गुरु गोपियाँ हैं।

अत: गोपियोंने जो कृष्ण-चरित्रका गान किया, वह उस समय भी तीनों लोकोंको पवित्र कर रहा था। लोगोंको विषय चिन्तनसे छुड़ाकर कृष्ण-चिन्तनमें लगाता था। और, आज भी वे शब्द, वह ध्वनि, विश्व-सृष्टिमें व्याप्त है! आज भी वह विश्वका कल्याण कर रही है। उद्धवजी कहते हैं, उन गोपियोंके चरणोंकी मैं बार-बार वन्दना करता हूँ।

(उद्धव गीत : पृ. 83,84,85,86)

जीव जब निस्साधन हो जाता है, तब भगवान् मिलते हैं!

जब गोपियोंके मनमें मद और मानका उदय हुआ वे कृष्णकी ओर देखना बन्द करके अपनी ओर जब देखने लग गयीं–हम इतनी सुन्दरी, हम इतनी मधुर, हम इतनी गुणवती! तो चाहे संसारको देखो, चाहे अपनी ओर देखो–भगवान्‌को देखना तो बन्द ही हो गया। और जब भक्तने सामने रहने पर भी भगवान्‌की ओर देखना बन्द कर दिया, तो भगवान् क्या करें? भगवान्‌का तो देखना बन्द हो नहीं सकता। उनको चाहे कोई देखे, चाहे कोई न देखे। वह तो देखते ही रहेंगे।

इसपर भगवान् अन्तर्धान हो गये। गोपियोंको भगवान्‌का दीखना बन्द हो गया, परन्तु भगवान्‌को गोपियाँ दीखती रहीं।

अब गोपियाँ व्याकुल हुईं, उन्होंने ढूँढना प्रारम्भ किया। जबतक पाँव चले, वे चलीं, जबतक जबान बोले, तबतक बोलीं, जबतक दूसरोंसे पूछ सकीं, तबतक पूछा। जबतक उनका अभिनय कर सकीं, तबतक अभिनय किया। जब और अधिक व्याकुलता बढ़ी, तब अपने हृदयका सारा भाव उँडेल दिया। मान भी छूट गया, मद भी छूट गया। अन्तमें अपनेको भी भूल गयीं। यह श्रीकृष्ण-दर्शनकी मूर्तिमती लालसा है। रुरुदुः-सिर्फ रोने लगीं। माने अपना बल, अपना पौरुष, अपनी शक्ति अपना साधन हार मानकर बैठ गया। यही भगवान्‌के प्रकट होनेका अवसर है। जीव जब निस्साधन हो जाता है, तब भगवान् मिलते हैं।

श्रीकृष्ण जब प्रकट हुए तो मुस्कुराते हुए प्रकट हुए। मुस्कुराते हुए प्रकट होनेका अर्थ क्या है? यह जो अन्तर्धान होना था, विरह था, यह एक बहुत हलकी चीज थी–यह बतानेके लिए मुस्कुराते हुए आये। इसीलिए परमेश्वरकी दृष्टिसे यह लीलामात्र है और हम लोगोंके लिए यह है भगवान्‌की करुणा, भगवान्‌का अनुग्रह!

तो हम जीवोंकी दृष्टिसे, संसारियोंकी दृष्टिसे, साधकोंकी दृष्टिसे करुणा-वरुणालय जो प्रभु है, परमेश्वर है, उसका यही अनुग्रह है कि वह हमारे बीचमें प्रकट होता है। निर्गुण होने पर भी सगुण होकर आता है; निराकार होने पर भी साकार होकर आता है, बिना माँ-बापके होकर भी माँ-बापवाला बनता है। अभोक्ता होकर भी भोक्ता बनकर आता है। यही उसकी करुणा है, यही उसकी कृपा है, उसकी लीला है। यही उसका उद्धारका साधन है।

(गोपीगीत : पृ. 354,355,357,361,362)

भगवान्‌का सम्बन्ध असली सम्बन्ध है!

रासलीलामें एक प्रसंग आता है, कृष्णने गोपियोंसे कहा कि तुम लोग अपने-अपने घरको लौट जाओ और अपने पतियोंकी सेवा करो। तो गोपियोंने कहा कि धर्मशास्त्रीजी, आप हमारा एक न्याय कर दीजिये। क्या? वे बोली कि एक पुरुष था, उसको परदेश जाना था। तो उसने अपनी पत्नीको अपना एक फोटो दे दिया कि जबतक मैं नहीं आऊँ, तबतक तुम इसके सहारे रहना। अब वह पतिके चले जानेके बाद उस तस्वीरको चन्दन लगावे, माला पहनावे, बड़ी सेवा-पूजा करे। घंटों उसमें लगावे। समय कट गया। वर्ष-दो वर्ष बाद वह पुरुष लौटकर आया। किवाड़ बन्द था और उसकी पत्नी, अपने पतिके चित्रके सामने बैठकर उसकी सेवा-पूजा कर रही थी। अब पतिने पुकारा कि किवाड़ी खोलो। तो अब उसका कर्त्तव्य क्या है? वह चित्रपटकी पूजा करती रहे कि जो अपना असली पति आकर दरवाजे पर किवाड़ खटखटा रहा है, उसको जाकर किवाड़ खोलकर घरमें ले आवे? नारायण कहो! क्या न्याय है? अरे भाई, जबतक पति घरमें नहीं है तबतक तस्वीरकी पूजा! और जब पति साक्षात् आ गया तो तस्वीर छोड़कर असली पतिकी सेवा होगी। गोपियाँ बोलीं कि देखो कृष्ण, संसारमें जितने जीव हैं, उनके असली पति श्यामसुन्दर तुम्हीं हो और यह जो संसारमें पुरुष नामधारी व्यक्ति हैं-ये आपकी तस्वीर हैं, बाहरी ढाँचा है। स्त्रीको मन लगानेके लिए, संयमके लिए, उसकी मनोवृत्तिको कामवासनासे रोकनेके लिए यह तस्वीर दी हुई है। कब तक? जबतक भगवान् न मिलें। भगवत्प्राप्तिके लिए पति होता है।

जैसे पुरुष संन्यास कब ग्रहण करे? ब्रह्मचर्यसे कि गृहस्थाश्रमसे कि वानप्रस्थसे? बोले कि, सच्चा वैराग्य जब हो जाय तब संन्यास ग्रहण करे। बस यही शर्त है।

बोले भाई कि संसारके सम्बन्धियोंको कबतक निभावें?

जबतक भगवान्‌से सच्चा प्रेम न हो तभी तक जीवके लिए संसारमें हजारों कर्त्तव्य हैं। अगर भगवान्‌से सच्चा प्रेम हो गया तो संसारको छोड़कर भगवान्‌से प्रेम कर सकते हैं।

यह सब संसारके सम्बन्ध नकली हैं और भगवान्‌का सम्बन्ध असली है।

संसारका सम्बन्ध असली सम्बन्ध नहीं है।

(उद्धवगीत : पृ. 7-8)

महाकरुणाकी धाराका प्रवाह!

लोग अनुभवकी चर्चा तो बहुत करते हैं, तो हम भी थोड़ी अनुभवकी चर्चा करेंगे। लेकिन ब्रह्मानुभवकी चर्चा नहीं, क्योंकि ब्रह्म अनुभवका विषय नहीं है। वह तो स्वयं अनुभव स्वरूप है। अपना आत्मा ही है। उसपर तो केवल जो पर्दा है उस पर्देको हटाना ही ब्रह्मानुभूति है।

हाँ, तो एक अनुभव आपको सुनाते हैं।

हमारे पास कभी-कभी कुछ लेनेवाले आते हैं। जिस दिन किसी योग्य पात्रको, सत्पुरुषको दस रुपये दे दिये जाते हैं तो वह उसी दिन शाम तक दस गुना होकर या कई गुने होकर लौट आते हैं पापी लोगोंको इसका अनुभव भले न हो, लेकिन यह दिया हुआ कभी व्यर्थ जाता नहीं है। आज नहीं तो किसीको देरसे लौटता है। किसीको तुरन्त उसी दिन लौटता है। मूर्ख लोग दानकी महिमा नहीं जानते हैं। इसको महात्मा लोग जानते हैं। इसका नाम 'यज्ञ' है।

जिस दिलमें मूर्खता हो, उसमें ज्ञानकी आहुति दो। जहाँ रोग हो, वहाँ चिकित्साकी आहुति दो। जहाँ भूख हो, वहाँ अन्नकी आहुति दो। इसीका नाम 'यज्ञ' है।

भगवान्ने अपनी आराधनाके लिए इस विश्वको ही साधनाके रूपमें बनाया है। विश्वकी सब सामग्री विश्वेश्वरकी पूजामें लगानेके लिए है।

अतः तुम चलो, किसीकी भलाईके लिए। तुम हाथ हिलाओ किसीकी भलाईके लिए; बोलो, किसीकी भलाईके लिए; देखो, किसीकी भलाईके लिए। इसीका नाम 'यज्ञ' है।

देखो, जैन, बौद्ध और वेदान्ती एक बातके बारेमें बड़े सहमत हैं। तीनोंमें एक ऐसी श्रृंखला है, एक ऐसी कड़ी है। वे कहते हैं कि-'इस परमार्थकी प्राप्ति हो जाने पर केवल क्लेशकी शान्ति और मोक्ष ही नहीं होता, एक और बात हो जाती है। उसका जो जीवन शेष होता है, उसमें महाकरुणाकी धारा प्रवहित होती है।' उसमें सबका भला ही है। उसमें किसीकी हानि नहीं है।

जैन लोग बोलते हैं कि-'अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है।'

बौद्ध लोग बोलते हैं कि-'करुणाकी प्रतिष्ठा हो जाती है।'

वेदान्ती लोग बोलते हैं कि-'सर्वभूतहिते रताः'माने सर्वभूतहितरतिकी प्रतिष्ठा हो जाती है। ब्रह्मज्ञानी है यह।

जिसको परमार्थ तत्त्वका साक्षात्कार होता है, उस व्यक्तिगत जीवनमें लोगोंकी भलाई-ही-भलाई है। हमारा कोई प्रयोजन अगर सृष्टिमें है तो, येन केन प्रकारेण लोगोंका दुःख दूर हो, अज्ञान दूर हो।

(शिवसंकल्प-सूक्त : पृ. 54,55,72)

ब्रह्मानुभूतिकी मिथ्या कल्पना करनेमें सत्यका साक्षात्कार नहीं है

हम आपको स्पष्ट रूपसे बताते हैं, इस मनमें जितनी बाते हैं सब बाहरसे डाली हुई हैं। इसलिए अकेलेमें जाकर बैठोगे, तो बाहरसे डाली हुई जो बाते हैं, वही याद आयेंगी। अथवा मनोराज्य भले होता रहे, परन्तु सत्यका अनुभव नहीं हो सकता। दुनियाकी चीज मनमें आने अथवा न आनेसे सत्यका अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए हमारे आस्तिक समाजमें 'भगवदाकार वृत्ति' भी श्रवण आदिके द्वारा भीतर डालनी पड़ती है और 'ब्रह्माकार वृत्ति' 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यकी वृत्ति भी श्रवणके द्वारा भीतर डालनी पड़ती है।

भगवद्भक्तिमें तो ऐसा है, जैसे पानीमें शहद मिला दिया, पानी मीठा हो गया और ब्रह्माकार वृत्ति ऐसी है, जैसे पानीमें निर्मली बूटी डाल दी-मैल कट गया। अर्थात् अपने आपको ब्रह्मरूपसे अनुभव होनेसे परिच्छिन्नता कट गयी।

अच्छा देखो, आपसे एक सवाल करते हैं। आपको जो अनुभव हुआ है, उसकी याद आती है कि नहीं! अरे, बड़ी करारी तलवार है यह, भला! यदि आपको किये हुए अनुभवका स्मरण होता है, तो वह आपका अनुभव बिलकुल विषय-सम्बन्धी है, परमार्थ सम्बन्धी नहीं है।

हमारे एक महात्मा 'उत्तरकाशी' में थे। एक दिन उनको रातको दस बजकर पाँच मिनटपर ब्रह्मका अनुभव हो गया! तो फिर जिन्दगी भर उन्होंने उसीकी याद की। देखो, जिस बातकी याद आती है, वह तो भूतमें छूट गयी। वह अनुभव तो परोक्ष हो गया, मर गया और उसका मुर्दा तुम्हारे मनमें सड़ रहा है।

स्मृति माने क्या होता है? क्या इस समय ब्रह्म नहीं है? इस समय क्या तुम वही नहीं हो? अरे मेरे बाप! तुम समझते हो कि रातको हमने ब्रह्मानुभूति की थी और इस समय उसका स्मरण कर रहे हैं! वह तुम्हारा ब्रह्म तो क्षणिक है। क्योंकि इस समय तुम्हें जो स्मरण होता है न, यह तो परोक्षका होता है! जो परोक्ष है, वह तो ब्रह्म ही नहीं है, वह तो कालमें कट गया।

जो यहाँ नहीं है, जो अब नहीं है, जो यह नहीं है, जो तुम्हारी आत्मा नहीं है, उस अनुभवकी याद कर-करके ब्रह्मानुभूतिकी मिथ्या कल्पना करनेमें सत्यका साक्षात्कार नहीं है।

इसका सिद्धान्त सुना देते हैं-जिस समय जिस वस्तुका अनुभव होता है, उस समय उसकी स्मृति नहीं होती। और, जिस समय जिसकी स्मृति होती है, उस समय उसका अनुभव नहीं होता।

(शिवसंकल्प-सूक्त : पृ. 69-70)

अभी और आगे बढ़नेकी गुंजाइश है।

बल्लभाचार्यजी महाराजका जो दर्शन है, वह शुद्धाद्वैत है। माने देश, काल, वस्तु, कारण, स्वतन्त्र, अस्वतन्त्र, अहं, इदं—सब ब्रह्म ही है। इसमें माया-छायाका कोई भेद नहीं है, ऐसा अद्वैत! ज्यों-का-त्यों!

शंकराचार्यजी महाराजका अद्वैत, शुद्धाद्वैत नहीं है। उनका केवलाद्वैत है। केवलाद्वैतका अभिप्राय यह होता है कि अधिष्ठानके ज्ञानसे अध्यस्तका बाध हो जाने पर, विद्याकी प्राप्तिसे अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर, तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य अखण्डार्थधीका उदय हो जानेपर जब द्वैत बाधित होता है, तो वह आत्माद्वैत है; अन्यका अद्वैत नहीं। 'स्व'का जो अद्वैत है, यही वास्तविक अद्वैत है। क्योंकि, अन्यका जो अद्वैत होगा, उसमें 'मैं'का क्या होगा?

एक बात आपको यह भी सुनाते हैं कि शांकर-सिद्धान्तमें भक्तिका विरोध कहीं नहीं है। अन्तर कितना है? माने चार वैष्णवाचार्योंका हम नाम लें और फिर कहें कि इन चारों आचार्योंका शंकराचार्यसे भक्तिके बारेमें मतभेद कहाँ है? तो मतभेद यह है कि ये चारों आचार्य भक्तिको परमावधिके रूप में मानते हैं। माने सब फलोंका फल भगवद्‌भक्ति है। और, शंकराचार्यका मत है कि भक्तिका फल ज्ञान है। तो साधनाके रूपमें भक्तिको स्वीकार करते हैं, फलके रूपमें भक्तिको स्वीकार नहीं करते—यह शंकराचार्य भगवान्‌का दर्शन है और दूसरे जो आचार्य हैं वे भक्तिको ही परमावधिके रूपमें, फलके रूपमें स्वीकार करते हैं।

तो सविशेष-ईश्वरकी प्राप्तिमें भक्ति स्वतन्त्र है—इसमें किसीका कोई मतभेद नहीं है और निर्विशेषकी प्राप्तिमें केवल ज्ञान ही साधन होता है, यह शंकराचार्य भगवान्‌का कहना है।

प्रपञ्चके मिथ्या हुए बिना शंकराचार्यके अद्वैतकी अनुभूति नहीं होती है। यह उनका विशेष है।

यह आपको इसलिए सुनाया कि आप जो अपनी स्थितिको ठीक-ठीक समझे बिना ही अगर कहीं अपनेको पूर्ण मान बैठते हैं, तो अभी और आगे बढ़नेकी गुंजाइश है—इस बातको समझें!

(भागवत विमर्श-1 : पृ. 7,8,9,10)

जिज्ञासु सावधान!

तत्त्वदर्शी महात्मा, जिज्ञासुओंके भ्रम निवारणार्थ उनके अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके अध्यारोप करके कर्म, भाव एवं विचारोंका परिमार्जन करते हैं और उन्हें भगवद्दर्शनके योग्य बनाते हैं। इस योग्यताके निर्माणमें जिन साधनों और युक्तियोंका उपयोग करना पड़ता है, उनको तत्त्व अथवा भगवान् नहीं कहा जाता।

अध्यारोप और अपवादकी युक्तिसे ही सम्पूर्ण धर्म, उपासना, योग और विचार शास्त्रका तत्त्वज्ञानमें समन्वय होता है। समन्वय-दृष्टिसे ही सबकी संगति भगवद्दर्शनके साथ लगती है।

गणेश, शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य-इन भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाले देवताओं, राम-कृष्ण आदि अवतारों, गुरु आदि व्यक्तियों और अग्नि आदि पदार्थोंमें भगवद् बुद्धि करके जो उपासना की जाती है वह तदाकार वृत्तिके द्वारा नानात्मक प्रपञ्चसे वैराग्य और एक तत्त्वके अनुसन्धानके लिए ही है।

इस तदाकार वृत्तिके जो चमत्कार, सिद्धियाँ, दर्शन, स्थितियाँ और अनुभूतियाँ हैं, वह जिज्ञासुओंको अपनेमें आबद्ध करनेके लिए नहीं हैं; प्रत्युत अपनी आत्मा उनसे विविक्त, असंग द्रष्टा है-यह ज्ञान करानेके लिए ही है। जो उन्हींमें आग्रह कर बैठा है, वह अध्यारोपित आकार-प्रकारमें ही फँस जाता है।

जब शुद्ध अन्तःकरण रूप वसुदेव और शुद्ध बुद्धि रूपा देवकीके संयोगसे ब्रह्मका कृष्णके रूपमें अवतरण होता है, तब वे पूतना रूपी अविद्या एवं कंसादि रूप अविद्याके कार्योंकी निवृत्ति करते हैं। जैसे आरूढ़ चेतन ही अविद्याका निवर्तक है, वैसे ही अवतीर्ण चेतन ही दुःख-दोषादिका निवर्तक होता है। अविद्याकी निवृत्तिके लिए सामान्य ईश्वर-विश्वास पर्याप्त नहीं है; उसका अभेदेन अपरोक्ष साक्षात्कार भी अपेक्षित है। इसलिए तत्त्व जिज्ञासुको इस दिशामें पूर्ण सावधान रहना चाहिए।

हमारा अनुभव है कि यदि यह तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाय तो आगे कुछ होगा ऐसी परोक्ष सत्ताका भय नहीं रहता। फिर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। आत्मसत्ताके सिवाय कुछ भी शेष नहीं रहता। सम्पूर्ण ज्ञातव्योंकी इसमें परि-समाप्ति हो जाती है। यह तत्त्वदृष्टि, सत्यके निरूपणकी दृष्टिसे, आचार-व्यवहारकी दृष्टिसे, प्रमाण-मीमांसाकी दृष्टिसे, स्वरूप दृष्टिसे सर्वथा परिपूर्ण है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 91,92, व्यवहार और परमार्थ : पृ. 63,135)

सिद्धान्त और जीवन!

यह एक प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक प्राणीका आचरण उसके ज्ञानके अनुसार ही होता है। अपने ज्ञानके विरुद्ध अथवा धारणाके विपरीत कोई काम नहीं किया जा सकता। हाँ, विवशताकी बात दूसरी है। चूँकि हम समझते हैं कि रुपये, स्त्री, पुत्र, यह शरीर अच्छी चीज हैं, अतएव इनकी रक्षाके लिए सदैव सचेष्ट रहते हैं। यहाँ तक कि हमारी प्रत्येक क्रिया ही उसीको लक्ष्य करके होती है। यदि हृदयके कोने-कोनेमें यह बात बैठ जाय कि एकमात्र सच्चिदानन्द प्रभु या आत्मतत्त्वके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, सब कुछ वही या 'मैं' हूँ, तो इस मिथ्यात्वेन निश्चित प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धमें होनेवाले शुभ या अशुभ कर्मोंकी ओर वृत्तियोंकी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है। उदाहरणतः जिसे पूर्णतया यह बात मालूम हो गयी कि जिसे हम जलके रूपमें देख रहे हैं वह मरु मरीचिका जल है तो वह प्यास लगनेपर भी कदापि उधर पानीके लिए नहीं जा सकता, बल्कि दूसरा कोई जाता दीखे तो उसे भी रोकनेकी चेष्टा करेगा, और कोई जानेके लिए विवश करे तो भी प्रसन्नतासे नहीं जायेगा। वैसे ही जिन्होंने जगतका मिथ्यात्व जान लिया, इसकी दु:खरूपता और हेयताका विचार कर लिया, वे कभी जगत्‌की नानाविध प्रवृत्तियोंमें जा नहीं सकते।

कहना-सुनना तो हम साधारण लोगोंके विषयमें ही बनता है। हमारा बौद्धिक ज्ञान चाहे जितना बढ़ा हो, हम चाहे जितना सुन्दर लेख लिखते हों, व्याख्यान झाड़ते हों, बाह्य त्यागका आडम्बर रचते हों; परन्तु अभी हमारा हृदय संसारकी सत्यता, प्रियता और ऐषणाओंसे शून्य नहीं हुआ है। ये सब स्वार्थ सिद्धिके लिए कला-मात्र हैं, चाहे वह स्वार्थ रुपयेका हो, मान-प्रतिष्ठाका हो या कीर्तिका हो।

सिद्धान्तकी दृष्टिसे प्रवृत्तिमात्र ही अविद्या और कामनाके कारण होती है। हाँ, आधिकारिक महापुरुषोंकी बात दूसरी है। वस्तुतः जब हम संसारमें आते हैं, तो भेद अथवा द्वैत-अज्ञानको स्वीकार करके ही आते हैं, फलस्वरूप कामनाओंसे बच नहीं सकते। यही कारण है कि हम नाना प्रकारके बन्धनों तथा दु:खोंसे घिरे हुए हैं, एवं सिद्धान्तसे च्युत हैं, हमें आदर्श स्थिति प्राप्त नहीं हुई है। सर्वथा अच्छा तो यह है कि परमानन्दकी साक्षात् अनुभूति रूपी आदर्श स्थितिको प्राप्त करनेके लिए निरन्तर पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न किया जाय। परन्तु वह प्रयत्न परकल्याणके लिए नहीं, लोकसंग्रह और आडम्बरके लिए नहीं, किन्तु आत्मशुद्धिकी सच्ची भावनासे साधन रूपमें आत्म कल्याणके लिए होनी चाहिए। ऐसा केवल वही कर सकता है जो सिद्धान्तपर आरूढ़ होनेकी सच्ची उत्सुकता रखता है। यह अध्यात्मिक पथ नितान्त व्यक्तिगत तथा स्वाश्रित है। हमें स्वयं चलकर इस मार्गको तय करना पड़ेगा और अन्तमें एक अद्वितीय, निर्द्वन्द्व वस्तु स्थिति होगी ही।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 49-51)

यही भाग्योदयका शुभ समय है!

अनादि कालसे, जन्म-जन्मान्तरसे इसी संसारमें रहते-रहते इसके संस्कार इतने दृढ़ मूल हो गये हैं कि उन्हें दूर करना सरल नहीं। इसके लिए बड़े अभ्यास, परम श्रद्धा, तत्परता और सुदृढ़ संयमकी आवश्यकता है।

मोहवश स्त्री-पुत्रको छातीसे चिपकायें रहें, रात्रि भर जागकर कौड़ी-कौड़ीकी गिनती करते रहें, और परमार्थ हमें स्वयं आकर प्राप्त हो जाय, यह सब कल्पना-जगतकी बातें हैं। मिथ्या प्रलोभन वचनोंमें पड़ा हुआ पुरुष परमार्थ पथका पथिक नहीं हो सकता। इसके लिए घोर तपस्या करनी होगी। सर्वस्व त्याग करना होगा। विविध विघ्न बाधाओंसे संकुल इस संसार रूप भीषण समुद्रमें असंख्य तरङ्गाघातोंका सामना करनेके लिए एक निष्ठुर शिलाखण्डकी भाँति स्थित होना होगा। जैसे भूखा सिंह अपनी भक्ष्य वस्तुको देखते ही उसपर अपनी सारी शक्तिसे तत्क्षण आक्रमण कर देता है, उसी प्रकार हमें अपने लक्ष्यपर टूट पड़ना होगा। मार्ग लम्बा है, पर उसका अन्त अवश्यम्भावी है। शिथिल उत्साहसे काम न चलेगा। यही भाग्योदयका शुभ समय है, यही पवित्रतम देश है, बिना किसी प्रकारकी हिचकिचाहटके एक पगली छलाँगमें ही हम उस आवरणको नष्ट कर दें जो हमें अपने लक्ष्यसे पृथक् किये हुए है।

यह भी जान लेना चाहिए कि वह 'आवरण' कोई दूसरी वस्तु नहीं, हमारे उत्साहकी न्यूनता ही है। सच्ची व्याकुलता या जिज्ञासाके अभावके कारण ही नाना प्रकारके बहाने बनाकर हम अपनेको दूसरोंको ठगनेके लोभमें आकर स्वयं ठगे जा रहे हैं।

हम दूसरोंके उद्धारकी शक्ति नहीं रखते। अभी पहले अपना उद्धार तो कर लें। और अपना उद्धार तभी सम्भव है, जब हम सिद्धान्तपर आरूढ़ हो जायँ, आदर्श स्थिति प्राप्त कर लें। हमें चाहिए कि हम ऐसी उपासना करें, ऐसी सच्ची साधना करें कि साधक-साध्य और उपासक-उपास्य सभी उस अनन्त साधनामें, उपासनामें आकर मिल जायँ। उसमें केवल साधना-ही-साधना रह जाय। वस्तुतः यही सिद्धान्त और आदर्श स्थिति है। यह सिद्धान्त जबतक जीवनके परमाणु-परमाणुमें व्याप्त न हो जायँ, और यह जीवनबिन्दु सिद्धान्तके महासमुद्रमें मिलकर वही न हो जाय, तबतक इस निष्ठुर साधनाकी प्रगति अबाधित गतिसे उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहनी चाहिए।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 51,52)

साधनाका वास्तविक रूप क्या है?

साधनाका सच्चा रूप है, कृत्रिमको छोड़कर अकृत्रिमकी ओर अथवा अनात्माको छोड़कर आत्माकी ओर अध्यात्म यात्रा एवं अन्तमें उसीमें परिनिष्ठित हो जाना। अर्थात् बहिर्विषयोंकी ओर दौड़नेवाले वृत्ति-प्रवाहको संकुचित करके उसे प्रत्यक् चेतनकी ओर प्रवाहित करना ही वास्तविक साधना है। होता यह है कि हम प्रिय-अप्रिय मात्रास्पर्शोंकी कटुता एवं दुःखयोनिता पर विश्वास रखनेकी चेष्टा करते रहने पर भी उनसे बार-बार प्रभावित होते रहते हैं तथा जन्म-जन्मकी संचित वासनाओंसे हमें अनेकों बार पददलित होना पड़ता है। यह सब सत्य होने पर भी निराश होनेका कोई कारण नहीं है। नाना प्रकारकी विघ्न बाधाओंसे तुमुल युद्ध करके हमारा आत्मविकास ही होगा, इसमें सन्देह नहीं है। अभी हमें अपनी शक्ति पर, महिमा पर सच्ची निष्ठा नहीं है, इसीकी चेष्टा ही 'साधना' है।

प्राचीन समयमें इस साधनाका श्रेणी-विभाग था। पहले, अन्तःकोशके साथ तादात्म्य स्थापित कराके बहिःकोश परसे अहंभाव हटवाया जाता था और इस प्रकार क्रम-क्रमसे अन्तरतम वस्तुका बोध कराया जाता था। इस प्रणालीसे अपने चारों योगोंका-मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगका समन्वय भी इस ज्ञान साधनाके साथ पूर्णतः हो जाता था।

इस साधनामें बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध विच्छेद कराते हुए वासनाक्षयकी ओर ले चलनेके लिए **वैराग्यदेव** स्वयं उपस्थित रहते थे।

तत् पदार्थके साक्षात्कारकी ओर अग्रसर करके मनको भगवद्रूपता देती हुई **भक्ति देवी** साधकको साक्षात् मनोनाशके उत्तम प्रासाद (भवन) पर स्थापित कर देती थीं।

ऋद्धि-सिद्धि तथा विविध प्रकारकी मुक्तियों एवं बन्धोंके अत्यन्ताभावके साक्षी केवल-निरपेक्ष **ज्ञानदेव** जैसे कि वे वस्तुतः हैं, अपने आपमें ही मग्न रहते थे।

जबतक हम सिद्धान्त पर आरूढ़ न हो जायँ तबतक निरन्तर कठोर साधनाके द्वारा इस पर आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। किसी प्रकार भी अपनी कृतकृत्यताके धोखेमें नहीं पड़ना चाहिए।

वासनाएँ बहुत बलिष्ठ हैं। अतः इनका कड़ा निरीक्षण होना चाहिए। वासनाओंका सबसे भयंकर रूप है किसीको सिद्धके आसनपर बैठा देना। इस दलदलमें फँसकर शायद ही कोई धीर-वीर निकल सकता है। आदर्श वह है जिससे फिर कभी संसारमें लौटकर न आना पड़े।

जो दूसरोंके उद्धारकी कम्पनियाँ खोलकर बैठे हों उन्हें खोलने दें, उनसे अपना कोई मतलब नहीं। हमें तो अपने आपको देखना चाहिए और यह याद रखना चाहिए कि सिद्धान्त ही जीवन है और जीवन ही सिद्धान्त है तथा जबतक दोनों पृथक्-पृथक् हैं तबतक दोनों ही निष्फल हैं।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 53/54)

बोधवान्के शुभ सद्‌गुण

बोधात्मक स्थिति होने पर ये शुभ सद्‌गुण बोधवान्के जीवनमें स्वाभाविक ही रहने लगते हैं- व्यवहार शुद्धि, अन्त:करणकी निर्मलता और सहज स्थिति। साधन कालमें इनके लिए प्रयास करना पड़ता है और सिद्धकालमें ये बिना प्रयत्नके स्वत: सिद्ध होते हैं-

(1) **व्यवहार शुद्धि**-संयम, सरलता, सादगी, समता, सत्यता, सदाचार आदि सद्‌गुण स्वाभाविक ही जीवनमें उतर आते हैं। बाह्य वस्तुओंमें सुखबुद्धि न रहनेके कारण अन्यायसे संग्रह-परिग्रहका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भोग लिप्सासे उत्पन्न होनेवाली हिंसा स्वत: निवृत्त हो जाती है। किसी वस्तुके नाशका भय नहीं रहता। छोटे-से-छोटे कार्यमें भी दैवी सम्पत्तिके महान् गुणोंका प्राकट्य होने लगता है। जाति, पन्थ और भाषाका दुराग्रह मिट जाता है। वह समाज, जाति, राष्ट्र, मानवता, विश्व एवं विश्वात्माका सच्चा सेवक होता है। उसके शरीरके कण-कण, रोम-रोम, रग-रग विश्वहित, भगवत्प्रेम और आत्मज्ञानसे परिपूर्ण रहते हैं तथा उनकी ऐसी रश्मियाँ एवं धाराएँ बिखरती रहती हैं, जिनसे सम्पूर्ण विश्व प्रेमसे परिप्लुत होता रहता है।

(2) **अन्त:करणकी निर्मलता**-अन्त:करणके अच्युत तत्त्वमें स्थित हो जानेसे विषय सम्बन्धी सारे विकार स्वयं ही दूर हो जाते हैं। सत्य, अहिंसा, निष्कामता, निर्लोभता आदि सद्‌गुणोंमें अन्त:करण सर्वथा निर्मल एवं निर्विषय रहता है।

(3) **सत्ता सामान्यमें स्थिति अथवा सहज स्थिति**-जैसे स्वप्नका द्रष्टा और दृश्य एक ही तत्त्व है वैसे ही परिणामके लिए देश, काल और निमित्त न रखनेवाले निर्विकार तत्त्वमें सब आत्मस्वरूप ही है। यही सत्ता सामान्य है जो कि निर्विशेष परिपूर्ण ब्रह्म ही है-इसे केवल बोधवान् पुरुष ही जानते हैं और यही उनका स्वरूप है। यही सत्ता सामान्य सम है। योग और भोग, समाधि और विक्षेप एक हैं, क्योंकि वे ज्ञानीकी दृष्टिमें निर्विशेष हैं। यह दृष्टि अन्त:शीलताकी जननी है। दूसरोंकी दृष्टिमें जो बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, अथवा निम्नकोटिका है-दोनों ही उसके लिए अपने स्वरूप हैं। कोई भी उसे आश्चर्य चकित अथवा क्षुब्ध नहीं कर सकता। उसके अपने स्वरूपसे भिन्न द्रष्टा, दर्शन, दृश्य कुछ भी नहीं है। वह सहज भावसे रहता है। अपने जीवनमें किसी प्रकारकी विशेषताका आरोप नहीं करता। उसका व्यवहार सम है, वृत्ति सम है, स्वरूप सम है और विषमता भी सम है। वह जीवन्मुक्त है।

अबतक जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे सत्ता सामान्यमें स्थित हुए हैं और जो हैं, वे स्थित हैं और जो आगे होंगे, उन्हें स्थित होना होगा।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 182,183,218)

गुरुदेव साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वर हैं

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, जैसे रोग निवारणकी औषधियाँ होती हैं, वैसे ही-

काम पर विजय प्राप्त करनेका उपाय यह है कि संकल्प मत करो।

क्रोध पर विजय प्राप्त करनेका उपाय यह है कि कामना मत करो।

धनसे क्या-क्या अनर्थ होते हैं-इस पर विचार करनेसे लोभ पर विजय प्राप्त हो जाती है।

तत्त्वपर विचार करनेसे, असलियतका पता लगनेसे भय दूर हो जाता है।

अध्यात्म-विद्या (आन्वीक्षिकी)से शोक-मोह दूर हो जाता है।

महापुरुषोंकी उपासनासे दम्भ दूर हो जाता है।

मौनसे योगके विघ्न दूर होते हैं।

देखिये, इसका अर्थ यह है कि यदि आपको कभी किसी देवताका दर्शन हो, कोई सिद्धि आये, चमत्कार दिखायी पड़े तो उसे बताना नहीं चाहिए। यदि आप बता देंगे, तब तो आपके साधनमें विघ्न पड़ जायेगा। किन्तु मौन रहेंगे तो आपका साधन बढ़ जायेगा। 'योगान्तरायान् मौनेन'-जब कोई सिद्धि आने पर मुँह खुल जाता है, तब वह सिद्धि चली जाती है।

शरीर-प्राण आदिको निश्चेष्ट रखकर, हिंसा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

सबके ऊपर कृपा करनी चाहिए-यहाँ तक कि जो सता रहा हो, उसके ऊपर भी।

समाधि लगाकर दैव-दुःखको जीतना चाहिए। जैसे कभी वर्षा हो रही हो, बिजली कड़क रही हो और उससे बचनेका दूसरा कोई उपाय न हो तो समाधि लगा लेनी चाहिए।

आध्यात्मिक दुःखको योगबलसे जीत लेना चाहिए।

निद्राको सात्त्विक भोजन, सात्त्विक स्थान और सात्त्विक संगसे जीतें।

सत्त्वगुण द्वारा रजोगुण एवं तमोगुण पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए।

उपरतिके द्वारा सत्त्वगुण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

आगे बताते हैं कि जीवनमें चाहे कितने भी दोष अथवा साधनाके विघ्न हों, किन्तु उन सबपर गुरु-भक्तिके द्वारा सुगमतासे विजय प्राप्त की जा सकती है।

गुरुको कभी भी मनुष्य नहीं समझना चाहिए। ये ज्ञानका दीपक हाथमें लेकर तुम्हें मार्ग दिखानेके लिए आये हैं। जो लोग उनको मनुष्य समझते हैं, उनका पढ़ना-लिखना वैसा ही व्यर्थ है जैसे हाथीका स्नान।

गुरुदेव तो साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वर हैं। बड़े-बड़े योगेश्वर इनके चरणारविन्दको ढूँढ़ते रहते हैं।

(भागवत दर्शन-1 : सप्तम स्कन्ध पृ. 58)

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके प्रिय दो श्लोक!

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीको महात्माका लक्षण बताते हैं-

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः।।
न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः।।

कोई चाहे अच्छा करे या बुरा करे, अच्छा कहे या बुरा कहे; क्योंकि वह गुण-दोषके आधार पर ऐसा करता रहता है; लेकिन तुम न तो उसकी स्तुति करो और न निन्दा करो। समदर्शी मुनि होकर रहो! न अच्छा-बुरा करो, न अच्छा-बुरा बोलो और न अच्छा-बुरा सोचो, आत्माराम होकर रहो। महात्माको इसी वृत्तिसे जड़वत् विचरण करना चाहिए।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे कि बस, ये दो श्लोक ध्यानमें रख लो और इसके बाद मस्तीमें संसारमें विचरो, कहीं कोई दुःख नहीं है।

एक तो अब यह हुआ कि दूसरे लोग अच्छा-बुरा करें या कहें तो उनकी निन्दा-स्तुति न करें। देखो, इस प्रकारके आचरणका उपदेश उनके लिए नहीं है, जो प्रचार करनेकी वासनासे युक्त हैं। यह तो उनके लिए है, जो सहज आत्मस्वरूपमें स्थित हैं। जब गुण-दोषकी दृष्टि ही नहीं है तो किसकी निन्दा करे और किसकी स्तुति करे? इसलिए, वह महात्मा समदर्शी होता है। चोरके प्रति और साहूकारके प्रति भी एक-सा ही रहता है। सब उसके पास आते हैं।

दूसरे श्लोकमें-ज्ञानी पुरुष स्वयं कैसे रहे? न अच्छा-बुरा करे, न अच्छा-बुरा कहे और न ही अच्छा-बुरा सोचे। आत्माराम होकर रहे। ऐसे विचरण करें-जिससे लोग समझें कि यह कोई मूर्ख है और इससे हमारा कोई काम बननेवाला नहीं है। एक कथा सुनो-

एक महात्माका दर्शन करनेके लिए बहुत लोग जा रहे थे। एक सज्जनके घरमें एक तोता था। उसने कहा कि जरा, उन महात्माजीसे पूछकर आना कि मैं इस जेलखानेसे कैसे छूटूँगा? अब वे सज्जन गये और उन्होंने महात्माजीसे पूछ लिया। अब महात्माजी बोले तो कुछ नहीं और बेहोश होकर गिर पड़े। वह घबड़ाकर लौट आया। थोड़े दिनके बाद जब फिर गया तो पुनः उनसे तोतेकी बात पूछी। अब तो वे सुनते ही फिर बेहोश होकर गिर गये। अब उन सज्जनने वापस आकर तोतेको डाँटा कि तुम क्या ऐसा प्रश्न करते हो कि महात्माजी सुनकर बेहोश हो जाते हैं। वह तोता बोला कि बस-बस, हमारे प्रश्नका उत्तर मिल गया। अब दूसरे दिन वह तोता भी बेहोश होकर पिंजरेमें गिर गया तो झट उन सज्जनने उसे पिंजरेसे बाहर निकाला और उसपर पानी छिड़कना शुरू किया। इतनेमें ही वह फुर्रसे उड़ गया।

इसलिए, मुक्त पुरुष संसारमें कैसे रहे? ऐसे रहे, जैसे कि संसारी लोगोंकी बात कुछ समझता ही नहीं है।

(मुक्ति-स्कन्ध : पृ. 419-421, भागवत दर्शन-2 : एकादश स्कन्ध पृ. 42)

ब्रह्ममयी माँ

संवत् 1975 विक्रम वर्ष एक घटनापूर्ण वर्ष रहा। उसी वर्ष मेरे बड़े भाई का प्राणान्त हुआ। उसी वर्ष पिताजी का शरीरान्त हुआ। माँ ने अपनेको सम्भाल लिया। मेरे पितामह थे। माताजी ही घरका सञ्चालन करती थी।

मेरी माँ रामचरित मानसका पाठ करती। तब उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरते। उन्होंने मानस में ही मुझे अक्षर ज्ञान कराया था।

मेरे पितामहकी मृत्युके पश्चात् मेरा गाँवमें रहना अधिक होने लगा। अध्यात्म-रामायण, विष्णु-पुराण, श्रीमद् भागवतका अर्थ मैं सुनाता और माताजी मेरी एकमात्र श्रोता होती थीं। मेरी माँके जीवनपर स्वामी योगानन्दजीका भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा और उनके जीवन में भक्तिरसका उदय हुआ। वे घण्टों भक्तिभावमें मग्न रहने लगीं।

जब मैं गोरखपुरमें भाईजी श्री हनुमानप्रसादजीके साथ रहने लगा तो माताजी भाईजीके पास आने-जाने लगीं। कल्याण परिवारके गृहस्थ वातावरणको देखकर मेरी माँ जिनका नाम भागीरथी था, सन्तुष्ट थीं। उनको लगा कि अब मैं साधु होकर कहीं जानेवाला नहीं।

पर हुआ यह कि सन् 1942 के आरम्भ में ही मैंने संन्यास-दीक्षा ले ली। दण्डी-स्वामी होकर मैं मध्य प्रदेश चला गया। इससे माताजीके चित्तको बड़ी चोट लगी।

मेरे संन्यास लेनेके बाद माताजी अद्वैत वेदान्तका विचार करने लगीं। भगवान्‌की भक्ति तो थी ही, मेरे संन्यासी हो जानेपर उनके मनमें विशेष वैराग्य उदय हुआ। और घरके कामोंमें रुचि लेना कम हो गया। एक बार जब मैं काशीमें था तब मातीजीने आकर बतलाया कि 'अब मैंने घर-द्वार छोड़ दिया---जब आप घर छोड़ सकते हैं तो मैं क्यों नहीं छोड़ सकती। भगवान् मेरे साथ हैं, वे मेरा निर्वाह करेंगे।' उसी यात्रामें माताजी मेरे साथ वृन्दावन आगयीं और श्री उड़ियाबाबाजीके आश्रममें रहने लगीं।

तत्पश्चात् माताजी हमसे कभी-कभी कहती थीं—मुझे संन्यास दे दो। उनके अत्यधिक आग्रहको आगे चलकर मैं टाल नहीं सका और काषाय वस्त्र दे उनका नाम 'ब्रह्ममयी माँ' रख दिया।

वे सदा प्रसन्न रहती थीं। चित्त उनका सरल था। कोई छल-कपट, दाँव-पेंच उनको छू-तक नहीं गया। सिद्धि-चमत्कारोंमें उनकी कोई श्रद्धा नहीं थी। आत्मा ही ब्रह्म है—यह उनकी निष्ठा थी। कम-से-कम बोलती थीं। रूखा-सूखा जो मिले खा लेती थीं। वे कहती थीं कि दाँत टूट जाय तो क्या? मुँहमें थोड़ी देर रखनेके बाद सभी वस्तुएँ कोमल और सुस्वादु हो जाती हैं। उनका देहभाव प्रायः छूट गया था। संसारकी चर्चाका प्रसंग आनेपर बोल पड़ती थीं कि संसार कहाँ है? मुम्बईमें आँखके मोतियाविन्दका आपरेशन हुआ। लोग उनसे पूछते थे—माताजी कोई कष्ट है? वे कहती—कष्ट मेरा स्पर्श नहीं कर सकता, कष्टकी सत्ता ही कहाँ है?

वृन्दावनमें श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके निर्वाण दिवसके उपलक्ष्यमें भण्डारेके दिन प्रातःकाल स्वामी ओंकारानन्दजीसे उन्होंने कहा कि 'आज स्वप्नमें बाबाका दर्शन हुआ। और उन्होंने कहा कि अब तुम मेरे साथ चलो! मैंने उनसे कह दिया कि बस, अब मेरा यहाँ कोई काम नहीं है।' उसी दिन दोपहरको एक बजे अपने आसनपर लेट गयीं। तीन बजे किसीने देखा कि माताजीकी साँस नहीं चल रही है। मैं गया, देखा तो मुझको लगा बिना किसी तकलीफके उनके प्राण शान्त हो गये हों। शरीर यमुनामें पधरा दिया गया, कछुओंका भण्डारा हुआ।

(पावन प्रसंग पृ. 248-258)

स्वभाव विजयमें ही साधककी पूर्णता है!

लोग, अपनी वासनामें अपने मनोराज्यमें, अपने संस्कारमें ऐसे फँस जाते हैं कि अपने बनाये हुए बन्धनमें ही बँध जाते हैं।

दिल्लीमें गुप्ताजी नामके व्यक्तिके यहाँ किसीका ब्याह होनेवाला था। गुप्ताजीने स्वयं यह निश्चय किया कि छह बजे हमारे घरसे बारात निकल जायेगी और सात बजे ब्याह होगा। नये ढंगके लोग हैं, उनको किसी पंडितसे पूछनेकी तो कोई जरूरत नहीं।

अब महाराज, बरातियोंके पहुँचनेमें देर हो गयी फलस्वरूप घरमें ही साढ़े छह हो गये! अब वे नाराज हों, पाँव पीटें कि हमारा मुहूर्त बिगड़ गया।

क्यों भाई, किस पंचांगसे देखकर मुहूर्त निश्चय किया था? बोले-वह तो सब अपने मनके अनुसार ही था। अब वे सिर पीटें। आनेवालों पर चिड़चिड़ावें।

आदमी अपने आप ही तो बन्धन बनाता है, फिर उसके लिए दुःखी होता है। यह क्या है? इसीका नाम वासनाओं अथवा संस्कारोंका बन्धन है। एक हिम्मत ऐसी भी तो होनी चाहिए कि वर्षोंसे अबतक, चाहे जो भी मनोराज्य किया हो और जो भी बन्धन बनाये हों, एक धक्केमें काट दिया, इसीका नाम संन्यास होता है।

बचपनसे माँ-माँ कहते आये, बाप-बाप कहते आये, वह क्या सामर्थ्य है कि एक झटकेमें ही सारा बन्धन टूट गया। वह संस्कारको छोड़नेवाला, वह वासनाको छोड़नेवाला, एक झटकेमें पार। नारायण कहो, जैसे शेर एक ही धावेमें अपने शिकारको हड़प लेता है। आदमी जो फँसा हुआ है वह अपनी उलझनोंमें ही फँसा हुआ है। संसारकी किसी वस्तुने नहीं फँसाकर रखा है।

कुछ लोग कहते हैं, 'स्वामीजी, हमारा तो स्वभाव बन गया है।'

भाई, बात यह है कि बनाया हुआ स्वभाव छोड़ा जा सकता है। देखो, जीवनमें बहादुरी क्या है, शौर्य क्या है? कामके सामने सिर झुकाकर उसके अधीन हो जाना-यह तो कायरोंका काम है। कामना तो शत्रु है। इसके सामने शूरता प्रकट होनी चाहिए। और उसपर विजय प्राप्त कर लेना, यह शौर्य है-

स्वभावविजयं शौर्यं।

अगर तुम्हें कोई आदत पड़ गयी है-मुँहसे गाली देनेकी अथवा कोई कामनापूर्ति करनेकी तो उसको छोड़ दो। स्वभाव विजयमें ही साधनाकी पूर्णता है। क्योंकि यह स्वभाव जो है वह सच्चा स्वभाव नहीं है; यह तो बिलकुल बनावटी स्वभाव अथवा बनावटी आदत है। यह मूल प्रकृतिका दिया हुआ स्वभाव नहीं है। यह तो तुमने कर-करके अपने जीवनमें बुरी आदत डाल ली है।

तुम्हारे मनकी आदत बुरी, तुम्हारी आँखकी आदत बुरी, तुम्हारे हाथकी आदत बुरी....., उसपर तुम विजय प्राप्त कर सकते हो।

(ज्ञान विज्ञानयोग : पृ. 405-407)

अपने हृदयमें क्रोधरूपी चाण्डालको मत बसाओ!

एक राजाके यहाँ कर्मकाण्ड कराते हुए पुरोहितसे कुछ भूल हो गयी। राजाको क्रोध आ गया। यद्यपि पुरोहितने भूलके लिए क्षमा माँगी और प्रार्थना की; किन्तु राजाने उनको राजभवनसे निकाल दिया। पण्डितने कई दिन प्रयत्न किया; किन्तु राजा प्रसन्न नहीं हुए।

एक दिन राजभवनके भंगीने पण्डितजीको प्रणाम करके पूछा–'महाराज, आप आजकल इतने दु:खी क्यों रहते हैं?'

पण्डितजी बोले–भाई, राजाने मुझे राजपुरोहित पदसे हटा दिया है। मेरी आजीविका चली गयी। कई बार प्रार्थना की; किन्तु उनका क्रोध जाता ही नहीं।'

भंगी–'आप धैर्य रखो, मैं प्रयत्न करूँगा।'

अब उस दिनसे भंगी राजभवनमें पुकार करे–'महाराज, मेरा न्याय किया जाय।'

राजाने एक दिन बुलवाकर पूछा–'तुम क्या कहना चाहते हो?'

तो भंगी बोला–'मैंने सुना है कि मेरा एक भाई यहाँ राजसदनमें आया और उसे आपने अपने पास रोक लिया। उसे छुटकारा देनेकी कृपाकी जाय।'

राजा–'राजभवनमें चाण्डालको मैं क्यों रोकूँगा?

भंगी–'मुझे ठीक पता लगा है कि आपने मेरे भाईको अपने पास रोक रखा है।'

राजा–'कौन है वह?' भंगी–'उसका नाम क्रोध है।'

अब राजा हँसे। उन्होंने भंगीसे पूरी बात पूछी और पण्डितको क्षमा करने पुन: राजपुरोहित बना लिया!

'चडि कोपे' से 'चाण्डाल' शब्द बनता है। चाण्डालका अर्थ क्रोध ही है। इसलिए अपने हृदयमें क्रोधरूपी चाण्डालको मत बसाओ। चित्तमें प्रज्ञारूपी ब्राह्मणको निवास दो। यदि तुमको अपराधीपर क्रोध करना है तो इस क्रोधकी वृत्तिपर ही तुम क्यों क्रोध नहीं करते?

क्योंकि सबसे बड़ा अपराधी क्रोध ही है।

इसके आनेपर हृदय जलता है।

मुख काला हो जाता है।

शरीर काँपने लगता है।

बुद्धि नष्ट हो जाती है। इतने बड़े अपराध तो क्रोध ही करता है।

(भक्तियोग : पृ. 185-186)

यह जुआ खेले बिना छुटकारा नहीं है!

शास्त्र-गुरु-सत्पुरुष वर्गकी सम्मतिसे सत्पथ पर श्रद्धा करके चलो। जो सत्पथपर है, उसे कोई गिरा नहीं सकता। उसकी हानि कोई नहीं कर सकता।

जैसे साड़ी खरीदना हो तो रुपये चाहिए, वैसे ही परमार्थके पथमें चलना हो तो श्रद्धा चाहिए। यह प्रायः कहा जाता है कि श्रद्धा अन्धी होती है; किन्तु एक मनुष्य अपनी समझ तथा दूसरोंकी सम्मतिके अनुसार काम करता है और दूसरा मनुष्य केवल अपनी बुद्धिके अनुसार ही आचरण करता है, तो दोनोंमें अन्धा कौन है? जो अपने माता-पिता, गुरु तथा अनुभवी लोगोंके विद्यमान रहते भी स्वबुद्धि श्रद्धान्ध है, अन्धा तो वह है। अन्धेको रास्ता बतलाओ तो उसके अनुसार वह अपनी दिशा बदल लेता है; किन्तु अपनी बुद्धि पर बहुत अधिक अभिमान करनेवाला तो कुएँमें ही गिरेगा; क्योंकि उसकी कहीं भी श्रद्धा नहीं होती। दूसरों पर तुम्हारा विश्वास नहीं; संसारमें तुम्हारा कोई विश्वासपात्र नहीं, जिसकी बात तुम मान सको-यह तो बड़ी असहायावस्था है। संसार सागरमें डूबनेकी स्थिति है यह!

अब कहो कि बिना जाने श्रद्धा करनेमें खतरा तो है ही; तो यह खतरा उठानेको तैयार हुए बिना दूसरा मार्ग नहीं है। जो खतरा नहीं उठाता, वह लाभसे भी वञ्चित रहता है। यदि ईश्वरको पाना हो तो जीवको दाव पर रखना पड़ता है। यदि ब्रह्म तथा आत्माके एकत्वका ज्ञान प्राप्त करना हो तो कार्य-कारणरूप प्रपञ्चको बाजीपर रखना पड़ता है। यह जुआ खेले बिना छुटकारा नहीं है।

प्रति सप्ताह हवाई दुर्घटनाएँ होती हैं। प्रतिदिन कहीं-न-कहीं मोटर-दुर्घटनाएँ होती हैं, रेल-दुर्घटनाएं भी होती ही हैं। इन सबके माध्यमसे यात्रा करना क्या जुआ खेलना नहीं है? लेकिन क्या इसीसे लोग यात्रा करना बन्द कर दें? लोग तो अपना जीवन-बीमा कराके तब वायुयानसे यात्रा करते हैं। संसारमें तुम प्रतिदिन इतना खतरा उठाकर व्यवहार करते हो और ईश्वरकी प्राप्तिके लिए-परमार्थके मार्गपर चलनेके लिए थोड़ा भी खतरा उठानेको उद्यत नहीं हो, तब यह कैसे माना जाय कि तुम परमार्थके मार्ग पर चलना चाहते हो? अतः यदि तुम इस मार्ग पर चलना चाहते हो तो श्रद्धा करके ही चल सकोगे।

(भक्तियोग : पृ. 353-355)

ज्ञानी बकाय मारें और भक्त खवाय मारें

एकबार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको जोरसे बुखार आया हुआ था-चार-पाँच डिग्री; और शिवरात्रिका दिन। भक्तोंने कहा हमारे महाराज तो प्रत्यक्ष शंकरजी हैं। चौकी पर बैठ गये बाबा, अब उनके सिर पर खूब बेल पत्र चढ़ाया गया; फिर फूल, अक्षत, चन्दन और उसके पश्चात् वह लोटे-पर-लोटा जल चढ़ाने लगे कि शंकरजीकी पूजा कर रहे हैं। कुछ लोग बोले–अरे क्या बेवकूफी करते हो? बाबाको बुखार है। श्रद्धालु भक्तोंने कहा–'अरे! ये तो साक्षात् शंकरजी हैं, इनको क्या तकलीफ होगी?'

फिर हरिबाबाजी महाराज आये और सबको रोका एवं वहाँसे हटाया। फिर बाबाको लिटाया, ओढाया। ओढ़ानेके लिए रात भर एक आदमी जागता था, क्योंकि जब कपड़ा हट जाता था तो बाबा उठाकर ओढते नहीं थे। यह ईश्वर माननेवाले भी बड़ा अन्याय करते हैं कभी-कभी। ये ऐश्वर्यके प्रभावके कारण श्रद्धालु तो होते हैं, भक्त तो होते हैं किन्तु उनके चित्तमें स्नेह न्यून हो जाता है। 'ज्ञानी बकाय मारें और भक्त खवाय मारें।' भक्त लोग चाहते हैं कि हमारी कोई चीज इनके मुँहमें पहुँच जाय और ज्ञानी लोग चाहते हैं कि एक प्रश्नका उत्तर और।

सन्तकी रहनी

एक पण्डितजी हैं गिरिराजमें, पण्डित गयाप्रसाद उनका नाम है। जो लोग जाते हैं वे देखते हैं कि जितने दिन श्री सदगुरुदेव श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज वृन्दावनमें रहते थे तो उधर पाँव करके पण्डितजी नहीं सोते थे, उधर सिरकरके सोते थे।

जब कभी उड़ियाबाबाजी महाराज गिरिराज आते थे तो वे उनके समक्ष खड़े ही रहते और बैठना भी होता था तो सिराहनेकी तरफ नहीं बैठते थे, पाँवकी तरफ बैठते थे।

सोलह वर्ष उड़ियाबाबाजीके शरीरको पूरा हुए हो गया। अबतक ये अपने भोजनमें श्रीउड़ियाबाबाजीका प्रसाद डालकर खाते हैं। प्रसाद अबतक चल रहा है। प्रसादमें प्रसाद कुछ-न-कुछ मिलाते जाते हैं। यह भी सन्तकी एक रहनी है।

(युगलगीत : पृ. 272,273,276)

मनकी दृढ़ता!

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। भगवद्गीता 17.16

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, वाणीको प्रेरित करनेवाले मन पर संयम, मनका निरोध और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता-इन्हें मानस तप कहते हैं।

मनप्रसादः-अपने मनको हमेशा निर्मल रखना-प्रसन्न रखना।

सौम्यत्वं-माने जैसे चन्द्रमा सबके ऊपर चाँदनी बरसाता है, ऐसे अपने हृदयमें जो मिठास है उसको बरसाते रहना। तुम्हारे दिलमें अगर कड़वाहट है तो उसको दबा दो। देखो, आपके घरमें कोई मेहमान खानेको आवे और दो-चार रोटी जल गयी हो, तो मेहमानको अच्छी रोटी दी जायेगी न! ठीक इसी प्रकार अगर आपके मनमें कड़वे और मीठे दोनों तरहके भाव हैं, तो जब कोई सामने आवे तो उसको अपना मीठा भाव देना चाहिए।

मौनं-श्रीकृष्ण मौनको मनकी तपस्यामें रखते हैं। मनसे मौन रहना। इसका मतलब है कि व्यर्थकी बातें नहीं सोचना। बीती हुई, निष्प्रयोजन बातें, जो आ-आकर दिलको कुरेदती हैं, उनके चिन्तनकी आदत नहीं डालना। किसीका वियोग हो गया, कोई मर गया, किसीने कभी गाली दे दी, किसीने कोई तिरस्कार कर दिया, तो मनको उसके बारेमें मौन कर लेना चाहिए। मनमें अपनी अच्छाई मत बोलो कि हमने यह किया, यह किया, इससे अभिमान आयेगा। मनमें दूसरेकी बुराई मत सोचो क्योंकि द्वेष आवेगा।

अपने मनको असलमें ईश्वरमें लगाते हुए चलना चाहिए। भविष्यमें ज्यादा जाना भी मनकी कमजोरी है और भूतमें ज्यादा जाना भी मनकी कमजोरी है। इतना मन दृढ़ होना चाहिए कि वह वर्तमानका सामना करते हुए आगे बढ़ता चले।

'**आत्मविनिग्रहः**'-मनको रोककर रखो। इधर-उधर मत जाने दो।

'**भावसंशुद्धिः**'-संसारमें किसीके प्रति, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, हमारा भाव दुष्ट नहीं होना चाहिए। महाभारतमें आया है-'धर्मका रहस्य वही समझता है, जो किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं रखता। असलमें सामने वाला पापी नहीं होता। क्योंकि कोई दिखा-दिखाकर पाप नहीं करता और उसके मनमें क्या है, इसका पता हमको कैसे चल सकता है? अपने मनको अपवित्रतासे बचानेके लिए भाव-संशुद्धिकी आवश्यकता होती है। दूसरा कोई कैसा भी हो, लेकिन हम समझते हैं कि वह बदमाश है, हमारे गाँवमें न रहे। लेकिन इस प्रकारके चिन्तनसे हम उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं और उससे स्वयं हमारा चित्त अशुद्ध हो जाता है तो अपने दिलको साफ रखनेका उपाय यह है कि अपने भावको शुद्ध रखा जाय।'

(विभूतियोग : पृ. 165-168, गीतारसरत्नाकर : पृ. 587, व्यवहारशुद्धि : पृ. 85-87)

सात्त्विक कर्ता

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार कर्ता सात्त्विक उच्यते।। गीता 18.26

जो कर्ता संगरहित, अहंकारके बचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है-वह सात्त्विक कर्ता कहा जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी-एक तो कर्तामें संग न हो। (जिसने आसक्तिका त्याग कर दिया है-भाष्य)। उसके शील स्वभावमें अहंभाव न हो। मैं ब्राह्मण हूँ, यह चाण्डाल है, इस प्रकार अहंवादी नहीं होना चाहिए। अहं बोलना भी नहीं चाहिए, अहं रखना भी नहीं चाहिए, अहं सोचना भी नहीं चाहिए।

धृत्युत्साह-समन्वितः-यह नहीं कि मोटर चलायें और ब्रेक लगानेकी सामर्थ्य न हो। रोकनेकी सामर्थ्य हमेशा अपने अन्दर रहनी चाहिए। इसके न होनेसे कर्म बिगड़ जाता है। धृतिके साथ उत्साह भी होना चाहिए। उत्साह नहीं होगा तो आप कुछ भी नहीं कर सकेंगे।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः-सिद्धि और असिद्धिमें, सफलता और विफलतामें निर्विकार होना चाहिए। ऐसे कर्ताको ही सात्त्विक कर्ता कहते हैं।

देखो, सिद्धि-असिद्धिमें जो निर्विकारता है, वह बड़ी भारी चीज है। एक बार मैं अपने एक मित्रसे मिलनेके लिए कई सौ मील पैदल गया। उस समय कुल तीन आने पैसे (२०नये पैसे)थे हमारे पास, और मैंने यह निश्चय किया था कि मैं तीन आनेमें ही उसके घर पहुँच जाऊँगा। एक आनेका चिवड़ा लिया और जब भूख लगती तो उसमें पानी और नमक मिलाकर खा लेता।अब मैंने यह तो जरूर सोचा था कि जब मित्रके घर पहुँच जायेंगे तो हमारी दसों उँगलियाँ घीमें होंगी। लेकिन जब वहाँ पहुँचा, तो पता चला कि मित्र तो बाहर कहीं दो सो मील दूर गये हुए हैं। वे मुझसे छोटे थे और उनके घरमें उनकी पत्नी अकेली थी और कोई नहीं। मैंने खबर भेजी कि मैं आया हूँ तो उस मित्र-पत्नी ने खबर भेजी कि अरे! मेरे पति तो आपकी बड़ी प्रशंसा करते है; आपके बड़े मित्र हैं। आप आये, धन्यभाग्य! उसने झट पड़ोसीके घरसे एक माताको बुलाया और मेरे लिए बिस्तर बिछवा दिया तथा खानेकी व्यवस्था कर दी। अब वहाँ रहना तो उचित था ही नहीं। रात भर तो सो गये, क्योंकि शाम हो गयी थी, लेकिन दूसरे दिन सबेरे वहाँसे बिना पैसेके ही चल पड़े। तो मैं जो यह सोचकर चला था कि मित्र मिलेंगे और मेरा काम हो जायेगा, वह गलत था। सिद्धि पर, सफलता पर निर्भर होकर मेरा वहाँ खाली हाथ चले जाना उचित नहीं था। मुझे यह भी सोच लेना था कि अगर वह घरमें नहीं मिलेंगे तब क्या होगा? जुएमें हमारी बाजी नहीं आयेगी तब क्या होगा? तो जुआ नहीं खेलना चाहिए। संसारमें दोनों पक्षों पर सोच-विचारकर निर्विकार भावसे कर्म करना चाहिए। ऐसे कर्ताको सात्त्विक कर्ता कहते हैं।

(गीतारसरत्नाकर : पृ. 620,621)

दस पदार्थोंका धारण ही धर्म

धर्माचार्य मनुने जीवनमें दस पदार्थोंके धारणको धर्म कहा है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

1. **धृति**-धनादिका नाश होने पर चित्तमें धैर्य बना रहना। प्रारम्भ किये हुए कर्ममें बाधा और दुःख आने पर भी उद्विग्न न होना-सन्तोष रखना। अपने धर्मसे स्खलित न होना-अपने धर्मको कभी न छोड़ना।

2. **क्षमा**-दूसरेके अपराधको सह लेना। क्रोधोत्पत्तिका कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध न करना। किसीके अपकार करने पर बदला न लेना। द्वन्द्वसहिष्णुता। अपमान सह लेना। शान्ति।

3. **दम**-उद्दण्ड न होना। तपस्या करनेमें जो क्लेश हो उसे सह लेना एवं विकारका कारण उपस्थित होने पर भी मनको निर्विकार रखना। मनको रोक रखना। मनको मनमानी न करने देना।

4. **अस्तेय**-दूसरेकी वस्तुमें स्पृहा न होना। अन्यायसे परधनादिका ग्रहण न करना। पर द्रव्यको न लेना।

5. **शौच**-आहारादिकी पवित्रता। स्नान-मृत्तिकादिसे शरीरको शुद्ध रखना। शास्त्रकी रीतिसे शरीरको शुद्ध रखना। बाह्याभ्यन्तर पवित्रता।

6. **इन्द्रियनिग्रह**-इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न करना। नेत्रादि इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलग रखना। जितेन्द्रिय होना।

7. **धी**-भलीभाँति समझना। प्रतिपक्षके संशयको दूरकर सकना। आत्मोपासना शास्त्रके तात्पर्यको समझना। बुद्धिका अप्रतिहत होना।

8. **विद्या**-आत्मानात्मक विषय विचार। बहुश्रुत होना, आत्मोपासना।

9. **सत्य**-मिथ्या और अहितकारी वचन न बोलना। यथार्थ बोलना। अपनी जानकारीके अनुसार ठीक बोलना।

10. **अक्रोध**-क्षमा करने पर भी कोई अपकार करे, तब भी क्रोध न करना। दैववश क्रोध उत्पन्न होने पर उसको रोकनेका प्रयत्न। क्रोधका कारण होने पर भी क्रोधित न होना। अपने मनोरथमें बाधा डालने वालोंके प्रति भी चित्तका निर्विकार होना।

वेदान्त-दर्शनके प्रणेता व्यासके मतमें-अन्तःकरणकी शुद्धिके साधक कर्मको ही धर्म कहते हैं। धर्मानुष्ठानसे उच्छृंखल कर्म पर नियन्त्रण स्थापित होता है। वासनाएँ मर्यादित होती हैं। वेद-वचन पर श्रद्धा होती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी मीमांसासे विवेक-शक्ति बढ़ती है।

देहातिरिक्त आत्माकी ओर ध्यान जाता है। धर्मके द्वारा आराध्य दैवी-शक्तियोंका ज्ञान होता है। धर्मके न्यूनाधिक्यके अनुसार पितृलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक आदिका विचार होता है। फलदाता ईश्वर है-इस पर विश्वास होता है। धर्मका निष्काम अनुष्ठान करने पर निष्कामताकी प्रतिष्ठा होती है। वस्तुतः अन्तःकरणका जागरूक रहकर निष्काम होना ही उसकी शुद्धि है। शुद्धिसे वैराग्य और जागरूकतासे विवेकका उदय होता है।

(व्यवहार और परमार्थ-पृ. 29-30-31)

सफल कौन?

प्रश्न : शास्त्रोंमें लिखा है कि अनीति व दुर्व्यवहार करनेवाला कष्ट उठाता है और उसे भगवान् सजा देते हैं। परन्तु, आजकल देखनेमें आता है कि जो जितनी अधिक अनीति-चोरी-धोखेबाजी करता है, वह उतना ही ज्यादा सफल होता है। तो ईश्वर इसकी सजा उसको क्यों नहीं देते?

उत्तर : भाई मेरे, जिसको तुम सफलता कहते हो, हमारी दृष्टिमें वह कोई सफलता ही नहीं है। जिसके हृदयमें सुख-शान्ति हो, उसके जीवनको सफल कहो, तो हम माननेको तैयार हैं। लेकिन जो दुःखी है, अशान्त है, भले उसके पास बहुत बड़ा राज्य ही हो, बहुत धन हो, बड़ा पद हो, बहुत पुत्र-पौत्रादि हों और उसके पीछे चलनेवाले अनुयायी, नौकर-चाकर हों-उसको हम सफल नहीं मानते हैं।

कहनेका मतलब यह है कि जो अनीतिसे, चोरीसे, बेईमानीसे धन कमाता है; उसके पास धनका चाहे जितना बड़ा ढेर लगा हुआ हो-वह हृदयसे कभी सुखी नहीं हो सकता। उसके हृदयमें दुःख जरूर-जरूर होगा। किसीको यह दुःख होता है कि हमारे पास इज्जत नहीं है; किसीको यह दुःख होता है कि हमारे पास अमुक-अमुक चीज नहीं है। कोई शारीरिक रोगसे दुःखी है तो कोई पुत्रके न होनेसे दुःखी है। तो अनीति करनेवाले लोग कभी सुखसे रहते हों—ऐसा माननेको अपना मन तो नहीं कहता है। आप भले ही धन-दौलत, रोजगार, कुर्सी आदिको सफलता मानते हों, हम तो इनको सफलता मानते नहीं हैं।

हमारे पास एक सज्जन आते हैं—उन्होंने हमको बताया कि विदेशमें उनके पास बेशुमार धन रक्खा हुआ है, जिसकी गिनती वे स्वयं नहीं बता सकते। परन्तु जब वे हमारे पास आते हैं, तब बहुत दुःखी रहते हैं। छोटी-छोटी बातोंके लिए, कभी पत्नी अनुकूल नहीं है; कभी भाईने घरमें-से कुछ उठा लिया; कभी बेटा कहे-अनुसार नहीं चलता है और कभी शरीरमें रोग हो गया है-कितना रोते हैं कि मैं बता नहीं सकता।

असलमें सफलता बाहरी आडम्बरसे नहीं होती है। जिसके हृदयमें सुख है, शान्ति है-वही पुण्यात्मा है एवं सफल है।

जीवन उसीका सफल है-जो दूसरोंको सुख-शान्ति देता है, भले ही उसके पास बाहरी वस्तुएँ कुछ भी न हों।

अनीति और बेईमानी करनेवालोंके जीवनमें कोई सफलता नहीं होती है।

(हृदयाकाशके हीरे-पृ. 73-74)

हानि न पहुँचानेका नियम

यदि मनमें वैराग्य न हो और साधना करने चले, तो जो कमजोर आदमी होता है, वह जल्दी बह जाता है। काम-क्रोध-लोभको वशमें करने तो चले, लेकिन वे वशमें नहीं हुए तो कहता है-'अच्छा, काम-क्रोध-लोभ आते हैं तो आने दो।'-यह साधकके मनकी कमजोरी है। साधनामें इस प्रकारकी बात की निन्दा की जाती है।

पहली बात तो यह है कि शत्रुमें द्वेष, मित्र में राग, परिवारमें मोह-ये दोष-दुर्गुण छोड़नेके लिए होते हैं। यह कैसे छोड़े जायेंगे-यह बात बहुत कम लोगोंके ध्यानमें आती है।

असलमें आप लोग निश्चय कर लीजिये कि हम किसीसे शत्रुता नहीं करेंगे। अर्थात् हम किसीको सतावेंगे नहीं। मन-वाणी-कर्मसे हिंसा नहीं करेंगे, हम किसीको हानि नहीं पहुँचावेंगे।

अपने जीवनमें एक संकल्प ले लो तो मनमें कभी-कभी क्रोध-द्वेष आयेगा, लेकिन हानि न पहुँचानेका नियम यदि जीवनमें रहेगा कि 'हम मन-वचन-कर्मसे किसीको हानि नहीं पहुँचावेंगे' तो क्रोध-द्वेषको प्रकट होनेका मार्ग नहीं मिलेगा। ऐसा मत सोचो कि किसीको गाली दी तो क्या हुआ? किसीके पैसे ले लिये तो क्या हुआ? किसीको हानि पहुँचाई तो क्या हुआ?

पहली बात यह है कि दोष-दुर्गुणोंको क्रियामें आनेसे रोकना चाहिए। किसीमें राग हो गया, मुहब्बत हो गयी तो इसमें प्रश्न यह नहीं है कि राग हो गया तो क्या हो गया? प्रश्न यह है कि मुहब्बतमें आकर कहीं हम पक्षपात तो नहीं करते? इसमें भी यही बात होगी-अपना भाई-भतीजा, अपना प्रियतम। एकको मुहब्बत करेंगे तो उसको लाभ पहुँचानेके लिये दूसरेको नुकसान पहुँचायेंगे।

मुहब्बत मनमें आती है तो आने दीजिये। परन्तु उसके कारण बेईमानीसे उसको लाभ पहुँचानेका खयाल छोड़ दीजिये। बात इतनी नहीं बढ़े कि उसके लिए हम झूठ, छल, कपट करें-दूसरेको नुकसान पहुँचाकर। यदि हम जिससे राग करते हैं उसे फायदा पहुँचाने लगे तो हमारा राग बुरे रास्तेसे बह गया है। इसलिए (1) हमारे राग-द्वेषको हमें बुरे रास्तेमें नहीं बढ़ने देना चाहिए। (2) मन में जो काम-क्रोध-मोह आते हैं-वाणीसे बुरा बोलना; कानसे बुरा सुनना और मनसे जान करके बुरे-बुरे संकल्प करना-इनसे तो बिल्कुल बच जाइये।

(विवेक कीजिये पृ. 280,281)

भागवतका सब कुछ श्रीकृष्णकी ही लीला है

श्रीमद्भागवतके अमुक प्रकरणमें ही भगवान् श्रीकृष्णकी लीला है, यह कहना नहीं बनता। भागवतका सब कुछ-श्रीकृष्णकी ही लीला है। उसका प्रकाश कहीं व्यक्तरूपसे है और कहीं अव्यक्त रूप से। जहाँ अव्यक्तरूपसे है, वहाँ भी सहृदय लोगोंके लिए संकेत विद्यमान है। ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी, दैत्य, देवता और सभी पदार्थोंको स्थान-स्थान पर भगवत् स्वरूप बतलाकर भावुक भक्त और तत्त्वज्ञके लिए इस बातका स्पष्ट संकेत कर दिया गया है, जिससे कि जहाँ जिस रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण अपना ऐश्वर्य गुप्त रखकर विहार कर रहे हैं, वहाँ भी उन्हें पहचाना जा सके।

भगवान्की लीलाओंमें यदि आनन्दके लिए ही सरस, सरसतर और सरसतमका लीला-भेद किया जाय तो कहना पड़ेगा कि दशम स्कन्धमें वर्णित लीलाएँ अत्यन्त सरसतम हैं। इस विषय को स्पष्ट समझनेके लिए लीला और चरित्रका सूक्ष्म अन्तर जान लेना भी आवश्यक है।

चरित्रका एक उद्देश्य होता है। उसमें कर्तृत्वका भी कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है,चाहे वह बाधितानुवृत्तिसे ही क्यों न हो! चरित्रमें चाहे कर्ताकी भावनासे और चाहे लोगोंकी भावना से जगतके हितका उद्देश्य समाविष्ट रहता है।

परन्तु लीला भगवान्की मौज है। वह केवल लीला है। अब तक ऐसा कोई माईका लाल नहीं हुआ, जो अन्तर्यामीके समान भगवान्के हृदगत संकल्पको जानकर यह कह दे कि उन्होंने इस उद्देश्यसे इस प्रयोजनसे यह लीला की है। भगवान् कर्ता होकर भी अकर्ता और भोक्ता होकर भी अभोक्ता हैं। इसीसे लोग लीलाका प्रयोजन सोचने जाकर लीलाका स्वरूप ही भूल जाते हैं। और उन्हें अपने जैसा ही मानव-चरित्र सूझने लगता है। विचारहीन मनुष्य जीवधर्म और भगवद् -धर्मका भेद तक नहीं कर सकता। भगवान्की तो बात ही अलग रही; मनुष्य तो अपनेसे उन्नत स्तरके मनुष्योंका ही धर्म नहीं समझ सकता। वह तो यही चाहेगा कि भगवान् भी हमारी तरह मर्यादामें बँधे रहें और हमारी बुद्धिके अनुसार चलें।

भगवान्की लीला हो रही है ;वह सहज है, स्वाभाविक है। उनमें न उद्देश्य है, न प्रेरणा है, न भूत-भविष्यतका विभाग है और न तो वर्तमानकी ही वहाँ तक पहुँच है। जो उसे जानेंगे, मानेंगे उसका रस लेंगे, वे भगवान्से एक हो जायेंगे। भगवान्की लीला से जिस यशका स्वाभाविक विस्तार होता है उसको गाकर, सुनकर,स्मरण करके अब तक कितने लोग कृतार्थ हो गये और आगे कृतार्थ होंगे-इसकी गणना नहीं की जा सकती। यदिकोई भगवान्की लीलाओंको भी प्रयोजनसे प्रेरित,कर्म-बन्धनसे विजड़ित,कर्तृत्व और भोक्तृत्व से मर्यादित समझनेकी भूल करेंगे, वे स्वयं स्वरूपसे च्युत होकर जगज्जालमें जकड़ जायेंगे।

भगवान्की लीला अनादि है, अनन्त है, एकरस है और स्वरूप है। उसमें न क्रिया है, न सङ्कल्प है, न स्पन्दन है और न ही प्रथम, द्वितीय, तृतीय, तुरीय आदिका भेद है। वह लीला है, इसलिए ज्यों-की-त्यों लीला है।

(भागवत दर्शन 1: भूमिका पृ. 54,55,57)

आश्रयस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण!

श्रीमद्भागवतके प्रतिपाद्य स्वयं परमात्मा हैं। परमात्माके नामके सम्बन्धमें कोई विशेष आग्रह नहीं है, चाहे कोई ब्रह्म कह ले और चाहे भगवान् कह लें।

भगवान्का स्वरूप क्या है?

भागवतके अनुसार इसका उत्तर देना थोड़ा कठिन है। श्रीमद्भागवत पूर्ण ग्रन्थ है, उसमें भगवान्के विविध स्वरूपोंका वर्णन हुआ है। निर्विशेष-सविशेष, निराकार-साकार-जो जैसा अधिकारी हो, वह भगवान्का वैसा ही रूप भागवतमें प्राप्त कर सकता है। वास्तवमें भगवान् सर्वरूप हैं, उन्हें सब रूपोंमें प्राप्त किया जा सकता है।

श्रीमद्भागवतमें 'श्रीकृष्ण' और 'ब्रह्म' दो नहीं, एक ही हैं।

ब्रह्मसूत्रके 'ब्रह्म',गीताके 'पुरुषोत्तम' और श्रीमद्भागवतके 'श्रीकृष्ण' एक ही परम वस्तु हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है-तत्त्ववेत्ता लोग एक ही अद्वितीय ज्ञानस्वरूप तत्त्वको, 'ब्रह्म', 'परमात्मा' और 'भगवान्' कहते हैं। श्रीकृष्ण ही जगतके असंख्य जीवोंके एकमात्र आत्मा हैं। जगत्के कल्याणके लिए वे ही आत्ममायासे शरीरधारीकी भाँति प्रतीत होते हैं।

वास्तवमें भगवान्में शरीर और शरीरीका भेद नहीं होता।

जीव अपने शरीरसे पृथक् होता है; शरीर उसका ग्रहण किया हुआ है और वह उसे छोड़ सकता है। परन्तु भगवान्का शरीर जड़ नहीं, चिन्मय होता है। उसमें हेय-उपादेयका भेद नहीं होता, वह सम्पूर्णतः आत्मा ही है।

शरीरकी ही भाँति भगवान्के जो गुण होते हैं, वे भी आत्मस्वरूप ही होते हैं। इसका कारण यह है कि जीवोंमें जो गुण होते हैं, वे प्राकृत होते हैं; वे उनका त्याग कर सकते हैं। भगवान्के गुण निजस्वरूपभूत और अप्राकृत हैं; इसलिए वे उनका त्याग नहीं कर सकते।

एक बात बड़ी विलक्षण है कि भगवान्के शरीर और गुण जीवोंकी ही दृष्टिमें होते हैं, भगवान्की दृष्टिमें नहीं।

भगवान् तो निजस्वरूपमें, समत्वमें ही स्थित रहते हैं, क्योंकि वहाँ तो गुण-गुणीका भेद है ही नहीं।

भगवान्के इसी स्वरूपकी ओर सभी आचार्योंका लक्ष्य है।

आचार्योंकी वर्णन शैली विभिन्न होनेके कारण कहीं-कहीं परस्पर विरोध प्रतीत होता है; परन्तु विचार-दृष्टिसे देखनेपर आश्रयस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्णमें सबका समन्वय हो जाता है।

(भागवत दर्शन 1: भूमिका पृ. 31,34)

मोहनकी मोहनी!

.....'यह तो वही कृष्ण है! बड़ा छलिया है!'

अरे यह क्या? छलिया कहते ही लापता! धन्य हो देवता! कहाँ गये? मुझे इस जंगलमें अनजान अवस्थामें छोड़कर तुम कहीं नहीं जा सकते। मुझमें यह परिवर्तन! अरे! अब तो मैं बारह वर्षकी अवस्थाका बालक बन गया। अकेले क्या करूँ? अच्छा है, जैसी नटवरकी इच्छा!

ये दो स्त्रियाँ कैसे आ रही हैं? क्या बात कर रही हैं, सुनूँ तो-

'युगल सरकारकी आज्ञा है कि इसे अपने अन्तरंग-मण्डलमें सम्मिलित कर लिया जाय। इसे पहले राधाकुण्डमें स्नान कराकर सखी बना लिया जाय, फिर युगल सरकारके सामने उपस्थित किया जाय।'

'हाँ, सखी ऐसा ही करना चाहिए! असलमें जीवमात्र हमारे प्रेमस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी पराप्रकृति ही है। सबका उन्हींसे वास्तवमें कान्त-सम्बन्ध है। आज इसे अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त होने वाला है।'

'हाँ, सखी! यह तो सच्ची ही बात है पर इसके साथ ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है और आत्मा ही ब्रह्म है, इन बातोंकी संगति कैसे लगती है?'

'यह बात जगतसे मन हटानेमें बहुत सहायक है। अपनी अन्तर्निहित शक्ति और वास्तविक स्वरूप पर विश्वास करने तथा जगत्के मिथ्यात्वका चिन्तन-मनन करके अनादि कालसे संसारमें फँसे हुए मनको अलग कर लिया जाता है। जगत्की ओरसे हटे हुए और भगवान्की अन्तरङ्ग लीलाओंमें प्रवेश पाये हुए मनकी जो निर्विषय स्थिति है उसे ही निर्गुण, निष्क्रिय स्वरूप-स्थिति कहते हैं। इसके बाद आत्माओंके आत्मा भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामें प्रवेश होता है। इस कोटिके भक्तोंमें शिव, सनकादिक तथा नारद प्रभृति हैं। तुम तो देखती ही हो, स्वयं भगवान् शिव हम लोगोंके साथ सखी रूपमें, हमारे आराध्य देवकी सेवा किया करते हैं। अच्छा; तो इसे ले चलना चाहिए।'

ऐं! यह क्या हो गया? राधाकुण्डमें स्नान करते ही मैं स्त्री बन गया। ये मुझे बड़े प्रेमसे किधर लिए जा रही हैं? अहा! मैं कहाँ पहुँच आया? इस विशाल और मनोहर कल्पवृक्षके नीचे कल्पलताके कुञ्जमें मणिमय वेदिकापर, सखियों द्वारा सेवित श्रीयुगलसरकार एक दूसरेके कन्धे पर हाथ रक्खे, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए खड़े हैं। मैं क्या करूँ? चरणोंमें लोट जाऊँ? कुछ समझमें नहीं आता। मेरा मन स्वयं गा रहा है-'प्रियतम! मैं तुम्हारी ही हूँ। जैसे चाहो, वैसे ही रक्खो।'

ऐं! क्या कह रही हो? मैं आरती करूँ? अच्छा, मैं आरती करूँ भी तो भगवान् श्रीकृष्ण बाँसुरी बजायेंगे और तुम लोग अपनी-अपनी वीणा, पखावज आदि बजाकर नृत्य करोगी। धन्य है, मेरा जीवन सफल हुआ।

आरती युगल सरकारकी,
नित्य नूतन सहज सुख सुषमा-सदन कुमारकी।
आरती युगल सरकारकी।।

वह भी मेरे खिलाड़ी प्रभुकी एक प्रेम भरी लीला थी

आत्मसमर्पण अथवा शरणागतिसे ही भक्त कर्तृत्वाभिमानसे भी मुक्त हो जाता है। यदि विचार करके देखा जाय तो भगवान्‌के महान् कर्तृत्वके सामने जीवका कर्तृत्व इतना क्षुद्र और अल्प है कि किसी प्रकार उसकी सत्ताका निश्चय नहीं होता। भक्तकी दृष्टि जब इस तथ्य पर जाती है, तब पहले तो वह अपनेको कर्ता मानता ही नहीं। यदि उसे 'कर्ता'की प्रतीति होती है तो उसे वह अपने भगवान्‌को समर्पित कर देता है। वह सोचता है-जगत्‌का अणु-अणु तो मेरे प्यारे प्रभुके द्वारा सञ्चालित हो रहा है। चराचरके शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, आत्मा सबकी सत्ता भगवान्‌से है, भगवान्‌में है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसा कोई संकल्प नहीं जो प्रभुके संकल्पके विपरीत हो। इसलिए सम्पूर्ण जगत्, सम्पूर्ण जीव और सम्पूर्ण मैं-जैसा कभी था, है; या होगा-सब-का-सब प्रभुकी शरणमें है।

शरण, क्रिया या भाव नहीं है, सत्य है। शरण स्वतः सिद्ध है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व मेरा एक भ्रम था, जिसके कारण मैं रो रहा था, दुःखी था। वह भी मेरे खिलाड़ी प्रभुकी एक प्रेम भरी लीला थी। आज उन्होंने अपनी लीलाका दूसरा पहलू सामने कर दिया। आज मैंने देखा कि उनके अतिरिक्त कोई कर्ता नहीं है, मैं देखनेवाला भी नहीं। केवल वही है और केवल वही है, यह कहना भी नहीं बनता। ऐसा निश्चय हो जाने पर कर्तृत्वाभिमानका लेश भी नहीं रहता।

भक्तकी बुद्धि, मन, प्राण, शरीर आदि भगवान्‌के द्वारा प्रेरित होकर-भगवत सत्तासे एक होकर यथास्थिति व्यवहार करते रहते हैं। ज्ञानीका 'वह', 'मैं' हो जाता है और भक्तका 'मैं', 'वह'में समा जाता है। रहता एक ही है।

फिर ज्ञानी और भक्तमें अन्तर क्या रहा?

साधनाका फल तो सब अन्तरोंको मिटा देना है। साधनकालमें मार्गमें अवश्य ही अन्तर रहता है-सिद्धिमें सब एक है। ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रपञ्चकी पारमार्थिक सत्ता नहीं रहती। इसलिए उसका प्रारब्धके अनुसार व्यवहार मानना स्वाभाविक है। परन्तु भक्तकी दृष्टिमें यह दृश्यमान जगत भी प्रभुमय ही है-उनकी लीला ही है। वह सब कुछ उन्हींके द्वारा प्रेरित सञ्चालित देखता है। दोनोंकी ही दृष्टिमें अपना कर्तृत्व नहीं है।

दोनोंका व्यवहार परप्रेरित है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 71-72)

कर्ता 'मैं' नहीं, ईश्वर है!

भक्ति-भावमें यह जंगल नहीं, हमारे प्यारेका जंगल है। 'पश्य देवस्य काव्यं'-कैसी बढ़िया यह ईश्वरकी कविता है। ईश्वर काव्यमें भी मिलते हैं और संगीतमें भी! भगवान् अपने बहुतसे नाम रख लेते हैं और कहते हैं कि मैं वृक्ष हूँ, लता हूँ, कीट हूँ, पतंग हूँ, मनुष्य हूँ, देवता हूँ, पशु हूँ, पक्षी हूँ, वराह हूँ। जैसे अवतारों के नाम होते हैं, वैसे ही समग्र विश्व-सृष्टिके नाम-रूप होते हैं। भगवान्ने अपनेको भिन्न-भिन्न नामों और भिन्न-भिन्न रूपोंसे प्रकट किया और प्रकट करके सबके रूपमें ही बोल रहे हैं। वे ही डोल रहे हैं।

ईश्वरका अर्थ होता है जिसमें हुकूमत करनेकी आदत है, सबके ऊपर शासन करना जिसका स्वभाव है, शौक है, सबके भीतर रहकर वह सबका प्रशासन करता है।

अब ईश्वर रहता कहाँ है, यह देखो। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'-वह सबके हृदयमें अटल बैठा है और अपनी मायासे जो देहको, प्रपञ्चको पकड़े हुए हैं, उनको घुमा रहा है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें बैठकर हमारी बुद्धिको वही संचालित कर रहा है।

किसीके मनमें यह प्रश्न हो सकता है कि जब बुद्धिको वही संचालित कर रहा है तो दोष-गुण दोनों उसके हुए और जब दोष-गुण दोनों उसके हुए तो हमको पाप-पुण्य क्यों लगेंगे? इसका उत्तर है कि बिजली सब बल्बों में समान रहती है। सब पंखोंमें समान रहती है, लेकिन जब यन्त्र बिगड़ जाते हैं, तब उनमें आग लग जाती है, खट-खट आवाज होने लगती है। वह दोष बिजलीका नहीं है, यन्त्रका है।

आप बल्बको मत देखो, सूत्रात्मा तारको मत देखो और प्रज्ञात्मा पावर-हाउसको भी मत देखो। तुम तो ज्ञानमात्र जो वस्तु है, उसको देखो। उसका अनुभव प्राप्त करो कि वह ज्ञान-मात्र वस्तु क्या है? अब परमात्माके पास पहुँचनेका एक मार्ग हो गया, पर वह मार्ग मिलेगा कहाँ से?

हमारे हृदयमें ज्ञानका, आनन्दका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, हमारे जीवनमें अमर रहनेकी जो इच्छा आती है वह कहाँसे आती है? यदि हम अमर हो नहीं सकते तो हमारे अन्दर अमर होनेकी इच्छा नहीं होती। यदि हम ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते तो ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती। यदि हम आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते तो आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती।

लेकिन किसीके ज्ञानका, आनन्दका, सत्ताका जो आभास हमारे हृदयमें पड़ रहा है, वह कहाँसे आ रहा है? उसी आदि स्रोतको ढूंढ़ो। वह दूर नहीं है, उसके मिलनेमें देर नहीं है, वह दूसरा नहीं है। वह वहीं है, जहाँ प्रकाशका अनुभव होता है। उसीके द्वारा सारे कर्म सम्पन्न हो रहे हैं। इसलिए कर्ता मैं नहीं, ईश्वर है। यह श्रद्धा-भक्तिका सिद्धान्त है कि कर्ता ईश्वर है और भोक्ता भी वही है। मनुष्यका 'मैं' न तो कर्ता है और न भोक्ता है।

(व्यवहार शुद्धि-पृ. 130-131)

प्रियतमका दिया दुःख भी सुखदायक!

भगवान्का भक्त, अपना शील-स्वभाव भी भगवान्को निवेदित-समर्पित कर देता है निवेदनमें अपनी रहनी, अपना बुद्धि-विचार और अपना सुख ये तीनों अपने प्रभुके अनुसार बना देता है। भगवान्के सुखसे अपना सुख भिन्न है तो भक्त कैसा? तब तो भाई-भाईके समान झगड़ा खड़ा हो गया। अपना शरीर अर्थात् अपनी सत्ता-क्रिया, सत्स्वरूप भगवान्को अर्पित कर देनी है। अपनी बुद्धि, विचार अर्थात् अपना ज्ञान, चित्स्वरूप भगवान्से मिला देना, उन्हें दे देना है। अपना सुख, स्वरूपके सुखमें मानना है। शरणागतिके लिए अपनी क्रिया, अपनी बुद्धि, अपने सुखका अभिमान त्यागना है।

मेरे एक चाचा पहलवान थे। बचपनमें वे मुझे दोनों हाथोंसे पकड़कर कभी-कभी कुएँमें लटका देते थे। मेरा उनपर विश्वास था अतः मुझे भय नहीं लगता था, उलटे मैं हँसता था। इसी प्रकार भगवान् पर विश्वास हो तो भय तथा चिन्ता किसी भी अवस्थामें नहीं आवेंगे। चिन्ता तब आती है जब कोई बात हमारे मनके प्रतिकूल होती है। जब हम भगवान्के प्रत्येक कार्य-विधानको अपने अनुकूल, अपने हितमें देखते हैं तो चिन्ता क्यों आवेगी?

यदि चिन्ता आती है तो करें क्या? चिन्ता आती है, यह आत्म-निवेदनमें त्रुटि है। चिन्ता इसलिए आती है कि हमारी आस्था पूर्णतः भगवान्में न होकर कहीं और भी है। अतः धनमें आस्था हो तो धनसे सेवा करनी चाहिए। देहमें आस्था हो तो देहसे होनेवाली साधना करनी चाहिए। सब कुछ भगवान्का ही है इसका बार-बार चिन्तन करना चाहिए।

जैसे हमारे दस रुपये कोई ले गया। रुपये प्रभुके थे, उन्होंने किसीको दे दिये तो सामान्य दृष्टिसे लौकिक हानि हुई; किन्तु भक्तको हानि कहाँ दीखती है! प्रभुके रुपये, उन्होंने दे दिये तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

चिन्ता मनमें कहाँसे आयी? उसे भी तो प्रभुने ही भेजा है। मनमें यह बात आयी कि चिन्ता प्रभुने भेजी है तो चिन्ता मिट गयी। बुद्धिका उपयोग करके चिन्ता मिटाना चाहोगे तो चिन्ता नहीं मिटेगी। चिन्तामें प्रभुकी प्रेरणा देखो, चिन्ता मिट जायगी।

किसी सेठने पत्र देकर एक मनुष्यको मुनीमके पास भेजा-'इसे अपने पास रख लो।' अपने स्वभावके कारण वह मनुष्य मुनीमके लिए बहुत दुःखदायी है किन्तु मुनीम उसको रखता है। इसी प्रकार प्रभुकी भेजी चिन्ता है तो दुःखद, किन्तु वह उनका स्मरण तो दिलाती ही है।

प्रियतमका दिया दुःख भी सुखदायक होता है। इसलिए कोई कष्ट, कोई अभाव, कोई विपत्ति भक्तको चिन्तित नहीं कर पाती, क्योंकि वह उसे प्रियतमका दिया देखता है।

(नारदभक्तिदर्शन-पृ. 349,350,351)

भगवान् उसीका पक्ष लेते हैं जो उनका भजन करता है!

देखो, वृत्रासुरकी कथा बड़ी लम्बी है। वृत्रासुरका इन्द्रके साथ बड़ा भीषण और लम्बा युद्ध हुआ। इसी लम्बे युद्धके प्रसंगमें वृत्रासुरने पहले इन्द्रादि देवताओंपर विजय प्राप्त कर ली थी। पराजित देवता लोग बड़े दुःखी होकर विष्णु भगवानके पास गये और उन्होंने, उनको अपनी कष्ट-कथा सुनायी।

विष्णु भगवान् तो भक्त-पक्षपाती हैं। वे भगवान् धर्मराजकी तरह पाप-पुण्यका न्याय नहीं करते। वे तो उसीका पक्ष लेते हैं, जो उनका भजन करता है।

निस्संदेह भगवान् यदि अपने भक्तका पक्ष न लें तो भक्ति सम्प्रदायका लोप हो जायेगा। यदि भगवान् अपने भक्तका भला न करें, उसकी सहायता न करें, उसको पाप-तापसे छुड़ाये नहीं, दोष-दुःखसे मुक्त न करें तो कोई उनका भजन क्यों करेगा? इसीलिए विष्णु भगवान्को अपने भक्तोंका पक्षपात करना पड़ता है। दैत्य लोग इस बातको जानते हैं कि विष्णु भगवान् भक्त पक्षपाती हैं।

जब विष्णु भगवानने देवताओंका कष्ट सुना तब इन्द्रसे कहा कि तुम दधीचि ऋषिके पास जाकर उनसे उनकी अस्थि माँगो। जब वे अपनी हड्डी दे दें तब उससे तुम वज्र बनवाना। उसी वज्रसे वृत्रासुरकी मृत्यु होगी।

दधीचिकी अस्थिसे वज्र बना और उस वज्रको लेकर इन्द्र युद्धभूमिमें पहुँचे।

इसके बाद भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध करते-करते वृत्रासुरके हृदयमें ऐसी भक्तिका उदय हुआ और उसने भक्ति भावापन्न हृदयसे कुछ ऐसे उद्‌गार प्रकट किये जो अद्भुत हैं।

वह कहने लगा—हमारे आराध्यदेव सङ्कर्षण भगवान्ने जैसे मुझे बताया है, वैसे ही मैं उनके चरणारविन्दमें अपना मन लगाऊँगा। यह शरीर कटकर गिर जायेगा और मैं अपने लोकमें चला जाऊँगा। संसार अथवा त्रिलोकीकी भी सम्पत्ति भगवान् अपने भक्तको नहीं देते, क्योंकि जहाँ सम्पत्ति आती है वहाँ उसके साथ द्वेष, उद्वेग, चिन्ता, अभिमान, कलह, दुःख और परिश्रम अपने आप आते हैं। देखो, वृत्रासुरकी बात सच्ची है। सब लोग विचारके अनन्तर इसको समझ सकते हैं। फिर भी यह बात जल्दी गलेके नीचे नहीं उतरती कि सम्पत्तिके साथ इतने दुःख आते हैं। वृत्रासुरने आगे कहा—इन्द्र, हमारे स्वामीका यह स्वभाव है कि जब कोई धर्म, अर्थ अथवा भोगके लिए प्रयास करता है, तब वे उसके प्रयासको निष्फल कर देते हैं। हे इन्द्र, भगवान् तुमको ऐश्वर्य इसलिए देंगे कि तुम पराये हो और मुझसे ऐश्वर्य इसलिए छीन लेंगे कि मैं उनका अपना हूँ। भगवान्का मेरे प्रति जो प्रेम है, उसको मैं पहचानता हूँ।

देखो, वृत्रासुरके कथनमें कितनी दृढ़ता है, कितना भगवद् विश्वास है! यदि ऐसी दृढ़ता, ऐसा भगवद् विश्वास लोगोंके हृदयमें आ जाय तो कितना अच्छा हो!

(भागवतामृत : पृ. 120-122, भागवत दर्शन-1 : षष्ठ स्कन्ध पृ. 34,35)

मेरा मन आपके दर्शनोंके लिए छटपटा रहा है!

वृत्रासुर और इन्द्रमें भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध करते-करते वृत्रासुरने भक्ति भावापन्न हृदयसे अद्‌भुत उद्‌गार प्रकट किये। वह कहने लगा–इन्द्र मैं जानता हूँ कि तुम्हारी जीत होगी। लेकिन भगवान् जिसको विजय, ऐश्वर्य और राज्य देते हैं, उसपर उनकी कृपा नहीं होती है। अपना तो वे उसको समझते हैं, जिसका वे सब कुछ छीन लेते हैं। उनका यह कृपा प्रसाद केवल त्यागी-भक्तोंको ही मिलता है, दूसरोंके लिए दुर्लभ है। जैसे बच्चा माँकि स्तनका दूध न पीये और खिलौनेसे खेलने लगे; माँ चुपकेसे उसके हाथसे खिलौना छीनकर अलग फेंक दे और उसको अपनी छातीमें चिपका ले तो खिलौना फेंक देनेमें माँका कोई अन्याय नहीं है। बल्कि अत्यन्त स्नेह है। वैसे ही मनुष्य जब सम्पत्तिसे खेलने लगता है तब भगवान् वह सम्पत्ति उठाकर फेंक देते हैं और उसको अपने हृदयसे लगा लेते हैं।

इतना कहते-कहते युद्धमें वृत्रासुरको ऐसे दीखने लगा कि मानो साक्षात् भगवान् उसके सामने खड़े हों। उसने चार श्लोकोंमें उनकी जो स्तुति की, वह चतुश्लोकी भागवतके नामसे प्रसिद्ध है। वृत्रासुर भगवान के सम्मुख होकर प्रार्थना करने लगा–

प्रभो, मैं तो चाहता हूँ कि आपके चरणारविन्दके तलवोंके दासनुदासोंकी सेवाके लिए फिरसे जन्म लूँ। आप मेरे प्राणपति हैं। मेरा मन आपके गुणोंका स्मरण करे, मेरी वाणी उसका उच्चारण करे और मेरा शरीर आप सर्वात्मा प्रभुकी सेवामें संलग्न हो जाय। मुझे न तो चाहिए स्वर्ग, न चाहिए ब्रह्माका पद, न चाहिए कोई सिद्धि और न चाहिए मोक्ष। मैं आपको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता।

देखो, कितना प्रेम उमड़ पड़ा है वृत्रासुरके हृदयमें! वह जन्मसे असुर है, युद्ध भूमिमें खड़ा है और मरने-मारनेके लिए तैयार है। लेकिन भक्ति-विह्वल होकर कह रहा है–

मेरे प्यारे कमलनयन प्रभो, जैसे चिड़िया चारा लेने चली जाय और उसके पंखहीन बच्चे घोंसलेमें पड़े-पड़े उसकी प्रतिक्षा करते हैं; जैसे गाय जंगलमें घास चरने चली जाय, भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिए बाट जोहते रहते हैं; और जैसे प्रवासी प्रियतम पतिके परदेश चले जानेपर वियोगिनी पत्नी घरमें बैठकर उसके लिए व्याकुल रहती है, वैसे ही मेरा मन आपके दर्शनोंके लिए छटपटा रहा है।

फिर कहता है कि प्रभो, मुझे मुक्ति नहीं चाहिए। मुझे तो यह चाहिए कि अपने कर्मानुसार मैं जहाँ कहीं भी रहूँ, जिस योनिमें भी जाऊँ, वहाँ आपके प्यारे भक्तजनोंसे मेरी मैत्री बनी रहे।

यहाँ देखो, गोस्वामी तुलसीदासजी भी यही कहते हैं–

जेहि जेहि जोनि कर्मवश भ्रमहीं। तेहि तेहि नाथ देहु यह हमहीं।।
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नाथ यहि नात निबाहू।।

अन्तमें वृत्रासुर कहता है कि हे नाथ, इस शरीरमें, पुत्रमें, स्त्रीमें, घरमें मेरी कभी आसक्ति न हो और आपकी माया मुझपर कभी प्रभाव न डाले।

(भागवत दर्शन-1: षष्ठ स्कन्ध : पृ. 35, भागवतामृत : पृ. 122,123)

ज्ञानकी शोभा इसीमें है कि वह भक्तियुक्त हो!

श्रीमद्भागवतकी सबसे बड़ी विशेषता है–इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त नैष्कर्म्यका आविष्कार किया गया है। यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है–ज्ञानकी शोभा इसीमें है कि वह भक्तियुक्त हो। जो लोग भक्तिरहित ज्ञान सम्पादन करते हैं, उनकी निन्दा भी स्थान-स्थान पर, भागवतमें मिलती है।

श्रीमद्भागवत वैष्णवोंका धन है एवं परमहंसोंके ज्ञानका निधान है। इसमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि ईश्वरकी भक्ति करनेसे जो-जो ईश्वरसे भिन्न प्रतीत होता है, उस-उससे वैराग्य और ईश्वरतत्त्वका अधिकाधिक अनुभव होता जाता है अर्थात् वैराग्य 'पदार्थ'-शोधनमें सहकारी है और ज्ञान अन्तरङ्ग है। इस प्रकार भक्ति अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग–दोनों साधनोंकी जननी है। जैसे भोजन करते समय प्रत्येक ग्रासके साथ-साथ तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति होती है, उसी प्रकार भक्तिका एक-एक भाव परमात्माके प्रति अनुरक्ति, संसारके प्रति विरक्ति और ब्रह्मानुभूतिका कारण बनता जाता है।

इस परमहंस-संहितामें भक्तिभावकी अपूर्व महिमाका उल्लेख हुआ है। क्योंकि इसमें लौकिक वस्तुओंसे लेकर परमार्थ वस्तुकी उपलब्धि तक, भक्तिको साधन स्वीकार किया गया है–

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।। (2.3.10)

जो बुद्धिमान् पुरुष है–वह चाहे निष्काम हो, कामनाओंसे युक्त हो, अथवा मोक्ष चाहता हो–उसे तो तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवानकी आराधना करनी चाहिए।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि जीवन्मुक्त तो अनेक होते हैं, परन्तु उनमें नारायण परायण कोई-कोई होते हैं। भक्ति, भगवदाकार वृत्ति होनेके कारण प्रारब्धजन्य सुख-दुःखोंका भान नहीं होने देती। संसारमें होने वाले और आगामी कर्मको सुधारती है। वैराग्य और शमदमादि सम्पत्तिको बढ़ाती है। पदार्थ शोधनमें स्पष्टता लाती है और विद्याकी उत्पत्ति होकर अविद्याकी निवृत्ति होनेपर अनन्त तृप्तिके रूपमें यावज्जीवन निवास करती है।

इस भक्तिरूप अपूर्वताके द्वारा धर्म, क्रियायोग, अष्टाङ्गयोग, बुद्धियोग आदि सभी साधनोंको परमात्माकी अनुभूतिमें सहायक बना देना और स्वर्गादि रूप फलकी ओर ले जानेवाली उनकी गतिको परमात्माकी ओर मोड़ देना–यह श्रीमद्भागवतकी अपनी विशेषता है।

(भागवत दर्शन 1 : भूमिका पृ. 3,4,14)

घरमें परमात्माकी प्राप्तिका उपाय!

युधिष्ठिरने नारदजीसे कहा कि महाराज! असलमें सुखी तो ये अवधूत लोग ही हैं। हम सम्राट हो गये तो क्या हुआ? इसलिए आप ऐसी कोई युक्ति बताइये, जिससे हम लोगोंको भी यही मस्ती, यह आनन्द मिल जाय।

नारदजीने कहा–अच्छा, मैं तुमको ऐसी बात बताता हूँ कि आदमी रहे तो घरमें ही, लेकिन उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाय।

वैसे यह विचार बहुत बढ़िया है, घरमें परमात्मा मिल भी सकता है। लेकिन देखना यह है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिए आप कुछ भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं! यदि ऐसी बात है तो परमात्मा बेवकूफ नहीं है। युधिष्ठिर जहाँ भगवान्‌को घरमें ही पाना चाहते हैं, वहाँ उनका सारा जीवन भगवान्‌को समर्पित है।

नारदजी कहते हैं–युधिष्ठिर! घरमें भगवत्प्राप्ति चाहनेवाला अपने सारे कर्तव्य-कर्म करे, परन्तु भगवान्‌को अर्पण करके। सत्सङ्ग कभी न छोड़े। भगवान्‌की लीला-कथाका इस श्रद्धाके साथ श्रवण करे कि यह अमृत है। सत्सङ्ग द्वारा संसारकी आसक्तिको छोड़ दे। भीतरसे विरक्त रहने पर भी बाहरसे अनुरक्त ही रहे। जितना प्रयोजन हो, उतना ही स्वीकार करे।

कालके प्रवाहमें पड़े हुए मनुष्यके सब सम्बन्ध अपने आप ही छूटते जा रहे हैं।

अपनी ओरसे कोई जिद्द नहीं करनी चाहिए। घरमें बेटा, बहू एवं अन्योंसे आसक्ति न रखें। वे जैसा कहें, वैसा कर दें। क्योंकि उसकी अपनी तो कोई वासना है नहीं, इसलिए जैसा घरवाले कहें, वही सही।

मनुष्यका सम्पत्तिपर उतना ही अधिकार है, जितनेसे उसका भरण-पोषण हो जाय। कहनेका अभिप्राय यह कि तुम संसारकी वस्तुओंके केवल संरक्षक हो सकते हो, सेवक हो सकते हो; परन्तु तुम्हारी नहीं हो सकती। जैसे सारी प्रजा भगवान्‌की है, वैसे ही सब-की-सब वस्तुएँ भी भगवान् की हैं।

अपनी पत्नीको भी दूसरोंकी सेवामें लगा देना चाहिए। क्योंकि मनमें पत्नीके प्रति बड़ी भारी ममता होती है। युधिष्ठिर, यह शरीर एक दिन कीड़ा, विष्ठा अथवा भस्म होनेवाला है। यह शरीर अत्यन्त तुच्छ है। फिर कहाँ तो ऐसे तुच्छ शरीरमें रमना, कहाँ पत्नीको अपना मानना और कहाँ अपना अनन्त आत्मा? वह आत्मा कितना बड़ा है, जो आकाशको ढँककर बैठा हुआ है।

युधिष्ठिर, गृहस्थको चाहिए कि पहले यज्ञ करे, लोगोंको खिलाये और फिर खुद खाये। खानेके बाद जो घरमें बचा रहता है, उसको अपना नहीं समझो।

ऐसा करने पर घर-गृहस्थीमें रहते हुए भी जो पदवी अवधूतोंको मिलती है, वह मिल जाती है।

(भागवत दर्शन-1 : सप्तम स्कन्ध पृ. 52 से 54)

भगवत्स्तुति-एक उच्च साधना!

स्तुतिका साधारण अर्थ है–प्रशंसा। ऐसा कहा जाता है कि स्तुतियोंमें अर्थवादका (बढ़ा-चढ़ाकर कहनेका) होना अनिवार्य है; परन्तु यह बात उन्हीं स्तुतियोंके बारेमें लागू है, जो परमात्माके अतिरिक्त और किसी देवता अथवा मनुष्य आदि की हैं। देवता एवं मनुष्य आदिके गुण, प्रभाव, शक्ति, कर्म आदि सीमित होते हैं; इसलिए उन्हें प्रसन्न करनेके लिए जब उनका वर्णन आता है, तब बढ़ा-चढ़ाकर उनकी स्तुति की जाती है। और तो क्या उनको ईश्वर तक कह दिया जाता है। वे अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं और स्तुति करनेवालेको वरदान, पुरस्कार आदि देते हैं।

परन्तु; भगवान्‌के गुणोंकी कोई सीमा नहीं है। उनके ऐश्वर्य, माधुर्य, चरित्र आदि सभी अनन्त हैं। उनका पूरा-पूरा वर्णन तो कोई करेगा ही क्या, अंशमात्र भी वर्णन नहीं कर सकता। जब भगवान्‌की शक्ति, क्रिया और स्वरूपका अंशमात्र भी वर्णन नहीं हो सकता तब उनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तो भला, कोई कर ही कैसे सकता है? इसलिए भगवान्‌के गुणोंकी दृष्टिसे भगवान्‌की स्तुति करनेवाले यही कहकर चुप हो जाते हैं कि 'आपकी स्तुति नहीं की जा सकती।' फिर भी भक्तोंकी दृष्टिसे स्तुति होती है।

जिसकी बुद्धि, भगवान्‌के ऐश्वर्य, माधुर्य आदि दिव्य गुणोंकी जितनी ऊँची कल्पना कर सकती है, जितना महान् आकलन कर सकती है और जिसकी वाणी जितने अधिक गम्भीर भावोंको अभिव्यक्त कर सकती है, वह उतना ही भगवान्‌के स्वरूप एवं गुणोंको सोचता है और वर्णन करता है। जैसे बालककी चेष्टाओंसे गुरुजन प्रसन्न ही होते हैं और बालकको भी प्रसन्नता होती है। ठीक वैसे ही भगवान् सस्नेह अपने भक्तकी बुद्धिकी उड़ान और मधुर वाणीको सुनकर प्रसन्न होते रहते हैं और भक्त भी अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार उनका चिन्तन और वर्णन करके सन्तोष और शान्तिका अनुभव करता है।

साथ ही यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि भगवान्‌के सम्बन्धमें जो कुछ सोचा जाता है और जो कुछ कहा जाता है, वह भगवान्‌का ही आंशिक वर्णन होनेके कारण सर्वथा सत्य है; क्योंकि भगवान् सर्वरूप हैं। इसलिए भगवान्‌के गुणों की अपेक्षा न्यून होने पर भी भक्तकी दृष्टिमें वह भगवान्‌की स्तुति ही है, इसमें सन्देह नहीं। स्तुति करनेसे आत्मशुद्धि होती है, भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है एवं साधनामें और भगवान्‌के स्वरूपमें निष्ठा होती है। होता यह है कि स्तुति करने वालेके चित्तमें, भगवान्‌के गुण, रूप, लीला आदिका निरन्तर स्मरण होता है और वह चित्तमें गाढ़ हो जाता है और अन्ततः उसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसीसे मनुष्यके जीवनमें भगवान्‌की स्तुति बहुत ही उपयोगी है और एक ऊँची साधना है।

(भागवत दर्शन-1 : भूमिका पृ. 17-18)

परमात्माके पास पहुँचने पर सारे भेद खुल जाते हैं!

श्रीमद्भागवतमें जहाँ कहीं ज्ञानका प्रसङ्ग आया है—ज्ञानके अन्तरङ्ग साधनोंमें श्रवण, मनन, निदिध्यासनको विशेष स्थान देने पर भी 'तत्रोपायसहस्राणाम्' कहकर भक्तिको ही मुख्य माना गया है।

केवल साधनके रूपमें ही नहीं, जब भक्ति स्वभावसिद्ध हो जाती है तब वह अद्वेष आदि सदगुणोंके समान तत्त्वज्ञानके अनन्तर भी जीवन्मुक्त महापुरुषके हृदयमें रहती है, और जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका आस्वादन कराती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि जीवन्मुक्त तो अनेक होते हैं, परन्तु उनमें नारायण परायण कोई-कोई होते हैं।

अद्वैतसिद्धिकार श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने 'भक्ति रसायन'में साध्य-साधन रूप भक्तिकी संगति अधिकारी भेदसे लगायी है। वे कहते हैं कि साधन भक्तिका अनुष्ठान तो सभीको करना पड़ता है। साधन भक्तिका अनुष्ठान करने पर अधिकारी भेद प्रकट हो जाता है।

दो प्रकारके अधिकारी होते हैं-एक तो कोमल हृदयके और दूसरे कठोर हृदयके।

कोमल हृदयके अधिकारी वे हैं, जो भगवान्‌की लीला, दयालुता, सुहृदयता आदिका वर्णन सुनकर द्रवित हो जाते हैं, उनकी आँखोंसे आँसू गिरने लगते हैं, गला रूँध जाता है और शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। ऐसे अधिकारियोंके जीवनमें साधन भक्तिके फलस्वरूप साध्य भक्तिका उदय होता है और भागवतके शब्दोंमें 'भक्त्या संजातया भक्त्या' अर्थात् भक्तिकी साधनासे प्रेमाभक्तिका उदय होने पर वे परमात्माको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं और सर्वदा, सर्वत्र एवं सर्वरूपमें उन्हें भगवान्‌के ही दर्शन होने लगते हैं।

जो कठोर हृदयके अधिकारी हैं, वे साधन भक्तिका अनुष्ठान करके धीरे-धीरे आत्मशुद्धिका सम्पादन करते हैं और पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा आत्म साक्षात्कार प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें शरीर और संसारका अस्तित्व नहीं रहता। वे विशुद्ध चेतनके रूपमें सर्वदाके लिए स्थित हो जाते हैं।

वास्तविक दृष्टिसे ज्ञान और भक्तिमें कोई अन्तर नहीं है। शास्त्रमें कहा है कि भक्तिकी पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञानकी परकाष्ठा भक्ति। जहाँ ज्ञानसे श्रेष्ठ भक्तिको बतलाते हैं, वहाँ ज्ञानका अर्थ परोक्षज्ञान है और जहाँ भक्तिसे श्रेष्ठ ज्ञानको बताते हैं, वहाँ भक्तिका अर्थ साधन भक्ति है। पराभक्ति और परमज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं।

परमात्माका स्वरूप सगुण है कि निर्गुण; निराकार है कि साकार—यह भेद परमात्माके पास पहुँचने पर खुल जाता है। जो लोग विषयोंकी आसक्ति और चिन्तन न छोड़कर परमात्माके चिन्तन और स्मरणकी चेष्टा नहीं करते और परमात्माके स्वरूपको सगुण अथवा निर्गुण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया करते हैं, वे केवल कल्पना-लोकमें बुद्धिकी सीमाके भीतर ही चक्कर काट रहे हैं।

(भागवत दर्शन-1 : भूमिका पृ. 4,14,15,16)

सद्‌गुरु और शिष्य

जन्म-जन्मके सत्संस्कार जब अभिव्यक्त होकर इस अवस्थामें आते हैं कि उनपर भगवत्कृपाका प्रभाव पड़ सके तब मनुष्यके अन्तःकरणमें यह लालसा होती है कि मुझे अपने परम लक्ष्य परमात्माको प्राप्त करनेके लिए साधन करना चाहिए। साध्य और साधकके बीचकी दूरी ही साधना है, जो एकको दूसरेके निकट पहुँचाती है। साधनाके लिए ऐसे विश्वासकी आवश्यकता है जो आकाशसे भी विशाल हो, समुद्रसे भी गम्भीर हो, सुमेरुसे भी भारी और वज्रसे भी कठोर हो। परन्तु साधनापर ऐसा विश्वास प्राप्त कैसे हो? इसीसे सर्वज्ञ सद्‌गुरु ही साधनाका निर्देश करनेके अधिकारी हैं।

जिसे परमार्थतत्त्व अथवा भगवान् कहते हैं उन्हींके मूर्तिमान अनुग्रहका नाम सद्‌गुरु है। सद्‌गुरुके नामश्रवण, दर्शन, आलापमात्रसे ही प्राणोंमें शान्तिका सञ्चार होने लगता है, चिर दिनकी प्यास बुझने लगती है, घोर अतृप्तिमें भी तृप्तिका अनुभव होने लगता है। जिनकी प्रतीक्षा थी, जिनके बिना मनुष्य अन्धेकी भाँति भटक रहा था, उन्हींके मिलनेपर हृदय शीतल न हो जाय—ऐसा नहीं हो सकता।

शास्त्रोंमें गुरु-महिमा और शिष्य लक्षणका अत्यधिक विस्तार है। संक्षेपमें इतना समझ लेना चाहिए कि गुरुके बिना उपासनामार्गके रहस्य नहीं मालूम होते और न उनकी अड़चनें दूर होती हैं। गुरुके सन्तोषमें ही शिष्यकी पूर्णता है। गुरुका दीख पड़नेवाला शरीर, स्थूल शरीर नहीं है, दीख पड़नेवाला रूप, मनुष्यरूप नहीं है, वह तो विशुद्ध चैतन्य है। भला, इस जड़ जगत्‌में विशुद्ध चेतनके अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो अज्ञानका पर्दा फाड़कर जीवको उसके स्वरूपकी उपलब्धि करा दे!

गुरुकी महिमा केवल शिष्य ही समझ सकता है, सो भी तभी जब गुरु उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं। और कोई उन्हें जान नहीं सकता, क्योंकि वे अपनेको गुप्त रखते हैं।

शिष्य जानता है कि मेरे गुरु सर्वत्र हैं। वे मेरे और चराचर जगतके सम्पूर्ण रहस्योंके एकमात्र ज्ञाता हैं। वे सर्वशक्तिमान हैं, बड़े-बड़े देवता भी उनकी शक्तिसे शक्तिमान होकर अपना-अपना काम कर रहे हैं। वे परम कृपालु हैं, क्योंकि कृपा परवश होकर ही उन्होंने जीवोंके उद्धारकी लीलाका विस्तार किया है। इस भगवत्-स्वरूपमें वे ही एक हैं, जगत्‌के और जितने भी गुरु हैं वे मेरे सद्गुरुके ही लीला विग्रह हैं, सर्वत्र उन्हींका ज्ञान और उन्हींका अनुग्रह प्रकट हो रहा है। मैं उनको प्राप्त करके धन्य हो गया हूँ-शिष्यकी यह दृष्टि कल्याणकारिणी ही नहीं कल्याणस्वरूपिणी है। शिष्य अधिकारी न होनेपर भी यदि सद्‌गुरुकी शरणमें पहुँच जाय तो वे उसे अधिकारी बना लेते हैं। इसलिए जिनके हृदयमें भगवत्-प्राप्तिकी इच्छा है, जो वास्तवमें साधना करना चाहते हैं, उनके लिए सद्‌गुरुकी शरणमें जाना सर्वप्रथम कर्तव्य है।

(भक्ति सर्वस्व : पृ. 194-201)

आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

एक बार श्रीकरपात्रीजी एवं श्रीकृष्णबोधाश्रमजी, श्रीउड़ियाबाबाजीसे एकान्तमें मिलनेके लिए समय लेकर आये। मैं भी गोष्ठीमें सम्मिलित था। गोष्ठीमें प्रश्न यह था कि कोटि आहुतिके यज्ञ होते हैं, लक्ष चण्डी होती है, परन्तु धर्म रक्षाकी दिशामें कोई विशेष सफलता नहीं मिलती। इसका कारण क्या है? बाबाने बताया-

समय विपरीत है, कलियुग है; कालका भी अपना अधिकार होता है। जितना बड़ा लक्ष्य है, उसके सामने ये अनुष्ठान कोई बड़े नहीं हैं। बड़े-बड़े अनुष्ठानोंमें अंग-वैगुण्य भी होता ही है। यजमान, आचार्य, विद्वान् सभी पूरे-पूरे नियमोंका पालन भी नहीं कर पाते। अन्न, धन भी अनुष्ठानके लिए जितना पवित्र होना चाहिए, उतना नहीं होता। फिर भी फल तो होता ही है। धर्महानिका वेग कम हो जाता है। कोई बैलगाड़ी गड्ढेकी ओर लुढ़कती जा रही हो तो अपनी ओरसे उसे रोकनेका प्रयास करना चाहिए। अपनी ओरसे यत्न करें, फल तो भगवान्‌की ओरसे मिलता है।

प्रश्न : ज्ञानीके जीवनमें काम, क्रोधादि दोष रहते हैं अथवा नहीं?

श्रीकरपात्रीजी महाराजने उपरोक्त प्रश्नके उत्तरमें निरूपण किया कि औपनिषद् महावाक्यके द्वारा अखण्डका साक्षात्कार होनेपर अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, यह तो ठीक है। परन्तु जबतक शरीर है, तबतक उसमें यौवन, वार्द्धक्य रोग आते रहते हैं। स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ भी आती हैं।

साक्षीके ब्रह्मत्वका बोध होनेसे अन्तःकरण एवं विषयके भानमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। ब्रह्मविद्या केवल भ्रमको निवृत्त करती है, भासमानको नहीं। अतएव साक्षी-भास्य अन्तःकरणमें यदि तत्त्वज्ञानके अनन्तर भी विकार आते हैं, तो उससे तत्त्वज्ञानीकी मुक्तिमें कोई बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि आत्मा तो नित्य-मुक्त-स्वरूप है। अविद्याकी निवृत्ति तो केवल उपलक्षण-मात्र है।

इसलिए समाजके लिए यही हितकारी है कि उसे ज्ञात रहे कि तत्त्वज्ञके जीवनमें भी विकार हो सकते हैं और वह अन्धश्रद्धाके वश होकर ज्ञानीको निर्विकार समझकर, ठगे न जायँ और धोखेमें न पड़ें। इससे सम्प्रदायकी कोई हानि नहीं होगी प्रत्युत सत्यवादी होनेके कारण समाजमें उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

(पावन प्रसंग : पृ. 32,41

जिज्ञासुके हृदयका एक ज्वलन्त प्रश्न

दूसरे व्यक्तिका चिन्तन, जिज्ञासुका अज्ञान नहीं मिटा सकता। अपना चिन्तन ही अज्ञानावरणको क्षीण करता जाता है। ऐसे 'सत्य'का जिसको कभी झुठलाया न जा सके, उसका साक्षात्कार कैसे हो? यह जिज्ञासुके हृदयका एक ज्वलन्त प्रश्न है।

कोई भी जिज्ञासु जब 'सत्य'के अनुसन्धानमें लगता है तब उसके सम्मुख विचारकी अनेक विधाएँ एवं सत्यके विविध रूप सामने आने लगते हैं। प्रत्येक प्रश्न अपने समाधानके लिए एक अज्ञात मार्गसे चलने लगता है और कभी-कभी वह जिज्ञासु असत्यको ही सत्य मानने लगता है। इससे मुक्त रहनेका उपाय यह है कि पहलेके ऋषि-मुनियोंने जिस रीति-नीतिका अनुसरण किया है, पहले उसको हृदयंगम कर लिया जाय। विचार की पवित्रताके लिए-(1) जीवनमें शुद्ध आचार (2) शास्त्रीय मार्गका ज्ञान और (3) प्राचीन जिज्ञासुओंका अनुगमन, अनिवार्य है। शास्त्रोंमें, विवेक-वैराग्यके साथ शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा एवं समाधान रूपी षट् सम्पत्ति तथा 'सत्य'के साक्षात्कार हेतु तीव्र अभीप्सावान्‌को ही वेदान्त श्रवणका अधिकारी माना गया है।

'सत्य' साक्षात्कारके लिए शास्त्र अध्ययन भी दो प्रकारका होता है। (1) वैद्य-पद्धतिः विद्वानोंसे परम्परागत अध्ययन। (2) तीव्र मुमुक्षासे गुरुके चरणोंमें शरणागत होकर आत्मा एवं ब्रह्मके स्वरूप तथा एकताके बोधक शास्त्रोंका श्रवण!

मुमुक्षु जिज्ञासुको यह जानना आवश्यक है कि शास्त्रोंके दो रूप हैं :-

(1) ऐसे शास्त्र जो अपूर्व वस्तुको उत्पन्न करनेकी विधिका प्रतिपादन करते हैं। जैसे : यज्ञ-यागादि। इनसे प्रयत्न साध्य सीमित फलोंकी उत्पत्ति होती है। इनका जिज्ञासुके लिए केवल इतना ही उपयोग है कि वे उसके अभीष्ट साध्य वस्तुका नश्वर रूप प्रकट कर दें और सत्यके जिज्ञासुको उससे वैराग्य हो जाय। वह समझने लग जाय कि कृतक या बनावटी पदार्थ कभी-न-कभी मिट जाते हैं। उनकी एक सीमा होती है।

(2) शास्त्रका दूसरा प्रकार वह होता है जो वस्तुतः सर्वदा विद्यमान, एकरस परमार्थ-वस्तु पर जो अज्ञानका आवरण सा प्रतीत होता है, उसको निवृत्त कर दे और नित्यप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति-सी करा दे। ठीक मार्गदर्शन तभी होगा जब इसके लिए सन्त-सद्गुरुके द्वारा वेदान्त-शास्त्रका श्रवण-मनन किया जाय।

'सत्य' की किञ्चित् चमक भी लोकत्रयके त्रयकालिक आनन्दसे भी महान् होती है।

(पावन प्रसंग : पृ. 149-151)

वैराग्यकी प्रणाली बड़ी विलक्षण!

सद्गुरु जो है वह बड़े वात्सल्यके साथ अपने शिष्यको धीरे-धीरे आगे ले चलता है, वह शिष्यको यह नहीं कहता है कि तुम अयोग्य हो, उसको यह नहीं कहता है कि तुम्हारी समझमें कभी नहीं आवेगा, उसको यह नहीं कहता है कि तुम्हारी बुद्धि अशुद्ध है अथवा भ्रष्ट है, बल्कि उसको धीरे-धीरे आश्वासन देकर वात्सल्य-पूर्वक आगे ले चलता है।

यमराज शिष्यकी प्रशंसा करते हैं कि शाबास! तुमने चिन्तन पूर्वक, विचारपूर्वक विषय और भोगोंमें जो दोष है उसको जानकर, अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए, सबका परित्यागकर दिया। इससे शिष्यके मनमें उत्साह भर जाता है।

इसमें देखो, दो तरहकी बात हो गयी—एक तो स्वयं विरक्त होकर आते हैं—छोड़ दिया, छोड़ दिया और फिर जब दूसरा कोई देता है तो कहते हैं कि इसमें तो हमारी इच्छा नहीं है न, तो चलो स्वीकार कर लें। लेकिन, यहाँ यमराज दे रहे हैं और नचिकेताने त्याग कर दिया।

हमारे नीति जाननेवाले पुरुष कहते हैं कि हम आपको साफ-साफ बताते हैं—मार्ग केवल दो हैं। एक है आपद-विपद्का मार्ग-अपनी इन्द्रियोंको काबूमें न रखना-इस रास्तेमें तूफान है, समुद्र है, नदियाँ हैं, इस रास्तेमें ऊबड़-खाबड़ धरती है; इस रास्तेमें हिंस्र जन्तु हैं, साँप हैं, शेर हैं, बड़ा दुःख है।

दूसरा रास्ता है इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना-यह सम्पत्तिका मार्ग है, सुखका मार्ग है 'येनेष्टं तेन गम्यताम्'-अब जो तुम्हें रुचे उस रास्तेसे तुम चलो। तुम्हारी मौज हो आपद-विपद्में फँसो और तुम्हारी मौज हो तो सम्पत्ति-समृद्धिके मार्ग पर चलो।

इसीप्रकार यह आत्मज्ञानका मार्ग, परमानन्दका मार्ग, परमसुखका मार्ग, अमृतत्वका मार्ग—यह ब्रह्मविद्या है और दूसरे मार्ग छोटे-छोटे, टुकड़े-टुकड़े क्षुद्र पन्थ हैं जिनके द्वारा चलकरके मनुष्य संसारके भोगोंमें रच-पच जाता है। कोई-कोई आते हैं और बोलते हैं, महाराज! हम बड़ा वैराग्य लेकर ज्ञान प्राप्तिके लिये आये हैं। पूछा कि कैसे वैराग्य हुआ? बोले कि घरमें घरवालीसे लड़ाई हो गयी।

तो अप्रियसे वैराग्य करना सहज है, अप्रियसे तो वैराग्य क्या घृणा हो गयी, द्वेष हो गया, ग्लानि हो गयी, वहाँ वैराग्य कहाँ हुआ? वैराग्य तो तब है न जब वह प्रियसे होवे? जिससे सुख मिलता है, तृप्ति मिलती है। उसके अनित्यत्व, जड़त्व एवं दुःखरूपत्वके चिन्तनके फलस्वरूप होवे।

यह वैराग्यकी प्रणाली बड़ी विलक्षण है—यह घृणा नहीं है, यह ग्लानि नहीं है, यह द्वेष नहीं है; यह राग-द्वेष दोनोंका शैथिल्य है, जिससे परिच्छिन्न ग्राहिणी बुद्धि शान्त हो जाय और अपरिच्छिन्नके ग्रहणकी योग्यता उदय हो जाय।

(कठोपनिषद् प्रवचन-1 : पृ. 163,172-175)

मैं सच्चिदानन्द अद्वितीय हूँ!

छान्दोग्योपनिषद्में आता है कि यह सृष्टि मृत्युके पंजेमें है। इसमें किसके लिए किस बातसे डरते हो? किस बातके लिए वासनाके अधीन होते हो? किसके लिए सत्यका मार्ग छोड़ते हो? किसके लिए अन्याय करते हो? यह सृष्टि तो ऐसे ही चल रही है।

असलमें यदि मृत्युको पहचानना हो कि मृत्यु क्या है तो जब मनुष्यके जीवनमें प्रमाद आवे, वह अपने कर्त्तव्यसे विमुख होवे, भगवान्से विमुख होवे, सत्पथसे विमुख होवे, सत्सङ्गसे विमुख होवे, तब समझना कि अब मृत्यु इसके सिरपर नाच रही है; बिना मृत्युका आवेश हुए कोई भले मार्गको छोड़ता नहीं है।

पहले दृश्यको देखो कि दृश्यमें सुख नहीं है। दृश्यमें सुख हम भरते हैं। हिन्दुस्तानी लोग मिर्च- मसाला खाकर कितनी तृप्ति अनुभव करते हैं, किन्तु विदेशी लोगोंके लिए तो मिर्च-मसाला-तेलका भोजन करना ही मुश्किल पड़ जायेगा। कहाँ है तुम्हारी रुचि? दुनियामें हम कहाँ फँसे हैं? अपनी रुचिको बहुत बड़ा महत्त्व देकर हम फँसे हुए हैं।

असलमें संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हमें सुख देती है। हम उसमें अपना सुख डालकर सुखी होते हैं। जैसे चाय मीठी नहीं होती शक्कर मीठी होती है, जैसे चायमें शक्कर डालकर हम चायको मीठी बनाते हैं वैसे ही संसारके विषय मीठे नहीं होते, उनमें हम अपनी वासना डालकर उनको मीठा बनाते हैं। तो यह बात समझ लो कि संसारके किसी दृश्यमें खुदकी मिठास नहीं है। मिठास हमारी आत्माकी डाली हुई है।

दूसरी बात यह समझनी है कि वस्तु स्वयं आकर हमको नहीं फँसाती है, हम स्वयं उसको उठाकर अपनेसे चिपटाते हैं। वह स्वयंभू स्वयंप्रकाश नहीं है, हम स्वयंभू स्वयंप्रकाश हैं। फिर भी दूसरी वस्तुओंको अपने सिर पर लाद लेते हैं। हम पकड़ते हैं पेड़को और कहते हैं कि पेड़ने हमको पकड़ लिया है!

एक नदीमें कुछ काला-काला बहा जा रहा था और दो मित्र किनारे पर टहल रहे थे। तो उनको शंका हुई कि कोई कम्बल बहा जा रहा है। उनमें-से एक कूद पड़ा नदीमें और जाकर उस काली चीजको पकड़ा। पकड़ा तो देखा कि वह कम्बल नहीं भालू है। अब भालूने ही उसको पकड़ लिया। किनारेवाले मित्रने कहा-भाई, तुम बहे क्यों जा रहे हो, अगर कम्बल नहीं हाथ आता है तो तुम उसको छोड़ दो। उसने कहा-मैंने कम्बलको नहीं पकड़ा है, कम्बल ही मुझे पकड़े लिए जा रहा है!' अब देखो, खुद ही तो उसको पकड़ने गये थे, परन्तु फँस गये।

तीसरी बात यह देखो कि संसारकी कोई वस्तु नित्य नहीं है, सत्य नहीं है।

तीनों बात मिलाकर क्या बात निकली कि दृश्य सच्चिदानन्द नहीं है, दृश्य आनन्द नहीं है, दृश्य स्वयं प्रकाश चेतन नहीं है, दृश्य सत्य नहीं है और हम आनन्द हैं, स्वयंप्रकाश चेतन हैं और सत्य है; माने सच्चिदानन्द हैं।

चौथी बात यह है कि दृश्य अद्वितीय नहीं है; क्योंकि दृश्यको सद्वितीय बनानेवाला तो मैं ही मौजूद हूँ परन्तु मैं अद्वितीय हूँ।

(कठोपनिषद् प्रवचन-1 : पृ. 27,29,193)

निष्कम्प जीवन

मनुष्यको अपना सच्चा जीवन व्यतीत करनेके लिए सर्वत्र ईश्वर-दृष्टि रखनी चाहिए। आओ ईश्वरकी चर्चा करें!

ईश्वरका ज्ञान वेदान्त है। ईश्वरका ध्यान योग है। ईश्वरसे प्रेम यह भक्ति है और ईश्वरके गुण-धर्मका अपने जीवनमें आविर्भाव-प्रकट होना-यह चरित्र निर्माण है। इन चारों बातोंको दृष्टिमें रखकर हम ईश्वरका वर्णन करते हैं।

आप उस वस्तुको सृष्टिमें ढूँढिये, जो कभी नष्ट नहीं होती, कभी बदलती नहीं-उसका ज्ञान प्राप्त कीजिये। आप उसीके अंश हैं। आपमें भी कहीं-न-कहीं एकरसता है। आप इस बातको देखिये। मैंने बाल्यावस्थाका अनुभव किया, जवानीका अनुभव किया, बुढ़ापेका अनुभव कर रहा हूँ। बचपन जानेसे मैं नहीं गया, जवानी जानेसे मैं नहीं गया, बुढ़ापा जा रहा है मैं नहीं जा रहा हूँ, मैं हूँ ज्यों-का-त्यों! तो अपने इस निष्कम्प जीवनकी ओर ध्यान दीजिये। सब छूट गया, पर आपका यह आत्मा, यह ब्रह्म, यह परमेश्वर बना हुआ है।

देखो! जीवनके लिए यह ज्ञान बहुत उपयोगी है। अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। कभी जीवनमें शरीरमें आरोग्य रहता है, तो कभी रोग रहता है। कभी सुख आता है, कभी दुःख आता है। कभी दरिद्रता आती है, कभी धनाढ्यता आती है। परन्तु आप ईश्वरके अंश हैं, ईश्वरको जानिये। आप भी वैसे ही हैं, वही हैं।

रामका जीवन देखिये, राज्य मिलनेवाला है, वन मिल गया, लेकिन राम ज्यों-के-त्यों निष्कम्प हैं। राम राज्याभिषेकके समाचारसे फूलते नहीं हैं और वनगमनसे सूखते नहीं हैं। आपके जीवनमें यह गुण-धर्म प्रकट होना चाहिए। आप रामके जीवनको देखकर अपने जीवनमें सद्गुण लाइये; आप रामकी भक्ति कीजिये, अपने मनमें स्थिरता लाइये। आप रामका ध्यान कीजिये, आपका मनोबल बढ़ेगा। आप रामका ज्ञान प्राप्त कीजिये, आप वैसे ही होंगे।

भक्त जब कृष्णकी भक्ति करता है तो बोलता है- *'मैं तो गिरधर हाथ बिकानी, होनी होय सो होय रे।'* जो होना हो सो होय हम तो भगवान्‌को पकड़कर बैठे हैं।

यह सृष्टि होती है, स्थिति होती है, प्रलय होता है, स्मृति होती है, विस्मृति होती है, जाग्रत्- स्वप्न-सुषुप्ति होती है, परन्तु परमात्मा एक सरीखा है। आप अपनेको एक सरीखा रखनेका अभ्यास डालिये। ब्रह्मका स्वरूप है, धर्म है, गुण है-सहिष्णु होना! आकाशको कोई नीला समझे तो आकाश यह नहीं मान लेता कि मेरी स्वच्छतामें इन्होंने कलंकका आरोप कर दिया। रस्सीको साँप माने तो रस्सी नाराज नहीं होती। आप जैसे हैं, वैसा यदि आपको दूसरा कोई नहीं समझता है, तो उसमें दुःखी होनेका कोई कारण नहीं है।

वृक्षकी तरह रहें। फल दो, फूल दो, पत्ता दो, सुगन्ध दो, छिलका दो, अपनी हीर दो, जड़ दो, अंकुर दो और कोई काटने लगे तो? बोले-निष्कम्प! यह नहीं कि हमने इतना दिया तुम ऐसा क्यों करते हो? अरे बाबा, जिसको जो चाहे सो करे। यह जीवनकी शैली, अडिग, निष्कम्प शैली है।

(ईशानुभूति-पृ. 41,42,43,44,45)

बन्धन केवल मान्यता है

मन ही छोटा होता है और मन ही बड़ा होता है। जिसके मनमें यह हीन भाव हो जाता है कि हम बड़ा काम नहीं कर सकते हैं, तो बड़ा काम करनेकी उसकी शक्ति ह्रासको प्राप्त होती है। साधन-सम्पत्ति थोड़ी हो और मनमें उत्साह हो कि हम यह काम कर लेंगे, तो ऐसा देखनेमें आता है कि अल्पशक्ति वाले लोग भी बड़ा-बड़ा काम कर लेते हैं। हीनताकी भावना मानसिक दोष है।

जब मेरी आयु 17-18 वर्षकी थी तब मैंने एक महात्माको चिट्ठी लिखी कि यह साधन तो बड़ा कठिन है, यह मुझसे नहीं होगा, कैसे सफलता मिलेगी? तो उन्होंने लिखा-'यह हृदयकी क्षुद्र दुर्बलता है। एक मनुष्य ही तो चन्द्रलोकमें जाता है, अन्तरिक्षकी यात्रा करता है। एक मनुष्य ही तो विज्ञानके इतने बड़े-बड़े अनुसन्धान और आविष्कार करता है। वही तो तुम भी हो। तो निश्चय रखो, आप सातवें आसमानमें उड़ सकते हैं; आप सातवें पातालमें घुस सकते हैं। आप अपनेको परमेश्वरके रूपमें अनुभव कर सकते हैं; आप अपनेको अद्वितीय ब्रह्म जान सकते हैं; क्योंकि आप पहलेसे ही अद्वितीय ब्रह्म हैं।

सृष्टिमें कोई भी बन्धन ऐसा नहीं है जो तुमको हथकड़ी-बेड़ी लगाकर किसी घेरेमें रख सके। न पति-पत्नीका, न परिवारका, न कुलका, न जातिका, न सम्प्रदायका, न प्रान्तका, न राष्ट्रका-ये सारे बन्धन अपनी कल्पनासे अपनेमें माने हुए हैं। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, दुःख-सुख, कोई तुम्हें रोक नहीं सकते।

कभी कोई घटना जीवनमें आयी और चली गयी; मान आया, गया। अपमान आया और गया। रिश्तेदार-नातेदार आये, गये। अरे, सौ-सौको प्यार करके छोड़ दिया और सौ-सौके प्यारे बनकर छोड़ दिया।

आप अपनी जिन्दगी देखो तो मालूम पड़ेगा-कहाँ-कहाँ मन फँसा और कहाँ-कहाँसे निकल आये-मुक्ति तो आपका स्वभाव है। बेरोकटोक आपका विमान चल रहा है। बेरोकटोक आपकी अमरता अपना काम कर रही है, काल आप पर असर नहीं डालता, स्थान आप पर असर नहीं डालता, वस्तु आप पर असर नहीं डालती।

दुनियामें ऐसा क्या है जिसके बिना आप नहीं रह सकते, जो किये बिना नहीं रह सकते, जिसके मिले बिना नहीं रह सकते? ऐसी कौन-सी वस्तु है, कौन-सा ऐसा बन्धन है? *'मानि मानि बन्धन में आयो।'* है नहीं बन्धन, सब झूठा है-जैसे गधा बँध गया था। एक कुम्हार गधेको बाँधनेवाली रस्सी नहीं मिलनेसे बेचारा बहुत फिक्रमें था। महात्माने बतलाया-ऐसे ही अपने हाथ उसके पाँवमें लगाकर झूठ-मूठ बाँध दो। कुम्हारने वैसे ही किया और गधेने समझा मैं बँध गया। शामको जब सब गधोंको खोला, परन्तु वह गधा हटे ही नहीं वहाँसे। डंडा मारे तो भी उसीके आसपास घूमे। महात्माने कहा-'जैसे झूठ-मूठ बाँधा है, वैसे झूठ-मूठ खोल दो।' सचमुच विचार करके देखें तो हमारेमें कहीं भी बन्धनकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए, बन्धन केवल मान्यता है।

(अलातशान्ति माण्डूक्य प्र0-पृ. 45-47)

आप जो चाहते हैं।

आप क्या चाहते हैं—धन, भवन, ऐश्वर्य, परिवार, प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति, धर्म, कर्म, भोग-योग, मोक्ष, संयोग, वियोग-कुछ भी तो बताइये? यदि आपको ऐसा लगता है कि इनमें-से कुछ आप चाहते हैं तो वह आपका भ्रम है। आप इनमें-से कुछ भी नहीं चाहते हैं। आप इनसे होनेवाला सुख चाहते हैं। ये सब अलग-अलग हैं और सुख एक है। सब पुरुषार्थोंका सार वही है। वह सुख है, सुख है, सुख है—और कुछ नहीं है।

आप कैसा सुख चाहते हैं—जो कभी रहे, कभी न रहे? नहीं-नहीं। आप ऐसा सुख चाहते हैं, जो सदा सर्वदा रहे, हमेशा रहे, टूट-टूटकर न हो, लगातार रहे। याद रखिये—ऐसा सुख क्या है?

आप ऐसा सुख चाहते हैं क्या—जो यहाँ रहे, वहाँ न रहे? नहीं-नहीं। यहाँ भी रहे, वहाँ भी रहे-ऐसा सुख चाहते हैं। सब जगह रहे-ऐसा सुख क्या है-ध्यान दीजिये।

क्या आप ऐसा सुख चाहते हैं—जो इससे मिले, उससे न मिले? नहीं। आप ऐसा सुख चाहते हैं, जो इससे, उससे, सबसे, सब समय, सब जगह मिले, मिलता ही रहे।

अच्छा, यह बताइये कि क्या आपको ऐसा सुख चाहिए, जो पराधीन हो? दाता कभी दे, कभी न दे। कुछ दे, कुछ न दे। कहीं दे, कहीं न दे। सचमुच ऐसा पराधीन, गुलामीका सुख आप नहीं चाहते हैं। आप स्वतन्त्र सुख चाहते हैं।

अच्छा, तो आप जो बहुत परिश्रमसे मिले, ऐसा सुख चाहते हैं? ना-रे-ना, आप सुख चाहते हैं, जिसमें परिश्रम न करना पड़े अथवा कम-से-कम परिश्रम करना पड़े। हाँ, तो आप ऐसा सुख चाहते हैं।

आपको यह मालूम है कि सुखकी ज्ञातसत्ता ही होती है, अज्ञातसत्ता नहीं। अर्थात् सुख चमचम चमकता हुआ, झिलमिल झलकता हुआ, जगमग जगमगाता हुआ अपनी बाँकी-झाँकीकी झलक आपको दिखाता रहे। आप अज्ञात सुख नहीं चाहते हैं, ज्ञात सुख ही चाहते हैं।

आइये, आप सबको जोड़ लीजिये। सुख-ही-सुख। सब समय। सब जगह। सब चीजमें। स्वतन्त्र। परिश्रम-रहित और मालूम पड़ता हुआ—ऐसा सुख आप चाहते है। क्यों भाई! यदि ऐसे सुखका एक नाम रखना हो तो उसके लिए परमेश्वर या भगवान्‌के सिवाय और क्या नाम हो सकता है? वह आपका आत्मा हो, ब्रह्म हो या जगदीश्वर हो!

हम आपसे यह नहीं कहते कि आप भगवान् या ईश्वरको चाहिये। हम आपसे यह भी नहीं कहते कि आत्मा, ब्रह्मके स्वरूपका विचार कीजिये। हम तो यह कहते हैं कि वस्तुतः आप जो कुछ चाहते हैं, वह परमेश्वर ही है।

भूलसे खोटी-खोटी, छोटी-छोटी, मोटी-मोटी चीजोंको आप अपना इच्छित पदार्थ मान बैठते हैं—मुझे यह चाहिए, वह चाहिए, यहाँ चाहिए, वहाँ चाहिए, अब चाहिए, तब चाहिए: ऐसे चाहिए, वैसे चाहिए। असलमें जो चाहते हैं, उसपर पर्दा पड़ जाता है।

छोटी वस्तु महानको दबा देती है। विनाशी वस्तु अविनाशीपर हावी हो जाती है। तोलाने मनको दबा दिया। हाँ तो, इस भूलको समूल-चूल समझिये। इसको तूल मत दीजिए। पूर्ण-से-पूर्ण, पूर्णताके बोधसे, इस भ्रान्तिको, इस अविद्याको चूर्ण-चूर्ण करके उड़ा दीजिये। आप परमार्थतः जो चाहते हैं, उसको यदि समझ जायेंगे, तो वह आपके ही पास होगा। प्रत्युत उसे पास कहना भी दूर बनाना होगा। देर न कीजिये। दूसरा मत बनाइये। वह स्वयं आप हैं। वह अनन्त सुख आप हैं या आपके हृदयका अन्तर्यामी परमात्मा है।

मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिलै ना।

(आनन्दसूत्र पृ. 18,19,20,21)

निकटता दूर हो गयी

हम गीताप्रेसमें रहते थे, यह तो बहुत लोगोंको मालूम होगा। एक बार मैं वहाँसे कर्णवास श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके दर्शन करने आया।

बाबा पूछने लगे क्या हाल है 'कल्याण' गीताप्रेसका। मैंने बताया बहुत ही बढ़िया है महाराज! उनका भाव बहुत ही उत्तम है। सेठजी धर्मके बड़े पक्षपाती हैं। भाईजीके हृदयमें बहुत ही भक्ति है, सब बहुत ही अच्छे हैं। मैंने ज्यादा प्रशंसा की वहाँकी। तो बाबा बोले कि शान्तनु! एक बात सुन, एक कथा सुन!

एक था फकीर। वह और कुछ नहीं बोलता था, गाँव-गाँवमें घूमता था और पूछता था कहीं कब्र है कब्र? यह मरनेके बाद जहाँ दफनाते हैं, उस जगहका नाम होता है कब्र। तो वह सन्त जिस गाँवमें जाता, पूछता कहीं कब्र है कब्र? तो लोग उसका भाव नहीं समझते थे कि क्या कहता है?

एक कोई बहुत ज्ञानी गृहस्थ थे और अच्छा अभ्यास था उनको परमार्थका, वे समझ गये। जब वह महात्मा पूछते थे न कि कहीं कब्र है कब्र? तो और तो कोई जवाब नहीं देता था; उस ज्ञानी गृहस्थने जवाब दिया कि कहीं मुर्दा है मुर्दा? तो फकीरने यह जवाब दिया कि यह मुर्दा है—अपने शरीरकी ओर संकेत किया और गृहस्थने अपने मकानको बताया कि यह कब्र है।

अच्छा, अब वह मुर्दा वहाँ कब्रमें घुस गया और रहने लगा। दस-बारह वर्ष बीत गये। वह बोले-चालें कुछ नहीं; खाना-पीना सब ठीक।

एक दिन, रातको उस गृहस्थके घरमें आये चोर और हीरा-मोती, सोना-चाँदी जो कुछ उसके घरमें था सब उन्होंने हथिया लिया। फकीर जाग रहे थे। जब चोर जाने लगे तो महात्माके मनमें, फकीरके मनमें आया कि बारह वर्षसे मैं इसके घरमें रहता हूँ और मेरे देखते-देखते चोरी हो रही है तो यह ठीक नहीं है। सो जब चोर माल लेकर चले, तो वह भी चुपके-चुपके उनके पीछे हो गये।

चोरोंने वह माल ले जाकर एक कुएँमें डाल दिया और चले गये।

महात्माजी अपने कपड़े फाड़-फाड़कर कुएँसे लेकर वापस घर तक रातमें ही निशान बनाते लौट आये। सुबह हुई तो महात्माजीने घरवालेको चोरी हुए मालका पता बता दिया। सब मिल गया।

जब लौटे तो उस गृहस्थने महात्माजीसे पूछा-कब्र सच्ची कि मुर्दा सच्चा?

महात्मा बोले-'कब्र सच्ची मुर्दा झूठा।' और तुरन्त वहाँसे चले गये।

बाबाकी इस कहानीका असर यह हुआ कि गीताप्रेस परिवारसे मेरी जो निकटता हो गयी थी वह दूर हो गयी।

(ब्रह्ममूर्ति उड़ियाबाबा-पृ. 79)

ज्ञाननिष्ठ श्रीगणेशानन्द 'अवधूत'

एक बार मैं हरिद्वारसे वृन्दावन पैदल यात्रा कर रहा था। साथमें कई स्वस्थ, सुन्दर, तगड़े साधु थे। एक गृहस्थ सामनेसे आ रहा था। उसने हम लोगोंको देखकर पूछा–'बाबाजी आपलोग किस खेतका गेहूँ खाते हैं?'अवधूत गणेशानन्द बोले-'हम लोग बेफ़िक्रीका गेहूँ खाते हैं।' उसने पूछा-'आज कहाँ धावा है!' अवधूत गणेशानन्दने कहा–'आज तुम्हारे घरपर ही धावा है।' सचमुचमें उस दिन, हम सबने उसके घर ही भिक्षा की।

एकादशी आदि पर्वोंपर मैं अपने पितामहके साथ गंगा स्नानके लिए जाया करता था। गंगाजी मेरे गाँवसे दो-तीन मील दूर है। एक सुन्दर, स्वस्थ एवं युवा पुरुष वहाँ गंगा स्नानके लिए आते थे। उनका नाम था–'गणेश प्रसाद रस्तोगी।' बार-बार मिलना होने लगा। धानापुरमें कपड़ेकी दुकानपर बैठकर 'ज्ञान-वैराग्य प्रकाश', 'पञ्चदशी' आदि पढ़ते थे। युवावस्थामें ही उनके चित्तमें वेदान्तका संस्कार भरा हुआ था। घरमें माता थी, पत्नी थी, पुत्र थे। अच्छा व्यापार था। कोई कमी नहीं थी। परन्तु उनको वह सब नहीं भाता था। जब उन्हें वैराग्यका आवेश होता, घर- बार छोड़कर चले जाया करते। उन दिनों चित्रकूटकी पीली कोठीके प्रसिद्ध सन्त गाँव-गाँव में घूम-घूमकर 'शिवोऽहम्' का डंका बजाया करते थे। गणेशप्रसादको यह दृढ़ निश्चय हो गया कि यही 'सत्य-सिद्धान्त' है।

बुद्धिमें निश्चय हो जानेपर भी वैराग्य टिकता नही था। कभी रोते तो कभी दहाड़ने लगते–'शिवोऽहम्, शिवोऽहम! एक बार वे यह कहकर कि पारवारिक मोह मुझे बहुत दुःख दे रहा है मेरे समक्ष रोने लगे और इस बन्धनसे हमेशाके लिए छूटनेकी युक्ति पूछी। मैंने विष्णु पुराणमें लिखी एक युक्ति उनको बतलायी। साधकको चाहिए कि सत्पुरुषोंके आचरणकी निन्दा तो न करे परन्तु कुछ इस ढंगका आचरण करे कि लोग उसका अपमान करें और उसके साथ रहना पसन्द न करें। गणेशजीके मनमें यह बात बैठ गयी, एक घरसे, जिनकी रोटी खाना समाजमें निन्दित माना जाता था, भिक्षा ली और भोजन किया। दो-तीन दिनमें लोग कहने लगे कि वे भ्रष्ट हो गये। घरमें प्रवेश करनेपर पत्नी छिप गयी और माताजीने डाँटा–'अब तुम घरमें मत घुसो---। वे मिट्टीकी एक हँडिया लेकर वहाँसे निकले और आगे चलकर गणेशानन्द 'अवधूत' कहलाने लगे।

जब मैं वृन्दावन रहने लगा तो वे आकर मेरे पास रहने लगे। एक बार वे मुझसे कहने लगे–देवी भागवतमें शंकरजी कहते हैं कि 'हे पार्वती, तमोगुणी लोग यहाँ तीर्थ है, वहाँ तीर्थ है, इस प्रकारकी भ्रान्तिसे भटकते रहते हैं। तीर्थ तो केवल अपना आत्मा है, उसको वे पहचानते नहीं।' मैंने उनसे कहा कि वृन्दावनमें ऐसा कहोगे तो लोग तुमको मारेंगे। मैं उनपर नाराज भी हुआ। वे प्रायः निम्न दोहा बोला करते–

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर। पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर।

विरक्त लोग उनका बहुत आदर करते थे। उनकी निष्ठा अद्वैत-वेदान्तमें अत्यन्त दृढ़ थी। उनके मनमें जाति-पाँतिका कोई भेद नहीं था।

वे स्वतन्त्र और स्वावलम्बी रहे। ८५ वर्षकी उम्रतक उन्होंने कोई शिष्य नहीं बनाया। कोई कुटिया नहीं बनायी, कोई धन नहीं रखा। अपना सब काम स्वयं करते थे। वे मृत्यु पर्यन्त यही बोलते रहे–दृश्य कहाँ है? देह कहाँ है? शरीरमें रोग एवं अशक्ति आ जानेपर भी यही कहते–'शिवोऽहम्'।

किसीने पूछा–'आपके शरीरका अन्तिम संस्कार कैसे किया जाय?' उन्होंने कह दिया–'संस्कार-विकार कुछ नहीं, शिवोऽहम्।' नाम-रूप टूट गये। तत्त्व तो तत्त्व है ही।

(पावन प्रसंग : पृ. 79-86)

व्यापक दृष्टि

यदि अपने जीवनमें कभी कोई कठिनाई आवे तो आप व्यापक दृष्टि करें-संकीर्ण दृष्टि न करें। यदि संकीर्ण दृष्टि करेंगे तो एक दु:ख तो मिट जायेगा पर दूसरा आजायेगा। अपनेको सीमाकी ओर न ले जाँय असीमकी ओर ले जाँय। आपकी व्यापक दृष्टि आपका भला करेगी।

आपको एक छोटी-सी बात इस सन्दर्भमें सुनाता हूँ-

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका आश्रम बन रहा था, एक दिन बड़े जोरकी वर्षा हुई तो पानी आने लगा, बाबा जिस कुटियामें थे वह सब टूटने-टाटने लगा। कुछ भक्त लोग एक तालाबके टीलेमें-से माटी खोदकर लाने लगे, वह तालाब था वैष्णवोंका। लाठी लेकर पचासों वैष्णव आगये कि तुम लोग यहाँसे माटी क्यों खोदते हो? बादमें मालूम पड़ा कि वैष्णवोंके जो महन्तजी थे वह भी वहाँ आगये हैं तो लोग दौड़े हुए आये कि महाराज! वहाँ तो बड़ी भारी मार-पीट होने जा रही है। तो बाबा बोले इसमें क्या बात है तुम लोग चले आओ। तब लोगोंने बताया कि वहाँ वह महाराज भी आगये हैं। तब बाबा जैसे बैठे थे वैसे ही उठकर चले गये वहाँ। वहाँ जाकर जो अपने आदमी थे मिट्टी निकालनेवाले उनको खूब जोरसे डाँटा कि सब-के-सब चुप हो गये। बाबा बोले कि अगर तुम लोगोंको मिट्टीकी जरूरत है तो इस बाबासे पूछो कि मिट्टी कहाँसे ले आवें, हमारी कुटिया बही जा रही है। ये वृन्दावनकी सब बातें जानते हैं-ये जहाँसे कहें वहाँसे मिट्टी ले आओ।

अब तो बाबा ऐसा खुश हुआ कि लगाकर छाता खड़ा हो गया मिट्टी निकलवानेके लिए बोला-यहाँसे ले जाओ, वहाँसे ले जाओ। जबतक मिट्टीकी जरूरत पूरी नहीं हो गयी, तबतक पानीमें खड़े रहकर उसने मिट्टी उठवायी और वह कुटिया ठीक करवायी।

कभी-कभी संकीर्ण दृष्टि रखनेसे मनुष्यका विनाश होता है।

एक विलक्षण बात

श्रीमद्भागवतमें कई बातें बड़ी विलक्षण हैं-जैसे एक गृहस्थ है, यदि यह जोर देता है कि मेरी पत्नी, पुत्र, भाई आदि भी भजन करें-तो यह बड़ा अच्छा लगता है कि वह बड़े सज्जन पुरुष हैं, भक्तिभावका प्रचार कर रहे हैं। परन्तु भागवत-धर्म (7.14.6)का यह कहना है-'यह मेरा बेटा, सम्बन्धी आदि है-यह ख्याल किये बिना, संसारमें वे जो करना चाहते हैं, उनको करने दो। तुम भगवान्‌को अपना समझो। सम्बन्धियोंको अपना समझकर उनपर अपना मन मत लादो। यदि तुम अपने मनकी बात उनके ऊपर लादना चाहते हो तो तुम भगवान्‌से ममता नहीं करते, अपने बेटे आदिसे ममता करते हो।' देखो, उनमें भी भगवान् हैं, उनके मनको भी भगवान् प्रेरणा देगा। यदि वे सीधे भगवान्‌की ओर नहीं चलेंगे तो एकाध चपत लगाकर भगवान् उनको अपनी ओर कर लेगा। तुम भगवान्‌का भजन काहेको छोड़ते हो?

मेरी समझमें, एक गृहस्थके लिए वह बात जरा मुश्किल तो है!

(मानव जीवन और भागवत धर्म-पृ. 196-7,203-4)

हमारी रुचिका तो सवाल ही नहीं है!

आपने वह कथा सुनी होगी।

एक गुरुके दो शिष्य थे। एक बेटा था, एक चेला था। गुरुजीने बेटेसे और चेलेसे कहा–'तुम लोग एक-एक चबूतरा बनाओ। उसपर बैठकर हम भजन किया करेंगे।'

जब दिनभर उन लोगोंने बनाया तो शामको आकर गुरुजीने कहा–ठीक नहीं बना! तोड़ दो।' फिर दूसरे दिन बना। बोले–'ठीक नहीं है।' तीसरे दिन बना, बोले–'ठीक नहीं है।'

तो बेटेने कहा–'पिताजी, आपको तो हमारा बनाया हुआ चबूतरा कभी पसन्द नहीं आयेगा। हम बनाना बन्द करते हैं। हम नहीं बनायेंगे।'

चेलेने बनाया तो गुरुजीने चेलेसे पूछा–'जब तुम्हारा बनाया हुआ चबूतरा हमें पसन्द नहीं आता है, तो तुमने फिर क्यों बनाया? उसने कहा–'महाराज, आपने कहा–'बनाओ।' तो मैंने बनाया।'

गुरुजी–'लेकिन मैंने तो तुम्हारा बनाया हुआ कई बार नापसन्द किया।'

चेला–नापसन्द कर दिया तो क्या हुआ? हमको जिन्दगी भर आपकी आज्ञाका ही तो पालन करना है। हम चबूतरा नहीं बनाते, तो आप कहते–'लकड़ी चीरके ले आओ या दीवार बनाओ। एक बोझ गेहूँ लेकर आओ।' तो आपकी आज्ञाके अनुसार कोई-न-कोई परिश्रम तो करते। दूसरे परिश्रमसे हमारा क्या रिश्ता है? जब इसी परिश्रमसे आपकी आज्ञाका पालन होता है। दूसरे परिश्रममें हमारा अपना क्या रखा है? हम तो जिन्दगी भर-रोज चबूतरा बनावेंगे और शामको आप कहेंगे तो तोड़ देंगे। उसमें हमारी रुचिका तो सवाल ही नहीं है। क्या हम अपने भोगके लिए बनाते हैं?

ये जो कर्म होते हैं, उनमें जब तुम आग्रह करोगे कि 'यह करेंगे' और 'यह नहीं करेंगे' तो तुमको दुःख होगा। जब आग्रह करोगे कि 'यह चीज हमारे पास रहे और यह चीज हमारे पास न रहे'–तो तुमको दुःख होगा। जब सोचोगे कि–'हमको एक किस्मका मजा मिले'–यदि यह सोचोगे कि रोज हमको नमकीन ही मिले; मीठा न मिले अथवा मीठा ही मिले नमकीन न मिले–तो तुमको दुःख होगा। यदि तुम सोचो कि जिन्दगी भर तुम्हारी औरत जवान ही रहे, तो यह सुख तुमको मिल सकता है कभी? एकदम बेवकूफीकी बात है।

(दृग दृश्य विवेक-पृ. 65,66)

जीवनमें कर्म और उपासनाका सामञ्जस्य बनाओ।

कर्मेन्द्रिय अविद्या है और ज्ञानेन्द्रिय विद्या है, इन दोनोंका समुच्चय जीवन है।

नेत्रोंसे देखो और पैरसे चलो, यह विद्या और अविद्याका समुच्चय हुआ। इसे 'अन्ध-पंगु न्याय' कहते हैं।

किसी गाँवमें एक अन्धा और एक पंगु रहता था। गाँवपर डाकुओंने आक्रमण कर दिया। दूसरे तो सब लोग भाग गये; किन्तु वह अन्धा और वह पंगु भाग न सके। वे चीखते-चिल्लाते रहे कि हमें भी कोई ले चलो। अचनाक किसी बुद्धिमानकी दृष्टि उनपर पड़ी तो उसने सलाह दीः 'तुम परस्पर एक दूसरेकी सहायता कर लो।' उसकी सलाह मानकर अन्धेने पंगुको अपने कन्धेपर बैठा लिया। अन्धेको पंगु रास्ता बताने लगा। इस प्रकार वे दूसरे स्थानपर पहुँच गये।

श्रुति कहती है कि जो कर्मठ है, वह तो फिर भी कम अन्धकारमें है। जो अविद्यामें-कर्ममें ही लगा है, सम्भव है कि उसे अपनी विफलतासे अथवा विपक्षके प्रबल आघातसे ऐसी चोट कभी लगे कि वह उस ठोकरसे कर्मकी निःसारताकी ओर ध्यान दे। उसे कर्मसे वैराग्य हो जाय और वह वस्तु तथ्यको जाननेकी इच्छा करने लगे।

किन्तु जो इन्द्रादि देवताओंकी उपासनामें लगे हैं, श्रुतिने उन्हें अधिक अन्धकारमें बतलाया। उपासनाके फलस्वरूप उन्हें स्वर्ग मिलेगा। वहाँ पीनेको अमृत और भोगनेके लिए अप्सराएँ, गन्धर्वोंका संगीत आदि उन्हें प्राप्त होगा। इस प्रकार भोगमें जो आसक्त है, उसका वहाँसे छूटना बहुत कठिन है। यह भोग तो उन्हें अधिक प्रवृत्तिकी ओर प्रेरित करेगा।

हमने देखा है कि जो लोग भूत-प्रेत अथवा देवताओंकी आराधनामें लगते हैं, वे देवशक्तिका, देवप्रेरणा (इलहाम)का इतना भरोसा करने लगते हैं कि उनमें आत्मशक्तिका प्रायः लोप ही हो जाता है। वे सर्वथा दास बन जाते हैं। उनका जीवन पराधीन हो जाता है।

अतएव श्रुतिका तात्पर्य यहाँ यह है कि केवल कर्म अथवा केवल उपासनामें मत फँसो। दोनोंका सामञ्जस्य जीवनमें बनाओ। अथवा दोनोंसे ही विलक्षण ब्रह्मको-अपने आत्म स्वरूपको पहचानो।

(विभूतियोग : पृ. 165-168)

बढ़िया-से-बढ़िया एक-एक क्षणको भरते जाओ!

एक महात्मासे किसीने पूछा कि तुम भगवान्‌का भजन क्यों करते हो? तो बोले कि भाई आदत पड़ गयी है। रहा नहीं जाता है। हम अपनी आदतसे लाचार हैं।

जब मैं अपने गाँवमें था, तो एक महात्मासे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा अध्यात्मके लिए ग्रहण की। वह जैसे संस्कार करानेके लिए, कुलगुरुकी जैसे दीक्षा ली जाती है ऐसे नहीं, किन्तु भजन करनेके लिए। तो उन्होंने दीक्षा देकर कहा कि बेटा, अब तुम मुक्त हो। तो मारे खुशीके मैं फूल गया कि हमारे गुरु महाराज कहते हैं कि तुम मुक्त हो गये।

मैंने कहा—महाराज! मुक्त हो गये तो अब हमको भजन करनेकी क्या जरूरत है? अरे, मुक्ति ही तो साध्य है।

गुरु महाराज तब बोले कि समय भरनेके लिए, कालका पेट भरनेके लिए भजन करो।

श्रीवैष्णव सम्प्रदायोंमें इसको कालक्षेप बोलते हैं।

कालको काटनेके लिए, कालका पेट भगवान्‌के भजनसे भरते हैं। भगवान्‌से मुक्ति नहीं लेना चाहते हैं। वैकुण्ठ नहीं चाहते हैं। नहीं कहते हैं कि हे भगवान् हमको अपने राज्यमें ले चलना, कि हमारी समाधि लगा देना। नहीं-नहीं, हमारा काल जो है, भगवान्‌के बारेमें बोलकर, सबके रूपमें भगवान्‌की सेवा करके, भगवान् के लिए नाचकर, भगवान्‌के लिए रोकर समय बीतता है अपना। समय जा रहा है। समयका पेट भर रहा है।

बढ़िया-से-बढ़िया एक-एक क्षणको भरते जाओ। बीत गया सो बढ़िया, आवेगा सो बढ़िया। राग-द्वेष बढ़ानेके लिए अगर समयका उपयोग करोगे तो यह काल तुमको आसुरी योनियोंमें ढकेलेगा।

बात असलमें यह है कि अध्यात्मके मार्गमें बिना पथ-प्रदर्शकके एक कदम भी चला नहीं जा सकता। एक तो अनमिला साजन है और दूसरा अनजाना मार्ग है। जिसके पास पहुँचना है, वह तो देखा हुआ नहीं है और जिस रास्तेसे जाना होता है वह रास्ता देखा हुआ नहीं है। यदि पग-पग पर कोई बतानेवाला नहीं हो तो किसी दूसरेको ही अपना लक्ष्य मान लेनेकी सम्भावना है। फलस्वरूप लक्ष्य भ्रष्ट हो जायेंगे और मार्गसे चूक जायेंगे। ऐसी हालतमें सीखनेकी जरूरत पड़ती है।

(ध्यानयोग : पृ. 32,37,38)

दूसरेको सुधारनेके लिए अपनेको ठीक रखना जरूरी है।

एक हमारी बहुत आत्मीय लड़की है। उसके पतिकी जब थोड़ी तनख्वाह (वेतन) बढ़ गयी तो वे शराब पीने लगे और एक ऐंग्लो-इंडियन लड़की थी, उसके साथ रहें। वह लड़की बहुत परेशान हुई तो उसने पूछा कि क्या करें? मैंने कहा—तू उनकी सेवा कर। उनसे यह भी कह दे कि आपको छुट्टी है, उस लड़कीको आप घरमें भी लाकरके रखें, तो रख लें। तू अपना अभिमान छोड़ दे। और कह दे जैसा आपके घरमें दासी रहती है वैसे बर्तन माँजूगीं, कपड़ा धोऊँगीं, खाट बिछाऊँगी, ऐसे ही मैं रहूँगी। क्योंकि अब सनातन हिन्दू धर्मके अनुसार हम आपका घर छोड़कर कहीं जा नहीं सकती।

नारायण, वह करने लगी ऐसा। थोड़े दिनोंमें श्रीमानको भगन्दर हो गया। तब वह जो ऐंग्लो इंडियन लड़की थी, वह उन्हें छोड़कर किसी दूसरेके साथ चली गयी। और वे गये अस्पताल और कराहे। दो महीना अस्पतालमें रहना पड़ा। वे कराहे और चिल्लावें, बड़ा भारी भगन्दर।

एक दिन रातको जब वे अस्पतालमें बड़े जोरसे चिल्लाने लगे, तो लड़कीने कहा कि देखो, जब चिल्लाते ही हो तो भगवान् जो करनेवाले हैं सो तो होगा ही; मुँहसे चिल्लाते ही हो, आओ भगवान्का नाम लें। मैं भी तुम्हारे साथ बोलती हूँ।

अब वे दोनों मिलकर हरे राम, हरे राम, हरे राम ऐसे बोलने लगे, थोड़ी देरमें उनको नींद आ गयी। बड़ा आराम मिला उस रातको और उसके बाद ऐसा लगा कि रोग अच्छा हो रहा है। तब वह लेकर द्वादशाक्षर मन्त्रकी माला जपने लगे। लड़कीने ही उनको बताया।

पाँच-दस दिनमें ठीक होकर अस्पतालसे निकल आये। फिर मेरे पास आये। मुझसे लिया मन्त्र और अपने सब पापोंका प्रायश्चित किया।

उसके बाद यह तय हुआ कि जब रुपया उनके पास आयेगा वेतनका, तब लाकर वे लड़कीको दे देंगे।

असलमें जो अपने हृदयको ठीक रखेगा, वह तो धर्ममें, भक्तिमें, व्यवहारमें सफल होगा और जो अपने दिलको बिगाड़ लेगा, वह तो अपने आपको ही बिगाड़ लेगा, तब दूसरेको सुधारेगा कहाँसे?

दूसरेको सुधारनेके लिए अपनेको ठीक रखना तो जरूरी है न!

(ध्यानयोग : पृ. 72-73)

ईश्वरको सुख देनेमें कहीं कोई एतराज ही नहीं है

हम लोग ईश्वरको भी बड़ी दुविधामें तब डाल देते हैं जब हम ईश्वरको अपने सुझाव पर सुझाव देने लगते हैं। यदि हम ईश्वरसे कहें कि हे ईश्वर! हमको सुख चाहिए। कोई बात नहीं, ईश्वरको सुख देनेमें कुछ लगता थोड़े ही है, उसके पास सुखकी कमी नहीं है वह सुखका समुद्र है, वह सुखका अनन्त आकाश है। ईश्वरको सुख देनेमें कहीं कोई एतराज ही नहीं है। आपको बिना माँगे वह अपना समूचा सुख देनेको तैयार है।

अब एक सज्जनकी बात आपको सुनाते हैं। वे गये हमारे वृन्दावनमें बिहाराजीका दर्शन करनेके लिए। बिहारीजी तो चुपचाप खड़े रहते हैं। आप जानते हो, वे हम लोगोंसे तो कभी-कभी बात करते हैं; लेकिन सब लोगोंसे बात नहीं करते हैं, चुपचाप रहते हैं। तो वे सज्जन बोले-बिहारीजी हमको सुख चाहिए-नहीं महाराज, हमारी गोदमें एक बेटा आ जाये, तब हम सुखी होंगे। तब बिहारीजी चुप हो गये कि जरा इसके प्रारब्धमें देखना पड़ेगा कि बेटा है कि नहीं है? कर्मानुसार बेटा देना पड़ेगा। बोले-अच्छा विचार करते हैं। बोले-विचार कुछ नहीं करो, हमको बारह महीनेके भीतर दो!

अब बिहारीजी और दुविधामें पड़े कि एक तो इसको सुख चाहिए और वह भी केवल सुख चाहता तो इसको हम कैसे भी दे देते; समाधिका सुख दे देते; इसके दिलमें सुखकी फुरफुराहट दे देते; अरे हम इसके दिलमें खड़े होकर थोड़ा-सा नाच देते, थोड़ा गा देते; थोड़ा इसीको छातीसे लगा लेते, यह सुखी हो जाता, इसको ऐसा सुख नहीं चाहिए। इसको तो गोदमें खिलानेके लिए बेटा चाहिए और वह तो कर्मके अनुसार देना पड़ेगा। अभी महाराज, बिहारीजी चुप ही हैं। तबतक वे सज्जन बोले-देखो बिहारीजी, वह बेटा गोरा-गोरा हो, और जरा मजबूत भी हो, हमारी सेवा भी खूब करे और कमाऊ भी हो और उसके भी बेटा हो! अब बिहारीजीने कहा-यह सुख नहीं माँग रहा है, इसको सुख नहीं चाहिए। तो देखो, इसीका नाम संकल्प है।

वस्तुतः तुम जो ईश्वरको अपना नौकर बनाना चाहते हो, यही तुम्हारे जीवनका दुःख है। तुम्हारे जीवनका दुःख यह है कि तुम ईश्वरके संकल्पके अनुसार राजी नहीं हो। ईश्वरको अपने संकल्पके अनुसार चलाकर राजी होना चाहते हो।

(ध्यानयोग : पृ. 86,87,88)

अपमान किसीका भी मत करो

एक बार हमारे हरिबाबाजीको किसीने चिट्ठी लिखी कि महाराज, जहाँ आपने बाँध बनवाया वहाँ सात सौ गाँवके लोग आपके जिलाये जी रहे हैं, पर ये चोरी करते हैं, अनाचार करते हैं, बेईमानी करते हैं, आप इनको मना क्यों नहीं करते?

बाबाने कहा—देखोजी, जो कुछ हो रहा है सब मालिकके सामने हो रहा है, जबतक उसको पसन्द है तमाशा देख रहा है। जब पसन्द नहीं आवेगा तब एक साथ ही सब मटिया-मेट कर देगा। अब हमको उसमें दखल करनेकी क्या जरूरत है? उसकी मर्जी है—सुधारे, उसकी मर्जी है मत सुधारे।

यह तो हम लोग अपना अभिमान लेकर बीचमें कूद पड़ते हैं और अवज्ञा करते हैं; चाहते यह हैं कि जो हम मानते हैं, वही दूसरा भी माने! यही न! जितनी सभाएँ बनीं, संस्थाएँ बनीं और जितने मिशन बने—किसलिए? इसलिए कि हम जो मानते हैं, वही सबको मानना चाहिए; माने हम अपनी वासना, अपनी मान्यता, अपना ज्ञान दूसरेके दिमागमें ठूँसना चाहते हैं। यही तो?

तो हम लोग अपनी-अपनी एक मान्यता बनाकर उसके अनुसार चलते हैं। यहाँ तक तो ठीक है। पर सब हमारी ही पार्टीमें आ जायँ; अपनी-अपनी पार्टीमें लेनेके लिए दूसरेको बुरा बताना, यह ठीक नहीं है।

'कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति को प्रमाणः'—यदि कपिल सर्वज्ञ है तो कणाद सर्वज्ञ नहीं है इसका निश्चय कैसे किया जाय?

अरे बाबा, जो कपिल कहते हैं सो भी ठीक है और जो कणाद कहते हैं सो भी ठीक है।

वही सर्वज्ञ परमेश्वर सबके हृदयमें है।

कपिलमें भी वही परमेश्वर है और कणादके हृदयमें भी वही परमेश्वर है।

गौतममें भी वही है, पतञ्जलिमें भी वही है।

जैमिनीमें भी वही है, व्यासमें भी वही है।

इतना ही नहीं, बुद्धमें भी वही है और महावीरमें भी वही है—सबके अन्दर वही परमात्मा है।

अपमान किसीका भी मत करो।

(राजविद्या राजगुह्ययोग : पृ. 81-82)

श्राद्धसे बहुत लाभ हैं

सुनते हैं औरंगजेबने जब अपने बापको जेलमें रखा था तब उसके लिए पानीका भी कोटा निश्चित कर दिया था कि रोज पीनेके लिए कितना पानी उसको दिया जाय।

अब एक दिन उसको ज्यादा पानीकी जरूरत हुई तो किसी नौकरने नहीं दिया। फिर यह बात औरंगजेबके पास गयी। उसने कह दिया कि आपका आजका पानीका कोटा खत्म हो गया है, अब और पानी नहीं मिलेगा। तो उसने कहा कि बेटा, देखो हिन्दू लोग जो हैं, वे मरे हुए बापको भी पानी पिलाते हैं और तुम ऐसे हो कि जिन्दा बापको भी पानी नहीं पिलाते?

धर्मशास्त्रमें आया है कि पहले अपनी या अपने बेटेकी फिक्र न करें जो बुड्ढे माँ-बाप हैं, जिनके शरीरमें अब काम करनेकी शक्ति नहीं है उनको पहले खिलाकर खायें। इस बातको यहाँ तक आदरणीय बताया गया कि मरने पर भी अपने माता-पिताके नामसे अन्न और जल देना चाहिए।

श्राद्धसे बहुत लाभ हैं एक मरे हुए पिताका आदर करें तो इसका अभिप्राय है कि जीवित पिताकी तो सेवा करनी ही चाहिए।

दूसरे यदि माता-पिताकी सेवा न कर सकनेका मनमें असन्तोष है तो श्राद्ध करनेसे उसकी निवृत्ति होगी।

हिन्दू धर्मकी दृष्टिसे मरनेके बाद भी पितर लोग कहीं-न-कहीं हैं और यदि वे मुक्त ही हो गये हैं तो भगवान्, श्राद्ध करनेवालेको उसका फल लौटा देता है। मनिआर्डर नहीं लिया जाने पर, भेजनेवालेके पास लौटकर आजाता है। अच्छा, उससे ब्राह्मणोंको कर्मकाण्ड पढ़नेकी प्रेरणा प्राप्त होती है।

हमारे बनारसकी तरफ अगर किसी वंशमें बच्चा जल्दी नहीं होता तो गया-श्राद्ध करवाते हैं। तो पितरोंके आशीर्वादसे वंश चलता है।

श्रद्धा-सम्पाद्य होनेके कारण ही उसका नाम श्राद्ध है।

(राजविद्या राजगुह्ययोग : पृ. 122-123)

भगवान्‌ने सुदामाको खुद खींचकर द्वारकामें बैठा लिया!

हम कर्मयोगी महात्माओंसे मिले और उनसे प्रश्न किया कि—अल्पशक्ति, अल्पज्ञान और अल्पकरणसे युक्त हमारे द्वारा जो कर्म होगा उससे अनन्त परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? उन्होंने कहा—देखो पण्डितजी, जबतक आपने आत्माके रूपमें परमात्माका साक्षात्कार नहीं किया तबतक वह सगुण है—इस बात पर ध्यान दो!

तो आपके अल्पज्ञान आदिके द्वारा अनन्त परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह बात सही है। परन्तु जब सगुण परमात्मा देखेगा कि मेरी प्राप्तिके लिए यह छटपटा रहा है, अपना हाथ-पाँव पीट रहा है, मेरी प्राप्तिके लिए यह कर्म कर रहा है, तब वह परमात्मा प्रसन्न होकर आपके सामने अपने आपको क्या अभिव्यक्त नहीं कर सकता?

सुदामाजी अपने घरसे चले। भगवान्‌ने देखा कि यह दुबला ब्राह्मण, हड्डी दीख रही है, लठिया टेक रहा है, यह तो साठ कोस पहुँचनेमें बेचारा मर जायेगा। तो जब विश्राम करनेके लिए सुदामीजी पेड़के नीचे बैठे, आँख लग गयी। तो जागने पर क्या देखते हैं कि हम तो द्वारकामें हैं। यह इतना रास्ता क्या हो गया कि भगवान्‌ने खुद खींचकर उनको द्वारकामें बैठा लिया।

हमने देखा बच्चा नन्हा-सा है। उठनेकी सामर्थ्य नहीं है। चलनेकी सामर्थ्य नहीं है, ललकता है माँकी गोदमें जानेके लिए। जब वह बारम्बार हाथ उठाता है और रोने लगता है तो भले उसमें सामर्थ्य नहीं है, लेकिन माँमें तो सामर्थ्य है न कि बच्चेको वह गोदमें उठा ले।

तो ठीक है कर्ममें सामर्थ्य नहीं है। न हाथमें सामर्थ्य है कि ईश्वरको पकड़ ले, न पाँवमें सामर्थ्य है कि चलकर उसके पास पहुँच जाय। न जीभमें सामर्थ्य है कि बोलकर उसका वर्णन कर ले, न मनमें सामर्थ्य है कि उसका ध्यान कर ले; लेकिन जब ईश्वर देखता है कि यह जीव हमारे अभिमुख हुआ, तो ईश्वर ही कृपा करके जीवके साधनको परिपूर्ण कर देता है। इसलिए आप अपने कर्मकी अल्पताको मत देखो, भगवान्‌के महान् अनुग्रहको देखो। हमको एक महात्माने कहा था कि एक कदम तुम चलो तो ईश्वर भी तुम्हारे लिए एक कदम तो चलेगा, कि इसमें भी कोई सन्देह है?

तुम चलो एक कदम ईश्वरकी ओर और ईश्वर चले एक कदम तुम्हारी ओर, तुम्हारा कदम तो छोटा और ईश्वरके कदममें क्या तुम मिले बिना रह जाओगे? एक कदम चलो तो! इसीको कहते हैं ईश्वरकी प्राप्तिके लिए कर्म। तो गीताका कहना है कि तुम ईश्वरकी प्राप्तिके लिए कुछ करो।

(ध्यानयोग : पृ. 102,103,104)

भजन ही पुण्यवान् पुरुषकी पहिचान है

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। गीता 7.16

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! मुझे आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकारके **सुकृति** लोग भजते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते (गीता 7.15)–जो दुष्कृति हैं वे भगवान्की शरण ग्रहण नहीं करते। वे या तो कमजोर हुए तो संसारमें किसीकी शरण ग्रहण करते हैं और बहुत प्रबल हुए तो अपनी बुद्धिकी शरण, अपने अहंकी शरण ग्रहण करते हैं।

जो सुकृति होते हैं वे भगवान्की शरण ग्रहण करते हैं, भगवान्का भजन करते हैं। जिन्होंने पूर्व-पूर्व जन्ममें और इस जन्ममें सुकृत किया है, माने अच्छे काम किये हैं, धर्म किया है, पुण्य किया है–उनको कहते हैं सुकृति। क्योंकि अच्छे संस्कार, अच्छे कर्मके बिना नहीं पड़ते।

मन-ही-मन सोचो कि किसीको पाँच रुपये दे दिये, तो पाँच रुपये देनेका पुण्य संस्कार अन्तःकरणपर पड़ना चाहिए न, लेकिन वह नहीं पड़ेगा।

और पाँच रुपया दो और फिर ख्याल आवे कि एक गरीबकी मैंने भलाई की, तो पाँच रुपये देनेका संस्कार चित्तमें बैठेगा और वह अन्तःकरणको शुद्ध करेगा।

कृतसे जो संस्कार होता है, वह साधारण होता है और वह चित्तशुद्ध नहीं करता। सुकृतसे जो संस्कार होता है, वह असाधारण होता है और चित्तको शुद्ध करनेवाला होता है।

किसीके साथ गाय हाँक देना कि ले जाओ, हमने इनाममें तुमको गाय दिया, वह दूसरी चीज है और गोदानके पर्व पर हाथमें पूँछ पकड़कर, संकल्प लेकर ब्राह्मणको गोदान करना, यह दूसरी चीज है, इससे धर्मकी उत्पत्ति होती है।

बिना संस्कारके, बिना अपूर्वकी उत्पत्ति हुए उस कर्मसे आगे जो सुख होनेवाला है, और जो जीवनभरमें धर्मरसकी उत्पत्ति होनेवाली है, वह रसकी उत्पत्ति नहीं होती है।

द्रव्य-क्रिया-देश-काल-पात्र-श्रद्धा, इन छहोंसे सम्पन्न होकर जब मनुष्य धर्मानुष्ठान करता है तब उससे हृदय शुद्ध होता है और वह सुकृति होता है।

अब बोले–महाराज! कैसे पहचानें कि यह सुकृति है?

सुकृति पुरुषकी पहिचान यह है कि–**मां भजन्ते**। जो पूर्व जन्मका और इस जन्मका पुण्यात्मा होता है, धर्मात्मा होता है, वह भगवान्का भजन जरूर करता है। भगवान्का भजन करना, भगवान्की शरण लेना, भगवान्का चिन्तन-ध्यान करना, यही उसकी पहिचान है। क्योंकि भगवान्के नाममें, भगवान्के प्रसादमें और वैष्णव (भक्त अथवा सन्त)में-ये जो अल्प पुण्यवाले हैं, उनका विश्वास नहीं होता है। भजन ही पुण्यवान् पुरुषकी पहिचान है।

(ज्ञान-विज्ञानयोग-पृ. 334,335,366)

आपकी एकाग्रता, बुद्धि एवं प्रीति कहाँ है?

अब यह बताते हैं भाई, कि भजन तो सब करते हैं, किसका भजन करते हैं? तो भगवान् बोले- **मां भजन्ते।** जो सुकृति (पुण्यात्मा) हैं, वे भगवान्‌का भजन करते हैं। क्योंकि भजन किये बिना तो कोई रह नहीं सकता। यह जो अन्तःकरण बना हुआ है, यह बिना ज्ञानका नहीं रहता है, इसमें कोई-न-कोई ज्ञान रहता है, भला! और कुछ ज्ञान नहीं तो, 'कुछ नहीं जाना'-ऐसा ही ज्ञान रहता है।

चूँकि सच्चिदानन्दघन, हमारा असली स्वरूप है एवं परमात्मस्वरूप सच्चिदानन्द, सर्वत्र व्याप्त है; अतएव यह हमारे अन्तःकरणमें, हृदयमें भी व्याप्त है। अन्तःकरण, चेतन प्रधान होनेके कारण दर्पणकी तरह स्वच्छ, चमाचम चमकता रहता है।

अब होता यह है कि सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द)की परछाईं हमारे अन्तःकरणमें, हृदयमें-निम्न तीन रूपोंमें उपलब्ध होती है :-

(१) अन्तःकरण अर्थात् हृदयमें जब 'सत्' की परछाईं पड़ती है तो उसको **एकाग्रता** कहते हैं।

(२) 'चित्'की परछाईंका नाम '**बुद्धि**' है।

(३) आनन्दकी परछाईंको **प्रीति** कहते हैं। इस प्रकार सभीके अन्तःकरणमें (जीवनमें) किंचित् 'एकाग्रता', किंचित् 'बुद्धि' एवं किंचित् 'प्रीति' स्वभावसे रहती ही है।

तो अब देखना है कि कौन अपनी एकाग्रता, बुद्धि और प्रीतिका कहाँ प्रयोग करता है! प्रयोग तो करना ही पड़ेगा।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें अवधूत दत्तात्रेयके चौबीस गुरुओंकी कथा आती है। वहाँ आया है-बढ़ई (मिस्त्री) बाण गढ़ रहा था और सामनेसे राजाकी सवारी बड़ी धूम-धाम, बाजे-गाजेके साथ निकल गयी; परन्तु उसको पता नहीं चला-तो देखो **एकाग्रता** है न उसकी! पर कहाँ है एकाग्रता-बाणके निर्माणमें और कितनी कला-कौशलसे 'बुद्धि'से, उस बाणको वह बनाता है-बाण कितनी दूर तक जाय, उस बाणकी पूँछ (पिछला हिस्सा) कैसा बनाता है? कैसी सुन्दर चित्रकारी, बाण पर करता है। उसमें गाँसी (नुकीला हिस्सा) कैसे बनाता है-यह **बुद्धि** भी उस बढ़ईमें है और उसकी **प्रीति** भी बाण बनानेमें लगी है!

तो बाण-निर्माणमें प्रीति, एकाग्रता एवं बुद्धि होना और 'निर्वाण-स्वरूप भगवान्‌में प्रीति, एकाग्रता एवं बुद्धिका होना-ये दोनों दो चीज हैं, भला! तो जिसकी प्रीति भगवान्‌से भिन्न सांसारिक पदार्थोंमें है, वह भगवान्‌से टरकर अर्थात् हटकर है। उसकी बुद्धि 'टरित' अर्थात् अन्यत्र विचलित हो गयी।

(ज्ञान-विज्ञानयोग पृ. 336-337)

सकाम पुण्यात्माओंको भी भगवान्‌का भजन ही करना चाहिए

अब देखो, भगवान्‌के भजन करनेके सम्बन्धमें यह प्रश्न रखा गया–

प्रश्न : लोग कहते हैं कि भगवान् मोक्ष ही देंगे, कामनापूर्ति नहीं करेंगे। तो कामनावाले पुरुष भगवान्‌का भजन क्यों करें? भगवान् स्वयं गीतामें इस आक्षेपका समाधान करते हैं। '**हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! मुझे आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकारके पुण्यात्मा लोग भजते हैं।** 7.16 गीता

पुण्यात्मा, सकाम भी होते हैं और निष्काम भी होते हैं।

तो केवल निष्काम पुण्यात्मा ही भगवान्‌का भजन करेंगे, सकाम पुण्यात्मा नहीं करेंगे? बोले–नहीं, सकाम पुण्यात्माओंको भी भगवान्‌का ही भजन करना चाहिए।

सकाम भी दो तरहके होते हैं–एक पापी सकाम और एक पुण्यात्मा सकाम। तो जो पापी सकाम होंगे, वे तो राजाका, सेठका, कामिनीका भजन करेंगे। पापी सकाम प्रभुके प्रति प्रीति नहीं करेगा, वह तो किसी-न-किसी दूसरी जगह आकृष्ट हो जायेगा।

लेकिन जो पुण्यात्मा सकाम होगा वह अपनी कामनाकी पूर्तिके लिए भी संसारमें **प्रीति** नहीं करेगा, संसारमें **बुद्धि** नहीं लगावेगा, संसारमें **एकाग्रता** नहीं लगावेगा। उसकी एकाग्रता संसारमें नहीं है, भगवान्‌में है और वह एकाग्रता नासमझीसे नहीं है, समझदारीसे है और केवल समझदारी एवं एकाग्रता ही नहीं है, प्रीति भी है।

अब समझो, तीनों बातें भगवान्‌में इकट्ठी कर दो। भगवान्‌में मन लगे, भगवान्‌का स्वरूप समझमें आवे और भगवान्‌से प्रेम होवे! ये तीनों बात तुम्हारे हृदयमें आजाये तो सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव इनका जो एकीकरण हो गया, उसका नाम भक्तिभाव हो गया। यही **भजन्ते** हो गया। पर ये तीनों बात भगवान्‌में चाहिए।

तो, भाई! कामनाकी पूर्ति देखो। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी-ये तीनों सकाम पुण्यात्मा हैं। इनमें पुण्यका तारतम्य है भला! तारतम्य अर्थात् कमीबेशी। और चौथा तो सिद्ध है। वह साधन कक्षामें नहीं है, साधकसे परे है।

दुनियामें, दुःख जिसको रौंद रहे हैं, उसका नाम आर्त है। गजेन्द्र, द्रौपदी आदिके प्रसंगोंमें, देखो न क्या! जब किसीका सहारा न रहे, भगवान्‌को पुकारो, देखो वे रक्षा करते हैं।

गुरूपाधिक जो परमात्मा है, वह **जिज्ञासा** पूर्ण करता है।

भगवान् विभीषण, सुग्रीवादिको लौकिक **अर्थ** देते हैं। ध्रुवको लौकिक, पारलौकिक दोनों अर्थ देते हैं।

सेठ लोग घबड़ाते हैं, इनका खजाना थोड़ा है। ये सोचते हैं कि हम किसीको दे देंगे, तो हमारे पास क्या रहेगा? ईश्वर जो है वह अक्षय निधि है। सकाम पुरुषको देनेसे उसकी कीर्ति तो बढ़ती है, लेकिन घटता कुछ नहीं। इसलिए ईश्वर खूब लुटाता है। तुम डरो मत, निःशंक होकर भक्ति करो। सकाम हो तो सकाम और निष्काम हो तो निष्काम।

(ज्ञान-विज्ञानयोग-पृ. 338 से 344)

भगवान्का ही भजन क्यों किया जाय?

प्रश्नः ब्रह्म तो एक ही है, भगवान् तो एक ही है; भिन्न-भिन्न सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिए भिन्न-भिन्न उपाधिवाले भगवान्का भजन क्यों? हमने तो सत्सङ्गमें (वेदान्त-उपनिषदोंमें) सब जगह सुन लिया है कि सब ब्रह्म ही है तो चाहे किसीसे प्रेम करें? किसीसे भी हम प्रेमकर लेंगे तो तर जायेंगे; लड़कीसे प्रेम करेंगे तो भी तर जायेंगे, क्योंकि सब भगवान् ही है न! तो सर्व ब्रह्मकी दृष्टिसे हम प्रेम करते हैं, तो भगवान्का ही राम, कृष्ण, शिव, देवी आदिका भजन क्यों किया जाय?

उत्तर : नारायण-नारायण-नारायण-नारायण! जैसे 'भूत'की उपाधि होगी तो दूसरे ढंगके भगवान् मिलेंगे; 'भैरव' होंगे तो दूसरे ढंगके भगवान् मिलेंगे; कामिनीकी उपाधि होगी तो दूसरें ढंगके एवं धनकी उपाधि होगी तो दूसरे ढंगके भगवान् मिलेंगे। इसलिए शुद्ध सात्त्विक उपाधिके द्वारा भगवान्का भजन करना चाहिए।

तो बोले-हम तो मच्छरको ही भगवान् मानते हैं, उसीकी पूजा करेंगे। तो बोले-भाई देखो, भगवान् तो सब हैं, यह बात वेदमें, पुराणमें, शास्त्रमें सब जगह है; लेकिन उपाधिके तारतम्यसे भगवान्के पूजनमें तारतम्य होता है।

जो सिद्ध पुरुष हैं, जिनको सर्वत्र परमात्माका दर्शन होता है उनके लिए तो क्या चींटी और क्या चिड़िया सब ब्रह्म है। उनको पूजा करनेकी जरूरत नहीं है। लेकिन महाराज, जिनको सब जगह ब्रह्म नहीं दिखायी पड़ता है, उनको शुद्ध उपाधिमें ही परमात्माका चिन्तन करना चाहिए। अशुद्ध उपाधिमें नहीं। वेश्यामें ईश्वरकी उपासना करने जाओगे तो वह वेश्याकी उपाधि तुम्हारे अन्तःकरणको पवित्र नहीं होने देगी, निकृष्ट कर देगी भला! सेठकी उपाधिमें ईश्वरका भजन करने जाओगे तो वह तुमको व्यापारी बनावेगा, ईश्वरका चिन्तन नहीं होने देगा।

यह नहीं कि कोई कामी पुरुष किसी स्त्रीको ही कहने लगे कि तुम हमारी प्राणेश्वरी, तुम हमारी हृदयेश्वरी, तुम हमारे परमेश्वर, तो उस उपासनासे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी, सो बात नहीं है। जैसी उपाधिके द्वारा भगवान्की उपासना करेंगे, उस उपाधिसे वैसे ही परमात्माकी प्राप्ति होगी। यह सनातन धर्मका गूढ़तम सिद्धान्त है। इसको जो लोग नहीं समझते हैं वे वेदान्तकी चार बात सुननेके बाद संसारमें फँस जाते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान्से प्रेम करो।

(ज्ञान-विज्ञानयोग, पृ. 338,345,352)

ईश्वरकी चालाकी

जो चीज जैसी दीख रही है, उसमें अस्ति, भाति, प्रियके रूपमें ईश्वर ही है। इसका अर्थ है कि ईश्वरकी प्राप्तिके लिए, हमें अपने औजार (अन्तःकरण, इन्द्रियाँ इत्यादि) साफ करनेके लिए तो कर्मकी जरूरत है, परन्तु उसका अनुभव करनेके लिए केवल ज्ञानकी जरूरत है।

अब कहो भाई, फिर तो संसारमें जो लोग राग करते हैं, जो प्रेम करते हैं, जो फँस गये हैं, वे ईश्वरमें ही फँसे हैं, ईश्वरसे ही उनका राग है। बोले–इसमें ईश्वरकी एक चालाकी जो है वह पकड़ लेना चाहिए। अगर वह नहीं पकड़ोगे तो ईश्वर बहुत दुःख देगा। क्या चालाकी है? सुनो–

पहले क्षत्रियोंमें ऐसा था कि अगर विवाहमें वर किसी कारणसे नहीं जा सकता हो तो उसकी तलवार भेज दी जाती थी और तलवारके साथ विवाह करके कुमारी आजाती थी। एक राजकुमारी तलवारके साथ व्याही गयी और घरमें आगयी। बड़ा भारी राज्य था। अब लड़केको, लड़कीने कभी देखा नहीं था। राजकुमार युद्धमें थे। युद्धसे लौटकर, राज्यके बाहरसे ही राजकुमारने राजकुमारीके सतीत्वकी, उसकी निष्ठाकी परीक्षा लेनेके लिए एक षडयन्त्र रचा। राजकुमारीके पास सन्देश आने लगे-एक दूसरे राजकुमार हैं, मेहमान हैं, बड़े सुन्दर एवं गुणी हैं, बड़े प्रेमी हैं, उन्होंने तुमको देखा है, वे तुम्हारे लिए मर रहे हैं। अगर तुम उनसे नहीं मिलोगी तो मर जायेंगे। एक दिन, दो दिन, चार दिन, बेचारीका चित्त विचलित हो गया अतएव उसने मिलनेकी स्वीकृति दे दी।

अब, जब मिलनेका समय आया तो परपुरुषके रूपमें उसका पति आया। लेकिन आकर जब उसने बताया कि मैं पर-पुरुष नहीं हूँ, मैं तुम्हारा पति हूँ, उसी समय वह कन्या मर गयी। शर्मके मारे मर गयी। इसमें अपराध क्या था? दुःख क्यों हुआ उसे? वह दूसरेसे नहीं मिली, अपने पतिसे ही मिली। दूसरेने नहीं बुलाया, उसके पतिने ही बुलाया, पर उसका अपराध क्या था? अपराध यह था कि जिसको वह जानती थी कि हमारा पति नहीं है, पर पुरुष है, अपने पतिसे अतिरिक्त पुरुष जानते हुए भी उसने मिलना स्वीकार कर लिया, यही उसके दुःख एवं मृत्युका कारण हुआ।

महात्मा लोग कहते हैं सब परमात्मा है। हम मिलते हैं परमात्मासे, हँसते हैं, परमात्मामें, चलते हैं परमात्मामें, देखते हैं परमात्माको, यह परमात्माकी चालाकी है भला! लेकिन क्या हम यह पहचानते हुए परमात्मासे मिलते हैं कि यह परमात्मा है; कि परमात्मासे अतिरिक्त जानते हुए भी उससे मिलते हैं कि यह हमारा प्यारा है। अगर पहचान लें, तब तो, *'जहँ जहँ चलौं सोइ परिकरमा'* और *'जो जो करौं सो पूजा'*। परन्तु पहचानते नहीं हैं।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि मिलना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना महत्त्वपूर्ण उसको पहचानना है। वह तो रग-रग, कण-कण, क्षण-क्षणमें मिला हुआ है। ऐसा कोई देश नहीं, ऐसा कोई काल नहीं, ऐसी कोई वस्तु नहीं, जहाँ परमात्मा मिला हुआ न हो, लेकिन हम सर्वके रूपमें उसको कहाँ पहचानते हैं? हम तो एकके प्रति मोह करते हैं, एकके प्रति राग करते हैं, एकके प्रति द्वेष करते हैं; सबमें उसको कहाँ पहचानते हैं? इसीलिए यह मोह, यह राग, यह हमारी भ्रान्ति, यह हमारा अज्ञान हमारे दुःखका हेतु है, हमको दुःख देनेवाला है।

(ज्ञान-विज्ञानयोग पृ.206,207, 208)

जरा पहचानो तो ईश्वरको!

देखो, ईश्वरका दर्शन क्या विलक्षण है। कहीं छिपा हुआ नहीं है ईश्वर। ईश्वर बिल्कुल प्रकट है।

हमको अपने बचपनकी याद है। एक महात्माके पास हम लोग जाते थे गंगा किनारे। वह सिद्ध माने जाते थे। जानेपर गाली भी देते थे। एक व्यक्ति उनके पास आया, हम लोग वहीं थे। कि काहेके लिए आये हो? क्या काम है? कि हम भगवानका, ईश्वरका दर्शन करना चाहते हैं। अब उन सिद्ध महात्माने गाली देना शुरूकर दिया। वह बैठ गया, बोला—मैं तो बिना ईश्वरके दर्शन किये जाऊँगा ही नहीं। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, बैठा रहा बिना खाये, बिना पीये। वह गंगाजीका किनारा, वह मैदान। फिर तो बाबाने उठाया डण्डा, बोले—'भाग जा यहाँ से। जितना ईश्वर तुझको दीखता है, उसकी क्या पूजा तूने की है, क्या सत्कार किया है, उनकी कौन-सी आराधना की है कि जो नहीं दीखता है, वह अब तेरे सामने दीखनेको आवे?

बाबा बोले—'देख यह सूर्य है कि नहीं? कि है। अच्छा भगवान्‌ने कहा—प्रभास्मि शशि सूर्ययोः (गीता) 'सूर्यमें प्रभा मैं हूँ। अब यह सूर्यकी प्रभा (चमक) तू दिनभर देखता रहता है, कभी तेरे मनमें यह आता है कि यह ईश्वर है, आओ इसको हाथ जोड़े, इसको सिर झुकावें। सूर्यकी रोशनीमें कोई बुरा काम न करें; ईश्वर देख रहा है, सूर्यकी रोशनीमें किसीको बुरी बात न कहें, किसीके प्रति बुरा भाव न करें; किसीकी बुराई न करें। कभी सूर्यकी रोशनीका सत्कार किया है?'

यह कहते हुए वह डण्डा मारा बाबाने कि उसका तो मानो तीसरा नेत्र ही खुल गया। विराट्के रूपमें उसे ईश्वरका दर्शन होने लगा!

सचमुच स्थिर पदार्थोंमें वह धरती बनकर बैठा हुआ है। बहते हुए पदार्थोंमें वह जल है और जलते हुए पदार्थोंमें वह अग्नि है और चलते हुए पदार्थोंमें वह वायु है और सबको धारण करनेवाले पदार्थोंमें वह आकाश है। हमारी इन्द्रियोंमें वही संकल्प करनेवाला मन होकर बैठा हुआ है। वह निश्चय करने वाली बुद्धि है। अरे मृत्युके रूपमें भी वही आता है। वही अच्छा, वही बुरा; वही मृत्यु, वही अमृत बनकर आता है। इतना विशाल, इतना विराट्, इतना सर्वात्मक स्वरूप ईश्वरका प्रकट हो रहा है, जरा पहचानो तो ईश्वर को।

(ज्ञान-विज्ञानयोग : पृ. 151,152,153,154)

सब अवस्थाएँ मेरी भेजी हुई हैं

एक हमारे मित्र हैं उनके मनमें यह लालसा थी कि हमको भगवान्‌का दर्शन हो। उस समय मेरी उम्र बीस वर्ष रही होगी और उनकी सत्रह वर्ष रही होगी। और, महाराज वे जब सब कपड़ा लत्ता उतारकर जाने लगे, तो मेरे मनमें भी आया। जो दस-पाँच रुपये अपने पास किराये आदिके लिए थे और जो कुर्ता-धोती हमारे पास था सब एक धर्मशालामें छोड़कर हम लोग नीलधाराके किनारे गंगापार हो गये। अब यह हुआ कि जब तक भगवान् नहीं मिलेंगे तब तक नहीं लौटेंगे। एक-एक धोती हम लोगोंके पास थी, पर उनके मनमें लालसा ज्यादा थी और हमारे मनमें कुछ थोड़ी कम थी। वह कम होनेका कारण यह था कि अपने इस ठिकाने उनसे पहले लगे हुए थे, तो थोड़ा-थोड़ा ऐसा मालूम पड़ता था कि हम संतोष जनक रास्ते पर लगे हुए हैं।

अब गंगाके उस पार जाकर थोड़ी देर तो शान्त बैठकर भजन किया, फिर थोड़ी देर भगवान् की चर्चा की, फिर भगवान्‌का नाम लेने लग गये-

मुकुन्द माधव गोविन्द कृष्ण, गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण....।

फिर बोलते-बोलते उनकी आँखसे आँसू निकलने लगे, फिर शरीरमें रोमांच हुआ, फिर मुँहसे पानी निकलने लगा, उसके बाद बिल्कुल बेहोश होकर गिर पड़े। एकदम चेहरा काला पड़ गया। हमारी गोदमें उनका सिर था। मैंने अपनी आँखसे जो देखा वह बता रहा हूँ। उनका मुँह बन्द हो गया और बिल्कुल होश-हवास नहीं। अब वहाँ पानी कैसे मिले। कोई दो फलांगपर गंगाजी होंगी। तो मैं उनको वहीं छोड़कर गंगाजी गया, कोई बर्तन हम लोगोंके पास नहीं था-न कमण्डलु, न गिलास। तो जो धोती मैं पहने हुए था, वह धोती जाकर गंगाजीमें भिगोया और उसीमें पानी लेकर फिर आया, आकर उनके मुँहपर डाला, उनके शरीरपर छिड़का, फिर उनका सिर लेकर गोदमें, कीर्तन करने लगा-गोविन्द माधव-मुकुन्द कृष्ण----। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि जैसे कोई चन्द्रमा हो, जैसे कोई सूर्य हो, इस तरह उनका सारा चेहरा मेरे देखते-ही-देखते चमक उठा और फिर धीरे-धीरे वे भी गोविन्द मुकुन्द ऐसे बोलने लगे कोई पाँच-सात-दस मिनटके बाद वे भी मेरे साथ मिलकर कीर्तन करने लगे और उनकी प्रकृति ठीक हो गयी।

यह अवस्था उनको जो आयी, वह देखनेमें तामस भाव था, लेकिन वह निश्चित रूपसे भगवानकी भेजी हुई आयी थी, क्योंकि उसके बाद जो एकाएक प्रकाश हुआ, जब चेहरा चमक गया, तो बिना भगवान्‌के भेजे यह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती भला! तो यह मैंने अपनी आँखसे देखा। बादमें उन्होंने बताया कि हमको भगवानके दर्शन हुए।

जब शरीरमें रोमांच होवे, आँखमें आँसू आवे-सात्त्विक भाव; या नाचना होवे या गाना होवे-राजसिक भाव; अथवा बेहोशी होवे-तामसी भाव, तो भगवान् बताते हैं-

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।। 7.12 गीता

'मत्त एवेति तान्विद्धि'-ये सारी अवस्थाएँ मैं भेजता हूँ। परन्तु-न त्वहं तेषु ते मयि-मैं उन अवस्थाओंमें सीमित नहीं हूँ, बिना उनके भी मेरा दर्शन हो सकता है। परन्तु 'ते मयि', वे सब-की-सब अवस्थाएँ मुझमें हैं और मेरी भेजी हुई हैं।

(ज्ञान-विज्ञानयोग : पृ. 276,277,278)

भला-बुरा कुछ नहीं; सब लीला है।

शिष्य : 'भगवन् अमुक व्यक्ति तो संन्यासी होकर संग्रह करते हैं; अमुक व्यक्ति गृहस्थ होकर संन्यासियोंकी निन्दा करते हैं, बड़ा क्षोभ होता है।'

गुरुदेव : 'नारायण, नारायण, तुम बड़ी भूलमें हो। कहाँ संन्यासी और कहाँ गृहस्थ! यह सब तुम्हारे मनकी कल्पना है। यह सब नारायणका नाटक है नाटक! वे ही कहीं संन्यासी बने हैं और कहीं गृहस्थ बने हैं। संग्रह भी नाटक, निन्दा भी नाटक! तुम अपनी दृष्टि नट अर्थात् नारायण पर जमाये रखो। मस्त रहो! दूसरेकी कल्पना ही मत आने दो।'

'श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे जब यह निश्चय हो चुका है कि सब कुछ परमात्मा ही है तब यह भला है, यह बुरा है, इस प्रकारकी दृष्टि ही क्यों होती है? यह भला है इस प्रकारकी दृष्टि तो यथाकथञ्चित क्षम्य भी है, परन्तु बुरेकी कल्पना तो सर्वथा विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान है। यदि सर्वथा समत्व न रहे, वैषम्य हो ही जाय, तो अपनी दृष्टि भले पर ही जानी चाहिए। परन्तु भले-बुरेकी भावना और भले-बुरेकी सत्ताको दृढ़ करनेकी क्या आवश्यकता, उन्हें तो शिथिल करना चाहिए। यदि प्रतीत होता है भला-बुरा तो वह लीला-विलास ही है, नाटक मात्र है। नाटकके भीम और दुर्योधन दोनों मनोरञ्जनके लिए ही हैं। नाटककी मृत्यु, रोग और उत्पीड़न रसानुभूतिके लिए हैं। अद्भुत, रौद्र, भयानक और बिभत्स भी तो रस ही हैं, तब इनको देखकर क्षुब्ध होनेका क्या कारण है?'

शिष्य : 'हाँ भगवन्! यह सब है तो नाटक ही।'

गुरुदेव : 'यह भी आवश्यक नहीं कि नाटकको नाटकके रूपमें स्मरण रखा जाय। नाटक देखते-देखते उसका नाटकत्व भूल जाना तो नाटककी अपूर्व सफलता और मनोहरताका चिह्न है। उस विस्मृतिमें भी यह निश्चय अडिग रहे कि यह नाटक है। जो अभिनय अपनेको मिले उसको खूब सफलताके साथ पूर्ण करो। उन कठोर कर्तव्योंका भी पालन करो, जिनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति भीष्मको करना पड़ता था। फिर भी एक दृश्य समाप्त होने पर बीचमें भी उस सत्यरूपसे प्रतीयमान नाटकका नाटकत्व तो ध्यानमें आ ही जाता है।

शिष्य : 'सत्य है प्रभो! व्यावहारिक जगत् एक नाटक है और मैं उसका पात्र तथा द्रष्टा हूँ। भला-बुरा कुछ नहीं, सब लीला है। मैं आपकी कृपासे अनन्त शान्तिका भाजन हूँ।

(साधना और ब्रह्मानुभूति-पृ. 165)

भक्तिके मार्गमें आगे बढ़ें!

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययाऽतो बुध आभजेत् तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा।।

(भागवत् 11-2.37)

ईश्वरसे विमुख पुरुषको उनकी मायासे, अपने स्वरूपकी विस्मृति होनेसे मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकारका भ्रम-विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तुमें तन्मयताके कारण बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिये अपने गुरुको ही आराध्य देव परमप्रियतम मानकर अनन्य भक्तिके द्वारा उस ईश्वरका भजन करना चाहिए।

अब एक प्रश्न उठाते हैं—यह संसारमें जितना भय है, वह अज्ञानसे ही कल्पित है; तो जब अपने स्वरूपको जान लेंगे, तब ये सारे भय अपने आप ही मिट जायेंगे। तब परमेश्वरका भजन करनेकी क्या जरूरत है?

तो भाई मेरे, यह बात तो ठीक है। लेकिन, भय जो है—वह मायासे होता है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्यका यह कर्त्तव्य है कि जिसकी मायासे यह भय होता है, उसीका भजन करे।

माया इसमें क्या करती है? माया इसमें यह करती है कि जब आदमी ईश्वरकी ओर पीठ कर देता है और संसारकी ओर मुँह कर लेता है तो अपने स्वरूपको भूल जाता है। देखो, भगवान्‌की ओर मुख और संसारकी ओर पीठ होनी चाहिए। तब तो माया तुमको फँसावेगी नहीं। अन्यथा वह फँसा लेगी। संसारमें इसी ढंगसे लोग फँसते हैं कि दूसरी चीजको लुभावनी देखकर उधरको चले गये और वहाँ जानेपर फँस गये।

अतः समझदारका काम है कि—उस ईश्वरका अनन्यभक्तिसे भजन करे। एकमात्र ईश्वर, सच्चिदानन्दघन परमात्माका साक्षात्कार करके हमें इसीमें सुखी होना है—अरे भाई, दिखे तब तो उसके साथ मिलें? वह दिखता तो है नहीं, कैसे उससे मिलें? बोले कि, जबतक न मिले, तबतक उसको ढूँढ़ो। और जब दिख जाये—तब उसके साथ लिपट जाओ। यदि ढूँढ़ना बन्द कर देंगे और दूसरेके साथ (संसारके साथ) रहने लग जायेंगे तो सतीत्व चला जायेगा।

अच्छा यह बात कैसे बनेगी कि उसीको ढूँढ़ें?

तो देखो, परमात्माकी प्राप्तिके पहले अपने जीवनको ढंगसे ले चलना पड़ेगा। वह क्या है? जबतक अपने आपमें आत्मा और परमात्माकी एकता नहीं दीखती, तबतक गुरुको ही देवता देखो और गुरुको ही आत्मा देखो। 'देवता' माने इष्ट तत् पदार्थ और 'आत्मा' माने अपना परमप्रेमास्पद 'त्वं' पदार्थ। तो, जबतक तत् पदार्थ और त्वं पदार्थकी एकता तुमको तत्त्वज्ञानसे नहीं मालूम पड़ती, तबतक गुरुमें तत् पदार्थ और त्वं पदार्थकी एकता देखो कि यही आत्मा है और यही परमात्मा है। परमात्मा होनेसे महत्ता होगी और आत्मा होनेसे प्रियता होगी। क्योंकि आत्मामें प्रेम होता है एवं परमात्मामें महत्त्वबुद्धि होती है।

अतः जबततक अपने स्वरूपका ठीक-ठीक बोध न हो, तबतक बोधको मूर्तिमान गुरुके रूपमें देखना चाहिए। इसी प्रकार ही भक्तिमार्गमें आगे बढ़ना चाहिए।

(मुक्ति स्कन्ध : पृ. 83 से 86)

भगवान्‌की रायमें राय मिलाओ

जो सत्ययुगके रूपमें भगवान्‌को पहचानेंगे और कलियुगके रूपमें नहीं, उनकी जिन्दगी सिर पीटते बीत जायेगी। यह बुरा, यह बुरा–आज ऐसा हो गया, कल ऐसा हो गया...। रोते रहो जिन्दगी भर, क्या होगा? और सच पूछो तो तुम्हारे पिताजी भी तुम्हारे बारेमें ऐसा ही सोचते थे कि हमारा लड़का ऐसा हो गया और उनके पिताजी भी अपने लड़केके बारेमें ऐसा ही सोचते थे कि हमारा लड़का ऐसा हो गया।

वस्तुत: उनकी उम्रमें जो पच्चीस-पचास वर्षका फर्क पड़ जाता है, उसमें जो परिवर्तन आते हैं, उनको वे स्वीकार करनेको तैयार नहीं होते। सासका घूँघट एक हाथ लम्बा था, उसकी बहूका घूँघट सिरपर आया और उसकी बहूका घूँघट कन्धेपर चला गया। और उसकी बहू जो है वह साड़ी पहनती ही नहीं, तो घूँघट कहाँसे आवेगा? सबने यही कहा कि अब कलियुग आ गया। ऐसे ही कलियुग-कलियुग कहते जिन्दगी बीत जाती है। जो है; भगवान्‌की ओर से जो आ रहा है, उसको उन्मुक्त हृदयसे स्वीकार करते जाओ। भगवान्‌की रायमें राय मिलाओ। दु:ख नामकी कोई चीज है ही नहीं।

भगवान् जब देते हैं तब तो बहुत बढ़िया, जब लेते हैं तब बहुत बुरे? ईश्वरने जो वस्तु हमारे सामने रख दी, हमको दी–उसकी बड़ी कृपा और ले ली तो हमको जिम्मेदारीसे मुक्त कर दिया। प्रसन्न होना चाहिए। उसका देना भी ठीक, उसका लेना भी ठीक।

ये जो अनुपयोगी चीज है, वह जायेगी। कुछ हमारे दादाने छोड़ा था। कुछ हमारे पिताजीने छोड़ा था। कुछ मैंने छोड़ा। कुछ बेटे छोड़ेंगे। कुछ उनके बेटे छोड़ेंगे। जो अनुपयोगी होगा, वह छूटता जायेगा। उसके लिए रोनेकी कोई जरूरत नहीं है। ईश्वरकी ओर से जो आवे, सिर झुकाकर स्वीकार करते जाओ।

भगवान् जो करे उसीमें आनन्द है। भगवान्‌की रायमें राय मिलाओ, पत्थरसे सिर मत टकराओ। कालकी गति को कोई रोक नहीं सकता। कोई कितना भी धर्मात्मा होनेकी डींग हाँके–दूसरेको भले समझा ले कि हम अखण्ड धर्मात्मा हैं। लेकिन जब वह अपनी ओर देखेगा तब उसको मालूम पड़ेगा कि वह या तो लोगोंको धोखेमें डाल रहा है अथवा वह स्वयं धोखेमें है। सभीके जीवनमें धर्म-अधर्म दोनों ही होते हैं। कोई नितान्त दूधका धुला नहीं होता है और न कोई गन्दगीमें पला होता है। यह जीवनका एक सत्य है और इसको स्वीकार किये बिना कोई सुख-दु:खमें समान नहीं रह सकता, कोई शत्रु-मित्रमें समान नहीं रह सकता, कोई धर्म-अधर्ममें समान नहीं रह सकता, कोई ज्ञान-अज्ञानमें समान नहीं रह सकता। इस सत्यका साक्षात्कार तो जीवनमें करना ही पड़ेगा।

कितनी दुनिया बदली, अबतक लेकिन परमात्मामें अन्तर नहीं पड़ा। आने-जानेवाली चीजें तो सिनेमाके दृश्यके समान हैं। जगत्‌में अन्तर पड़ा, लेकिन परमात्मा तो वही है। अतएव जिसमें अन्तर नहीं

(गीता दर्शन भाग 9 - गीता 11वाँ अध्याय पृ. 141,142 तथा 146)

नमस्कारका अर्थ

'तं वन्दे द्विपदाम् वरं'-उन पुरुषोत्तम, उन नरोत्तम नरको जो हमारे ज्ञानके आदि स्रोत हैं-उन गुरुकी हम वन्दना करते हैं। माने उनके सम्मुख नम्र होते हैं। नम्र होते हैं माने उनके अतिरिक्त अपनेको नहीं मानते हैं। नमस्कार माने नम्र हो जाना। नम्र हो जाना माने अहंकारको छोड़ देना।

इसका अर्थ है उनकी क्रियासे हमारी क्रिया भिन्न नहीं है;

उनकी बुद्धिसे हमारी बुद्धि भिन्न नहीं है;

उनके संकल्पसे हमारा संकल्प भिन्न नहीं है और उनके स्वरूपसे हमारा स्वरूप भिन्न नहीं है।

असलमें, गुरुसे अभेद होना माने गुरुका जो ज्ञान है वही शिष्यका ज्ञान है।

यदि गुरुके ज्ञानसे शिष्यने अपना ज्ञान कुछ अलग बनाया तो नमस्कार ही नहीं हुआ।

कुछ लोग कहते हैं गुरुजी हमारे ज्ञानी तो बहुत थे मगर अमुक बात नहीं समझते थे, इसलिए इस सम्बन्धमें हमने अपना मत अलग बना लिया। हमारे गुरुजी परमार्थ तो बहुत समझते थे, लेकिन व्यवहार नहीं समझते थे इसलिए व्यवहारमें हमारा उनका नहीं मिलता। यह संस्कार पक्ष है, यह ज्ञान-पक्ष नहीं है भला!

जैसे गुरुजीने अपनेको अद्वय जाना वैसे हमने भी अपनेको अद्वय जाना-जो अद्वय गुरुदेव सो अद्वय मैं; जो अद्वय परमात्मा सो ही अद्वय आत्मा; जो अद्वय ब्रह्म सो ही अद्वय अहम्। भेदका सम्पूर्ण निरसन ही नमस्कारका अर्थ है।

रामदासने कहा-राम बड़े, कृष्णदासने कहा-कृष्ण बड़े, गणेश शरणने कहा-गणेश बड़े। तो अब क्या हो? कौन बड़े? तुम नाम-रूपको पकड़कर ऐसा बोल रहे हो-यह राम, यह कृष्ण, यह गणेश-जबकि ये सब एक ही तत्त्वसे बने हैं। मिठाईकी शकलके लिए मत लड़ो, कि हमें हाथी चाहिए कि घोड़ा, इसमें जो खाँड़ है वह खाओ मौजसे इसका नाम अद्वैत-दर्शन है-जो हृदयसे राग-द्वेषको मिटा दे। सत्सङ्गी भी यदि राग-द्वेष करे तो समझना कि उसने सत्सङ्गमें आकर उसका दुरुपयोग किया।

अपने पत्नी, भाई, भतीजा वहाँ भी पहुँच गये-यह अपना पक्ष, पराया पक्ष वहाँ भी पहुँच गया। तुम साधन करनेके लिए निकले थे, अपने दिलको बनानेके लिए निकले थे कि दिलको बिगाड़नेके लिए निकले थे? क्यों गुरुके पास गये थे? क्यों जप किया था? क्यों साधन किया था? क्यों स्वाध्याय किया था? अपने दिलको बिगाड़नेके लिए कि अपने दिलको बनानेके लिए? तो जिससे राग-द्वेष मिटे-वही सच्चा दर्शन।

(माण्डूक्यकारिका अलातशान्ति-पृ. 22,23,27,28)

आसक्ति कहाँ तक?

आरम्भमें ऐसा मालूम पड़ता है कि अपनी मौजसे जो काम मैं कर रहा हूँ उसको जब चाहूँ छोड़ सकता हूँ। मेरा बुलाया हुआ है। माना हुआ है, वशमें है। परन्तु थोड़े दिनोंका अभ्यास होने पर उसकी आदत पड़ जाती है और उसको छोड़ना बहुत कठिन हो जाता है। यदि उस काममें दूसरोंका सहयोग हो तब तो और भी कठिन बन्धन हो जाता है। अतः जिस कर्मको कम-से-कम जीवन-भर निभा सकते हों, उसमें निष्ठा रख सकते हों, उसीकी आदत पड़ने दीजिये। आप जिससे प्रेम करते हैं, जीवन भर कर सकें। आप जो काम करते हैं, वह अन्तिम क्षणतक अपनी निष्ठाके रूपमें रह सके। जो आजीवन निष्ठाके रूपमें न रह सके, उस निषिद्ध कर्मको मत कीजिये। चाहे मना करनेवाला शास्त्र हो, गुरुजन हो, समाज हो, अपनी बुद्धि हो-मना किया हुआ काम छोड़ दीजिये। हिचकिये मत। बिचकिये मत। लचकिये मत। उसे छोड़ दीजिये!

जो काम आप कर रहे हैं, क्या वह करनेसे ही आपको सन्तोष या तृप्ति नहीं है? उसका कुछ फल चाहते हैं? तब, वह दो कौड़ीका काम हो गया। फल मुख्य, कर्म गौण! अच्छा, मान लिया कि आप फल नहीं चाहते हैं, आपके कर्ममें फलासक्ति नहीं है, बहुत बढ़िया। धन्यवाद! परन्तु, क्या आप उस कर्मको पूरा करना चाहते हैं? उसको पूरा कर लेना आपके हाथमें है?

कर्म पूरा करनेके लिए नहीं किया जाता। कर्म पूरा करना अपने हाथमें नहीं है। वह समय भरनेके लिए है। कर्म करते जाइये बस, आगे बढ़िये। आप समझते हैं कि कर्म पूरा करना आपके हाथमें नहीं है, फिर भी करते जा रहे हैं-करनेका अभ्यास है। बिना किये रह नहीं सकते। आपका कर्तापन बहुत दृढ़ है। यह आपको तब दुःखी करेगा, जब आप कर नहीं सकेंगे। फिर तो अपनेको अकर्ता समझना आवश्यक है। परन्तु, अकर्तापनको बोझ बनाकर अपने सिर पर मत थोपिये। अकर्तापन भी एक अभिमान ही है। फलासक्ति, कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति, अकर्तृत्वासक्ति- इन चारोंसे आप तब छूटेंगे, जब आत्माकी पूर्णताका बोध होगा। आ जाइये हमारे साथ। आप पूर्ण हैं।

(आनन्द उल्लास-पृ. 14-15)

आपका सुख कहाँ है?

आप आभूषण-कंगन-हार आदि तुड़वाकर उनकी नयी रूप-रेखा क्यों देना चाहते हैं? एक बार साड़ी पहनकर क्यों बदल देना चाहते हैं? एकसे मैत्री हो जाने पर फिर क्यों दूसरेके साथ जोड़ना चाहते हैं? वस्तुमें परिवर्तन होता रहता है। कोई भी वस्तु बहुत दिनों तक एक-सी प्रिय नहीं रहती। वस्तुमें नर्तन-परिवर्तन है; बदलना ही उसका स्वभाव है। वे आपको सर्वदा सुखी नहीं रख सकती हैं। इन्द्रियोंमें जो भोग-उपभोगकी शक्ति है, वह भी एक-सी नहीं रहती, क्षीण होती जाती है। वस्तुएँ तो बदलती ही हैं, इन्द्रियोंकी शक्ति भी बदलती है। 17-18 वर्षकी जवानी जब 25-35, 55-75 को छूती है, तो सारा रूप-रंग बदल जाता है। दाँत, होठ, चाम, स्वर, बल, पौरुष तो बदलते ही हैं, भोगमें पहले जैसी रुचि भी नहीं रहती है।

कोई चाहे कि मैं निरन्तर भोग और उसके लिए उद्योगमें ही लगा रहूँ तो यह भी सम्भव नहीं है। आराम चाहिए, विश्राम चाहिए, उपराम चाहिए। गाढ़ सुषुप्ति चाहिए। कबतक भोक्ता बने रहेंगे? हाथ-पाँव शिथिल हो जायेंगे; मन विवश होकर सो जायेगा। आप इन्हीं वस्तुओंसे, इन्द्रियोंसे, रुचियोंसे, भोक्तापनके अभिमानसे अपनेको सुखी करना एवं रखना चाहते हैं—यह कितनी विडम्बना है!

आप अपने सुखके लिए इन बाहरी वस्तुओंका चुनाव क्यों करते हैं? धन सर्वथा बाहर रहनेवाली वस्तु है। उसमें सुखकी कल्पना करनी पड़ती है। भोगका सुख मनमें रहता है। कुछ अन्तरंग अवश्य है, परन्तु क्षणिक है। अभिमानका सुख उसकी अपेक्षा भीतर बुद्धिमें रहता है, परन्तु संसारमें जितना दुःख आता है, इस अभिमानको ही प्रभावित करता है। अभिमानी व्यक्तिपर ही चपत-पर-चपत लगती है। अभिमानीको ही शोक, मोह, भयकी प्राप्ति होती है। बीते हुएके लिए शोक, वर्तमानको पकड़कर रखनेका मोह और आनेवालेके लिए भय—अभिमानके ही आश्रित रहता है। इन सब दुःखोंसे छुटकारा और परमानन्दकी प्राप्ति—वह अपने आत्माके ही नाम हैं। इनमें वस्तु, करण, मन, बुद्धि किसीकी पराधीनता नहीं है। जहाँ है, जब है, जो है, जैसे-कैसे है, स्वयं परमानन्द-स्वरूप है। यह केवल परलोकके लिए नहीं है। इसी लोकमें, इसी जीवनमें, इसी देखने-सुननेवालेको इसका प्रत्यक्ष होता है और स्वतन्त्रताका साक्षात्कार होता है। अभी-अभी, यहीं-यहीं, यही-यही और तुम्हीं-तुम्हीं यह परमानन्द हो—यह अनुभव ही महात्माओंकी स्थिति है। क्या आप यह अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं? कहीं जाइये मत, लौट आइये अपने घरमें, अपने स्वरूपमें। बस, आप देखेंगे कि उसपर कोई आवरण नहीं है, आप-ही-आप हैं।

(आनन्द उल्लास-पृ. 19-20)

सृष्टिमें अच्छा-बुरा क्या?

आप पूछते हैं-किसीका कर्म पुण्य है और किसीका पाप। इसमें समत्व कैसे देखें? समाधानः पापकर्तृत्व और पुण्यकर्तृत्व अन्तःकरणमें है। सबके अन्तःकरणका उपादान ईश्वर ही है। तब पाप-पुण्य कर्म अथवा पाप-पुण्य वासना क्या? इसमें कोई जीव स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है और न ही कोई जीव स्वतन्त्र भोक्ता है। सब जीव ईश्वर पराधीन हैं। सबके अन्तःकरणके रूपमें ईश्वर ही प्रकट हो रहा है। वही पुण्य-पापकी लीला कर रहा है। जैसे माता एक बच्चेको गोदमें लेकर दूध पिलाती है और एकको खेलने भेजती है; वैसे ही ईश्वर जीवोंका संचालन करता है। इसमें जीवका कोई दोष नहीं है। तब तुम सबके प्रति समान रहोगे, ईश्वर तुम्हें अपनी ओर बुला रहा है। तुम भगवद्भक्तका अधिक आदर करो। इससे हृदयमें भगवद्भक्ति आयेगी। बुरे लोगोंका आदर करने मत जाओ। परन्तु किसीकी बुराई मत करो। सब ईश्वरका खेल है। इसमें राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

जब हम किसीको अच्छा काम या बुरा काम करते देखते हैं, तब उसका काम तो उसके साथ है; किन्तु हमारी दृष्टि कहाँ तक जाती है? उसकी क्रिया तक जाती है? उसके शब्द तक जाती है? उसके अन्तःकरण तक जाती है? उसके जीव तक जाती है? अन्तर्यामी ईश्वर तक जाती है? अथवा आत्मतत्त्व पर जाती है? देखना यह है कि हमारी दृष्टि कितनी पैनी है?

जब हम किसीसे मिलते हैं, तब उसके शरीरमें जो दोष-गुण हैं, उन्हें देखनेकी आवश्यकता नहीं है। उसके अन्तःकरणमें जो विकार-संस्कार हैं, उन्हें भी देखनेकी आवश्यकता नहीं है। उसके भीतर जो ईश्वर है, उसे देखो और उसका आनन्द लो। अपनी दृष्टि तत्त्वतक जाने दो। जब आभूषण खरीदते हो, तब उसका आकार-कला-कारीगरी मात्र ही देखते हो या सोना देखते हो? यदि सोना देखे बिना खरीदोगे, तो ठगे जाओगे। ऐसे ही, जिस चेतन आत्मतत्त्वसे सृष्टि बनी है, उस चेतनको परख लो। तब सृष्टिमें अच्छा-बुरा क्या? सब परमात्मा है। परमात्मामें सब है। सबमें परमात्मा है।

यह बात सबकी समझमें क्यों नहीं आती? क्योंकि यह सबके समझके लिए है ही नहीं। श्री वेदान्तदेशिकाचार्य कहते हैं-'यह सबके करनेकी बात नहीं है।' 'समबुद्धिर्विशिष्यते' विशिष्ट योगकी अन्तिम कक्षामें जो स्थिति है-'जिनकी समाधि लगने ही वाली है, उनकी ऐसी स्थिति होती है।' जब तक ऐसी स्थिति नहीं होगी, तबतक न तो स्वरूपावस्था होगी, न समाधि लगेगी और न ही भगवान्‌से मिलन होगा।

(आनन्द मंजूषा-पृ. 257-258)

मरनेका डर किसको?

मृत्युका भय बिलकुल मनकी कमजोरी है। कवि लोग तो कहते हैं कि मौत एक मीठा सपना है। भक्त लोग कहते हैं, मरनेके बाद हम अपने प्यारेके गलेसे लग जायेंगे। अभी तो वह वैकुण्ठमें है, गोलोकमें है; हम उससे दूर हैं। हम तो उसके प्रेमी हैं, भक्ति करते हैं। मरनेके बाद हम उसके गलेसे चिपट जायेंगे।

धर्मात्मा लोग कहते हैं, मरनेके बाद हम स्वर्गमें जायेंगे। वहाँ तो हमें बढ़िया पार्क मिलेगा टहलनेके लिए, कई-कई अप्सराएँ मिलेंगी! देवता सरीखा भोगकी शक्तिवाला हमारा शरीर होगा।

ज्ञानी लोग कहते हैं, आना-जाना कहाँ है? कहीं न आना न जाना! परिपूर्ण ब्रह्म है।

मरनेके बाद क्या होगा हमारा, इसकी चिन्ता किसको होती है? आप लोग उसमें अपनी गिनती न करो तो हम बता देंगे। क्योंकि आप लोग वेदान्त सुनते हैं, धर्मात्मा हैं, सदाचारी हैं, ईश्वरके सम्बन्धमें विचार करते हैं, आत्मा-अनात्माके भेदको जानते हैं।

मरनेका डर केवल देहात्मबुद्धिका जो पक्का दास है और पापी है, उसको होता है। पापीको ही यह डर होता है कि मरनेके बाद हम नरकमें जायेंगे। देहात्म-देहमें जिसका मोह है, उसको यह डर होता है कि हाय-हाय, यह सब हमारा बना-बनाया छूट जावेगा।

एक आदमीको हमने खाते हुए रोते देखा है–'आज तो इतना बढ़िया भोजन खा रहा हूँ पर कल मैं क्या खाऊँगा?' आप उसके लिए मत हँसो, अपने लिए हँसो। खाता जा रहा है और कलके लिए रो रहा है। माने वर्तमानके भोजनका उसको कुछ आनन्द ही नहीं है।

ईश्वरकी दी हुई वस्तु है, उसका वह आनन्द नहीं ले रहा है। यह सारा दुःख-दारिद्र्य हमारी भूलमें-से निकलता है। यह भ्रान्ति है और भ्रान्ति दूर होगी समझदारीसे, श्रवणसे। वेदान्त एक प्रकारकी ऐसी समझदारी है जो तुम्हारे मरनेका भय, स्वर्ग-नरकमें आने-जानेका भय, वैकुण्ठ-गोलोक जानेका लोभ, मोह, काम, क्रोध अविद्या सबको मिटा दे। इसलिए, इसके लिए-श्रवण करो, मनन करो, निदिध्यासन करो-यह इसकी विद्या है।

(दृग-दृश्य विवेक-पृ. 200,201)

साधनमें अद्वय सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति

श्रुति कहती है-

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

बलहीन पुरुषको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। बल क्या है? पहला बल यह होता है कि वह अपने देहपर चले, अपनी इन्द्रियों पर चले, अपने मनपर चले, अपनी बुद्धिपर चले तब तो बल है; नहीं तो फिर 'निर्बल के बल राम!'

'निर्बलके बल राम'का अर्थ है कि विश्वासका बल हो। कमजोर आदमी कहीं टिक नहीं सकता। उसपर दुनियामें कोई विश्वास नहीं करेगा।

अगर क्या खाना, क्या नहीं खाना, यह नियम है, तो सामने आयी हुई चीजको तुम छोड़ दोगे न! बढ़िया-से-बढ़िया वस्तु तुम्हारे सामने आयी और तुमने छोड़ दिया-'नहीं, यह हमारे नियमके विपरीत है।' अपने नियममें टिकनेसे मनुष्यके जीवनमें आत्मबलका उदय होता है। चरित्रबल इसको बोलते हैं।

जो साधन तुम करते हो, उसमें 1. दृढ़ता होनी चाहिए। 2. उसमें प्रकाश होना चाहिए। और उसमें 3. सन्तुष्टि होनी चाहिए।

दृढ़ता 'सत्'से निकलती है। समझदारी-प्रकाश 'चित्'से निकलती है। सन्तुष्टि 'आनन्द'से निकलती है। फिर अपने साधनके साथ ऐसे एक हो जाना चाहिए 'अद्वय' कि हम साधन करते हैं, यह मालूम ही न पड़े। सहज स्वभावसे ही होने लग जाय। तो साधनमें 'अद्वय सच्चिदानन्द'की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति जाहिर होना। इसीका नाम 'आत्मबल' है।

'दृढता' अविनाशी सत् है। 'प्रकाश' है तो आलस्य-प्रमाद नहीं, अज्ञान नहीं। 'सन्तुष्टि' सुख है। सुख और ज्ञान दोनों सत्त्वगुणका लक्षण है। दृढता भी सत्त्वगुणका लक्षण है। सहज स्वभाव हो जाना यह भी सत्त्वगुणका लक्षण है।

जो नया-नया होता जाय उसको भी स्वीकार करते चलो, निर्भय रहो। भविष्य तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता है। यह निर्भयता किसके जीवनमें आती है? जो बलवान् होता है, उसके जीवनमें आती है। भगवान्के मार्गमें बढ़ता है तो आत्मबल और निर्भयता चाहिए। ईश्वर तुम्हारा मददगार है, तुम्हारा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। निर्भय रहो!

(दृग्-दृश्य विवेक-पृ. 267,8,9)

मानस संन्यास

गृहस्थके मनमें थोड़ा काम आया, पत्नी-पतिके प्रति और थोड़ा क्रोध आया, स्त्री, बच्चेके प्रति, तो कोई पाप तो है नहीं। तब भी यही माना जायेगा कि वह गृहस्थ बड़ा शान्त-'शम' सम्पन्न है, किसीसे दुश्मनी नहीं जोड़ता है; चोरी-बेईमानी नहीं करता है, वह तो प्रशंसा करने योग्य है।

अब देखो, वेदान्तका जिज्ञासु होकरके कोई व्यक्ति गुरुके पास गया, तो उसका मन विचारमें लगना चाहिए। अब वहाँ जब अपने पति, अपनी पत्नीके प्रति भी कामवासना न हो; अपने घरके लोग भी बिगाड़ करें और उनके प्रति क्रोध न आवे तब उसे '**शम**' सम्पन्न कहा जायेगा। क्योंकि वहाँ तो यह है कि वेदान्त-विचार करना हो और वह कामनाग्रस्त अथवा क्रोधग्रस्त हो तो वेदान्त-विचार बिलकुल नहीं होगा।

तो जिज्ञासुके लिए जो 'शम' आदि गुण हैं, वह गृहस्थके शम आदि गुणोंसे गहरे होते हैं-यह हमारा कहनेका अभिप्राय है। गृहस्थके लिए तो किसी-किसी दशामें काम, क्रोध, लोभ, मोह इनका विधान है, परन्तु जिज्ञासुके लिए चित्तमें तो यह बिलकुल नहीं चाहिए।

एक शरीरको कपड़ा पहनाकर संन्यास होता है-यह बहिरंग-संन्यास है और एक मानस-संन्यास होता है जिसमें कर्म और कर्मफलकी आस्था बिलकुल छोड़ दी जाती है। यदि संन्यास शब्दका अर्थ आप मानस-संन्यास ग्रहण कर लें, तो हम बिलकुल खुले आम, डंकेकी चोट पर इस बातको समझा सकते हैं कि बिना संन्यासी हुए किसीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। बात यही हुई कि जो निवृत्ति परायणता है न, वह परमात्माकी प्राप्तिके लिए जरूरी है।

यदि परिच्छिन्न वस्तुमें तुम्हारा आग्रह बना रहेगा, तो अखण्ड परमेश्वरकी प्राप्ति कैसे होगी? मन एक साथ दो वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। जो अल्प वस्तुके ज्ञानमें लगेगा उसको अखण्ड वस्तुका ज्ञान नहीं होगा और जिसको अखण्ड वस्तुका ज्ञान होगा, उसकी अल्प वस्तु छूट जायेगी।

तो यदि तुम्हें ईश्वरकी ओर चलना है, तो संसारी भावको छोड़ना पड़ेगा और संसारी भावको पकड़ोगे, तो ईश्वर छूट जायेगा।

संसारी भाव छोड़कर ईश्वरकी ओर चलो!

(मुण्डक सुधा-पृ. 187,188,201,202,203)

सम्बन्ध ही बन्धन है!

संसारमें जितना दुःख है, वह हम अपनेको किसीके साथ सम्बद्ध कर लेते हैं तब होता है। एक आदमी रो रहा है कि आज हमको खीर खानेको नहीं मिली, तो उन्होंने अपनेको खीरके साथ जोड़ दिया। एक सज्जन रो रहे हैं कि आज हमारा दोस्त नहीं आया तो उन्होंने अपनेको दोस्तके साथ जोड़ दिया। किसीने कहा–आज आमदनी नहीं हुई और रो रहे हैं, तो उन्होंने अपनेको पैसेके साथ जोड़ दिया। जबतक आप किसी दूसरेके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ेंगे नहीं, तबतक दुःखी नहीं हो सकते। क्योंकि अधिकांश अपने लिए नहीं रोते दूसरेके लिए रोते हैं–हमारा वह छूट गया!

एक आदमीके घर गये भोजन करने। उन्होंने एक पुराना कालीन बिछाया था। वह जगह–जगहसे फटा हुआ था, मैला था। सौ वर्षसे पहलेका रहा होगा। मैंने उनसे पूछा कि भलेमानुष, तुम लोग घरमें आखिर दरी बिछाकर तो सोते होंगे न! वही क्यों नहीं बिछाया? यह पुराना कालीन क्यों बिछाया? बोले- अरे, यह हमारे दादा ले आये थे और देखो महाराज, पहले हमारे घरमें कैसा वैभव था! रोने लगे, टपाटप आँखसे आँसू गिरने लगे।

एक सज्जन हैं। चालीस वर्ष पहले उनकी पत्नी मर गयी, तब भी रोये और अब भी भोजनके समय रोते हैं कि हाय, अब खिलानेवाला नहीं रहा। हमको भोजन नहीं चाहिए, हमको तो खिलानेवाला चाहिए। ये संसारमें जो दुःख हैं–कहाँसे आते हैं? सम्बन्ध जोड़नेसे आते हैं।

शरीरमें भी जो सम्बन्ध हैं, नाक–हमारी ऊँची रहनी चाहिए; चोटी हमारी कटनी नहीं चाहिए; हाथ हमारा, तो बोले कि इसमें फोड़ा नहीं होना चाहिए; मन हमारा तो इसमें विक्षेप नहीं होना चाहिए। तो यह मेरा, हमारा–हमारा करके जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है उसी सम्बन्धसे बन्धन एवं दुःख होता है।

हम पहले काशीमें मणिकर्णिका घाटके पास जाकर बैठते थे। मुर्दे वहीं आते हैं, मुर्देका धुआँ शरीरमें लगेगा तो वैराग्य आवेगा–ऐसा सोचते। रोज वहाँ बीसों–पचीसों मुर्दे आवें और जलाये जावें। एकदिन मैंने देखा कि एक मुर्दा आया तो सब हमारी जान–पहचानके लोग उसके साथ। मैंने पूछा–कि ये कौन हैं भाई? तो बोले कि ये फलाँ आदमी थे। वह तो बहुत भले मानुष थे, मर गये? अब उनके लिए चित्तमें दुःख हो गया। इसका मतलब यह है–सम्बन्धी आवे तो दुःख हो जाये और बिना सम्बन्धके जले तो दुःख न हो। अतएव यह जो शरीरके साथ 'मेरापन' है, यही बन्धन है।

वस्तुतः यह चित्त भी मेरा नहीं है, यह मन भी मेरा नहीं है, भला! जैसे मच्छर मेरा नहीं है वैसे ही मन भी मेरा नहीं। तो सम्बन्ध ही बन्धन है और यह बिलकुल कल्पित है।

(माण्डूक्य कारिका प्रवचन-अलातशान्ति, पृ. 116-117)

हाथी हल जोतनेके काम नहीं आता है!

महात्मा गाँधीसे किसीने कहा-कि 'फर्स्ट क्लासमें बैठो।' तो बोले कि-'जिसमें गरीब नहीं बैठ सकते उस क्लासमें हम नहीं बैठेंगे। गरीबोंके साथ बैठनेमें हमको आनन्द है। हम तो थर्ड क्लासमें बैठेंगे। तो वे अपनेको जनताके साथ मिलाकर चलना चाहते हैं।

अब एक सेठ हैं, उसने कहा कि-'हम प्रेमकुटीरमें सत्संग करनेके लिए आवें? राम-राम! राम!! वहाँ सबके साथ नीचे बैठना पड़ता है। और सबकी साँस अपनी साँससे मिलती है हाँ, स्वामीजी! आप कभी-कभी हमारे घर पधारा कीजिये, हमारी बड़ी रुचि है सत्संगमें।' रुचि हो तो तकलीफ न उठावे, ऐसा कैसे होगा? तो कई साधकोंको अपनी श्रेष्ठताका अभिमान होता है कि-'हमारा अन्तःकरण अधिक शुद्ध है, हमारी समझ बहुत ज्यादा है।' तो यह जो अभिमानग्रस्त होकरके, साधारण साधनोंका परित्याग करते हैं वे असलमें अभिमानसे ग्रस्त होनेके कारण साधन-क्षेत्रके उत्तम अधिकारी ही नहीं हैं और इसका फल यह होता है कि छोटे साधनोंसे जिन दोषोंको दूर किया जाता है, जैसे-'राम-राम' कहनेसे गाली देना बन्द होगा। आप साधारण रूपसे यह समझ लो, आपकी जिह्वा किसीकी निन्दा करना नहीं चाहेगी। और, भगवान्से प्रेम करने पर किसी स्त्रीसे, पुरुषसे आपका प्रेम नहीं होगा। तो छोटे-छोटे साधनोंके करनेसे अपने जीवनमें जिन दोषोंकी, दुर्गुणोंकी निवृत्ति होती है, उन श्रेष्ठ साधनोंके अभिमानियोंसे वे दोष नहीं जाते हैं। वे जब ध्यान करेंगे तो कहेंगे कि 'हम ब्रह्म हैं, हम द्रष्टा हैं, तटस्थ हैं, कूटस्थ हैं, शान्त हैं।' लेकिन जब व्यवहारमें जायेंगे तब थोड़ी-थोड़ी बातके लिए राग करेंगे, द्वेष करेंगे, मोह करेंगे; तो उनके अन्दरके जो छोटे-छोटे दोष हैं, वे निवृत्त नहीं होंगे। ये क्यों निवृत्त नहीं होंगे? क्योंकि उन्होंने कुछ साधनोंको छोटा समझकर उनका अनादर कर दिया है। तो उस अनादरका फल उनको भोगना पड़ता है। जिन्दगी भर उनको दुःख भोगना पड़ेगा।

ये जो बड़े साधन हैं, वे छोटे साधनोंके लिए जो निवर्त्य हैं, उन दोषोंको निवृत्त नहीं करते हैं। हाथी हल जोतनेके काम नहीं आता है।

ज्ञान केवल अज्ञानको निवृत्त करता है। योग केवल विक्षेपको निवृत्त करता है। भक्ति केवल वासनाको निवृत्त करती है और धर्म दुश्चरित्रताको निवृत्त करता है। अगर आप दुश्चरित्रताका परित्याग न करें, केवल वासनाके परित्यागका अभ्यास करें, तो ऐसे कहने लगेंगे कि 'हम तो निर्वासन हैं, दुश्चरित्रता है तो रहने दो। यह तो छोटे स्तरमें है।...'

तो इस तरहसे होता यह है कि क्रम-क्रमसे सोपान पर न चढ़नेके कारण दोषोंकी निवृत्ति नहीं हो पाती है इसलिए आप अपने-अपने जीवनकी परीक्षा करके देख लो।

(ध्यान और ज्ञान : पृ. 35,36,37)

ब्रह्मका जिज्ञासु बड़ा दुर्लभ है

एक दिन हम लोग कहीं ट्रेनसे आ रहे थे, तो दो-चार विचारक इकट्ठे हो गये ट्रेनमें। वैसे विचारक भी मुश्किलसे ही मिलते हैं। तो यह प्रश्न उठ गया कि ज्ञानी कैसा?

निरूपण होने लगा-ज्ञानी ऐसा, ज्ञानी ऐसा-यह गुण, यह गुण, यह गुण ज्ञानीमें।

तो सब निरूपण होनेके बाद मैंने कहा कि अभी आपके ज्ञानीका चित्त नहीं छूटा; इन सब गुणोंका अधिकरण तो चित्त ही है। 'यह चित्त मैं हूँ'-यह भ्रम तो अभी नहीं छूटा। यह तो अपनेको ब्रह्मज्ञानी माने बैठा है और चित्त ऐसा, चित्त वैसा-चित्तमें यह गुण-चित्तमें वह गुण-एक व्यक्तिके रूपमें बने रहनेवाले चित्तके साथ सम्बन्ध मानता है! अरे भाई, ब्रह्मज्ञानी तो उस जगह बैठा है जहाँ न माया है, न अविद्या है, न इनका कार्य है, न इनके करण हैं-वह चित्तको पकड़कर थोड़े ही बैठा है। देखो चित्तका त्याग ही असलमें संसारका त्याग है। अविद्याका जो अधिष्ठान है, उस अधिष्ठान-ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है।

मोक्षका एकमात्र लक्षण है अविद्याकी निवृत्ति, ब्रह्मज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति। उस अविद्याके लिए मनमें, जैसे मृत्युसे डरते हैं, उससे बढ़कर कोई भाव, कोई डर है या नहीं तुम्हारे अन्दर?

मृत्युसे डरते हो कि नहीं? डरते हो। कि अच्छा, तुम अपने आपसे प्रेम करते हो-आनन्द भाव है तुम्हारे अन्दर। तो दुःखसे डरते हो कि नहीं? लेकिन देखो मृत्युकी अपेक्षा दुःखसे कम डरते हो कि अरे भाई, दुःख आवेगा थोड़ा तो उसको सह लेंगे, मरेंगे तो नहीं। लेकिन चिद्भाव जो अपनेमें है-भान भाव, प्रकाशक भाव, भातिभाव-उसके विपरीत क्या है? कि अज्ञान है। लेकिन अज्ञानसे उतना कहाँ डरते हो, जितना डर व्यक्तिको शाश्वत दुःखसे और मृत्युसे लगता है; वस्तुतः उतना ही डर जब उसको अज्ञानसे लगे, तब जाकर अविद्या-निवृत्तिकी भूमिका तैयार होती है। असलमें जो दुःख है, जो मृत्यु है-वही अज्ञान है। जो सत् है, जो चित् है वही आनन्द् है; तो जो आनन्दका विरोधी दुःख है, जो चिद्भावका विरोधी अज्ञान है। अज्ञानके सिवाय 'दुःख एवं मृत्यु' और कुछ नहीं है। क्योंकि जब सत्-चित्-आनन्द पृथक-पृथक नहीं हैं, तो इनके विरोधी भाव भी पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

तो जिज्ञासुका स्वरूप क्या है? जिज्ञासुका स्वरूप यह है कि वह जितना दुःखसे डरता है, जितना मृत्युसे डरता है उतना ही अज्ञानसे डर करके, जैसे मृत्युके निवारणके लिए औषधका सेवन करता है, जैसे दुःखका निवारण करनेके लिए धनादिके लाभका प्रयत्न करता है, ठीक वैसे ही अज्ञानके निवारणके लिए भी वैसा ही प्रयत्न करे। तब कहेंगे कि भाई, यह जिज्ञासु है। तो ब्रह्मविद्याका जिज्ञासु, ब्रह्मका जिज्ञासु बड़ा दुर्लभ है।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् : पृ. 6,7,8)

भिक्षु श्रीशंकरानन्दजी महाराज

सन् 1930के लगभगकी बात है। कनखलमें सुरतगिरीके बंगलेके दूसरी ओर अटल अखाड़ेका एक खण्डहर है। भिक्षु शंकरानन्दजी उसीमें एक चबूतरे पर टाट बिछाकर रहते थे। शरीर पर लंगोटी मात्र थी। उद्दीप्त ललाट, सिरपर आगेकी ओर बाल नहीं थे। हँसते हुए उन्होंने पूछा-'कैसे आये?' मैंने कहा-'आपके दर्शनके लिए आया।' हँसी और तेज हो गयी। वे बोले-'अपना दर्शन करो। आप ही हो। इसके लिए आने-जानेकी क्या आवश्यकता?' मुझे वेदान्तके संस्कार थे। बात अच्छी लगी।

वे बाल्यावस्थासे ही सत्यनिष्ठ थे। एक बार जो कह देते उसपर दृढ रहते और अपनी 'प्रतिज्ञा'का पालन करते। ज्ञात हुआ कि वे चौबीस घण्टेमें केवल एक बार ही खाते हैं।

भिक्षु शंकरानन्दजीने हरिद्वार, कनखलके अनेक महात्माओंसे श्रुति एवं दर्शन-शास्त्रोंका अध्ययन किया। वे अध्ययन करनेके लिए किसीके भी पास चले जाते थे। उन्हें अपनी श्रेष्ठताका कोई अभिमान नहीं था। अभिमान जिज्ञासुको उत्तम ज्ञानसे वञ्चित रखता है। उन्होंने मुझसे भी भागवतका एकादश, सप्तम स्कन्ध सुना और फिर रास-लीलाका प्रसंग भी। उन्हें बहुत अच्छा लगा। 'ज्ञान-सन्देश'के रूपमें उनसे, मुझे भागवत सुनानेकी दक्षिणा भी प्राप्त हुई। वह 'ज्ञान-सन्देश' था-'तुम स्वयं शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्दघन अद्वय तत्त्व हो। यह निश्चय कर लो कि मैं जीव नहीं हूँ।' कुछ चमत्कार-सा ही हुआ; आप आश्चर्य करेंगे कि उस दिनके पश्चात् मुझे यह भ्रम कभी नहीं हुआ कि मैं जीव हूँ। वे केवल सत्सङ्ग, विचार एवं चिन्तनसे ही तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन करते थे। उन्हें कल्याणका यह प्रचार पसन्द नहीं था कि बात-बातमें भगवान् दर्शन देने आजाते हैं। उनका कहना था कि इन बातोंसे स्वतन्त्र चिन्तनके उदयमें बाधा पड़ती है और मनुष्य भटक जाता है।

एक बार जब मैं कनखल गया तो वे उस खण्डहरमें नहीं थे। वे बड़ी नहरसे निकलनेवाले बम्बेके पास एक छोटेसे बगीचेमें रह रहे थे। अत्यन्त कृश एवं रुग्ण थे। उनसे मिलने पर ज्ञात हुआ कि किसी ईर्ष्यालु, व्यक्तिने भिक्षामें उन्हें विष दे दिया था। और लोगोंने उनको उस खण्डहरसे निकालकर सुरक्षित स्थान पर रख दिया था। वे उसके बाद छः महीने तक उसी बगीचेमें रहे तथा परवलके अतिरिक्त और कुछ नहीं खाते थे। पानी भी परवलका ही पीते थे। परवलमें विष पचानेकी अद्भुत शक्ति है। मैं यथाशक्ति उनकी सेवा करता रहा। धीरे-धीरे वे स्वस्थ होने लगे। वे कहा करते थे-यह मिथ्या शरीर, रहे-रहे; जाये-जाये। इसको रखनेका अथवा त्यागनेका प्रयास, दोनों अज्ञान है। उस विष-ग्रस्त अवस्थामें भी उनका ललाट शीशेकी तरह चम-चम चमकता था। मुख पर प्रसन्नता खेलती रहती थी।

भिक्षुजीका 'शरीर' छूटनेके कुछ मास पूर्व अतिशय अशक्त हो गया था। घुटनोंमें अत्यधिक पीड़ा थी। एक बाँसकी बड़ी लकड़ीके सहारे उठते-चलते थे। परन्तु, उनके मुखमण्डलपर वही ज्योतिर्मय दिव्य तेज था। आँखोंमें वही चमक, वही विनोदपूर्ण हास-परिहास!

वे एक अद्भुत सन्त थे। उनका जीवन एकरस था।

(पावन प्रसंग : पृ. 146-146)

शास्त्रका उद्देश्य

श्रीमद्भागवत या किसी भी शास्त्रकी व्याख्या करते समय जब व्याख्याता या श्रोताको यह भ्रम हो जाता है कि ये सारी बातें मनुष्यको साधु बनानेके लिए हैं, केवल त्यागके लिए हैं, वैराग्यके लिए हैं, तब वह शास्त्रका यथार्थ रहस्य अथवा मर्म नहीं समझ पाता। मनुष्यको उसकी योग्यताके अनुसार कर्तव्यकी शिक्षा सभी शास्त्र देते हैं–चाहे वह ब्रह्मचारी हो, गृहस्थी हो, वानप्रस्थी हो या त्यागी, संन्यासी हो। सबको योग्यताके विरूद्ध एक ही रास्तेसे ले जाना, यह हमारे शास्त्रका उद्देश्य नहीं है।

जो कर्म करने योग्य हैं वह कर्म करें। जो अध्ययन करने योग्य हैं वे अध्ययन करें। जो शक्तिशाली हैं, वह रक्षाका कार्य करें। जो सबको अन्न-वस्त्र देने योग्य हैं, वह अन्न-वस्त्र देनेका काम करे। सभी शास्त्र सभी प्रकारके अधिकारियोंके लिए, उनकी योग्यताके अनुसार मार्ग बताते हैं।

यह तो पिछले दो-तीन हजार वर्षोंसे कुछ ऐसा हुआ है कि सारे शास्त्रोंकी व्याख्या इस ढंगसे की जाने लगी–जैसे सबको त्यागी होना है, सबको साधु होना है, सबको माला फेरनी है, सबको चन्दन ही लगाना है। इससे तो न मानवताकी व्यवस्था ठीक बनती है, न राष्ट्रकी रक्षा होती है और न ही लोग अपने कर्त्तव्यमें निष्ठावान् होते हैं। यदि सब बाबाजी बन जाँय माला फेरने लग जायें, पालकके पत्तेका कच्चा रस पीने लग जाँय तो फौजका काम कौन करेगा? यदि सब लोग एक स्थानमें निश्चय करके बैठ जाँय कि यहाँसे नहीं निकलेंगे तो व्यापर कैसे होगा और लोगोंको जो चीज चाहिए, वह कहाँसे मिलेगी?

इसलिए सम्पूर्ण मानवताकी और राष्ट्रकी व्यवस्था बनी रहे, इस दृष्टिकोणसे शास्त्रकी व्याख्या होनी चाहिए।

ध्रुवके वंशमें एक राजा अङ्ग हुए। उनका पुत्र वेन दुष्ट निकला–प्रजाको सतानेवाला बन गया। राजा अङ्गने उसको सुधारने-सँवारनेका प्रयास किया। सब बुराईयोंकी जड़ यह थी कि वेन ईश्वरको स्वीकार नहीं करता था। राजा अङ्ग बड़े निराश हुए, परन्तु वे ध्रुवके वंशमें थे, इसलिए एक दिन रात्रिके समय उनके हदयमें प्रकाशका अवतरण हुआ। राजा अङ्गने देखा और यह अनुभव किया कि भगवान्ने मुझको मेरी इच्छाके विरुद्ध काम करनेवाला बेटा दिया है–यह हमारे ऊपर भगवान्की बड़ी कृपा है। यदि बेटा अच्छा होता तो मैं इसके रागमें फँस जाता। अब मैं भगवान्का भजन करूँगा। इसप्रकार भगवान्की प्रत्येक क्रियामें गुण निकाल लेना भक्तका स्वभाव है।

(भागवत व्यञ्जन पृ. 81, 86)

वंशकी भी एक महिमा होती है

कोई-कोई लोग होते हैं, वे अपने खानदानका ही नाम लेते हैं कि हम बहुत बड़े वंशमें पैदा हुए हैं। बहुत बड़े वंशमें तो पैदा हुए हो, लेकिन खुद ठनठनपाल। बोले कि हमारे बाप, दादा, परदादा सम्राट थे, नवाब थे। हम नवाबके वंशज हैं। अच्छाजी, आप क्या करते हो? भई, हम तो दर्जीका काम करते हैं, धुनियाका काम करते हैं तो केवल वंशका नाम लेकर ही जो अपनेको बड़ा मानते हैं, उनमें सच्चा बड़प्पन नहीं है।

मनुष्य बहुत धन होने से बड़ा नहीं हो जाता। ऊँची कुर्सी होनेपर बड़ा नहीं हो जाता। बढ़िया कपड़ा पहनने पर बड़ा नहीं हो जाता। जिसके जीवनमें पापकी जितनी कमी है, वह उतना बड़ा है।

मैं अपनी बचपनकी एक भूल सुनाता हूँ। एक महात्माके पासमें गंगा किनारे, कर्णवास आया। मेरी उम्र उस समय अठारह वर्षके लगभग होगी। मैं उनकी सेवा करता। पर जब उनके पास कोई पढ़ा-लिखा आदमी आता तो वे मेरी तारीफ करते कि यह बड़े उच्चवंशका ब्राह्मण है,ऐसा विद्वान् है, इसका बड़ा त्याग है, वैराग्य है। मेरे मनमें आता कि ये महात्मा यह कहना चाहते हैं कि ऐसा आदमी हमारी सेवा में है, सो मैं कितना बड़ा हूँ मेरी दोष-दृष्टि उनके प्रति होती। मैं सोचता कि ये सामने वाले पर यह असर डालना चाहते हैं कि यह सेवक जब इतना अच्छा है तो इसका गुरु कितना अच्छा होगा। बादमें इस दोष-दृष्टिके लिए मुझे बड़ा पश्चाताप हुआ।

होता यह है कि प्रेमी के गुण-ही-गुण प्रियतमके सामने प्रकट होते हैं। प्रेमी लोग तो सेवा ही करते हैं। तो वे गुण कभी-कभी इतने अधिक प्रकट हो जाते हैं कि जिनकी सेवा की जाये, उनके भीतर भी नहीं पचते हैं और बलात् उनके मुँहसे निकल जाते हैं। तो यह उनका कोई स्वार्थ अथवा दोष नहीं है। वह तो महात्मा हमको और उत्साहित करनेके लिये कि और त्याग-वैराग्य करो और स्वाध्याय करो, और भजन करो इसलिए हमारी प्रशंसा करते थे। अब मालूम पड़ता है कि वह मेरी भूल थी।

ऐसा होता है कि जो अच्छे वंशके लोग हैं, वे जो निष्ठा कायम कर लेते है उसपर डँट जाते हैं। उनकी एक प्रतिष्ठा होती है। वे बारम्बार यहाँ-से-वहाँ विचलित नहीं होते हैं। कहते हैं, 'वाह, हम ऐसे वंशके होकर और इस बातको छोड़ दें? हमारे बाप-दादा इसके लिए मर गये। तो अपने वंशकी भी एक महिमा होती है!

(पुरुषोत्तम योग : पृ. 247-249)

क्षमा दूसरोंके लिए ही होनी चाहिए, अपने लिए नहीं

जब श्रीरामचन्द्रजीकी जीत हो गयी और यह सन्देश हनुमान्‌जीने जानकीजीको दिया तब उनसे एक निवेदन किया। कहा कि माता, यहाँ राक्षसियाँ आपको बहुत कष्ट देती रही हैं। इसलिए आप आज्ञा करें तो मैं इनको अपने पंजोंसे नोंच दूँ, पाँवोंसे रौंद दूँ और मार डालूँ। जब इन्होंने आपको इतना सताया है तब हमें भी इनके साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए और यही आज्ञा मैं आपसे चाहता हूँ।

हनुमान्‌जीकी यह प्रार्थना सुननेके बाद जानकीजीने उत्तर दिया, वह स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है। उन्होंने कहा कि हनुमान्, तुम क्या कह रहे हो? यह आर्य पुरुषका, श्रेष्ठ पुरुषका काम नहीं है। ऐसी बात फिर कभी अपने मुँहसे नहीं निकालना। लोग कहेंगे कि श्रीरामचन्द्रका सेवक तो स्त्रियोंके ऊपर भी प्रहार करता है, उसके मनमें बदला लेनेकी भावना होती है। क्या इससे श्रीरामचन्द्रके यशमें वृद्धि होगी? नहीं, इससे श्रीरामचन्द्रका यश बढ़ना तो दूर रहा, उन्हें उसमें कलंक लग जायेगा। ठीक है, इन राक्षसियोंने अपराध किया है, लेकिन सृष्टिमें निरपराध तो कोई होता ही नहीं।

सीताजीने आगे कहा कि देखो हनुमान् अपराधिनी तो मैं भी हूँ। जब मारीचने मुझे धोखा देनेके लिए मरते समय श्रीलक्ष्मणका नाम लेकर पुकारा तब लक्ष्मण तो उसकी मायाको समझते थे और मुझे अकेली छोड़कर जाना नहीं चाहते थे, परन्तु उस समय मैंने उनको कटु वचन कहकर पीड़ित किया। क्या वह अपराध किसी अपराधसे कम है? उस अपराधका प्रतिफल जो मुझे मिला, वह तुम्हारे सामने है। उसी अपराधका यह परिणाम हुआ कि रावण साधुके-वेशमें आया और मैं उसको पहचान न सकी। वह मेरे सौन्दर्य, माधुर्यकी प्रशंसा करने लगा और मैं उसे सुनती रही। फिर मैंने उसका आतिथ्य भी किया। इसलिए लक्ष्मणके प्रति कटु वचनोंका प्रयोग और रावणके प्रति आतिथ्यका भाव मेरा अपराध ही था।

सीताजीने आगे कहा कि हनुमान्, असलमें जो सत्पुरुषका तिरस्कार करता है, उसकी गति ऐसी होती है, जैसी मेरी हुई है।

वास्तवमें अपराध तो सबसे होते हैं। सृष्टिमें ऐसा कोई नहीं होता, जिसके जीवनमें कुछ-न-कुछ अपराध न हुआ हो। होता यह है कि जब दूसरा अपराध करता है तब तो हम उसको दण्ड देनेके लिए डण्डा लेकर खड़े हो जाते हैं, लेकिन जब हम अपराध करते हैं तब अपने लिए क्षमा चाहते हैं। होना यह चाहिए कि जब हमसे अपराध होता है तब हम उसके लिए अपनेको दण्ड दें और दूसरा जो कोई अपराध करता है, उसके लिए उसको क्षमा करें। क्षमा दूसरोंके लिए ही होनी चाहिए, अपने लिए नहीं।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 16-18)

भाईजीकी व्यावहारिक निपुणता एवं सर्वत्र भगवत्भाव!

उन दिनों 'कल्याण' का कार्यालय श्री गोरखनाथ मन्दिरके पास एक उद्यान एवं बंगलेमें था। भाईजी श्री हनुमानप्रसादजीके सम्पर्कमें आनेके पश्चात् मेरा स्नेह-सम्बन्ध उनसे बढ़ता ही गया।

उत्तर प्रदेशके ब्राह्मण बम्बईमें भाईजीके एक मित्रके यहाँ 'भैया' का काम करते थे। एक दिन उनसे दस हजार रुपया खो गया। सेठने कहा कि यह रुपया हम तुम्हारे वेतनसे काट लेंगे। डेढ़ सौ रुपये काट लेता और आधा रुपया उनके निर्वाहके लिए दे देता। भाईजीको जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने सेठसे पूछा कि वह 'भैया' विश्वासपात्र है या नहीं? सेठने बताया कि उसने वर्षोंसे मेरी गद्दीपर काम किया है, परन्तु कभी कोई बेईमानी तो नहीं की। भाईजीने कहा-'यदि वह बेईमान नहीं है तो उसका आधा वेतन काटना अन्याय है। यदि वह बेईमान है तो उसको गद्दीपर काम करनेके लिए रखना सर्वथा अनुचित है, दो टूक निर्णय करो।' सेठने कहा-'वह भैया ईमानदार है।'

भैयाजी बुलाये गये। सेठने अपना निर्णय भैयाजीको सुनाया और कटा हुआ रुपया लौटा दिया। उस ब्राह्मण भैयाने वहीं भाईजीके सामने ही भगवान्‌को साष्टांग दण्डवत किया और कहा-'प्रभुकी बड़ी कृपा है। मैं तो केवल ऋण चुकानेके लिए ही आपका काम करता था। अब मैं साधु हो जाऊँगा।' वही भैया गंगातटपर आकर संन्यासी हुए और बम्बईवाले स्वामी कृष्णानन्दजीके नामसे प्रसिद्ध हुए।

वह दृश्य कभी-कभी मुझे अपने मानस-पटलपर जीवन्त-सा दीखने लगता है-जब गीता-वाटिकामें सम्वत्सरव्यापी अखण्ड-कीर्तनके दिनोंमें एक अग्नि काण्ड हो गया था। फूसकी अठारह-बीस कुटियाँ बनी हुई थी। उनमें अनेक प्रान्तोंके साधक मौनी और फलाहारी रहकर अपनी-अपनी साधना कर रहे थे। केवल भगवन् नामका ही उच्चारण करते थे और किसी शब्दका नहीं। भगवान्‌की सेवा-पूजा भी सब करते थे। रातके समय किसी कारणवश आग लग गयी। हा-हाकार मच गया। नोट, कपड़े, सामग्री तो जले ही, ठाकुरजीकी सेवा, चित्रपट, पाठके ग्रन्थ भी भस्म हो गये। आग लगनेपर भाईजी अपने कमरेसे बाहर निकलकर आये और बोले-अग्निरूपमें स्वयं भगवान् पधारे हैं। खूब-खूब घी लाओ, बूरा लाओ, भलीभाँति इस रूपमें भगवान्‌का सत्कार करो! वैसा ही किया गया। मैं भाईजीकी यह भावभक्ति देखकर गद्‌गद हो रहा था। सचमुच भाईजीने जीवन भर इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया कि सबकुछ भगवान्‌की लीला है। सब रूपमें भगवान् ही हैं। उनके प्रवचन और क्रिया-कलापमें सर्वत्र भगवत्भावकी ही अभिव्यक्ति देखी जाती थी।

(पावन प्रसंग : पृ. 267,268,275)

पूर्वजन्मका ऋण

उन दिनों, मै कल्याण पढ़ा करता था और उसमें वेदान्त, भक्ति और धर्म सम्बन्धी विचार पढ़कर बहुत प्रभावित भी था। खासकर भाईजी श्री हनुमानप्रसादजीके लेख बहुत प्रिय लगते थे। एक बार मैंने वाराणसीसे पैदल यात्रा की और गोरखपुर पहुँच गया। वहाँ गोस्वामी श्री चिम्मनलालजीसे मिला। उन्होने भाईजीकी बहुत महिमा सुनायी। उसी दिन सायंकाल भाईजीसे मिलना हुआ, भाईजीकी प्रथम भेंटमें उनका विनय, सरलता एवं सद्भाव देखकर मेरा मन प्रसन्न तथा प्रभावित हुआ। बातचीतके प्रसंगमें उन्होंने पूछा–'आप पण्डितजी (तब मैं सन्यासी नहीं था) क्या चाहते हैं?' मेरे मुखसे निकला–भगवान्‌का भजन चाहिए, और कुछ नहीं।' उनके नेत्रोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे। वे बोले–

उमा राम स्वभाव जिन जाना। तिन्हहिं भजन तजि भाव न आना।।

वे जैसे तन्मय हो गये हों। मेरे मनमें भगवान्‌का स्मरण और नामोच्चारण होने लगा। कुछ समयतक यह प्रभाव रहा। अवश्य ही उस समय चित्तकी दशा असाधारण-सी हो गयी थी। दो-तीन दिन मैं वहाँ रहा।

एक बार तो ऐसी विलक्षण घटना घटी जैसी लोक व्यवहारमें कम ही देखनेको मिल सकती है। एक सज्जन आये। भाईजीसे बोले–'मैं नेपालकी यात्रा करने आया था। पत्नी बीमार पड़ गयी है। सरकारी अस्पतालमें भर्ती कराया है। अमुक नम्बरके कमेरेमें हैं। खर्चके लिए पैसा नहीं है। क्या करूँ? भाईजीने उन्हें दो-ढ़ाई सौ रुपया दिया। तीसरे-चौथे दिन आये–'बिमारी गम्भीर हो गयी है। आपरेशन करवाना पड़ेगा। कुछ और चाहिए।' तीन-चार दिन पश्चात् फिर आये कहा–'वह मर गयी है। उसका क्रिया-कर्म करना पड़ेगा।' कल्याण परिवार वालोंने भाईजीको कहा–'यह कोई ठग मालूम पड़ता है। इसे कुछ मत दीजिये।'

भाईजीने कहा–'मैंने तो पहले ही दिन अस्पतालमें फोन करके पूछ लिया था। वहाँ कहीं किसी कमरेमें इसकी पत्नी दाखिल नहीं है। पत्नी थी ही नहीं तो बिमारी, औषधि, क्रिया-कर्मकी क्या चर्चा? परन्तु, जब ये सज्जन मेरे पास आकर बैठे तो मुझे मालूम पड़ता है कि पूर्वजन्ममें मैंने इनसे कोई ऋण लिया है और उसको चुकाना मेरा अवश्य कर्त्तव्य है। उनकी आवश्यकता सच्ची है या झूठी, इस विचारसे मेरा क्या मतलब? मेरा हृदय इनको कुछ देनेके लिए विवश कर देता है। मैं अपने हृदयकी पीड़ा मिटानेके लिए देता हूँ। उनकी सच्चाई-झूठाईके आधारपर नहीं। सच्चे-झूठे तो सभी होते हैं। अपना हृदय सद्भाव पूर्ण रहना चाहिए। किसी दुःखी या गरीबकी सहायता करनेमें यदि सहायक अपनेको ठगा भी देता है तो वह सहृदयताकी ही अभिव्यक्ति है।'

(पावन प्रसंग : पृ. 265-266,272-273)

जीवनमें व्रत करना बहुत आवश्यक है

यह वर्तमान विज्ञानका एक अभिशाप है कि धर्मकी जो शाश्वत विहित विधि होती है, उसका आदर नहीं करते हैं।

उदाहरणके रूपमें जैसे हमारे ये व्रत हैं, ये यदि ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए, आत्मशुद्धिके लिए एवं धर्मपालनके रूपमें होवें, तो ये हमेशा रहेंगे। दो एकादशी हर महीनेमें करो, अमावस्या और पूर्णिमा करो। सोमवार, मंगलवार, गुरुवार करो। भाद्रपद एक ऐसा मास आता है जिसमें समझो कि शुक्लपक्षके पन्द्रह-दिनमें-से, दस दिन कम-से-कम व्रत के हैं। इनमें हरतालिका है, गणेश चतुर्थी है, ऋषि पंचमी है, लोलार्क षष्ठी है, दुर्गा सप्तमी है, राधा अष्टमी है, वामन द्वादशी है, अनन्त चतुर्दशी है, पूर्णिमा है। यह तात्कालिक नहीं है। यह हमेशा ऐसा करना चाहिये। कार्तिकमें एक समय भोजन करना महिने भर। माघमें एक समय भोजन करना, बैशाखमें एक समय भोजन करना। इनको बैशाख व्रत, माघव्रत, कार्तिकव्रत कहते हैं।

देखो मुसलमानोंमें रोजा है, ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए, आत्म-शुद्धिके लिए, तो उसमें मनुष्यकी निष्ठा होती है, वह जीवनके साथ हमेशाके लिए जुड़ा होता है।

अतः व्रतको आप धर्म समझकर धारण करो, जीवनमें व्रत करना बहुत आवश्यक है। इससे शरीरका स्वास्थ्य बनता है, इससे मन प्रसन्न होता है, इससे धर्म होता है। इससे ईश्वर प्रसन्न होता है, इससे तप होता है। इससे हम ईश्वरकी ओर बढ़ते हैं। उपवास करना व्रत करना बहुत अच्छा काम है।
यदि किसी भी निमित्तसे कोई कहे कि आज भाई कोई मर गया है, आज व्रत रह जाओ, तो व्रत रहना चाहिये। इस बातको समझना चाहिए।

विज्ञानका अभिशाप यह आया कि जब जरूरत पड़े तब व्रत कर लो। यह व्रत नहीं हुआ कि डाक्टरकी सलाहपर भूखे रहे। भूखे रह जानेका व्रत नाम देना गलत हो गया भला!

चाहिए यह कि व्रत महिनेमें दो-चार जरूर कर लिया करें। परन्तु धर्मके लिए करें, अन्तःशुद्धिके लिए करें।

अब जरूरत पड़े तब तो व्रत करना ही चाहिए, जब भौतिक रूपसे व्रत आवश्यक हो जाय, तब तो जरूर ही करना पड़ता है। पर विवशताका व्रत धर्मका उत्पादक नहीं होता। श्रद्धाविहित जो व्रत होता है, वह धर्मोत्पादक होता है।

(विभूति योग : पृ. 135,136)

❋❋

मैं अगर सावधान होता तो इनसे गलती नहीं होने देता

जटायुको आहत देखकर और उसीके मुखसे सीताका हरण सुनकर भगवान् रामचन्द्र शोकसे संतप्त हो गये और व्याकुल होकर विलाप करने लगे।

भगवान्को इतना शोक क्यों हुआ?

कहते हैं कि देखोजी! यदि लोकोत्तर गुणविशिष्ट जो पुरुष है, वह दूसरेका दुःख देख करके दुःखी न हो, तो उसके अन्दर गुण ही क्या है?

श्रीमद्भागवतमें बताया-बड़े-बड़े महात्माओंने इस अविनाशी धर्मकी उपासना की है। उसका स्वरूप बस, इतना ही है कि मनुष्य किसी भी प्राणीके दुःखमें दुःखका अनुभव करे और सुखमें सुखका। (6-10-9)

तो बोले-देखो, जैसे माँ एक बच्चे को गोदमें लेकर खिला रही है। उसने देखा कि बच्चे के हाथ में कंगन नहीं है। अब बच्चे से पूछा-'बेटा,कंगन कहाँ गया? सोनेका था, कहाँ गया? बच्चा रोने लगा। अब बच्चेको तो दुःख हुआ ही कि हमारा कंगन खो गया, कंगन खो गया, लेकिन माताको ज्यादा दुःख हुआ क्योंकि वह सोनेकी कीमत समझती है, कि सोना बहुत कीमती चीज है, बच्चा तो नहीं समझता। और बच्चेसे जो गलती हुई, उसमें माँकी असावधानी कारण है। माताको चाहिये था कि बच्चेकी देखभाल करे, उसका सोनेका कंगन खोने न दें। तो बच्चेको कंगनके लिये रोते देखकरके स्वयं माँ भी रोने लगी।

तो ये संसारके जीव भगवान्के पुत्रके समान हैं, बच्चेके समान हैं, कोई गलती करते हैं तो भगवान् कहते हैं-देखो, मैं अगर सावधान होता तो इनसे गलती नहीं होने देता। यह गलती इसकी नहीं हमारी है। तो जैसे माताको दुगुना दुःख होता है। अपने बच्चेकी गलती पर कि वह कैसे गिर पड़ा? उसने कैसे अपना हाथ काट लिया? कैसे हाथ जला लिया? इसी प्रकार भगवान् रामचन्द्र जब संसारमें किसीको दुःखी देखते हैं तो वे दुःखी हो जाते हैं।

करुणाका लक्षण यह है कि दूसरेका दुःख देखकरके अपना हृदय इतना द्रवित हो जाये, कि जैसे अपना दुःख दूर करनेके लिये अपने सर्वस्वकी बाजी लगा देते हैं, वैसे ही दूसरेका दुःख दूर करने कि लिये भी सर्वस्वकी बाजी लगा दें।

❋❋

(बाल्मीकि रामायणामृत पृ. 45, 46)

हरि कथा, कथा और सब वृथा व्यथा!

श्रीआनन्दमयी माँ कहती हैं-हरि कथा,कथा और सब वृथा,व्यथा अर्थात् भगवान् की कथा,कथा है और सब पीड़ा देने वाली चीज है, व्यर्थ है। कहते हैं-

रसना साँपिनी बदन बिल जो न जपै हरि नाम।

यह मुँह एक बिल है और इसमें जीभ एक साँपिनकी तरह रहती है। यदि भगवान् का नाम न होवे, तो यह विषैली साँपिन किसी-न-किसीको डँसेगी। यदि भगवान्‌की चर्चा इसमें नहीं आवे, तो यह किसी-न-किसीको दुःख पहुँचावेगी। यह ऐसी बात बोलेगी धीरे से, ऊपरसे मीठी और भीतरसे डँसने वाली बात बोलती है और ऐसी बातें बोलते-बोलते लोगों की आदत बिगड़ जाती है।

तो 'कथयन्तश्च'-इसीसे भागवतमें ऐसा वर्णन आया है कि और तो और जो ज्ञानी महात्मा है, जिनका कोई प्रयोजन दुनियामें नहीं है, वे कहते हैं कि भाई जब जीभ है तो इसको पकड़कर कब तक रखेंगे, यह कुछ-न-कुछ तो बोलेगी; तो ऐसी मर्यादा बना लो, एक ऐसा कायदा बना लो कि भगवान् ही के बारे में यह बोले।

आजतक जिस किसीको भगवत्सम्बन्धी लाभ मिला है वह भगवत्कथासे मिला है। धनसे आज तक भगवान् किसीको नहीं मिले हैं। भोगसे भगवान् किसीको नहीं मिले हैं। भगवत्कथा श्रवण करने से हजारों-लाखोंको भगवान् की प्राप्ति हुई है।

बिनु सत्सङ्ग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होई न दृढ़ अनुराग।।

सत्सङ्गके बिना भगवत्कथा नहीं और कथाके बिना मोह दूर नहीं होता और जब संसारका मोह दूर नहीं हुआ, तबतक भगवान्‌के चरणोंमें दृढ़ अनुराग नहीं होता।

मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा।

बिना अनुरागके भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती।

बिन देखे रघुवीर पद जियकी जरनि न जाय।

जबतक भगवान्‌के चरणारविन्दके दर्शन नहीं होंगे, तबतक हृदयकी जलन मिट नहीं सकती। इसलिए कथयन्तश्च मां नित्यं। भगवान्‌की नित्य चर्चा और कथा करो।

(विभूतियोग : पृ. 249-250)

❀❀

सृष्टिमें किसी भी वस्तुके प्रति दोष-दृष्टि नहीं रखना

मनुके दो पुत्र थे–उत्तानपाद और प्रियव्रत। प्रियव्रतको ब्रह्मचर्य व्रत बड़ा प्रिय था। प्रियव्रत कहते थे कि हम तो भगवान्‌की लीला-कथा सुनेंगे और गुरुजी (नारदजी) के पास रहेंगे। संसारके चक्करमें नहीं पड़ेंगे।

मनुजी एवं ब्रह्माजी दोनों प्रियव्रतके पास आये और समझाया कि प्रियव्रत! तुम जो बचपनमें बाबाजी बनना चाहते हो, यह बिल्कुल गलत है।

उन्होंने कहा–तुम ईश्वरकी बनायी हुई जो मर्यादा है उसमें दोष मत निकालो। यह मत कहो कि गृहस्थाश्रममें दोष है। देखो, दोष कोई भी हो, बाहर नहीं होता–कामादि दोष बाहर नहीं होते। हमारा सुख-दुःख, हमारा राग-द्वेष, हमारा सम्बन्ध, हमारा मोह, सब-का-सब हमारे दिलमें होता है, हमारे साथ होता है।

ब्रह्माजीने कहा–बेटा, इस बातको तुम समझो! सारी सृष्टि ईश्वरकी आज्ञाका पालन करती है, उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। यदि तुम ऐसा समझते हो कि घर-गृहस्थीमें जाने पर रागादि-दोष आ जायेंगे और वनमें नहीं होंगे तो यह बात बिल्कुल गलत है। यदि मनुष्य प्रमाद करे तो वनमें भी उसको प्रमाद करनेका स्थान मिलता है, वनमें क्या स्त्रियाँ नहीं होती हैं? जब जंगलमें व्यक्ति जाता है तो भीतर जो दुश्मन (काम, क्रोध आदि) बैठे हैं, उनको तो साथमें लेकर ही जाता है।

यदि मनुष्य आत्मरत है, जितेन्द्रिय है, समझदार है तो घरमें रहनेसे उसका क्या नुकसान हो सकता है? यह तो किलेकी लड़ाई है–घर एक किला (Fort) है, यहाँ रहकर पहले अपने शत्रुओंको वशमें करो और फिर वनमें जाओ।

ब्रह्मा और मनुने समझाया–बेटा! जरा संसारका भी अनुभव करो। हमारे जीवनमें भगवान् ने जो कुछ दिया है–वह केवल त्यागके लिए नहीं है, उपयोगके लिए भी है, उपभोगके लिए भी है। यहाँतक कि हमारे जीवनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह जो हैं–ये भी नितान्त नष्ट करनेके लिए नहीं हैं। यदि केवल ये नष्ट करनेके लिए होते तो भगवत-सृष्टिमें ये बनाये ही नहीं जाते। इनका भी समय-समय पर सदुपयोग किया जाता है–1. पवित्रता की कामना की जाती है। 2. दुराचार, दुर्गुण, दुर्भाव अपने चित्तमें न आवे इसके लिए क्रोध का सदुपयोग है। 3. जो अपने हितकारी हैं उनके प्रति मोह होवे और 4. सद्‌गुणोंको धारण करने के लिए थोड़ा अहं होवे, लोभ होवे।

इस तरहसे जितने भी भाव हैं, भगवद् सृष्टिमें उन सभीका सदुपयोग करना इष्ट है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो समय विशेष पर, स्थान विशेषमें, व्यक्ति विशेषके लिए उपयोगी और धर्म न हो जाय!

कहनेका अभिप्राय यह है कि ईश्वरकी सृष्टिमें किसी भी वस्तुके प्रति दोष दृष्टि नहीं रखना, उसका ठीक-ठीक उपयोग देखना–हो सकता है वह तुम्हारे लिए न हो किसी दूसरेके लिए हो–इसमें कोई बात नहीं।

ब्रह्माजी और मनुजीके समझाने पर प्रियव्रत मान गये। घर लौट आये। विवाह किया और सारी पृथिवीका राज्य किया।

❀❀

(मानवजीवन और भा. धर्म-पृ. 162,163,166)

प्रतीक्षा करो और आशा रखो

मैंने एक बार उड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा कि सिद्धि क्या चीज है? तो वे बोले–बरदाश्त करो; यही सिद्धि है। कोई भी चीज मीठी तभी होती है, जब आँचपर पका ली जाती है या गरमी में पका ली जाती है! जो चीज आँच सहने से इन्कार करती है, कहती है कि आगपर नहीं चढ़ूँगी, वह पकेगी कैसे? मीठी कैसे बनेगी? अगर तुम अपने दिलको मीठा बनाना चाहते हो, तो उसे तपने दो, पकने दो, डरो मत!

श्रीवल्लभाचार्य महाराज तथा श्रीरामानुजाचार्य महाराज कहते हैं कि जब मनुष्यके जीवनमें ताप आता है, तब वह रसायन बनता है! जबतक मन्थन न होगा, तबतक हृदयमें अमृत कैसे प्रकट होगा? जबतक विषकी ज्वाला निकल न जाय, दिलमें उफान न आवे, तबतक शीतलताका अनुभव कैसे होगा? जो दुःख सहनेके लिए तैयार होता है, उसीको सुख-शान्ति प्राप्त होती है। धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो और आशा रखो।

आशाबन्ध समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचि।

शबरी के मनमें आशा बन्धी हुई थी और वह प्रतीक्षा-निरत थी–कि अब राम आयेंगे, अब राम आयेंगे। एक भोजपुरी गीतकी पंक्ति है–

शबरी देखय ले सपनवा आजु घर रामा अइहैं ना।

मतलब यह कि शबरी रोज सपना देखती है कि आज हमारे घर राम आयेंगे, जरूर आयेंगे! तो तुम यह विश्वास रखो–मुझको भगवान् मिलेंगे, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होगी। इन्हीं आँखोंसे भगवान्‌का दर्शन होगा और इसी जीवनमें भगवत्तत्वका साक्षात्कार होगा। तुम्हारे अन्दर जो कमजोरियाँ हैं, उन्हींके कारण निराशा होती है और यह अनुभव होता है कि हमारा मन चञ्चल है तथा हमारे मनमें वासनाएँ हैं! माना कि तुम्हारे मनमें वासनाएँ हैं, लेकिन प्रतीक्षा करो। वह समय शीघ्र आनेवाला है जब वासनाओंका, अशान्तिका अन्धड़ और तूफान शान्त हो जायेगा! विश्वास रखो और उस घड़ीकी प्रतीक्षा करो, जब तुम्हारे मनमें न विकार होंगे, न वासना होगी और न चञ्चलता होगी। वह दिन दूर नहीं, जब तुमारा मन मानसरोवरके समान स्वच्छ, शान्त और निर्मल होगा तथा उसमें भगवान् प्रकट होंगे। वह समय तुम्हारे जीवनमें शीघ्र आनेवाला है।

(उद्धव व्रजगमन-पृ. 211,212)

ईश्वर और सद्गुरुकी प्रत्येक क्रियामें प्रीति-ही-प्रीति

कल मैं एक पुराना ग्रन्थ पढ़ रहा था तो उसमें एक कथा लिखी थी कि दो सज्जन गये तिरुपति बालाजी। एकने कहा कि, ये क्या भगवान् हैं लक्ष्मीपति नारायण, कि पहले जब लोग बोलते हैं कि हम इतनी भेंट चढ़ावेंगे, इतनी पूजा करेंगे यदि हमारा यह काम हो जाय; तब वे उसका काम करते हैं और बोलकर काम हो जाय और भेंट न चढ़ायें तो फिर मय-ब्याजके वसूल भी कर लेते हैं—यह क्या भगवान् हैं—ऐसे उसने कहा।

दूसरेने कहा कि देखो, असलमें तुम ईश्वरको पहचानते नहीं हो-रत्नाकर समुद्र तो इनका श्वसुर है, चन्द्रमा इनका साला है, लक्ष्मी इनकी पत्नी हैं, कौस्तुभमणि इनके कण्ठमें है, कल्पवृक्ष इनके संकल्पसे उदय हुआ, फिर भी ये भेंट लेकरके काम करते हैं इसमें तो इनका अपार अनुग्रह है। जिसका काम हो उसको ये अपना समझते हैं, काम तो उसका करते ही हैं, उसके ऊपर इतनी करुणा करते हैं कि उसकी छोटी भेंट स्वीकार कर लेते हैं तो तिरुपति बालाजीकी क्रियामें दोष मत देखो, उनका जो अनुग्रह है उसको देखो, कि स्पृहा न होने पर भी आवश्यकता न होने पर भी, तृष्णा न होने पर भी, कोई कामना न होने पर भी भक्त-वात्सल्य कारुण्यके कारण वे अपने भक्तकी पूजा स्वीकार करते हैं। यह उनकी कृपा है, अनुग्रह है, लोग उनके अनुग्रहको समझते नहीं है।

एक बारकी बात है—मैं स्वामी योगानन्दजी महाराजके साथ था। सच्ची बात बताता हूँ। वहाँसे थोड़ी दूरपर श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज रहते थे। मेरा मन हुआ कि उनका दर्शन कर आऊँ, पर स्वामीजीने मना कर दिया बोले—'मत जाओ।' समझाया कुछ नहीं, मना कर दिया। तो मनमें थोड़ा क्षोभ हुआ। फिर मैंने युक्ति निकाली कि घर जानेकी इनसे छुट्टी लें और रास्तेमें उनके दर्शन करते हुए चले जायेंगे। तो उन्होंने घर जानेकी तो छुट्टी दे दी लेकिन; साथ-साथ एक ऐसा काम बता दिया कि कल हम जरूर घर पहुँच जायें, तो इससे रास्तेमें जो दर्शन करनेवाली युक्ति थी वह बेकार हो गयी। थोड़े दिनोंके बाद देखो, अपने मनमें विचार उदय हुआ कि उन्होंने हमको जो वहाँ जानेके लिए मना किया तो, उसमें उनका अनुग्रह था। क्योंकि उन दिनों हम एक श्रद्धाके मार्ग पर चलकर, एक जप पूजा करके भगवान्‌के सगुण-साकार रूपके दर्शनके लिए एक साधना कर रहे थे और उड़ियाबाबाजी महाराज तो बड़े फक्कड़ थे, उनके पास यदि हम जाते तो पता नहीं क्या उनके मुखसे निकल जाता। तो स्वामी योगानन्दजी महाराज जिस ढंगसे वे हमारे जीवनको गढ़ रहे थे, हमारे हृदयका निर्माण कर रहे थे, उसमें बाधा पड़ जाती—इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं था, उनका अनुग्रह था। ईश्वर और सदगुरुमें—उनकी प्रत्येक क्रियामें प्रीति-ही-प्रीति होती है।

(कठोपनिषद् प्रवचन-1 : पृ. 250-251)

भक्तिके दो पहलू

असलमें न हमें पाप करनेका दुःख है और न हमें अज्ञानका दुःख है, हमें तो दुःख है–विषयोंकी जो आसक्ति हमारे मनमें आगयी है उसका–इस आदमीके बिना नहीं रह सकते, इस कामके बिना नहीं रह सकते, इस भोगके बिना नहीं रह सकते। ऐसे चिपक गये हैं संसारमें बस! और वह चिपकन किसी तरह कम होती ही नहीं।

हमारे जीवनमें यह जो संसारके विषयोंमें आसक्ति है, वह तो बिना श्रीकृष्ण, बिना श्रीरामसे आसक्ति जोड़े निवृत्त नहीं हो सकती। माने जबतक हमारे हृदयमें भक्ति-रूप आसक्ति नहीं होगी, तबतक आसक्तिकी निवृत्ति नहीं होगी। प्रेमकी निवृत्ति प्रेमसे ही होती है। हीरा हीरेसे ही कटता है।

अच्छा, अब देखो, भक्तिके दो हिस्से हैं–

(1) जब एकसे आसक्ति होगी तब दूसरेसे आसक्ति कटेगी। जैसे, जब दूल्हेसे आसक्ति हो जाती है तब माँ-बापसे आसक्ति कम हो जाती है। तो भाई, आसक्ति करो तो भगवान्‌से करो। और भगवान्‌से आसक्ति होनेका पहला पहलू यह होता है कि संसारसे आसक्ति छूट जाती है और इसका नाम होता है- वैराग्य।

(2) भक्तिका दूसरा पहलू यह है कि जिसकी भक्ति हम करते हैं, जिससे हमारा प्रेम होता है, उसके बारेमें हम जान जायें, उसकी हमें पूरी जानकारी हो जाय। देखो, एक आदमी हमसे बहुत प्रेम करता है। वह हमें अपने घर भोजन कराने ले गया और वहाँ उसने हमारे सामने हलुआ-पूड़ी, खीर-कचौड़ी सब बनाकर रख दिया–उसका हमसे प्रेम तो बहुत है, पर उसको हमारे बारेमें कोई जानकारी नहीं है कि इनको डायाबिटीज है, हार्टकी तकलीफ है–ये मिठाई नहीं खाते हैं, तली हुई चीज नहीं खाते हैं! तो इसका मतलब यह हुआ कि उसका प्रेम अभी अधूरा है। क्योंकि जिससे प्रेम होता है उसके बारेमें ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक होता है–इनको क्या अनुकूल पड़ेगा और उनका स्वरूप कैसा है? व्यवहार कैसा है? आदि-आदि। तो भक्तिका दूसरा हिस्सा हुआ-भजनीयके स्वरूपका ज्ञान।

अब, देखना यह है कि ये दोनों हुए कैसे? ऐसे हुए कि जब आपने श्रीकृष्णसे प्रेम किया तब संसारका प्रेम छूट गया, माने वैराग्य हो गया और भगवान्‌से प्रेम हुआ तो भगवान्‌के बारेमें जानकारी हुई, माने ज्ञान हो गया।

(आनन्द उल्लास-पृ. 225,226,227)

भक्तिकी सुलभता

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ–दूसरे साधनोंकी अपेक्षा भक्तिमें सुलभता है। ना.भ.सू. 58

1. भक्तिका मार्ग सरल है। तुमको पढ़ना-लिखना, सेवा-अर्चा न आती हो तो भी कोई हानि नहीं। भगवान् का नाम लो। नामी तो नामके वशमें है। यह भी न हो सके तो भगवान्‌की कथा श्रवण करो।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

(श्रीमद्भागवत 7.5.23)

यह सब भगवान्‌की भक्ति ही है। भक्तिमें कोई अधिकार भेद नहीं है। सभी भक्तिके अधिकारी हैं।

2. सब समय और सर्वत्र (सब जगह) भक्ति की जा सकती है।

3. भक्ति निरापद है। भगवान् न तुम्हें धोखा देंगे, न तुम्हारा धन लेंगे, न धर्म बिगाड़ेंगे और न ही स्वजन सम्बन्धी छुड़ावेंगे।

4. तुम जो कुछ करते हो, वह भक्ति (भगवानकी सेवा) बन सकती है। केवल भावना परिवर्तित करनी है। चलना-भक्ति है, हम भगवान्‌का दर्शन करने या उनकी सेवाका काम करने जा रहे हैं। भोजन बनाना भक्ति है–भगवान्‌को नैवेद्य लगानेके लिए बना रहे हैं। शरीरमें साबुन लगाना भी भक्ति है–भगवान्‌के सम्मुख जाना है। देखना यह है कि तुम कार्य किसके लिए करते हो? तुम्हारा यह बनाव-श्रृंगार, दौड़-धूप, यह चिन्ता परिश्रम किसके लिए है?

5. भक्तिमें कोई नयी बात उत्पन्न नहीं करनी है। भगवान्‌ने सबके हृदयमें प्रीति दे रखी है। प्रीति ईश्वरसे भी माँगनी नहीं है। जैसे भगवान्‌ने नेत्र-कर्ण आदि दिये हैं, वैसे ही प्रीति भी दी है। वह प्रीति जिससे जोड़नी थी उससे न जोड़कर अन्योंसे जोड़ दी गयी। वैसे भक्त तो सभी हैं। कोई मन्त्री-भक्त है, कोई सेठ भक्त। कोई स्त्री भक्त है, कोई देह भक्त। टेलीफोन तो घरमें है; किन्तु उसकी लाईन ठीक नहीं मिली। अतः लाईन बदलनी है–प्रीतिका मुख मोड़ना है। जहाँ पुत्र, पत्नी, धन बैठते हैं, वहाँ भगवान्‌को बैठाओ।

6. भगवान् करुणावरुणालय हैं। हम उनका नाम लेनेकी इच्छा करते हैं तो वे हमारी जिह्वापर नाम बनकर नाचने लगते हैं। मन्दिरमें हम दर्शन करने जाते हैं तब जिसे हृदयमें देखना चाहते हैं, उसे नेत्रोंसे देखते हैं।

7. भक्तिमें वस्तु आवश्यक नहीं है। यहाँ तो चुल्लू भर जल और दो तुलसी-दल पर्याप्त है।

8. भक्तिमें भगवान्‌का सहारा रहता है। भक्तिमें भगवान् स्वयं अपने भक्तको हाथ पकड़कर ले चलते हैं। बच्चा जैसे साथ चलते पिता पर निर्भर होता है वैसे ही भक्त भगवान् पर निर्भर होता है। विघ्नसे रक्षाका भार भगवान् पर है।

9. मनुष्य भगवान्‌की ओर एक पद चले, उनके लिए एक क्षण लगावे तो भगवान्‌को भी उसकी ओर एक पद चलना ठहरा, एक क्षण देना ठहरा उसके लिए। भगवान्‌के एक पदमें तो सारी दूरी समाप्त हो जाती है और उनके एक क्षणमें समस्त काल आ जाता है। सत्य तो यह है कि हम भगवान्‌के लिए एक पद उठाते नहीं है। अन्यथा भक्तिमें तो यह सुलभता है कि भगवान् स्वयं भक्तको ढूँढ़ते हैं।

तात्पर्य यह है कि यदि भगवान्‌की भक्ति नहीं करोगे तो संसारमें फँसोगे। इसलिए भक्ति करनी चाहिए।

(नारदभक्तिदर्शन-पृ. 322 से 331)

हमारे जीवनमें भागवत धर्मका उदय हो

जहाँ लोग ऐश्वर्य एवं सम्पत्तिके पीछे मर रहे हैं, वहाँ कुन्ती कहती है-'हे जगद्गुरु श्रीकृष्ण! हमारे जीवनमें बार-बार विपत्ति आवे और हमेशा आवे, लगातार आवे-विपत्ति पर विपत्ति आती रहे।'

श्रीकृष्णने कहा-'बुआजी! तुम ऐसी उल्टी बात क्यों चाहती हो? संसारमें तो ऐसा कोई नहीं चाहता है।'

कुन्ती माता बोलती हैं-'जब-जब हमारे ऊपर विपत्ति आती है तब-तब उस विपत्तिसे रक्षा करनेके लिए विपत्तिके पीछे तुम आते हो। वह विपत्ति हमारे लिए सैकड़ों सम्पत्तिसे बढ़कर हो जाती है, जिस विपत्तिमें आपका दर्शन होता है।'

यह मनुष्यके लिए बहुत बड़ी वस्तु है, क्योंकि सम्पत्ति हमेशा बनाये रखना-मनुष्यके हाथमें नहीं है। विश्वमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसके जीवनमें दुःख न आवे। यहाँ तक श्रीमद्भागवत (11.10.19)में कह दिया है कि जो लोग अपनेको बहुत बुद्धिमान मानते हैं और यह दावा करते हैं कि हम अपने जीवनमें दुःख नहीं आने देंगे; हमारे जीवनमें सुख-ही-सुख रहेगा, वे भी मृत्युको टालनेका उपाय नहीं जानते।

जो वस्तु बिना हमारे मनके आती है, हमारे बिना चाहे आती है, बिना प्रयत्नके आती है, जो चीज हमारे जीवनमें परहेज करने पर भी आती है, उसका नाम है-विपत्ति, उसका नाम है-दुःख, उसका नाम है-प्रतिकूल परिस्थिति। उस परिस्थितिमें हमारे पास कोई ऐसा खजाना रहे, कोई ऐसा रक्षक रहे, जो बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी अदृश्य रूपसे हमारा साथ न छोड़े, हमें आश्वासन दे, हमें शान्त रखे, हमें सुखी करे-ऐसी वस्तु यदि मनुष्यके जीवनमें कुछ हो सकती है तो वह है-'भागवत-धर्म'।

असलमें विपत्तिमें भी जिसको भगवान्‌का दर्शन हो, उसकी सुख-शान्तिको सृष्टिमें कोई भी नहीं छीन सकता। इसका अर्थ हुआ कि हमारा मन, हमारा तन एक ऐसी अनन्त सत्ताके साथ सम्बद्ध हो जाना चाहिए; एक ऐसे अनन्त, अखण्ड आनन्दके साथ हमारे जीवनका सम्बन्ध हो जाना चाहिए जो विपत्तिमें भी, मृत्युमें भी हमारा परित्याग न करता हो। ऐसी वस्तुका नाम है-भगवान् और उस भगवान्‌को जिसने अपने हृदयमें धारण कर लिया वह हो गया भागवत-धर्मी। मनुष्य जीवनकी समग्र विपत्तियों, अशान्तियों और मृत्युकी यह रामबाण औषधि है कि हमारे जीवनमें 'भागवत धर्म' का उदय हो।

(मानव जीवन और भागवत धर्म-पृ. 6,24,25)

गोपियोंका प्रेम समर्पण प्रधान है

भक्ति-सिद्धान्तमें जो ईश्वरपर विश्वास है, आस्था है, शरणागति है वह रणमें, वनमें, एकान्तमें, भीड़में-सभी जगह शरणागति ही जीवकी रक्षा करती है-यह भागवत-सिद्धान्तकी विशेषता है। इस सिद्धान्तमें कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर हमारी रक्षा न करते हों।

आपको थोड़ी गोपियोंकी चर्चा तो सुनानी ही पड़ेगी, क्योंकि उसके बिना तो भागवत पूरा ही नहीं होता है।

यशोदा माताका प्रेम स्नेह-प्रधान है। ग्वालवालोंका प्रेम मैत्री-प्रधान है और गोपियोंका प्रेम समर्पण-प्रधान है। गोपियोंके प्रेममें कई प्रकारकी विशेषताएँ हैं-

एक तो गोपियोंमें प्यास होती है, मिलनके पूर्व और दर्शनसे तृप्ति होती है। दूसरी बात यह है कि वे वंशीकी ध्वनि और सौन्दर्यका निरीक्षण करती हैं और तीसरी-श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए वे व्रत करती हैं।

मनुष्यके मनमें कुछ पानेकी इच्छा हो और वह उसके लिए कुछ करे नहीं तो वह उसे कैसे पा सकता है? एकने कहा-महाराज! हम तो ईश्वरकी प्राप्तिके लिए क्या कर सकते हैं? जब ईश्वरकी मुझसे मिलनेकी इच्छा होगी, तब वह हमारे पास आ जायेंगे। माने हमारी इच्छा नहीं है, उसीकी इच्छा होनी चाहिए। तो जो किसी भी उत्तम वस्तुकी प्राप्तिके लिये 'संयोग' पर छोड़ देता है या उसकी इच्छा पर छोड़ देता है उसके मनमें प्यास कहाँ है? उसके मनमें लालसा कहाँ है?

प्रेममें तो लालसा होती है। उसके मनमें एक तो आशा बँधती है कि हमारे प्यारे मिलेंगे और जल्दी मिलें ऐसी उत्कण्ठा होती है और जिसके मनमें मिलनेकी इच्छा होती है उसको शान्तिसे बैठने नहीं देती, वह मिलनेके लिए प्रयत्न करता है। इसलिए गोपियाँ बहाना बना-बनाकर श्रीकृष्णके दर्शनके लिए जाती हैं। गोपियोंने श्रीकृष्ण प्राप्तिके लिए प्रयत्न किया-कात्यायनी देवीकी पूजा की, वहाँ श्रीकृष्ण पहुँच गये।

श्रीकृष्णने कहा कि जाकर हम यह देखें तो सही की ये हमारा अन्याय सहन कर सकती हैं कि नहीं? प्रेमके मार्ग पर चलने पर प्रियतमका अन्याय भी प्यारा लगता है।

सीधी बात यह है कि गोपियोंका प्रेम है तो श्रीकृष्णके अन्यायको वे नहीं देखती हैं, वे श्रीकृष्णके प्रेमको देखती हैं। श्रीकृष्णने देखा कि गोपियोंने अन्तमें कह दिया-'हम तुम्हारी दासी हैं। प्यारे श्यामसुन्दर! तुम जो कुछ कहोगे, उसे हम करनेको तैयार हैं।'

तो, भगवान्के द्वारा गोपियोंका समाकर्षण और गोपियोंके द्वारा संन्यास। धनका संन्यास, अपने कुलधर्मका संन्यास, अपने सगे-सम्बन्धियोंका संन्यास और अपने अंगके सौन्दर्यका संन्यास, अपने भोजनका संन्यास, अपने लोक-परलोकका संन्यास। जो ईश्वरको प्राप्त करना चाहता है उसकी दृष्टि कहीं छोटी-मोटी बातमें लगी रह जायेगी तो उसको ईश्वरकी प्राप्ति कैसे होगी?

(मानव जीवन और भागवत धर्म-पृ. 258,264,265,266,267)

आप अपने मनको भगवान्‌के स्मरणमें लगाइये

जब जीव भगवान्‌के ध्यानमें मग्न हो जाता है, तब भगवान् भी जीवके ध्यानमें, भक्तके ध्यानमें मग्न हो जाते हैं। यह बात सर्वथा आपके जीवनमें, आपके अनुभवमें आने योग्य है–चाहे आपके मनमें कितना भी दु:ख हो, इस समय भी चाहे आपके मनमें दु:ख हो, इसी मिनटकी बात, जब मैं बोल रहा हूँ–तभी आगे-पीछे की नहीं। आपको पराजयका दु:ख हो, गृहस्थीका झगड़ा हो, पैसेका दु:ख हो, मृत्युका डर हो आप एक मिनटके लिए भगवान्‌का ध्यान कीजिये, आप इस जगत्‌से सम्बन्ध तोड़कर अपने मनका एक दिव्य सम्बन्ध, दिव्य जगत्‌से जोड़कर बनाइये। आपके हृदयमें खड़े-खड़े मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं–आप केवल एक मिनट तक इसका चिन्तन कीजिये-मैं दावेके साथ यह बात कहता हूँ कि यदि आपने इस एक मिनटमें ध्यान किया तो आपके हृदयमें एक मिनट तक कोई दु:ख नहीं रहा और जब आप एक मिनट तक अपने हृदयके दु:खको भगानेका उपाय जानते हैं तो आप पाँच मिनटके लिये भी जानते हैं, और पाँच घण्टेके लिए भी जानते हैं। आप अपने मनको भगवान्‌के स्मरणमें लगाइये।

मनमें वैराग्य न हो और कोई करोड़ दफा 'नेती-नेती'का जप करे उसका दु:ख दूर नहीं हो सकता। मैं अद्वैत-वेदान्तके रहस्यको जानता हूँ। मैं खुली सभामें यह बात कहता हूँ। 'नेति-नेति' कोई मन्त्र अथवा जादूका खेल नहीं है–वह तो विरक्त हृदयमें दृश्यमान् प्रपञ्चका निषेध जब होता है तब वह दु:खसे छुड़ा देता है और सुखका साक्षात्कार होता है–प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वके ज्ञानसे।

परन्तु, आप पाँच मिनटके लिए श्रीकृष्णका नाम लीजिये, भगवान्‌का नाम लीजिये, भगवान्‌का स्मरण कीजिये–आपके हृदयमें परिवर्तन करनेवाला, दिलमें जो दुनिया भरी है उसको निकाल फेंकने वाला यदि कोई पदार्थ है तो वह है–भागवत धर्म।

भागवतधर्मका सिद्धान्त बताता हूँ–धर्मानुष्ठान करनेवाले अन्त:करणकी योग्यताकी दृष्टिसे धर्ममें भेद होना चाहिए–इसको अधिकारी भेद कहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें यह बात कही गयी–जिसके अन्त:करणमें वैराग्य है, उसके लिए दूसरे प्रकारका धर्म और जिसके अन्त:करणमें राग है उसके लिए दूसरे प्रकारका धर्म। अन्त:करणकी स्थितिके अनुसार जब साधन होता है तब वह साधन शीघ्र-से-शीघ्र सिद्ध हो जाता है। कई साधन तो ऐसे हैं जो एक क्षणमें सिद्ध हो जाते हैं–यदि वे अधिकारीके अन्त:करणके साथ बिलकुल ठीक-ठीक बैठ जाँय।

अधिकारी चाहनेवाला होना चाहिए–वह सचमुच ईश्वरको चाहता है क्या? और सचमुच जिस चीजको चाता है उसके अनुभवका सामर्थ्य-वृत्तिका परिपाक इसके अन्त:करणमें है क्या? और जो बात कही जाती है, क्या उसको समझता है? कहीं वह निषिद्ध अधिकारी तो नहीं है–इन बातोंको ध्यानमें रखकर मनुष्यको धर्मका उपदेश होता है।

(मानव जीवन और भागवत धर्म-पृ. 27,28,29)

प्रेमका स्वरूप

प्रेममें जानकारीकी जरूरत नहीं रहती है। भगवान्‌को आपकी जानकारीसे लगाव नहीं है। भगवान् तो प्रेम-भावका भूखा है। आपके हृदयके प्रेमसे निहाल होकर वह अपने ज्ञानस्वरूपको निरावरण करता है। आपकी समझदारीकी सफलता तो यही है कि आप अपने हृदयके प्रेमको शाश्वत सुखालय भगवान्‌की ओर उन्मुख करें। अनजान तो वही है जो अन्तःकरणके प्रेमको शाश्वत दुःखालय संसारोन्मुख करता है।

भगवत्-प्रेमकी महिमा अद्भुत है। देखो! हमको डायबिटीज (diabetes) है। पच्चीस वर्षसे अधिक हो गया है। अब कई लोग ऐसे भी हैं; जिन्हें हमसे प्रेम तो बहुत है, लेकिन उन्हें हमारी डायबिटीजके बारेमें जानकारी ही नहीं है। उन्हें पता ही नहीं है कि हमें शक्कर नहीं खानी चाहिए। वे तो बड़े प्रेमसे हमारे लिए मिठाई लेकर आते हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि मिठाई हमें नुकसान करेगी। जब हम उनकी मिठाई खानेसे इन्कार करते हैं, तब कहते हैं-'महाराजजी! हमने यह मिष्ठान्न अपने घरमें बनाया है। अपने हाथसे बनाया है। इससे आपको जरा भी नुकसान नहीं होगा। हम उनका मिष्ठान्न थोड़ा-सा खा लेते हैं।

जब मनुष्यके हृदयमें ऐसी प्रेमवृत्ति होती है, तब भगवान् उसके प्रेमके सामने उसके अन्जानपनेकी परवाह नहीं करते हैं। मान लो कि भगवान् उससे कहते हैं-'जा! जा! तू तो हमारे बारेमें कुछ जानता ही नहीं है। तुझे मालूम ही नहीं है कि मुझे डायबिटीज है, ब्लडप्रेसर है, हार्ट ट्रबल है। अरे भलेमानुष! तेरे घरमें यह मिष्ठान्न बना है तो क्या हुआ? तूने स्वयं इसे अपने हाथसे बनाया है तो क्या, इसमें-से शक्कर लुप्त हो गयी है? न! न, हमें डाक्टरोंने तेल-घी-शक्कर-दूधके लिए मना किया है। हम तेरे विनय-प्रार्थना सुनें या अपने सिरपर सवार डाक्टरोंकी सलाह सुनें। जा बाबा! जा यहाँसे। तुझे हमारे बारेमें तनिक भी जानकारी नहीं।'

भला बताओ! ऐसा बोलना भगवान्‌के प्रेमके स्वरूपके अनुरूप होगा? प्रेम ही एकमात्र बन्धन है, जिससे भगवान् बँधते हैं। भगवान्‌को आपकी पूरी-कचौड़ी-मालपूओंसे प्रेम नहीं है। भगवान्‌को आपके रसगुल्ले-गुलाबजामुनसे कुछ प्रयोजन नहीं है। वस्तुसे भगवान् नहीं रीझता। प्रेमसे भगवान् प्रसन्न होता है। अरे बाबा! भगवान् यह नहीं देखते हैं कि जीवात्माने हमारे बारेमें जानकारी प्राप्त की है या नहीं! भगवान् देखते हैं कि यह हमारे लिए प्रेमसे लाया है। जीवात्माको परमात्मा अज्ञात है, इसका क्या उलाहना है? क्या प्रेम कुछ नहीं है? क्या ज्ञान ही सब कुछ है? नारायण!

हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेमसे प्रकट होय, मैं जाना।

भगवान्‌की भक्ति आवश्यक

आपको पुत्र-जन्मके अवसर पर, धन-लाभके अवसर पर, जैसा आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द भगवान्‌की चर्चा सुनकर हृदयमें होने लगे, आँखोंमें आँसू आ जाँय, शरीरमें रोमाञ्च होने लगे कण्ठ गद्‌गद हो जाय, हृदय द्रवित हो उठे तो समझिये कि आप भक्तिकी ओर अग्रसर हो रहे हैं।

प्रह्लादने इसका विज्ञान बताया है।

मनुष्यका जो मन है, यह संसारके मोहसे संसारकी ममतासे और संसारकी वस्तुओंको पकड़कर कठोर हो गया है। जब हम अपने हाथसे किसी चीजको पकड़ते हैं तब हमें अपनी मुठ्ठीको कठोर बनाना पड़ता है इसी तरह जब हम दिलसे दुनियाकी चीजोंको पकड़ते हैं तब उनको पकड़कर रखनेके लिए हमको कठोर बनना पड़ता है, अपने हृदयको कठोर बनाना पड़ता है। अतः मोह-ममताके कारण हमारा हृदय कठोर हो गया है; इसमें काम-क्रोधके कंकड़-पत्थर भर गये हैं; इसमें वासनाओंकी घास उग आयी है! इसलिए इसको नरम करना पड़ता है।

हमारा हृदय नरम कब होगा?

जब हमारे हृदयमें भगवान्‌के लिए कोई वेदना, कोई पीड़ा, कोई आँच पैदा होगी! कोई भी कठोर चीज जैसे सीसा, ताँबा आदि तब पिघलता है जब उसको गर्मी दी जाती है। इसलिए जब भगवान्‌के विरहका ताप हृदयमें जागेगा तब हमारा हृदय द्रुत हो जायेगा, पिघल जायेगा और जब हृदय द्रुत हो जायगा तब उसमें वासनाका, राग-द्वेषका जो रङ्ग है वह भस्म हो जायगा! फिर उस कोमल हृदयमें भगवान्‌का आकार प्रकट होगा और जब भगवान्‌का आकार प्रकट होगा तब हमारा हृदय भगवदाकार हो जायेगा।

फिर क्या होगा?

जब हमारा हृदय भगवदाकार हो जायेगा तब संसार और वासनासे विनिर्मुक्त होकर जो सम्पूर्ण प्रमाणोंसे परे हैं जो इन्द्रियजन्य ज्ञानसे परे है; उस परमात्माका साक्षात्कार हो जायेगा।

इसलिए संसारमें जो हमारा हृदय कठोर हो गया है, उसको कोमल बनानेके लिए भगवान्‌की भक्ति आवश्यक है।

(भागवत व्यञ्जन-पृ. 122-124)

'मामेकं शरणं व्रज'

जबतक जीव यह नहीं कहता है कि–'त्वमेव शरणं मम'; तब तक ईश्वर भी यह नहीं कहता है–'मामेकं शरणं व्रज'। जब भगवानके सिवाय अन्य कोई आश्रय नहीं रहता है, तब भक्त पर भगवान्‌की कृपा बरसती है, तब तो पूछना ही क्या है?

भगवान्‌के कृपा-प्रसादसे भक्तका मोह नष्ट हो जाता है। उसे निरन्तर स्मृतिरूप तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसके मनमें कोई सन्देह नहीं रहता। वह भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करता है। भक्तका जीवन भगवानका इच्छा-यंत्र मात्र बन जाता है।

जहाँ केवल भगवान् ही भगवान् हैं, वहाँ अमङ्गलकी कोई शंका नहीं है। जहाँ भक्तका उत्साह-पूर्ण अभियान है और भगवान् भक्तके जीवन-साधनके प्रेरक, प्रवर्त्तक, निर्वाहक और फलदाता हैं, वहाँ निश्चित रूपसे लक्ष्मीका निवास है, विजय-वैभव है और शाश्वत नीति है। जहाँ भक्तकी भगवानके प्रति अनन्य-शरण-वरण है, वहाँ सचमुच सम्पूर्ण मङ्गल-सुख और शान्तिका निवास है।

अब हम आपको अपने बारेमें एक बात सुनाते हैं। यदि कोई हमारी शरणमें आता है, तो हम उसकी अनन्यताके बारेमें पता लगाते हैं। जब कोई हमसे सलाह लेनेके लिए आता है तब हम उससे कहते हैं–'देखो, तुम अपनी बुद्धिसे सोच-विचारकर काम करो।'

अच्छा! यदि वह बोलता है–'महाराज! मेरी बुद्धि काम नहीं करती है। मेरी समझमें कुछ नहीं आता है। तो, हम उसको कहते हैं–'देखो! एक बहुत समझदार सज्जन फलाँ-जगह रहते हैं। तुम उनके पास चले जाओ। उनसे सलाह ले लो।'

यदि इतना सब कहनेपर भी उसे सन्तोष नहीं होता है और वह कहता है–'महाराज! आपके सिवाय मेरे लिए और कोई आश्रय नहीं है। बस! मेरे लिए तो केवल आप ही एकमात्र शरण्य हैं।'

तो, हम कहते हैं–'अच्छा! ऐसा है? तुम तो अनन्य शरणागति-भावसे हमारे पास आये हो। देखो! नारायण! अब तुम उदास-निराश मत होओ। अब तुम दुःखी मत होओ। तुम एकदम प्रसन्न रहो। तुम बिल्कुल बेफिक्र होकर आनन्दमें रहो। हम अभी तुम्हारी फिक्रको फाँककर फकनी कर देते हैं। जाओ! निश्चिन्त होकर मौजसे रहो। सुखपूर्वक विचरण करो। अब तुम मेरे हो। अब तुम्हें काहेका डर और काहेकी चिन्ता? यह हुआ-'मामेकं शरणं व्रज।' असलमें, अनन्य-शरण-ग्रहण किये बिना ईश्वरकी कृपा-अनुग्रह शक्तिका पूर्ण प्राकट्य नहीं होता है। पूर्णरूपसे शरणागत होने पर भी ईश्वर-कृपाकी छत्र-छायाका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है।

(आनन्द बिन्दु-पृ. 38,39,40,41)

शरणागतिकी विलक्षणता

यह संसारमें जितना लौकिक और वैदिक व्यवहार है, उसका नेता ईश्वर है, वही इसका संचालन करता है, अन्तर्यामी है। वह भीतर रहकर लोगोंको ठीक रास्ता बताता रहता है। जब हम उसकी आवाज सुनना बन्द कर देते हैं, तब भटक जाते हैं।

बात यह है कि जब उसकी आवाज मनमें होकर बाहर आती है, हमारे कान तक पहुँचती है, तो ईश्वरकी आवाज–हमारा मन–और फिर हमारी श्रवण शक्ति है। तो होता क्या है कि हमारे मनमें जो वासना होती है, वह ईश्वरकी आवाजमें लिपट जाती है। ईश्वरने कहा कि यह काम मत करना। अब हमारे मनमें वह काम करनेकी बड़ी वासना है। मन तो उद्विग्न है। तो जो ईश्वरने कहा कि मत करना, उसमें 'मत' सुनायी नहीं पड़ेगा और यह सुनायी पड़ेगा कि 'करना'। क्यों? ईश्वरने तो कहा कि मत करना। पर, हमको वह वासनाके वेगमें सुनायी नहीं पड़ेगा!

हमको ईश्वरकी आवाजकी पहचान नहीं है। क्या पता लगे कि यह वासनासे मिलकर ईश्वर बोल रहा है कि खालिस, शुद्ध ईश्वर बोल रहा है? यह लोगोंकी बोलती है वासना और नाम लेते हैं ईश्वरका। एक सज्जनको मैं जानता हूँ–वह चिट्ठी निकालते हैं कि यह काम करें कि न करें? तो जैसे उनका ख्याल है कि हम बनारस जायें। तो चिट्ठी निकाली तो 'न' आगयी। तो बोले, फिर दुबारा डालेंगे। अब क्या हुआ कि दुबारा भी 'न' आगयी। तीसरी बार डालने पर भी 'न' आगयी। तब अन्तमें क्या हुआ। बोले भाई कि ईश्वरकी तो 'न' आगयी; लेकिन ईश्वरसे बड़ा कौन है? संत है। तो चलो संतसे पूछें! यह देखी हुई बात आपको बता रहा हूँ। आखिर संतसे जाकर पूछा तो संतने कहा कि बाबा, जब तीन बार ईश्वरकी कही तुमने नहीं मानी और हमसे पूछने आये तो तुम जरूर जाओ। माने अब तुम्हारी वासना इतनी प्रबल है कि वहाँ ईश्वर काम नहीं देता है भला!

तो ये जीव जो हैं, ये कम चतुर नहीं है। इनकी शरणागति भी वासनासे अनुप्राणित होती है।

शरणागतिका सिद्धान्त बहुत विलक्षण है। आपको क्या सुनावें? यह जब तक छोटा 'अहं' बना रहता है तबतक यह अपनी वासना अलग और अपना काम अलग चलाना चाहता है और शरणागति तब होती है जब व्यष्टि अहं शान्त होकर समष्टि अहंमें स्थित हो जाता है। माने जीवके व्यक्तित्वका जो अहं है, वह शान्त होकर और सम्पूर्ण विश्व–समष्टिके अहं ईश्वरमें जाकर मिल जाय, शान्त हो जाय। तो उस समय क्या होता है कि समूची समष्टिका बल मनुष्यके अन्तःकरणमें उतर आता है। उस समय ईश्वरका बल जीवका बल हो जाता है। यह अहंकारका शान्त हो जाना, मनुष्यके जीवनमें एक अद्भुत घटना है। हर हालतमें व्यष्टि अहंकार शान्त होगा, तो समष्टि अहंकी सारी शक्ति, तुम्हारी ओर दौड़ पड़ेगी और तुम्हारे जीवनमें प्रकट हो जायेगी।

(गर्भ-स्तुति-पृ. 18,20,21,23,24)

गुरुजनोंकी कृपा-विलक्षण!

भगवान् के साथ ऐसा प्रेम बाँधो कि वह कोई चीज लेने-देनेसे न टूटे, कोई काम करने, न करनेसे न टूटे। कर्मके अधीन मत रखो उसको। वस्तुके अधीन मत रखो उसको। भावके अधीन मत रखो!

पक्के हो जाओ कि हमारे भगवान्, हम भगवान्के!

बिना ममत्व एकत्व न होई।

बिना ममताके एकता नहीं होती। पक्के बैठ जाओ!

प्रभुजी, मैं तेरा, तू मेरा।

इसीको 'बद्ध सौहृद्' बोलते हैं। गाँठ बाँधकर बैठ जाओ कि हमारा तो तुम्हारे ऊपरसे विश्वास नहीं हटेगा।

आपने सुना होगा—श्री गुरु साहिबके कोई भक्त थे। ब्याह हो रहा था उनका। उस समय गुरु साहिबकी आज्ञा मिली कि तुम हमारे पास आ जाओ। और लड़कीका हाथ-हाथमें नहीं लिया, आधा ब्याह छोड़कर वे दौड़ पड़े गुरु साहिबका दर्शन करनेके लिए! गुरु साहिब दूर थे। अब इतना तो प्रेम उनका कि ब्याहको बीचमें छोड़ दिया। लेकिन रास्तेमें जहाँ जाकर ठहरे, वहाँ एक वेश्याका घर था। रातको उनके मनमें कामका उदय हुआ और वेश्याके घरमें जानेको तत्पर हो गये। तो जब गये तो क्या देखते हैं कि दरवाजे पर एक आदमी डण्डा लेकर खड़ा है, भागो यहाँसे, अभी मौका नहीं है, अभी मौका नहीं है। ऐसे रात बीत गयी। अब भगतजी फिर दौड़े और गुरु साहिबके पास पहुँचे। बोले कि महाराज, मैं ब्याह आधे परसे छोड़कर भाग आया। तो गुरुजी हँसने लगे। उसने पूछा कि महाराज, हँसते काहेको हो? बोले कि भाई, रातभर डण्डा लेकर आज वेश्याके दरवाजेपर खड़ा रहना पड़ा है! इसका क्या मतलब है? गुरु रूपमें भगवान्ने बचाया उसको! उनसे इतना प्रेम है कि उनके लिए शिष्यने ब्याह छोड़ दिया। तो गुरुका इतना प्रेम है कि रातको लेकर डण्डा जागते हैं।

मैंने देखी है ऐसी बात। हमारे जीवनमें ऐसी घटना घटित हुई है कि जहाँ हम अकेले थे, जहाँ कोई रक्षा करनेवाला नहीं था और जब याद किया, तो चलती ट्रेन रुक गयी। आपको अपने जीवनकी सच्ची घटना बताता हूँ—चलती हुई ट्रेन खड़ी हो गयी और उसमें महात्मा नीचेसे चढ़ आये और यह ख्याल नहीं था कि वे सौ-दो सौ मीलके भीतर होंगे। तो आपको यह बताया कि यह जो विश्वास है न मनुष्यके चित्तमें और यह जो गुरुजनोंकी कृपा है, विलक्षण है!

जब सरकार मिल जायेंगे तब क्या होगा?

जबतक हमारे हृदयमें धर्मानुष्ठान नहीं आवेगा, प्रपञ्चसे वैराग्य नहीं होगा, भगवान्‌की भक्ति नहीं आवेगी, अन्तःकरणशुद्धि नहीं होगी, उपनिषदोंके तात्पर्यका अनुसन्धान नहीं होगा, तबतक परमेश्वरका वास्तविक साक्षात्कार नहीं होगा। कल्पित साक्षात्कार तो कहीं भी हो सकता है; पर हम उसकी बात नहीं करते।

वास्तविक साक्षात्कार कब मिलेगा? यह बिलकुल एक-एक कड़ी-जुड़ी हुई है : सन्ध्या-वन्दनसे लेकर यज्ञोपवीत धारण करनेके बाद ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त इसमें एक कड़ीको भी जो अलग कर देता है, उसकी सीढ़ी टूट जाती है।

एक बात आपको सुनाते हैं-बड़ी मीठी है। मैं एक महात्माके पास गया और यही प्रश्न मैंने उनसे किया कि जब सरकार मिल जायेंगे तब क्या होगा? यहाँ वृन्दावनमें युगल सरकार बोलते हैं; अयोध्याजीमें भी सरकार बोलते हैं।

तो उन्होंने कहा कि देखो, महलके दरवाजे तक तुम ठीक-ठीक श्रृंगार करके जाओ और फिर किवाड़ी खटखटाओ; जब किवाड़ी खुल जाय और महलका जो मालिक है वह तुमको भीतर लेकर किवाड़ी बन्द कर ले, उसके बाद वह तुमको नंगा करता है कि तुमको भूखा रखता है कि मारता है, कि महलमें बिठाता है, तुमको प्रेयसी बनाता है कि दासी बनाता है इससे तुम्हारा क्या मतलब? तुम हमसे बस इतना ही पूछो कि महलके किवाड़ कैसे खुलते हैं? यह किवाड़ खुल जाने दो फिर भीतर जानेके बाद उसकी मर्जी होगी सो करेगा; उसके पास तो हम जा ही रहे हैं। भीतर जानेके बाद तुम कोई शर्त लिख-लिखकर कि देखो हम तुम्हारे पास आये हैं तो इस शर्तके अनुसार तुमको रखना पड़ेगा, यह उसके सामने कोई शर्त मत रखो। अब, जब ब्याह करके सुहागरात मनानेके लिए अपने प्रियतमके कमरेमें पहुँच गये तब वह क्या करेगा-क्या नहीं करेगा, इसका क्या पता है? और यदि उसमें कुछ परहेज हो तो बाबा किवाड़ी खटखटाओ मत और चुप रहो; तब उससे छेड़छाड़ मत करो-यह बात हमको एक महात्माने सुनायी थी।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज बोलते थे—भक्ति, सर्वोपकारि, सर्वोपयोगी, सर्वावस्थानोपयोगी, बल्कि जीवन्मुक्तके जीवनमें रहे तो उसकी जीवन्मुक्तिके सुखको चार-चाँद लगा देती है।

परन्तु यदि यह कहो कि भक्तिके आगे परमेश्वर भी नहीं है तो तुम अपने ही सिद्धान्तसे च्युत हो जाते हो। भक्तिसे बड़ा कौन? परमेश्वर!—यह उड़ियाबाबाजी महाराजका स्पष्ट मत था।

सबसे कीमती चीज है अपनी आत्मा!

जो लोग जाग्रत्के दृश्योंको देखकर उनके नाम और रूप पर लुभा जाते हैं और उसीका चिन्तन करने लगते हैं। नाम-रूपमें फँसकर जिन्होंने अपने आपको जाग्रत दृश्य पर न्यौछावर कर दिया-इदं पर अहंको लुटा दिया। फलस्वरूप दुनियाकी चीजोंके लिए व्याकुल हो गये, और इतना व्याकुल हुए कि महाराज, इसके लिए झूठ बोलते हैं; इसके लिए छल-कपट करते हैं। इसके लिए बेईमानी करते हैं। इसके लिए अपनेको सताते हैं। स्वयं दु:खी होते हैं और दूसरोंको दु:खी करते हैं। किस चीजके लिए? जो केवल जादूके नाम-रूप दिखायी पड़ रहे हैं, उनके लिए!

अरे भाई, सबसे कीमती चीज है अपनी आत्मा!

अब लोग कहते हैं कि यदि आत्माको हम कीमती मानेंगे और संसारको कीमती नहीं मानेंगे, तो हम स्वार्थी हो जायेंगे। ऐसा प्रश्न कई लोगोंके मनमें उठता है। उसका समाधान आप अपने ध्यानमें बैठा लो। हम जो 'आत्मा' कहते हैं, वह किसी साढ़े तीन हाथके शरीरमें बँधी हुई चीजको नहीं कहते। वेदान्तियोंने क्या किया कि 'स्व' अर्थात् 'आत्मा'का जो प्रतिपादन किया, वह इतने बड़े रूपमें किया कि समूची सृष्टि उसका शरीर हो गया। समूची सृष्टि जिसका शरीर है, स्वप्न-जाग्रत् जिसका शरीर है, उसका सुख-स्वार्थ तो सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका सुख और स्वार्थ होता है।

अब यदि विचार करके देखो कि जो लोग अपने आपको कीमती माननेवाले हैं अर्थात् 'परिच्छिन्न आत्मवादी' हैं एवं जो लोग सृष्टिको सत्य मानते हैं-ऐसे लोगोंके जीवनमें मानसिक द्वन्द्वके उपस्थित होने पर वे स्वयंके सुख-स्वार्थके लिए, सत्य-ईमानदारी छोड़कर दूसरेका नुकसान करनेके लिए तैयार हो जाते हैं और सृष्टिकी हिंसा कर देते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि जहाँ व्यक्तिगत 'स्व'को महत्त्व देते हैं, वहाँ सृष्टिकी उपेक्षा और हिंसा होती है और इसपर विजय प्राप्त करना, संसारमें बड़ा कठिन देखा गया है।

परन्तु जहाँ 'मैं' अपरिच्छिन्न होता है, पूर्ण होता है, परमात्मासे एक होता है-वहाँ पक्षपात नहीं, हिंसा नहीं, झूठ नहीं, बेईमानी नहीं। वहाँ तो अपनी आत्मा शुद्ध और अपना जीवन भी शुद्ध हो जाता है। इसलिए व्यक्तिगत अहंको महत्व देनेसे जो हिंसा है, उस हिंसासे बचानेका बड़ा भारी प्रयोजन इससे सिद्ध होता है कि हम अपनी आत्माकी पूर्णताको समझें।

(माण्डूक्य प्रवचन : आगम प्रकरण-पृ. 330,331,332)

हमारा अनुभव!

हम आपको अपना एक अनुभव सुनाते हैं। हमको छोटेपनमें इस बातसे बड़ा लाभ हुआ है। देखो, यह अन्तःकरण और देह इन दोनोंमें आप, अपनेको मत मिलाओ। यह अहंकार सहित देह पृथक् चेष्टा कर रहा है, इसको आप देखते रहिये। एक बात, केवल एक बात ध्यानमें रखिये–अन्तःकरण और देहको चिदात्मा मत मानिये। आप तटस्थ, कूटस्थ असंग, उदासीन द्रष्टा, साक्षी सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश चिदात्मा हैं। अपने आपको अहंकारके साथ बिलकुल मत मिलाइये। और, अन्तःकरणकी जो स्थितियाँ हैं, उनको अपने साथ मत जोड़िये। यह अहंकार सहित देह पृथक् चेष्टा कर रहा है और इसको आप देखते रहिये। ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ कभी तेज होंगे तो कभी मन्द होंगे, कभी घुटनेमें दर्द होगा कभी बलवान होंगे, कभी अन्तःकरण शान्त होगा, कभी नहीं होगा।

बोले–'महाराज इच्छा होती है।'

देखो, अब आपको सुनाते हैं–जब इच्छा हो तो यह मत कहो कि यह इच्छा हमको हुई और हमको परेशान करती है। आप यह कहो कि पूर्व-पूर्व वासनाके जो संस्कार हैं, उसके अनुसार इच्छाका उदय हुआ और संस्कारका वेग समाप्त होते ही वह इच्छा समाप्त हो जायेगी। न मैंने इच्छा की, न वह इच्छा मुझमें है; और न इसका कोई परिणाम, इसका कोई नतीजा मेरे साथ जुड़ सकता है।

तो नारायण, जैसे आप घड़ीको देखते हैं, वैसे अन्तःकरण सहित इस देहपिण्डको देखिये। यह अन्तःकरण सहित देहपिण्ड वैसे ही है जैसे घड़ी पिण्ड है।

तो, देखो बात केवल इतनी है कि आपके अन्तःकरणमें जो अहंकार काम कर रहा है, उसको और बुद्धि, मन एवं चित्त, प्राण सहित–ये एक मेज पर रखी घड़ीकी तरह पृथक् पिण्ड है–ऐसा ध्यान करो–'न यह मैं और न यह मेरा।' इसको देखते रहिये। बोले–घड़ी बन्द हो गयी। हो जाने दो। बन्द होना माने मर जाना। घड़ी चल गयी। चलने दो कोई हर्ज नहीं। जब तुम्हारी है ही नहीं, तो बन्द है कि चल रही है, इससे तुमको क्या मतलब? बोले–'गलत चल रही है। कुछ आगे बढ़ गयी अथवा कुछ पीछे हो गयी–इससे तुम्हारा क्या मतलब? यह तो रास्ते पर चलते हुए किसी दुकानकी दीवाल पर घड़ी लगी दिखती है, ऐसे ही यह भी एक घड़ी है। बोले कि नहीं दूसरेकी जैसी हो सो हो, हमारी ऐसी रहनी चाहिए!

बोले–'बस, बस! पकड़े गये! इसीका नाम तो ग्रन्थी है।' तुमने अपनेको अर्थात् चिदात्मा स्वयंप्रकाशको इस अहंकी, देहकी घड़ीसे मिला दिया। 'अन्तःकरण-देह-मेरा' यह ग्रन्थि है। अन्तःकरण सहित देह दृश्य है, आप उसमें अपनेको मत घुसाइये। उसको सिर्फ देखते रहिये। 'यह अन्तःकरण मेरा, यह देह मेरा'–इस ग्रन्थिको भेद दीजिये। असलमें यह ग्रन्थि है नहीं। सिर्फ मानी हुई है।–यह 'ध्यान', आपके जीवनमें, ज्ञानके आविर्भावमें एवं अज्ञान निवृत्तिमें मददगार है, यह हमारा अनुभव है!

(ध्यान और ज्ञान : पृ. 238-241)

बन्द किवाड़ कुल जायेंगे!

(1)

निषेधशास्त्रका अवलोकन करें—यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं। परमात्माको बतानेकी तरकीब यही है।

एकबार एक सज्जनने कहा कि हम ईश्वरको तो पहिचानते ही नहीं हैं। इसलिए कोई झूठ-मूठ ही आकर कह दे कि हम ईश्वर हैं, तो हमको धोखा देगा न। कैसे हम बचेंगे?

जिस महात्मासे बातचीत हो रही थी, उन्होंने कहा कि अच्छा, तुम ईश्वरको नहीं पहचानते! मनुष्यको तो पहचानते हो न?

'हाँ, मनुष्यको तो पहचानते हैं।'

'अच्छा, तो तुम मनुष्यको ईश्वर मत मानना। माने यही ईश्वरको पहचाननेकी तरकीब होगी कि जिसको ईश्वरसे भिन्न समझते हो कि यह ईश्वर नहीं है, उसकी ओरसे अपना मन हटाओ।'

हम यह नहीं कहते हैं कि क्या ईश्वर है और क्या ईश्वर नहीं है! लेकिन तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारा मन, तुम्हारी आँख जिस चीजको ईश्वर नहीं मानती, उसकी ओरसे तो अपना मन हटा लो। 'पैसेको ईश्वर मानते हो कि नहीं?' 'नहीं मानते हैं।' अच्छा, उसकी ओर से अपना मन हटाओ। अपने रिश्ते-नातेदारको ईश्वर मानते हो कि नहीं मानते हो? नहीं मानते हैं। तब तुम उधरसे मन हटाओ। अपनी बुद्धि, अपनी इन्द्रियों, अपने अहंकारको ईश्वर मानते हो कि नहीं मानते हो? नहीं मानते हैं। नहीं मानते हो तो उधरसे मनको हटाओ। तुम यह निश्चय करो कि जो-जो चीज तुम्हें ईश्वर नहीं मालूम पड़ती, उधर-उधरसे अपने मनको हटा लो। यही तो ईश्वरको पानेका उपाय है। जब ईश्वर देखेगा कि मेरे सिवाय इसको कोई दूसरी चीज भाती ही नहीं है, मेरे सिवाय इसको दूसरे किसीमें दिलचस्पी ही नहीं है तो ईश्वर तुम्हारे सामने अपनेको कबतक छिपायेगा? बन्द किवाड़ खुल जायेंगे और उसका साक्षात् अपरोक्ष हो जायेगा।

(2)

अच्छा, तो फिर इस आत्माका ज्ञान होवे कैसे? इसको जाने कैसे?

कि अरे भाई, किसीको दो हीरा पहचानना हो और वह दोनोंको सामने रख ले, तो जबतक दोनोंको देखेगा तबतक दोनोंको कैसे पहचानेगा?

जब एकको गौरसे देखेगा तो एक को पहचान जायेगा और जब दूसरेको गौरसे देखेगा, तब दूसरेको पहचान जायेगा।

एक साथ दो ऊँगुली भी नहीं दीखती है और तुम एक साथ ब्रह्म और प्रपञ्च दोनोंको पहचानना चाहते हो?

प्रपञ्चसे दृष्टि हटाओ तब ब्रह्मकी पहचान हो और जब ब्रह्मकी पहचान हो जाय तब प्रपञ्च क्या है यह मालूम पड़ जायेगा; क्योंकि यह फल-दृष्टि है। साधन दृष्टि यह है कि प्रपञ्च परसे दृष्टि हटाओ और ब्रह्मको पकड़ो।

(माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) : पृ. 468, 469), 2. कठोपनिषद् प्रवचन (भाग-1) : पृ. 386

अपने जीवनको पूर्ण बनाते हुए आगे बढ़ो!

देखो, सबेरे उठो और आज शामत तक क्या-क्या करना है, उसकी एक सूची तैयार कर लो। जब जो भी काम करो, एकको दूसरेमें मत मिलाओ। जो भी काम करो, उसमें महत्त्व बुद्धि डाल दो कि सबसे बढ़िया काम यही है। और, इसका उद्देश्य है ईश्वरकी प्रसन्नता। कल क्या किया था, यह याद करनेकी जरूरत नहीं है और इसके बाद क्या करेंगे–यह भी याद करनेकी जरूरत नहीं है। इस समय अपना सम्पूर्ण मनोयोग वर्तमान कर्ममें जोड़ दो। कर्म पूरा हो–यह अपने हाथमें नहीं है और कर्मका फल हमको मिले–यह भी अपने हाथमें नहीं है। एक क्षणमें एक ही कर्म होता है, इसलिए अपने प्रत्येक क्षणके प्रत्येक कर्ममें, अपने तन-मन-वचनकी पूर्णता, अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर, अपना सम्पूर्ण रस उसमें डालकर–उस कर्मको करो और तब उस कर्मका नाम हो जायेगा, 'ब्रह्म कर्म' (गीता 4.24)

जब हम एक काम करते समय दूसरे कामकी याद करते हैं, तब वह बेचारा पहला काम अपनेको अपमानित अनुभव करता है, सुनो, गोंडल (गुजरात)की बात है। मैं वहाँ भागवत-सप्ताह कर रहा था। भागवतसे उठने पर तुरन्त ही एक सज्जन मुझे बुलाकर अपने घर ले गये। वहाँ उन्होंने ले जाकर हमें बैठा दिया। वहाँ फल-फूल सब हमारे लिए सजा हुआ था। हमें वहाँ बैठाकर स्वयं बाहर सड़कपर चले गये। अब हम तो तीन घण्टा बोलकर आये थे। हमको भूख-प्यास आदि लगी थी, तो हमसे तो कुछ पूछा नहीं और सड़कपर चले गये। मैंने पूछा, 'क्या बात है?' तो बोले कि गोंडलके महाराजा साहब आने वाले हैं, इसलिए उनकी प्रतीक्षामें वे सड़कपर खड़े हैं। हमको उनका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। ऐसे ही जब हम एक आदमीसे बात करते हुए दूसरेकी ओर देखते हैं तो जिससे बात करते होते हैं उसका अनादर हो जाता है। एक कर्म करते समय जब हम दूसरे कर्मकी याद करने लगते हैं, तब उस कर्मकी महत्ता जो है, वह मिट जाती है। इसलिए भाई मेरे, एक तो अपने कर्मका उद्देश्य होना चाहिए, भगवान्‌की प्रसन्नता। भगवान्‌की प्रसन्नता माने सम्पूर्ण विश्वकी प्रसन्नता। किसीके लिए वह कर्म हानिकारक नहीं होना चाहिए। सबके लिए सुखदायी होना चाहिए। अर्थात् हमारे कर्मका उद्देश्य पवित्र होना चाहिए और दूसरा, कर्म करते समय, प्रत्येक कर्ममें पूर्ण-रसका अनुभव होना चाहिए, माने इसी कर्ममें भगवान् हमारे सामने प्रकट हो रहे हैं।

आनन्द डालते चलो, भगवान्‌को प्रसन्न करते चलो। भगवान्‌को प्रसन्न करते चलो, रसास्वादन करते चलो। तुम्हारा एक-एक कण, तुम्हारा एक-एक क्षण परमानन्दमय हो जायेगा। कर्म करनेकी पद्धति यह नहीं है कि हम कर्म पूरा करें या उसका फल प्राप्त करें। कर्म करनेकी पद्धति यह है कि हम ईश्वरको प्रसन्न करते हुए, रस लेते हुए और अपने जीवनको पूर्ण बनाते हुए आगे बढ़ें।

(सत्यकी खोजमें : पृ. 71, 72)

जीवन्मुक्तके लक्षण-1

व्यवहारमें अच्छे-बुरे, पापी-पुण्यात्मा और महात्मा-दुरात्माका भेद अनादिकालसे चला आया है और इसके बिना व्यवहार चल नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें हमें महात्मा और दुरात्माकी एक परिभाषा बनानी ही पड़ेगी। समाजकी सुव्यवस्था और मुमुक्षुओंके कल्याणके लिए ऐसा करना अनिवार्य है।

परन्तु; ऐसा करते समय एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए। ये लक्षण जीवन्मुक्त महात्माओंके लिए नहीं बनाये जाते; क्योंकि वे तो जैसे हैं, हैं ही। उन्हें अपने लक्षण ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। वे इन लक्षणोंके अन्दर बँधे नहीं हैं; इनसे परे, बहुत परे अनन्त स्वरूपसे विराजमान हैं।

लक्षणोंकी आवश्यकता है हम साधारण जीवोंको, जो संसारके पाप-तापसे सन्तप्त होकर एक शीतल, सुखद और घनी छायाके नीचे विश्राम करना चाहते हैं और अपनी श्रान्ति, क्लान्ति और भ्रान्ति मिटाकर सर्वदाके लिए अनन्त शक्तिके अङ्कमें सो जानेके लिए किसीके कोमल करोंकी थपथपी चाहते हैं।

परन्तु; अपनी मनमानी करनेसे ही तो हम इस मायाके भयंकर चक्करसे छूट नहीं सकते। जन्म-जन्मसे वासनाओंकी दासता करते रहनेके कारण हम वैसी ही परिस्थितिमें घुल-मिल गये हैं और उसीके आदी हो गये हैं। इसलिए जहाँ कहीं हमारी धारणाके विपरीत कोई बात मिलती है, वहीं हम उससे घृणा या परहेज करने लगते हैं। हमारी नपी-तुली बुद्धिका सत्य ही हमें सत्य प्रतीत होने लगता है और हम वास्तविक सत्यसे वञ्चित ही रह जाते हैं।

एक बात और है। कामनाओं और विषयोंके कीचड़में सड़ते-सड़ते हम ऊब उठे हैं। पापोंके, पापियोंके और उनके दलालोंके पञ्जोंमें पिसते-पिसते चूर-चूर हो गये हैं। इनके धोखे, जाल और फरेबोंसे आजिज आ गये हैं। यदि फिर उन्हींके चंगुलमें फँस जायँ और फिर कहीं दुर्गति हो तब मुक्ति और भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेका अच्छा फल मिला!

यह बात सत्य है कि जिनकी दृष्टिमें असन्त हैं, वे ही असन्त हैं; क्योंकि सन्तकी दृष्टिमें सब रूपोंमें सन्त ही नहीं प्रत्युत स्वयं भगवान् हैं। परन्तु यह बात तो हम असन्तोंकी ही है न? इसलिए हमें अब विचार करना चाहिए कि सन्त या जीवन्मुक्तकी क्या परिभाषा हो सकती है अर्थात् किन लक्षणोंसे युक्त पुरुषके पास जाकर, उसकी शरण ग्रहण करके हम अपना कल्याण-साधन कर सकते हैं। यद्यपि यह बड़े साहसकी बात है कि किसी महापुरुषको कुछ नियमोंके अन्दर बाँध दिया जाय, तथापि यह बन्धन उसके लिए न होकर जिज्ञासुओंके लिए है, अतः कोई आपत्तिकी बात नहीं है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 55,56)

जीवन्मुक्तके लक्षण-2

योगवासिष्ठमें श्रीरामके जीवन्मुक्त-लक्षण विषयक प्रश्नके उत्तरमें श्रीवसिष्ठजीने कई लक्षण बताये हैं, क्रमशः उन्हींपर विचार करें-

जो ईश्वरकी बनायी हुई सृष्टि है, वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। यह सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र, दिन-रात, ज्यों-के-त्यों भासते हैं। स्त्री-पुरुष भी ज्यों-के-त्यों भासते हैं। अपना देह और इन्द्रियाँ भी ज्यों-की-त्यों भासती हैं। वेदान्त भासनेको नहीं मिटाता है।

जो जीवन्मुक्त है, वह न लाल कपड़ेमें बँधा हुआ है, न तिलकमें बँधा हुआ है, न प्रान्तमें बँधा हुआ है। वह तो निर्बन्ध है। वह तो मुक्त है।

अच्छा! उसके अपने संस्कार भी हैं। वह अपनी रहनीसे रहता है; लेकिन, न वह अपने संस्कारके अनुसार दूसरेको चलाना चाहता है और न तो उनका गुट बनाना चाहता है। उसको सृष्टिका ज्ञान तो है; वह बेहोश नहीं है; परन्तु, उसके चित्त पर अपनी वासनाओंका-संस्कारोंका दबाव नहीं है।

आपके चिदाकाश प्रकाशमें जो विश्वसृष्टि दिखायी दे रही है, उसमें जितनी अच्छाई-बुराई है, वह सृष्टिमें-से नहीं निकलती है; अपितु वह आपकी नजरमें-से निकलती है। इसीको आध्यात्मिक दृष्टिकोण बोलते हैं।

जीवन्मुक्त अपनी स्वच्छ दृष्टिसे सृष्टिको देखता है। उसकी निर्मल-दृष्टि दिखायी देनेवाले पदार्थोंमें गुण-दोष नहीं देखती है।

एक बड़े प्रेमी गाँवके सिन्धी थे। उन्होंने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके साथ हम सब लोगोंको भोजन पर बुलाया। जब हम लोग खाने लगे, तब एककी थालीमें चावल परोसा और उसको कलछीसे चला दिया। फिर, जब दूसरेकी थालीमें चावल परसा तब उसको कलछीसे चला दिया। भला बताओ! सब जूठा हो गया है न? हाँ-हाँ! सब-का-सब जूठा हो गया। अब उनको यह बात मालूम नहीं थी। उन लोगोंके यहाँ यह संस्कार नहीं था कि इसको जूठा माना जाता है। अब महाराज! महात्मा लोग नाराज होने लगे-सब जूठा कर दिया। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज बोले-'भैया! आज तो हम सब सिन्धी हो गये। अब आओ, देखो तो सही, तुम लोगोंने पहले कभी सिन्धीपनेका मजा नहीं लिया होगा। आज इसका मजा लो।' है ना?

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने वैसे ही बैठकरके भोजन किया और हँसते हुए उसको आनन्द बना दिया। यह है-जीवन्मुक्तकी दृष्टि।

सुखके निमित्त उपस्थित होने पर उसके मुँहकी रौनक बढ़ती नहीं और दुःखके निमित्त उपस्थित होने पर उसका मुख मुरझाता नहीं है। उसकी मुखप्रभा एक-सी ही रहती है। असलमें, उसके स्वरूपकी एकरसता ही उसकी मुखप्रभा है।

(जीवन्मुक्ति-विवेक : पृ. 344,352,353,359,360,361-363,387-388)

जीवन्मुक्तिके लक्षण-3

प्रारब्धके अनुसार चन्दन-पुष्पादिके सत्कार प्राप्त होनेपर अथवा धन-जन हानि, धिक्कारादि दुःखके निमित्त उपस्थित होनेपर हर्ष या विषादसे जिसका मुख प्रसन्न या विषण्ण नहीं होता; बिना विशेष चेष्टाके जो कुछ स्वयं प्राप्त हो गया उसीमें शान्तिसे स्थित रहता है। स्वरूपमें ही स्थित रहनेके कारण जीवन्मुक्तको इन विषयोंकी प्रतीति ही नहीं होती और यदि यथाकथञ्चित् थोड़ी देरके लिए प्रतीति हो जाय तो भी ज्ञानकी दृढ़तासे हेय-उपादेय बुद्धिका अभाव होनेके कारण हर्ष और विषादके लिए अवसर मिलता ही नहीं।

यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रारब्धके द्वारा केवल सुख-दुःखके निमित्त मात्र ही आते हैं न कि उन-उन निमित्तोंके पश्चात् होनेवाले 'मैं सुखी-मैं दुःखी' भी। इसका कारण यह है कि कर्मचक्रके अनुसार घटनाएं तो घटती ही रहती हैं; परन्तु आसक्तिके कारण हम सुखी-दुःखी हो जाते हैं। जैसे प्रारब्धके कारण हमें किसी दिन भोजन नहीं मिल पाता, इतना तो प्रारब्धका काम है; परन्तु उससे हम दुःखी हों, यह आसक्तिका फल है और आसक्ति अज्ञानसे ही होती है। संसारचक्रकी गति और स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेसे ही हम किसी देश, काल या वस्तुसे आसक्ति करते हैं और दुःखी-सुखी होते हैं। जीवन्मुक्त भला इससे प्रसन्न या विषण्ण क्यों होने लगा? यही तो इसकी विशेषता है।

लोगोके देखनेमें वह राग, द्वेष, भय आदिसे युक्त पुरुषकी भाँति व्यवहार करता हुआ जान पड़ता है। अर्थात् स्नान, शौच तथा भोजनादिमें उसकी प्रवृत्ति रागके अनुरूप ही जान पड़ती है। वह सात्त्विक भोजनका ही उपयोग करता है; तामसिकता, ग्राम्य चेष्टा तथा दुःसंगका त्याग आदि द्वेषके अनुरूप कार्य भी उससे होते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार अचानक कोई सर्प आदि हिंस्र जन्तु गोदमें आकर गिर जाय तो वह उसे झटकेसे फेंककर भयके अनुरूप काम करता हुआ भी देखा जाता है। बाधितानुवृत्ति अथवा पूर्वाभ्यासके कारण व्युत्थान दशामें ऐसी बातें हो जाती हैं अवश्य; परन्तु उसके अन्तःकरणके निर्मल होनेके कारण उसमें तनिक भी कलुष नहीं आता। जैसे हम लोगोंकी दृष्टिसे आकाशमें धूल, बादल आदि आ जाते हैं; परन्तु आकाशकी दृष्टिसे वह सर्वथा स्वच्छ और निर्मल ही रहता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्तका हृदय भी सर्वदा और सर्वत्र निर्मल ही रहता है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 58,59)

जीवन्मुक्तके लक्षण-4

संसारी लोग जिनसे अपनी किसी प्रकारकी हानि होनेकी सम्भावना देखते हैं या अपने आचार-विचारसे प्रतिकूल अनुभव करते हैं, उससे उद्विग्न हो जाते हैं। मुमुक्ष लोग भी लोगोंको ईर्ष्या, द्वेष आदि से दबे हुए तथा संसारमें आसक्त देखकर उनसे उद्विग्न हो जाते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष किसीका पराया नहीं, सबका अपना होता है उससे किसीके अनिष्ट और प्रतिकूलकी आशंका ही नहीं रहती। फिर उससे कोई क्यों घबड़ाने लगा? दूसरे लोगोंकी संसारासक्ति आदि देखनेसे उसकी साधनामें बाधा तो पड़ती नहीं; क्योंकि उसकी साधना सहज है—नित्य चलती रहती है। इससे वह किसीसे भी नहीं घबड़ाता।

उसे सब कुछ प्राप्त है, इसलिए किसी वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष नहीं होता। उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं, इसलिए उसे अमर्ष नहीं होता। द्वैतमें ही भय है। दूसरोंसे ही भयभीत होना पड़ता है। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषके लिए कोई दूसरा है ही नहीं, फिर भयभीत किससे हो? वह सर्वदा आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मतुष्ट ही रहता है।

जीवन्मुक्त पुरुषके चित्तमें, सम्मान, अपमान; शत्रु, मित्र आदि नानाविध विकल्प होते ही नहीं, स्वभावतः शान्त रहते हैं। ज्ञानके पूर्वकालिक दृढ़ अभ्यासके कारण सर्वदा आत्मचिन्तन ही होता है, अतः चित्त रहनेपर भी वह निश्चिन्त ही रहता है। निरन्तर अपने एकरस परिपूर्ण आत्मतत्त्वमें परिनिष्ठित रहनेके कारण जीवन्मुक्तका हृदय सर्वथा शीतल रहता है।

ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषको, जबतक उसका शरीर दीखता है, हमलोग जीवन्मुक्त कहते हैं और उसकी शरण ग्रहण करके अपना परम कल्याण प्राप्त करते हैं। जब उसका शरीरपात हो जाता है तब वह विदेहमुक्त हो जाता है। उसके सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता।

हाँ, यह जीवन्मुक्त पद वासनाक्षय और मनोनाशपूर्वक तत्त्वज्ञानसे ही प्राप्त होता है। इनमें-से किसी एक के द्वारा नहीं। सच्ची बात तो यह है कि ये अन्योन्याश्रित हैं—बिना एकके दूसरेकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसलिए बड़ी तत्परताके साथ तीनोंका एक साथ अभ्यास करना चाहिए। निष्काम कर्म (निषिद्ध और काम्य कर्मों अथवा कामनाओंका त्याग) एवं नित्य कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा, अशास्त्रीय वासनाओंका तिरस्कार करें। भगवद्भजन द्वारा अशेष वासनाओंका नाश करके मनको भगवदाकार करें। तदन्तर मल-विक्षेप रहित विशुद्ध अन्तःकरणसे 'तत्-त्वं' पदार्थके श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा तत्त्वज्ञान सम्पादन करते हुए, आवरण भङ्ग करके, जीवन्मुक्त पदकी उपलब्धि करनी चाहिए।

इस प्रकार कर्म, भक्ति, ज्ञानकाण्डोंका सुचारुरूप से समन्वय हो जाता है और किसी मतवादका खण्डन या विरोध नहीं होता। सभीका यथास्थान उपयोग हो जाता है। इस पदको अविवाद और अविरुद्ध कहा गया है। इसी पदमें स्थित व्यक्तिको हम जीवन्मुक्त कहते हैं और उन्हींके चरणोंका आश्रय लेकर हम कृतकृत्य हो सकते हैं।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 61,62,63)

निश्चय रखिये आपको सफलता मिलेगी

कल एक सज्जन कह रहे थे कि हम बहुत वर्षोंसे प्रयत्न कर रहे हैं कि हमारे जीवनमें अमुक-अमुक दोष दूर हो जाय, पर कह रहे थे कि वे दूर होते ही नहीं है, घूम-फिरकर फिर आ जाते हैं। फिर उन्होंने यह भी कहा कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि बाल्यावस्थामें जैसा स्वभाव बन जाता है वह छूटता नहीं है।

तो देखो, मनुष्य अपने साथ एक स्वभाव लेकर आता है। यह बात तो सही है कि बड़ (वटवृक्ष)का एक स्वभाव होता है, पीपलका एक स्वभाव होता है, अंगूरका एक स्वभाव होता है, करेलेका एक स्वभाव होता है; परन्तु सिंचाईके द्वारा, खादके द्वारा, छँटाईके द्वारा, मिश्रणके द्वारा उसमें अनेक प्रकारके परिवर्तन किये जा सकते हैं।

हमारे एक मित्रने एक आमका पेड़ लगाया-धनी आदमी है, उसको वे दूधसे सींचते रहे-यह अबसे कोई तीस-चालीस वर्ष पहलेकी बात है-तो दस वर्ष तक लगातार आमका वह पेड़ दूधसे ही सींचा गया। इससे उसमें जो फल आये उनमें दूधका स्वाद आता था। वह पेड़ आमके बीजसे लगाया गया था, परन्तु उसके फलमें स्वाद आता था आम और दूधका-दोनोंका मिश्रित। कभी-कभी वे मेरे लिए भेजा भी करते थे-मैंने वह आम खाया है!

इसका अर्थ है कि यदि हम कायदेसे जीवनमें छँटाई करें, खाद दें, सिंचाई करें, सद्गुणोंका मिश्रण करें तो हमारे जीवनमें परिवर्तन हो सकता है। यह जो मनमें निराशा आजाती है कि हमारे स्वभावका परिवर्तन नहीं हो सकता, यह एक साधकके लिए उचित नहीं है। साधकके मनमें हमेशा यह होना चाहिए कि-या तो हम अपने लक्ष्यको प्राप्त करेंगे अथवा इसी काममें लगे-लगे मर मिटेंगे।

यह जो साधनमें निराशा अथवा उदासीनता आती है यह मनकी निर्बलता है, यही तो हमें गीता सिखाती है-**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ......**। भगवद्गीता 2.3

आप हृदयकी दुर्बलताको अपना स्वभाव, अपना स्वरूप न मान बैठें।

योगवासिष्ठका कहना है कि हाथ-से-हाथ दबाकर, दाँत-से-दाँत पीसकर-आप अपने साधनमें लगिये, आपको सफलता मिलेगी। आपका कोई भी कर्म, कोई भी संकल्प, विफल नहीं जायेगा-'उठिये, जागिये, कल्याणकारी कामोंमें जुट जाइये, निश्चय रखिये आपको सफलता मिलेगी, अवश्य मिलेगी।'

(दैनिक जीवनमें गीता-पृ. 117-118)

गीता, तुम मेरी मैया हो।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि'-ये सब प्राणी, सारे पदार्थ मुझमें स्थित हैं और 'न च मत्स्थानि भूतानि' अर्थात् मुझमें कुछ नहीं है। -यह परस्पर विरोधी कथन कितना अटपटा है! एक बार तो यह कह दिया कि सब मुझमें स्थित है और दूसरी बार यह कहा कि सब मुझमें स्थित नहीं है।

परन्तु यह तो साक्षात् भगवान्‌की वाणी है जो एक दूसरेके विरुद्ध प्रतीत होती हुई भी एक है। जब ज्ञान और भक्ति दोनों भगवान्‌के सामने खड़े हुए तो भगवान्‌ने कहा कि बोलो क्या कहते हो? भक्तिने कहा-सब कुछ आपमें। ज्ञानने कहा कि नहीं, आपमें कुछ भी नहीं। भगवान् बोले-तुम दोनोंकी बात सही है।

आपको याद होगा कि जब कृष्णने मिट्टी खायी थी तब ग्वालबालों और बलरामने कहा कि इसने मिट्टी खायी है। यहाँ देखो ग्वालबालोंकी नजरमें भगवान्‌ने माटी खायी तो भगवान् बोलते हैं कि हाँ खायी। 'सर्वेऽमिथ्याभिशंसिनः'-ये सब-के-सब सच बोल रहे हैं। और यशोदाने कहा कि अब बोल, तूने माटी क्यों खायी? तो अपनी नजरमें मैयासे बोलते हैं-'नाहं भक्षितवान् अम्ब'-मैया, मैंने माटी नहीं खायी। 'सर्वे मिथ्याभिशंसिनः'-ये सब-के-सब झूठ बोल रहे हैं।

यह है गीताका भगवान्! यह है भगवती गीता! गीता कामधेनु है और भगवान् कल्पवृक्ष हैं। तुम जो भी भावना लेकर इसके पास पहुँचोगे, वह पूरी होगी। गीता मातासे कहो कि माँ! हमको कुछ ड्यूटी बताओ। वह कहेगी कि बेटा कर्म करो, तुम्हारा यही कर्तव्य है। लेकिन यदि तुम्हारी रुचि कर्ममें नहीं है और तुम कहो कि मैं तो प्रेम ही करूँगा तो गीता मैया कहेगी कि अच्छा प्रेम ही करो। यदि तुम कहो कि मैं तो आँख बन्द करके योगाभ्यास करूँगा तो कहेगी कि ठीक है वैसा ही करो।

और यदि तुम कहो कि मैं तो घटाकाश, मठाकाशका प्रमाण-मूलक विचार करूँगा, उससे प्रमा होगी और भ्रमकी निवृत्ति होगी तो कहेगी कि हाँ, ऐसा ही करो। यह माँ है। जिस बेटेकी जैसी रुचि होती है उसकी वैसी ही पूर्ति करती है। इसलिए भक्त बोलते हैं कि 'अम्ब त्वामनुसन्दधामि'-गीता, तुम मेरी मैया हो। मैं तेरी ओर देख रहा हूँ। मैं तेरा अनुसन्धान कर रहा हूँ।

(गीतामें भक्ति-ज्ञानसमन्वय, पृ. 44-45)

परब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। भगवद्गीता 15.1

जिसका मूल कारण परमब्रह्म (उर्ध्व) है, जिसकी शाखाएँ नीचे अर्थात् कार्यरूपसे दृश्यमान हैं- ऐसे अश्वत्थ (संसार-वृक्ष)को प्रवाहरूपसे अव्यय कहा गया है। वेद इसके रक्षक और शोभा बढ़ानेवाले पत्ते हैं। जो ऐसे मूल सहित संसार-वृक्षको जानता है, वही वेदके वास्तविक अर्थको जानता है। 15.1 भगवद्गीता।

भगवान् यहाँ एक बात संकेत करके कहते हैं। क्योंकि परोक्ष प्रिया हि देवाः। देवता लोगोंको परोक्ष बड़ा प्यारा होता है। बातको ऐसे ढंगसे छिपाकर बोलना कि बेवकूफ तो समझे नहीं और समझदार लोग उसका मजा ले लें। खुली बात देवताओंको पसन्द नहीं है। श्रीमद्भागवतमें तो एक जगह आया है कि जब वामनावतार अदितिके सामने प्रकट हुआ तो वामन भगवान्ने कहा; देखो देवी, इस बातका पता संसारमें किसीको न चले कि मैं तुम्हारे बेटेके रूपमें पैदा हुआ हूँ।

देवताओंकी बात जितनी छिपी रहती है, उतनी वह ज्यादा सफल होती है। और, एक देवताका दर्शन हुआ और झठ किसीको कह दिया-वह देवता नाराज हो जायेगा कि अरे, इसको तो अपचका रोग है भाई!! इसको तो कोई बात छिपती नहीं है। आपको कभी अन्तरमें अथवा बाहरमें चमत्कारका अनुभव होवे तो कहते नहीं फिरना। कहते वे फिरते हैं, जिनको उससे कुछ फायदा उठाना होता है।

तो भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे एक संकेत किया-जैसे पीपल-वृक्ष वासुदेवका स्वरूप है, वैसे ज्ञान होने पर यह संसार रूप अश्वत्थ भी परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। और जैसे सम्पूर्ण ब्रह्म ही है, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण संसार परमात्माका ही विलास है। इसमें संकेत कहाँ है? संकेतका खुलासा-आगे बताते हैं :

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः 15.15 'वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ।'

अब दूसरा संकेत देखें : 'वेदविदेव चाहं' 15.15 'मैं ही वेदवित् हूँ।'

इसका अर्थ हुआ कि सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जो जाना जाता है, जो ज्ञानका विषय है, सो भी कृष्ण और जो जाननेवाला है, सो भी कृष्ण।

इसका तात्पर्य है कि वेदोंका प्रतिपाद्य परमात्मा, वेदोंको जाननेवाला प्रकाशक परमात्मा और पूर्व संकेतानुसार दृश्यमान प्रपञ्च भी (अश्वत्थ) परमात्मा है। अर्थात् परमात्मा परब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है। वही ज्ञानका विषय है, ज्ञानका आश्रय है और ज्ञान-स्वरूप है।

(पुरुषोत्तम योग, पृ. 1-17)

मनुष्य चाहे तो ईश्वरको भी प्राप्त कर सकता है

यह धर्म जो है, यह कर्म सुधारनेका मार्ग है। उपासना जो है, यह वासना सुधारकर संस्कारको सुधारनेका मार्ग है और योग मनके निरोधका मार्ग है। नारायण! संस्कारको कितना भी सुधारो, उसमें-से कभी-न-कभी वासना फूट पड़ेगी। वासनाको कितना भी सुधारो, उसमें-से कभी-न-कभी कर्म फूट पड़ेगा। और कर्मको कितना भी सुधारा, उसमें कोई-न-कोई संस्कार बन जायगा। इसलिए कर्म उपासना, योगके जो मार्ग हैं, वे संसारके आत्यन्तिक निवर्तक नहीं हैं। सर्वदा छूटनेके लिए तो-'दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया।' कर्म, वासना और संस्कार-इनको जहाँ-का-तहाँ रखकर जब ऊपर उठोगे तब इस संसारके चक्करसे छूट सकोगे। इसके लिए वैराग्य चाहिए।

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके भगवद्गीता 15.2

पिछले श्लोकमें जिस संसार वृक्षका दिग्दर्शन कराया, अब भगवान् कहते हैं : **मनुष्य लोकमें, कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले, मूल भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रहे हैं।** 'मूल' माने राग-द्वेष मूलक वासनाएँ। नीचे पाताल पर्यन्त, चींटी पर्यन्त, मच्छर पर्यन्त और ऊपर ब्रह्मा, पर्यन्त, जो वासनाओंकी जड़ें फैली हुई हैं, वे कर्मसे सींची जाती है और प्रवाहरूपसे हमेशा बनी रहती हैं और ये कर्म मनुष्यलोकमें पैदा होते हैं। क्यों? प्रकृतिमें पूर्णता केवल मनुष्यके शरीरको ही प्राप्त है और किसीको नहीं। नया-नया आविष्कार करनेकी बुद्धि केवल मनुष्यको है। नया-नया आनन्द प्राप्त करनेकी बुद्धि केवल मनुष्यको है। रसोई पकाकर ओर कोई नहीं खाता। यह कचोरी, यह समोसा, यह चमचम मनुष्यके सिवाय और कोई नहीं बनाता। कपड़ा कैसा बढ़िया बनाया। मकान कैसा बढ़िया बनाता जा रहा है। क्या मोटरकार, क्या रेलगाड़ी, क्या राकेट, क्या विमान! यह मनुष्य ही तो बनाता है। इसका अर्थ है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करनेकी बुद्धि भी मनुष्यके पास हो सकती है। इन्हीं कर्मानुबन्धी जड़ोंको असंग शस्त्रसे काटनेकी बात आगे आनेवाली है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि चाहे तो इस संसारचक्रसे निकलकर, ईश्वरको भी प्राप्त कर सकता है।

श्रीमद्भागवतमें बताया है कि एक आदमीको देखकर बताया जा सकता है कि वह कहाँसे आया है और अगले जन्ममें कहाँ जायगा। मनमें अगर गन्दगी है तो आदमी नरकसे आया है, और मनमें पवित्रता है, स्वच्छता है, निर्मलता है तो स्वर्गसे आया है।

आगे जानेकी आपकी तैयारी कैसी है? जो आगे-जीवन्मुक्त होनेवाला है, उसके जीवनमें वासनाएँ आगे कम होती जाती हैं। तो नारायण, यह जो मनुष्य जीवन है, इसीमें मुक्त होनेकी योग्यता है, भगवद्-भक्ति एवं भगवद्-प्राप्तिकी योग्यता है। इसके सिवाय और कहीं नहीं। इसीलिए 'मनुष्यलोके' पदका प्रयोग किया।

(पुरुषोत्तमयोग - पृ. 18-23)

अश्वत्थ वृक्षको काटो और परमात्माका अनुसन्धान करो

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

असत्‌को छोड़कर सत्‌में जाना है, अन्धकारको छोड़कर प्रकाशमें जाना, मृत्युको छोड़कर अमृतत्वमें प्रवेश करना है तो 'असङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा' (भ.गी. 15.3) आसक्तिके प्रसारको त्यागो। देहमें ममता है, देहके सम्बन्धियोंमें ममता है, पदार्थोंमें ममता है-यह सब संग है, इसे त्याग दो।

श्रीमद्भागवतमें आया है कि हरि और गुरुकी उपासनासे अपने हृदयकी वासनाको मिटाओ।

तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु, विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई।।

जबतक गुरुकी करुणा नहीं होती तबतक अभिमानकी निवृत्ति नहीं हुई-ऐसा समझो। क्योंकि गुरुकी करुणा और सबके ऊपर होती है, केवल अभिमानी परसे लौट आती है। गुरु सबका भला चाहता है, लेकिन अभिमानीके ऊपर वह करुणाका जो रस है, करुणाकी जो धारा है, वह टिकती नहीं है। और हरि करुणा, हरि कृपा सबके ऊपर बरसती है, लेकिन जो विषयासक्त है, उसके पास जाकर लौट आती है। कृपामें कोई कमी है? कमी नहीं है। भगवान् देखते हैं कि जब विषयोंमें यह सुखी है, तो इसको यहाँसे क्यों हटावें! यह नहीं कि भगवान्‌की करुणामें ऐसी शक्ति नहीं है।

रघुपति भगति बारि छालित चित्त, बिनु प्रयासहि छीजै।

भगवान्‌की भक्तिसे जिसने अपने चित्तको धो लिया है, उसको बिना प्रयासके ही यह चीज दिखायी पड़ती है और जिसने भगवद्भक्तिके द्वारा अपने हृदयको धोया नहीं है, जिसके हृदयमें मलिनता, विषयवासना, भोगवासना बैठी हुई है, उसको यह चीज (ईश्वर) सूझती नहीं है।

'असङ्ग शस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा गुरुपासनया शितेन'-हरि और गुरुकी उपासना करके इस वैराग्यके शस्त्रको तीखा करो और उसके द्वारा यह वासनाओंके मूल वाला, जिसकी ऊपर-नीचे बहुत सारी वासनाएँ फैली हुई हैं, ऐसे अश्वत्थ वृक्षको काटो और परमात्माका अनुसन्धान करो!

(पुरुषोत्तमयोग (सेके. एडीशन)- पृ. 25-26)

सुविरूढ़मूलम्

'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' भ.गी. 15.3। जैसा यह संसार देखनेमें आता है कि यह प्यारा है, यह सुख है, यह रसीला है, यह मजेदार है, विचार करके देखोगे तो यह सुनहला पानी ऊपर है, नीचे पीतल-ही-पीतल है। यह चामकी पुड़ियाके भीतर बड़ी गन्दी-गन्दी चीजें रखी हुई हैं। समय इसका निश्चित नहीं। बच्चेको देखो तो जवान हो गया। जवानको देखो तो बूढ़ा हो गया। बूढ़ेको देखो तो मर गया। विचार करके देखो तो जैसा संसार देखनेमें आता है, ऐसा नहीं है। क्षण-क्षणमें छीज रहा है।

कहो कि इसका अन्त होगा कहीं? ब्रह्ममें लीन होगा? 'नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' भ.गी. 15.3, अरे बाबा, यह तुच्छ संसार ब्रह्ममें लीन नहीं होगा। बन्ध्या पुत्र मरकर किसमें लीन होगा? मृग-तृष्णा (मरु-मरीचिका)का जल मरुस्थलमें लीन होगा? यह नीलिमा क्या आकाशमें कभी लीन होगी? सो यह संसार कहीं लीन होनेवाला भी नहीं। कहींसे निकला है क्या? अच्छा, वन्ध्यापुत्रके बापका नाम बताओ? 'न च संप्रतिष्ठा'-यह अपने अधिष्ठानमें अध्यस्त है। अधिष्ठानमें इसकी कोई सत्ता ही नहीं है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते। (भागवत 11.22.55)

पर, न होने पर भी यह संसार निवृत्त नहीं होता। क्यों नहीं होता?

'सुविरूढ़मूलम्' भ.गी. 15.3, जब देखो, तब हम उसीका ध्यान कर रहे हैं। यह ध्यानका भूत है। माने दुनियाका ध्यान करते-करते यह दुनिया सच्ची बनकर हमारे सामने आ खड़ी हुई है। वासनाएँ इसका मूल हैं। जब सोचने लगोगे कि इसके बिना हम मर जायेंगे, तो सचमुच मर जाओगे और सोचोगे कि इसके बिना हम दुःखी हो जायेंगे तो सचमुच दुःखी हो जाओगे। और सोचोगे कि यह कुछ भी नहीं है, इसमें क्या रखा है। तो सचमुचमें यह कुछ भी नहीं है। वस्तुतः यह दीनता, यह हीनता, यह मलिनता अपने अन्दर मानी हुई, मंजूर की हुई है। स्वीकृति देकर हमने अपने अन्दर हीनता बुलायी है। हम तो कल्पवृक्षके नीचे बैठे हैं।

तो नारायण, यह कल्पवृक्ष रूप परमात्मामें संसारकी कल्पना करके *'मानि-मानि बन्धन में आयो'*-मान-मान कर मनुष्य बन्धनमें आया है। अपनी मान्यता, अपनी वासना, अपने कर्म-संस्कार बड़े मजबूत हो गये हैं। उनको काटनेका एक उपाय है-

दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया।

(पुरुषोत्तमयोग (नवीन सं.)- पृ. 27-28)

दुःख मिटानेका उपाय तो बहुत बढ़िया मिल गया!

यह नहीं समझना कि कोई कुल्हाड़ा लेकर संसारको मारना पड़ेगा। असंगताका विमर्श ही असंग शस्त्र है। यह जो आत्मा है, यह हड्डी-मांस-चामका बना हुआ नहीं है, इन्द्रियोंका बना हुआ नहीं है, मनोवृत्तियोंका बना हुआ नहीं है; यह द्रष्टा है, चैतन्य है और साक्षी है। इसकी असंगताका जो विमर्श, असंगताका विवेक, इसकी असंगताका जो ज्ञान है कि अरे भाई, तुम ईश्वरके अंश होकर छोटी-छोटी चीजोंमें फँसे हो! अपने बापका (ईश्वरका) नाम बदनाम करते हो! तो नारायण, ईश्वरके बेटे होकर, ईश्वरके सखा होकर, ईश्वरके अंश होकर, ईश्वरके प्यारे होकर, यदि तुम संसारकी छोटी-छोटी चीजोंमें आसक्त होओगे तो यह क्या तुम्हारे पिता, सखा अथवा पतिके अनुरूप है? नहीं-नहीं यह बिल्कुल उसके खिलाफ है।

असंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा (भ.गी. 15.3)

ईश्वर असंग है तो ईश्वरका अंश भी असंग है।

यह संसार वृक्ष वासनामूलक है और वासना राग-द्वेष मूलक ही होती है। कुछ पानेकी वासना होगी तो उसमें राग होगा और कुछ छोड़नेकी वासना होगी तो उसमें द्वेष होगा। तो वासना और वासनासे बने हुए संसारको छोड़नेका उपाय क्या है? राग-द्वेषकी जितनी न्यूनता होगी, उतना-उतना राग-द्वेषसे बना हुआ संसार कटेगा। इसका समूल उच्छेद करनेके लिए यह जरूरी है कि वासनाओंका मूल जो राग-द्वेष है, उसकी निवृत्ति होवे। राग-द्वेष करनेवालेका संसार नहीं छूटता।

तो नारायण, न प्रकृति दुःख देती है, न ईश्वर दुःख देता है, न जगत् दुःख देता है। दुःख देनेवाली अगर कोई चीज है तो वह जीवकी अहंता-ममता जीवकी वासना है। यह जीवने अपने चारों तरफ एक ऐसी गोंद लगा ली है कि जहाँ जाता है, वहीं चिपक जाता है। इसी चिपकनेको संग बोलते हैं। तो वासना और वासनासे बनी हुई सृष्टिको काटना हो तो जो राग-द्वेषात्मक संग है उसको काट देना। उससे क्या होगा? तुमको ममताके कारण जो दुःख होता है, अहंताके कारण जो दुःख होता है, संयोग-वियोगके कारण जो दुःख होता है, चीज न मिलनेके कारण जो दुःख हुआ है-ये सब मिट जायेगा। तो दुःख मिटानेका उपाय तो बहुत बढ़िया मिल गया।

(पुरुषोत्तमयोग (नवीन सं.)- पृ. 29-30)

आपका प्रेम, वैराग्य, श्रद्धा, साधन कोई नहीं ठग सकता!

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। भ.गी. 15.5

जो मान-मोहसे रहित हैं, संग-दोषको जीत चुके हैं, सदा अध्यात्ममें स्थित हैं, कामनाओंसे छूट चुके हैं; सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित हैं, वे अमूढ़ पुरुष उस अव्यय पदका अनुभव करते हैं।

मान-मोह छूट जाय तब वेदान्तका विचार नहीं होता। वेदान्त-विचारके द्वारा अर्थात् आत्मानात्म विवेक करनेसे मान-मोह छूटता है। संग-दोष दूर हो जायँ, तब गुरुकी शरण जायेंगे, यह भ्रान्त-भाव है; गुरुकी शरण जानेसे संग-दोष छूटेंगे। कामनाएँ मिट जायँ तब भक्ति नहीं, ईश्वरकी भक्ति करोगे तब कामनाएँ दूर होंगी।

बहुतसे लोग त्याग ही त्यागकी बात करते हैं। वे कोई आश्रय नहीं बतलाते। इस प्रकार बिना आश्रयके त्याग नहीं होता। यह बात इसलिए नहीं बनती कि बिना सहारेके त्याग करना बहुत ही कठिन है। इसलिए अपने विवेकके सहारे मान-मोहका त्याग, गुरुके सहारे संग-दोषका त्याग और ईश्वरकी उपासनाके सहारे कामनाओं पर विजय प्राप्त करो। इतना करके जब ईश्वरकी ओर चलो तो मार्गमें ही यह फल मिला कि सुख-दुःख देनेवाले द्वन्द्वोंसे छूट गये।

जो घटनाएँ, जो परिस्थितियाँ संसारी लोगोंको दुःख देती हैं वे विरक्तको प्रसन्नता देती हैं। जिन बातोंमें संसारी पुरुष आनन्दसे फूल उठते हैं, विरक्त पुरुष उन्हें निःसार समझते हैं।

आपसे कोई कहता है-'साधुओंके पास मत जाया करो। वे तुम्हें ठग लेंगे।' निश्चय ही वह आपका धन बचाना चाहता है और आपका हितैषी है। लौकिक दृष्टिसे उसकी सलाह ठीक है। लेकिन उसने श्रद्धाके स्थान पर सन्देह उत्पन्न किया। ईश्वरके स्थान पर धनका महत्त्व आपकी बुद्धिमें बैठाया। आपका प्रेम, वैराग्य, श्रद्धा, साधन, कोई भी नहीं ठग सकता। जो भगवान्‌को पाना चाहता है, उसे धनमें इतनी महत्त्वबुद्धि क्यों हो कि धन ठगे जानेके डरसे वह सत्सङ्गसे ही वञ्चित रहे। इस प्रकारकी शंका वैराग्यकी कमीसे होती है।

एक ही अव्यय पद अर्थात् परमार्थ तत्त्व-ईश्वर, जीव तथा जगत् तीनोंके रूपमें प्रतीत हो रहा है। उस अव्यय पदको 'अमूढ़ा गच्छन्ति' अर्थात् ज्ञानी प्राप्त करते हैं-अनुभव करते हैं।

(पुरुषोत्तमयोग (नवीन सं.)- पृ. 40,51,52,55)

फिरसे बेटा, तू चूहा हो जा!

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। भ.गी. 15.6

'उसे सूर्य, चन्द्रमा या अग्नि प्रकाशित नहीं करता। जहाँ जाकर किसीकी संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती, वह मेरा परमधाम है।'

ईश्वरकी प्राप्ति होगी तो पुनर्जन्म नहीं होगा, यह बात पक्की है। और, जो लोग भगवान्‌को प्राप्त नहीं करते, उनकी क्या दशा होती है? अन्यत्र भगवान् कहते हैं-'हे परन्तप, इस धर्मकी महिमा पर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मुझे प्राप्त न होकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। (भ.गी. 9-3)'

हाय-हाय बड़े दुःखकी बात है कि तुम्हें मनुष्य योनि मिली, उसमें तुम वैराग्य कर सकते थे, उसमें गुरुकी शरणमें जा सकते थे, उसमें परमात्माके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। यहाँ आकर ईश्वरकी प्राप्तिकी योग्यता मिलने पर भी उसको प्राप्त नहीं किया। और फिर वहीं-के-वहीं लौट गये!

कहते हैं कि एक महात्मा थे। उनकी कुटियामें एक चूहा रहता था। एक दिन वह महात्माजीके पास जाकर रोने लगा। तो महात्माजीने पूछा कि तुमको क्या दुःख है? वह बोला कि महाराज बिल्ली बहुत सताती है। वे बोले कि अच्छा जा तू बिल्ली हो जा। फिर कुछ दिन बाद आकर रोने लगा। पूछने पर बोला कि कुत्ता सताता है। महात्माने कहा जा, तू कुत्ता हो जा। कुछ दिन बीतने पर उसे दुःखी देखकर महात्माने पूछा कि क्या दुःख हैं? बोला कि भेड़ियाका डर लगता है, जंगलमें रहते हैं। महात्मा बोले कि जा भेड़िया हो जा। फिर एक दिन आकर रोने लगा। बोला, 'महाराज, शेरका बड़ा डर लगता है।' महात्मा बोले कि जा शेर हो जा। जब शेर हो गया तो उसने सोचा कि मैं तो महात्माका बनाया शेर हुआ हूँ और ये कभी नाराज हो जायगा तो हमको शेर नहीं रहने देगा। सो आओ इसीको खा जायें। खूब गरजकर महात्मा पर टूटा। तो महात्माने कहा, 'पुनर्मूषको भव'-फिरसे बेटा तू चूहा हो जा। वह चूहा हो गया।

तो नारायण, भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके एक तृणको मनुष्य बनाया था। किसलिए बनाया था? मनुष्य योनिमें आकर यह ईश्वरको प्राप्त करे। लेकिन इसने तो मनुष्य होकर यह कहना शुरू कर दिया कि हम ईश्वरको मानते ही नहीं। हम ईश्वरके भक्त ही नहीं। हम तो ईश्वरको ही खा जायेंगे। जा बेटा, 'पुनर्मूषको भव'। भगवान्‌ने कहा, 'संसारमें पैदा होओ और मरो!'

इसलिए, मनुष्य योनि प्राप्त करके भगवान्‌का भजन करो और अपनेको निकालकर भगवान्‌के पास ले चलो कि पुनर्जन्ममें न जाना पड़े।

(पुरुषोत्तमयोग (नवीन सं.)- पृ. 56,64-66)

पहले बन्धनको समझना भी जरूरी है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।

भ.गी. 15-7

लोक-लोकान्तरमें आने-जानेवाला जीव मेरा ही सनातन अंश है। वही प्राकृत मन, इन्द्रियोंको अपने साथ खींच ले जाता है।

अब जीवका वर्णन करते हैं।

कई लोग वेदान्तका गलत प्रचार करते हैं। बिना बन्धनको समझे ही कह दिया कि बन्धन-मुक्ति है ही नहीं। **अब बन्धनको छुड़ानेके लिए श्रवण-मनन होगा नहीं, भक्ति होगी नहीं, अन्तःकरण शुद्ध होगा नहीं, साधन-भजन होगा नहीं।** वही पामरता, वही विषयीपना, वही विषयभोग और वही संसार!

एक दिन एक सेठके घर गये थे। उन्होंने कहा कि महाराज, नरक-स्वर्ग तो बिलकुल झूठा है और पुनर्जन्म तो एकदम होता ही नहीं। मैंने कहा कि हाँ सेठजी, ये सब तो झूठे हैं, बस सच्चा तो केवल नोटोंका बण्डल ही है! नारायण कहो, यही विरोचन वाला ज्ञान है। माने दैत्य सम्प्रदायका ज्ञान यही है कि भोग-विलास भी बना रहे-वह सब तो सत्य है; परन्तु नरक-स्वर्ग पुनर्जन्म आदि सब झूठे हैं।

तो नारायण, वेदान्तका अर्थ गलत कभी नहीं निकालना। पहले बन्धनको भी समझना जरूरी है।

भगवान् बड़ी ममतासे बोलते हैं-अरे भाई, यह जीव मेरा ही अंश है।

देखो न कृपा भगवान् की। भगवान् कहते हैं कि 'तुम मेरे ही हो।' जो सारी सृष्टिका मालिक है, वह तुमको कह रहा है-**'तुम मेरे ही अंश हो।' जैसे बाप अपने बेटेसे कहे कि तुम मेरे अंश हो, ऐसे भगवान् बोलते हैं।** भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ो।

अब चेतनका अंश कैसा होता है?

सर्वव्यापक अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें अंश नहीं होता। समझानेके लिए उसमें अंशकी कल्पना की जाती है। इसका अर्थ होगा कि वस्तुतः जीव भगवान्का स्वरूप है, लेकिन न जाननेके कारण अपनेको अंश मानकर बैठा है। जीव न होने पर भी वह जीव हो गया।

हृदयमें बैठकर यह जीव मन, इन्द्रियों रूपी औजारसे अपनेको बाँध लेता है। जीव जब संसारमें आता है तो अपने औजारों (लिंग शरीर)को लेकर आता है। जब यह जीव जाने लगता है कहीं, तब खोलको तो जहाँ-का-तहाँ छोड़ देता है, लेकिन भोगके साधनों (औजारों)को अपने साथ लेकर जाता है। इस बातका वर्णन भगवान् अगले श्लोकमें करेंगे।

व्यक्तित्वको छोड़ना बड़ा कठिन!

अब प्रश्न यह हुआ कि जीवका वह स्वरूप कैसा है जो संसारके आवागमनके चक्करमें पड़ा हुआ है?

जबतक तुम संसारमें इन्द्रियों और मनके द्वारा कोई भी भोग चाह रहे हो, तबतक तुम्हें व्यक्ति बनकर और उन-उन इन्द्रियोंको स्वीकार करके सारा भोग करना पड़ेगा। जिसके मनमें भोगकी वासना है, वह व्यक्तित्वका परित्याग कर ही नहीं सकता।

वस्तुतः जीवका आना-जाना स्वरूपमें नहीं है, उपाधिके साथ तादात्म्य होनेके कारण है। विवेक करके यह बात साफ-साफ बतायी जाती है :

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।

भगवद्गीता 15.8

यह समर्थ जीव जो शरीर पाता है और जिसे छोड़ता है, उन सबमें इन मन-इन्द्रियोंको अपने साथ पकड़कर उसी प्रकार जाता है, जैसे वायु, पुष्पादिसे गन्धको साथ ले जाता है।

अन्त समयमें जब पाप याद आते हैं तो लगता है कि हाय-हाय, हमको तो यमराजके दूत लेनेको आगये। जीवकी इतनी तन्मयता हो जाती है कि हमारा शरीर चारपाई पर पड़ा है यह ख्याल छूट जाता है। वह यातना शरीरको प्राप्त हुआ, चारपाई पर जो शरीर छोड़ा, उसमें-से मन-इन्द्रियोंको निकाल लेता है। जीव इन इन्द्रियों और मनको अपने साथ लेकर नये शरीरमें जाता है-जैसे हवा चम्पाके फूलोंके ऊपरसे निकले तो उसकी गन्ध ले जाती है।

अथवा अन्त समयमें कहीं किये हुए पुण्यकी याद आगयी तो कानोंमें रुनझुन, रुनझुनकी आवाजें सुनायी देती हैं और लगता है कि यह स्वर्गसे विमान आ गया। विमानमें देवदूत हमको बड़े प्रेमसे बुला रहे हैं-'आइये, आइये!' मानो देवदूत हमारा हाथ पकड़कर बड़े प्रेमसे चन्दन लगाकर, माला पहनाकर हमारे सूक्ष्म शरीरको लिये जा रहे हैं।

अथवा कहीं शरीर छूटते समय खाने-पीनेकी याद आगयी, स्त्री-पुत्रकी याद आ गयी तो ऐसा ही शरीर बनकर वह भीतर-ही-भीतर दीखने लगा। अब नया सपना रह गया और यह जो सपना है, यह छूट गया। नया सपना कितनी देर तक रहेगा? बोले कि जब तक तुम्हारे कर्म-संस्कारका वेग रहेगा, उतनी देर तक रहेगा।

जीवके सच्चे स्वरूपको समझोगे तब तो यह आवागमन छूट जायेगा और नहीं समझोगे तो नहीं छूटेगा। इसलिए, इसको छुड़ानेके लिए अपने स्वरूपको जानना जरूरी है।

(पुरुषोत्तमयोग (नवीन सं.)- पृ. 85-93)

सन्तका दर्शन किया है कि विषय भोगोंका दर्शन किया है?

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।

भगवद्गीता 15.9

कर्ण, नेत्र, त्वक्, रसना, नासिका और मनको आधार बनाकर यह जीव विषयोंका सेवन करता है।

'श्रोत्रं'-'शब्द'के संस्कार कैसे है? कैसे 'शब्द' सुनते रहे? माने गन्दे गीत, गाली-गलौज आदि सुनते रहे हो कि परमात्माकी बात सुनते रहे हो? उसका असर पड़ेगा।

'चक्षुः'-देखा क्या है तुमने जीवनमें? भगवान्का दर्शन किया है? सन्तका दर्शन, धर्म-कर्मका दर्शन किया है कि विषय-भोगोंका दर्शन किया है?

'स्पर्शनं'-छूआ क्या है? भोगकी वस्तु कि भगवद्-प्रसादकी वस्तु?

'मनश्च'-संकल्प किसका किया है? 'च' माने कर्मेन्द्रियोंसे क्या किया है? प्राणसे क्या किया है? बुद्धिसे क्या किया है? क्या 'विचार' किया है?

सत्रह तत्त्वोंसे बना हुआ जो यह लिंग शरीर है, इनसे तुमने क्या किया है? 'अधिष्ठाय' अर्थात् इनको ग्रहण करके। इसका अर्थ है कि ग्रहण करनेवाला जुदा होता है और ग्रहणकी जानेवाली वस्तु जुदा होती है।

नारायण, असलमें आत्मामें न बुद्धिके धर्म हैं, न मनके धर्म हैं, न प्राणके धर्म हैं, न ज्ञानेन्द्रियके धर्म हैं, न कर्मेन्द्रियके धर्म हैं। जब यह जीव, इन्द्रियों, मन, बुद्धिसे जुड़कर, उनका मालिक बनकर इनके रथपर चढ़कर, इनको अपना मानकर, इनके साथ 'मैं-मेरा' करके रहता है-अनात्मासे जो आत्माका तादात्म्य हो गया, इसीसे इसको विषयोंका सेवन करना पड़ता है। 'कर्ता' हुआ, इन्द्रियोंके सम्बन्धसे, 'भोक्ता' हुआ, इन्द्रियोंके सम्बन्धसे और इसका गमनागमन भी औपाधिक रूपसे ही होता है। इसीसे वेदान्ती लोग बोलते हैं कि उपाधिके सम्बन्धसे ही आत्मा पापी-पुण्यात्मा अर्थात् 'कर्ता' है और उपाधिके सम्बन्धसे ही आत्मा सुखी-दुःखी माने 'भोक्ता' है और उपाधिके सम्बन्धसे ही इसका लोक-लोकान्तरमें, जन्म-जन्मान्तरमें आना-जाना है। आत्माका ज्ञान होने पर तो इससे उपाधिसे छुटकारा मिलता है और जबतक आत्माका ज्ञान नहीं होगा, परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति लगी रहेगी, तबतक आना-जाना, लगा रहेगा, पाप-पुण्य लगा रहेगा, सुख-दुःख लगा रहेगा। जबतक अपने अपरिच्छिन्न ब्रह्म स्वरूपको नहीं जानोगे, तबतक यह भ्रान्ति रहेगी-यह बात भगवान् अगले श्लोकमें बतावेंगे : '.........इसे अज्ञानी नहीं देख पाते, किन्तु जिन्हें ज्ञान नेत्र प्राप्त हैं, वे देख पाते हैं। भगवद्गीता 15.10।

सद्गुरुकी कृपासे जिनको ज्ञानकी आँख प्राप्त है, वे देखते हैं!

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति प्रश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।

भगवद्गीता 15.10

'शरीरसे निकलते हुए, शरीरमें रहते हुए और गुणोंसे सम्बद्ध होकर भोग-भोगते हुए इसे अज्ञानी नहीं देख पाते, किन्तु जिन्हें ज्ञान-नेत्र प्राप्त हैं, वे देख पाते हैं।

विमूढ़ लोग आत्माके शुद्ध स्वरूपको नहीं जानते हैं। वे तो उपाधि वाले स्वरूपको ही देखते हैं। तब कौन देखता है? देखो नारायण, भगवान्‌की खूब-खूब भक्ति करके, काम-क्रोध-लोभको दबाकर जिसने संसारसे वैराग्य सम्पादन किया है और गुरुकी शरण ग्रहण करके, वेदान्तार्थका विचार करते-करते, संशय-विपर्ययकी निवृत्ति होकर और अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होकर जिसका अज्ञान निवृत्त हो गया है, वह देखता है।

वह देखता है कि परमात्माका कैसा खेल चल रहा है! यह मूढ (तमोगुणी) हो जाना, विक्षिप्त (रजोगुणी) हो जाना, शान्त (सत्त्वगुणी) हो जाना-यह सब तो आने-जाने वाले गुणोंका खेल है; यह सारा काम उपाधिमें हो रहा है और जो निरुपाधिक परमात्मा है, वह ज्यों-का-त्यों है।

देखो न, जीवकी विमूढ़ता! जो संसारके विषयोंमें ही अटक गया है, विषयोंको नहीं छोड़ सकता, उसको बोलते हैं 'मूढ़'। तो विषयोंमें फँसकर ईश्वरको भूल जाए, इसकी परवाह श्रीकृष्णको उतनी नहीं है। सोचते हैं कि अच्छा भाई, चलो, तुम हमको भूल गये, तो हम तुमको याद कर लेंगे। लेकिन तुम अपने आपको ही भूल गये हो, यह कितने दुःखकी बात है।

नारायण! ये मूढ़ लोग पैसेको ही सब कुछ समझते हैं। उसके लिए मरनेको तैयार। हवाई जहाज पर चढ़कर कितना खतरा उठाते हैं। चोरी करके कितना खतरा उठाते हैं। अपनी बे-इज्जतीका डर नहीं, पिटनेका डर नहीं, जेलमें जानेका डर नहीं। संसारके विषय-भोगोंमें इतना मग्न हो गये कि अपने आपको ही भूल गये। इसलिए इनको बोलते हैं 'विमूढा'।

पैसा कमानेकी तो बुद्धि है, पैसेको तो समझते हैं, ठीक है; पर जिसके लिए पैसा है-जिसके लिए भोग है, उसको नहीं समझते हैं। इसलिए, 'नानुपश्यन्ति'।

सद्गुरुकी कृपासे, निर्दोष अन्तःकरणसे वेदमें कहा हुआ जो ज्ञान है, वह ज्ञान जिसकी आँखें है, वह जिनको प्राप्त है, वे देखते हैं कि इस देहमें स्थित हुआ भी वह देहमें परिच्छिन्न नहीं है; इस देहके मरने पर भी वह नहीं मरता; इस शरीरसे भोग करता हुआ भी वह भोग नहीं करता है। इसमें सुख-दुःख विक्षेप मोह आने पर भी वह उनसे युक्त नहीं होता है। पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।

(पुरुषोत्तमयोग (नवीन सं.)- पृ. 96-100)

जिज्ञासुको कृतात्मा और सचेता होना चाहिए!

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।

भगवद्गीता 15.11

अपने हृदयमें ही विराजमान इस आत्मतत्त्वको योगी प्रयत्न करके देखते हैं, किन्तु विक्षिप्त चित्त अशुद्धान्तःकरण लोग इसे प्रयत्न करके भी नहीं देख पाते।

अपनी अन्तरात्माको भगवान्‌में मिलाकर श्रद्धाके साथ जो भगवान्‌की भक्ति करता है, वह सब योगियोंमें बड़ा है। भगवद्गीता 6.47। तो प्रयत्न करनेवाले योगी उस परमेश्वरका, 'आत्मनि' अर्थात् अपने हृदयमें दर्शन करते हैं।

परन्तु 'अकृतात्मानः' माने अकृत बुद्धि वाले एवं 'अचेतसः' अर्थात् बेहोश और असावधान लोग प्रयत्न करते हुए भी परमात्माके दर्शनमें असमर्थ हैं।

'अकृतात्मानः'का अर्थ है कि तुमने अपने स्थूल-शरीरको सँवारा और अपने सूक्ष्म शरीरको माने जिस बुद्धिसे परमात्माकी प्राप्ति होगी उसको सँवारकर परमात्माके चरणोंमें समर्पित नहीं किया।

बुद्धिका विवाह परमात्माके साथ होता है। जिसका ब्याह मनुष्यके साथ होता है, उसको तो सँवारा। लेकिन जिसका ब्याह ईश्वरके साथ होता है, उसको नहीं सँवारा। उसको दुलहिन नहीं बनाया। दुलहिन बनाया चामको अब चाम, चामके साथ जुड़ेगा और बुद्धिको अगर सँवारते तो यह सर्वज्ञ ईश्वरके साथ जुड़ती। तो जो अकृत-बुद्धि हैं, माने कर्तृत्व, भोक्तृत्वकी भ्रान्तिसे ग्रस्त हैं, वे ईश्वरको नहीं देख पाते।

यह महाराज बिना माँ-बापकी बुद्धि घर-घर घूमती फिरती है। जैसे लड़कीके लिए दो स्थान हैं- या तो अपने बापका घर या फिर अपने पतिका घर। बुद्धिका बाप है गुरु और बुद्धिका पति है ईश्वर। जब तक सर्वज्ञ ईश्वरके घरमें हमारी बुद्धि नहीं पहुँच जाती, तबतक उसको गुरुके घरमें रहना चाहिए माने उसकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिए-यही कृतात्मा होना है माने बुद्धिको सँवारना है।

अचेतसः कौन हैं? जो भगवान्‌के उपदेश पर श्रद्धा नहीं करता वह अचेतसः है। प्रमाद, बेहोशी, असावधानी-यही अचेतस होनेकी पहचान है।

जिसने दुश्चरित्र छोड़ा नहीं, जिसके मनमें काम-क्रोधादिकी अशान्ति बनी हुई है, जो सिद्धियोंको चाहता है, जिसके मनमें चंचलता है, वह केवल पण्डित होनेसे ईश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता।

दृश्य वस्तुका साक्षात्कार तो अकृतात्मा एवं अचेताको भी हो सकता है। परन्तु 'परिपूर्ण चैतन्य-तत्त्व' जो द्रष्टा (प्रत्यक्-चैतन्य)से अभिन्न है, उसके साक्षात्कारके लिए कृतात्मा एवं सचेत होना आवश्यक है। तो नारायण, जो सदगुरु एवं शास्त्रके अनुसार बुद्धिको बनाता है, वह ईश्वरको प्राप्त करता है। परमार्थ ज्ञानमें एक बड़ी शर्त यह है कि जिज्ञासुको कृतात्मा और सचेता होना चाहिए।

(पुरुषोत्तमयोग (नवीन सं.)-पृ. 101 से 110)

आँखसे जो दीख रहा है, यह परमात्माका तेज है!

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।

भगवद्गीता 15.12

जो तेज सूर्यमें रहकर सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित कर रहा है, जो तेज चन्द्रमा और अग्निमें है, वह मेरा तेज समझो।

कहते हैं कि परमात्माका दर्शन करो! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-महात्माओंको खुली आँखोंसे, सर्वत्र, सब रूपसे ईश्वरका दर्शन होता है।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'-एक ही सत्य है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन करते हैं। वर्णन करनेकी शैली जुदा-जुदा है, परमार्थ तत्त्वमें भेद नहीं है। श्रीमद्भागवत (3.32.33)में आया है-

जैसे एक फूलको अपने हाथमें ले लें। आँखके दरवाजेसे वह लाल मालूम पड़ता है और त्वचाके दरवाजेसे कोमल मालूम पड़ता है और जीभके दरवाजेसे उसका स्वाद मालूम पड़ता है और नासिकाके दरवाजेसे वह सुगन्धित मालूम पड़ता है। एक ही वस्तु-'फूल', इन्द्रियोंके भेदसे नाना रूपमें प्रतीत हो रही है। मूल वस्तु एक है। ठीक इसी प्रकार 'भगवान्', शास्त्रीय मार्गसे भक्ति करो तो बड़े दयालुके रूपमें उपलब्ध होवें; योग करो तो असंग आत्माके रूपमें उपलब्ध होवे; तत्त्वज्ञानका सम्पादन करो तो आत्मा, परमात्मा और जगत् -इनका द्वैत मिट जाय और अद्वैत रूपसे उपलब्ध हो। तो यह उपलब्धिकी प्रक्रियामें जो भेद होता है, उससे अनेक प्रकार दिखायी पड़ते हैं। मूल जो वस्तु है, जगत्का जो मूल तत्त्व है, उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं कि यह सूर्य, चन्द्रमा, अग्निमें जो दृश्य तेज है, इसीके रूपमें परमात्मा चमक रहे हैं। सूर्य-देवता, चन्द्रमा देवता, अग्नि देवताने अपने पूर्व-पूर्व जन्ममें भगवान्की आराधना करते हुए उनके तेजकी याचना की। इन्होंने बहुत दिनों तक भगवान्से प्रार्थना की थी-'तेजोऽसि, तेजो मयि देहि; बलमऽसि बलं मे देहि-हे भगवन्, आप तेज स्वरूप हो, हमको थोड़ा-सा अपना तेज दे दो। चन्द्रमाने कहा कि आप आह्लाद-स्वरूप हो, हमको आप अपना आह्लादात्मक तेज दे दो। अग्निने कहा आपमें ज्वलनात्मक, दाहात्मक तेज है, सो हमको दे दो। तब इनकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर भगवान् इनको अपना तेज देते हैं। सो यह सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें उसीका प्रकाश चमक रहा है; ये भगवान्की आराधना करके उनका तेज लेकर चमक रहे हैं। इनमें जो प्रभा देखनेमें आती है, वह भगवान्की ही है। एक अखण्ड जो तेज है, ज्योति है, वही इनमें प्रकाशको प्राप्त हो रहा है।

(पुरुषोत्तमयोग (नवीन सं.)- पृ. 111-113)

आश्चर्य यह है कि जहाँ कोई आनन्द नहीं, उसमें लोग फँस रहे हैं!

ईश्वरके बारेमें ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ तुमने बना रखी है कि उसकी पहचान ही उलटी पड़ गयी। सो अपनी बनायी हुई उलटी पहचानके कारण तुम सामने वाले ईश्वरको नहीं पहचानते।

भाई मेरे, ईश्वर सर्वरूपमें प्रकट हो रहा है। गीता कहती है-'यदादित्यगतं तेजो'-हमारी सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें विषयोंके प्रकाशनका जो सामर्थ्य है और 'यच्चन्द्रमसि'-हमारे मनमें संकल्प-विकल्प करनेका जो सामर्थ्य है, 'यच्चाग्नौ'-हमारी वाणीमें बोलनेका जो सामर्थ्य है-कौन है वह? वही ईश्वर है-तत्तेजो विद्धि मामकम्'-वही आकर देख रहा है, वही बोल रहा है, वही सोच रहा है। अरे भाई, उसके सिवाय तो मिट्टी भी नहीं, पानी भी नहीं, आग भी नहीं, हवा भी नहीं, आकाश नहीं, मन भी नहीं।

गोपी कहती है कि 'सखी, नन्दलाल लग्योई-लग्योई संग डोलै'। हम पनघटपर जायें तो वहाँ, गोबर पाथने जायें तो वहाँ, रोटी बनावे तो वहाँ! दही बिलौवें तो वहाँ! लेकिन हुआ क्या? आये मोरे सजना, फिरि गये अँगना; मैं बौरी रही सोय री। पहचान न होनेके कारण ऐसा हुआ। वेदान्तमें इसीको अज्ञान बोलते हैं कि जो 'हाजरा हजूर, न निकट न दूर, सर्वत्र भरपूर है', उसको नहीं देख रहे हैं।

नारायण! मनुष्य शरीर प्राप्त करके, बुद्धि प्राप्त करके, सत्संग प्राप्त करके ईश्वरको न पाना-यह नशेमें आ जाना है। इसका नाम प्रमाद है। रात बीत गयी, दिन बीत गया, जिन्दगी बीत रही है, क्षण-क्षण छीज रहा है और ईश्वरके सामने होते हुए भी हम ईश्वरको प्राप्त नहीं कर सकते। वह पूर्ण अविनाशी जीवन, वह चेतन-सच्चा ज्ञान-सच्चा प्रकाश, वह आनन्द जिसमें दुःखका लेश नहीं है-उसका समुद्र उमड़ रहा है! 'आनन्द सिन्धु मध्य तव वासा, बिनु जाने तू मरत पियासा।' गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं, तुम आनन्दके समुद्रमें रह रहे हो, लेकिन बिना जाने प्याससे मर रहे हो।

ईश्वर बिल्कुल हम लोगोंके बीचमें हमारी आत्मा, हमारा मन बना बैठा है-'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'। हमारी बुद्धि बनकर कौन बैठा हुआ है? 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' वही तो बैठा हुआ है। सूर्य और चन्द्रमामें प्रभा कौन है? वही है। तो यह परमात्मा हम लोगोंसे दूर नहीं है।

एक आचार्य कहते हैं-

'दुःख तो इस बातका है कि परमात्माके आनन्द समुद्रमें सारी सृष्टि डूब और उतरा रही है; लेकिन न तो कोई उस रसको पीता है और न तो आँख भरकर देखता है और आश्चर्य यह है कि ऊपर-ऊपर उतरानेवाली मरु-मरीचिकाके जलके समान झूठी जो दुनिया है, जिसकी कोई सत्ता, महत्ता नहीं, कोई प्रकाश नहीं, कोई आनन्द नहीं, उसमें लोग फँस रहे हैं।'

(पुरुषोत्तमयोग : पृ.126-128)

कोई-न-कोई रूपमें तुम्हारे भगवान्‌ने जादूगरी की है!

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।। भगवद्गीता 15.13

पृथिवीमें प्रवेश करके मैं अपनी शक्तिसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ और रसात्मक सोम बनकर सभी ओषधियोंका पोषण करता हूँ।

एक बारकी बात है अर्जुन और हनुमानजी दोनों आपसमें मिले। दोनों अपने-अपने भगवान्‌की चर्चा करने लगे। अर्जुनने बातचीतमें कहा कि यह क्या रामभगवान्‌ने बन्दरोंसे पहाड़ उठवाये और फिर समुद्र पर पुल बाँधा। अरे, हम होते तो अपने बाणोंसे समुद्रपर पुल बाँध देते और सारी बानरी सेना उस परसे निकल जाती।

हनुमानजीने कहा कि भई, द्वापरके मनुष्य छोटे-छोटे होते हैं। हम लोग त्रेतायुगमें बड़े-बड़े बानर थे। तुम्हारे बाणोंके पुल पर पाँव रखते तो वह टूट जाता।

अर्जुनने कहा, वाह कैसे-कैसे बानर होंगे? आप भी तो उनमें-से एक हो! देखो हम इस नाले पर बाणसे पुल बनाते हैं और आप चढ़ो।

अब कृष्ण भगवान्‌का नाम लेकर अर्जुनने नाले पर पुल बना दिया और रामजीका नाम लेकर हनुमानजी उस पर चढ़े। हनुमानजीके पाँव रखते ही पुल टूट गया। अब तो अर्जुनको बड़ा दुःख हुआ। तो अर्जुनने पुकारा–'कृष्ण! हमारी मदद करो।' अब कृष्ण भगवान् आये। बोले अच्छा भाई, फिरसे पुल बनाओ। अर्जुनने हनुमानजीसे कहा कि पहली बार असावधानी हो गयी, अब पुनः पुल बनाता हूँ आप चढ़ो! उसने दुबारा पुल बनाया तो हनुमानजीके पाँव रखनेसे वह टूटा नहीं, जरा चरमरा कर थोड़ा-सा नीचे धँस गया। हनुमानजी हँसकर बोले, 'अर्जुन, तुम्हारे बाणोंमें तो यह शक्ति नहीं हो सकती कि हमारा भार सम्भाल ले। कोई-न-कोई रूपमें तुम्हारे भगवान्‌ने जादूगरी की है! इतनेमें हँसते हुए श्रीकृष्ण भगवान् नीचेसे निकल आये। उनकी पीठमें चोट लगी हुई थी। दोनोंने प्रणाम किया और पूछा 'यह चोट कैसे? भगवान् बोले कि मैंने पुलको पीठ पर उठा लिया था।' तो पुलमें घुसकर भगवान्‌ने पुलको पीठ पर उठाया, तब उसमें हनुमानको धारण करनेकी शक्ति आयी।

नारायण! इतने बड़े-बड़े हिमालय सदृश पहाड़ हैं, इतने पशु-पक्षी, वृक्ष आदि हैं, इतनी नदियाँ हैं प्राणी हैं और फिर इतने ग्रहोंके आकर्षण-विकर्षण हैं, उसमें भी भगवान् पृथिवीके भीतर घुसकर पृथिवीको धारण नहीं करते तो यह पृथिवी नहीं टिक सकती थी। 'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।' औषधि उसको कहते हैं जो दोषको काट दे और गुणको बढ़ावे। भोजन (औषधी) शरीरमें जाकर पहलेसे सटे हुए मलको शरीरमें-से निकालता है और शरीरमें शक्तिका संचार करता है। चन्द्रमा सोम है और वही सम्पूर्ण औषधियोंमें रसका अर्थात् शक्तिका संचार करता है। अतएव भगवान् ही रसात्मक सोम बनकर औषधियोंका पोषण करते हैं।

(पुरुषोत्तमयोग-पृ. 129-131)

संसारका स्वभाव

भगवान् श्रीकृष्णके वृन्दावन-चरितमें अनेक रसमयी कथाएँ आती हैं। एक कथा है कि श्रीराधारानी एक बार रूठकर बैठ गयीं। अब रूठ गयीं महाराज श्रीकृष्ण मनावें तो माने नहीं। श्रीकृष्ण राधारानीके सामने जाकर खड़े हों तो वे मुँह फेर लें। छूएँ तो हाथ झटक दें। जब श्रीकृष्णने बहुत चेष्टा की और नहीं मानी, तब श्रीकृष्णने एक युक्ति रची। श्रीकृष्ण दो रूप हो गये। एक तो बन गये भँवरा और गुँजार करने लगे और एक स्वयं कृष्ण चुपचाप खड़े हो गये। अब वह भँवरा उड़ता हुआ राधारानीकी तरफ गया तो वे डर गयीं कि यह तो काटेगा! और जब डरीं तो जाकर श्रीकृष्ण भगवान्‌से लिपट गयीं। अब उस भँवरेका लोप हो गया और राधारानीका मान टूट गया।

तो भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं। और भगवान् ही क्षर-पुरुष बनकर इस विनाशी जगत्‌के रूपमें प्रकट होकर जीवात्माको डराते हैं। अगर संसारमें दुःख न हो, वियोग न हो, दरिद्रता न हो, जड़ता न हो, विनाशिता न हो तो संसारकी ओरसे कौन अपना मुँह फेरकर भगवान्‌की ओर देखेगा? इसलिए लोग स्वयं भगवान्‌से प्रेम करें इसके लिए उन्होंने अपना एक विनाशी रूप यह संसार प्रकट किया है।

उपनिषद्‌में आता है **'नात्र भोग्यं पश्यामि'**, हमने ढूँढकर देख लिया, संसारमें कुछ भी भोग करने योग्य नहीं है। जहाँ भोग है, वहाँ रोग भी है। देखो न मुँहमें से जब थूक बाहर निकल जाता है तो अत्यन्त अपवित्र है। परन्तु भोजनका स्वाद लेते समय उसी थूकको पवित्र मानकर स्वाद लेते है। यह केवल भोजनकी बात नहीं है, यह संसारके समग्र भोगोंकी बात है कि उसमें यदि थोड़ी गन्दगी न मिलायी जाय, कोई पाप-ताप, अपवित्रता नहीं होवे तो कोई भोग होता ही नहीं है। बिना गन्दगी मिलाये, दुःख मिलाये संसारका सुख नहीं होता। बिना जड़ता मिलाये संसारकी चेतनता नहीं होती है। बिना झूठ मिलाये संसारका सत्य नहीं होता है और बिना मृत्यु मिलाये संसारका जीवन नहीं होता है। यह संसारका स्वभाव है, प्रकृति है।

तो इसी प्रकार जीव और ईश्वरकी नित्य क्रीड़ा चल रही है जो अनादि और अनन्त है। परा-प्रकृति रूप अक्षर जीवात्मा है और पुरुषोत्तम रूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उस अक्षरात्माको भगवान्‌से प्रेम करना चाहिए। लेकिन यह रूठकर बैठा है तब भगवान् क्षर रूप धारण करके आये। यह संसारका रूप क्षर है विनाशी है भगवान् यह क्षर रूप धारण करके क्यों आये? यदि किसीकी दृष्टि इस संसार रूपी भँवरेकी ओर चली जाय तो देखेंगे कि यह तो काटनेवाला है; बस वह तुरन्त भगवान् श्रीकृष्णसे लिपट जायगा।

(पुरुषोत्तमयोग : पृ. 174-175-176)

इस शरीरमें ज्यादा नहीं फँसना!

'क्षर: सर्वाणि भूतानि...' (गीता 15.16) जो चीज पैदा होती है और मिटती है, उसीको 'भूत' बोलते हैं। तो कोई चीज दुनियामें पैदा होती तो दिखती है, लेकिन पैदा तो हो और यह ख्याल होवे कि यह अब मिटेगी नहीं, तो बिलकुल गलत है। क्षर उसीको कहते हैं जो झर जाय। ठूँठमें भूत दिखा और गौरसे देखने पर मिट गया। रस्सीमें साँप दिखा और गौरसे देखने पर मिट गया। एक सपना आया और मिट गया। आप दुनियाकी चीजोंको बताइये न कि क्या रहा दुनियामें? जैसे सपनेकी चीज दुबारा नहीं बनायी जा सकती, वैसे मरे हुए लोगोंको दुबारा नहीं बनाया जा सकता। क्या विशेषता है जाग्रत की? मरनेके बाद बिलकुल स्वप्नके समान ही संसारकी वस्तुएँ छूट जाती हैं। वही रुपया ले आओ? वही लोग ले आओ? वही चाँदी-सोना ले आओ? इसीको 'क्षर' बोलते हैं।

ये जैसे चनेके बीजमें ये चनेका रूप निकल आया, ऐसे ही पानीकी बूँदमें-से ये सब शरीर पानीके बबूले निकल आये। नारायण, तुम कितना भी घड़ा मजबूत करके रखो, कोई टिकेगा नहीं, सब फूट जायेंगे। यह शरीर नहीं रहेगा। इसीका नाम है संसार–जो सरकता रहे।

संस्कृतमें 'शरीर' उसको बोलते हैं जो शीर्ण हो जाय।

फारसी भाषामें शरारतीको शरीर बोलते हैं। जो शरारत करे, सो शरीर। कितना भी मना करो कि तुम मत मरो, यह मरे बिना नहीं रहेगा। इसको सिखाओ, पढ़ाओ, योगाभ्यास कराओ, उपासना कराओ, चन्दन लगाओ, फूलमाला पहनाओ। लेकिन यह अपनी शरारत किये बिना मानेगा नहीं–ऐसा यह शरीर है। तुम्हारा हुकुम मानने वाला नहीं है। यह बच्चेसे जवान हो जायेगा, जवानसे बूढ़ा हो जायगा, स्वस्थसे रोगी हो जायेगा और चल बसेगा। यह तो क्षर है। इसमें ज्यादा नहीं फँसना।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूपका साक्षात्कार कराना चाहते हैं। यह जीव कहीं क्षर-पुरुषको ही 'मैं' कहकर न रह जायें, अक्षर-पुरुषको ही 'मैं' कहकर न रह जायें। यह जीव मुझ पुरुषोत्तमको प्राप्त होवें। करुणा वरुणालय प्रभु, जीवोंके कल्याणके लिए, उन्हें अपने पास बुलानेके लिए, उन्हें अपनेसे एक करनेके लिए इसका वर्णन कर रहे हैं।

(पुरुषोत्तमयोग-पृ. 185,186)

हमारा यार है हममें हमनको बेकरारी क्या?

वस्तुएँ भौतिक होती हैं और सम्बन्ध जितने होते हैं वे मानसिक होते हैं। अब आप देखो, जब आप सम्बन्ध मानसिक ही बना रहे हो तो इस मरने-धरनेवाले संसारके साथ सम्बन्ध बनानेमें क्या लाभ है? उस भगवान्‌के साथ मानसिक सम्बन्ध बनाओ न! तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। तुम्हारे सारे दुःख मिट जायेंगे।

ऐसे बर को के बरूँ, जो जनमे औ मर जाय।
बर बरिये गोपाल जू, म्हारो चुडलो अमर हो जाय।।

ऐसे वरका क्या वरण जो जन्मता और मरता है। ऐसा वर वरो कि जिसको वरण करनेके बाद अपना सुहाग अचल हो जाय, अपना सौभाग्य अमर हो जाय। ऐसा पति कौन है? ऐसा पति केवल परमात्मा है। संसारी सम्बन्धमें क्या रखा है?

दो बच्चे गंगाजीकी बालू पर खेल रहे थे। उनमें-से एकने कहा कि आओ भाई, झूठमूठका सत्तू खाएँ।

दूसरा बोला कि जब झूठमूठका ही सत्तू खाना है, तो सत्तू क्यों खाते हो? अरे, लड्डू खाओ न! आओ बैठकर झूठमूठका लड्डू खायें, हलवा खायें, पूरी खायें! सत्तू क्यों खाना?

जब तुम्हें अपने मनसे संसारमें झूठमूठके ही रिश्ते बनाने हैं कि यह हमारा गोदका बेटा है, यह हमारा भाई है, यह हमारी जिठानी है, देवरानी है, यह मित्र है। तो बाबा ये रिश्ते-नाते भगवान्‌से क्यों नहीं बनाते? भगवान्‌के साथ इन रिश्तोंको जोड़ो। तो इन संसारी लोगोंके मरनेका दुःख तुम्हें नहीं होगा। क्योंकि वह (भगवान्) तो तुम्हारे दिलमें ही रहेगा। उनसे बिछुड़नेका दुःख नहीं होगा। वह कभी बे-वफा नहीं होगा, धोखाधड़ी नहीं करेगा।

जो बिछुड़े हैं प्यारे से भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को बेकरारी क्या?

हमारा यार जब हमारे हृदयमें रहता है तो हमें किसीके लिए कोई बेसब्री नहीं है। बेधड़क उससे खेल लें, बोल लें। संसारके सब सम्बन्ध झूठे और कल्पित हैं।

अच्छा जो वस्तु मरती है, वह भी सत्य नहीं है और जो बदलती है सो भी सत्य नहीं है। और, जो न मरनेवाला है एवं जो न बदलनेवाला है, वह सच्ची चीज है। उसका नाम है पुरुषोत्तम। इसलिए वह मरने, बदलनेवाली चीजसे उत्तम है। माने मरने-बदलनेवाली चीजें मिथ्या हैं और वह पुरुषोत्तम सच्चा है।

(पुरुषोत्तमयोग-पृ. 197-198)

समझदारीसे काम लो!

15 वें अध्यायकी समाप्ती पर भगवान्, 'पुरुषोत्तम'के ज्ञानका बड़ा भारी फल बताते हैं–एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत'। 'हे प्रतिभाशाली अर्जुन! इसे ठीक-ठीक समझकर कोई भी स्त्री-पुरुष सच्चा ज्ञानी हो जाता है और उसके लिए फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।'

यहाँ बुद्धिमान् होनेका अर्थ क्या है? गीतामें है, 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि', बुद्धिमानोंमें बुद्धिके रूपमें भगवान् बैठे हैं। तो यहाँ बुद्धिका अर्थ है भगवदाकारवृत्ति, ब्रह्माकारवृत्ति। ब्रह्मज्ञान ही यहाँ बुद्धि शब्दका अर्थ है। तो जो इस पुरुषोत्तम-ज्ञान सम्पन्न हो जाता है, जब बुद्धिमान होता है तो कृतकृत्य हो जाता है।

यह अद्भुत प्रसंग है! आप समझो कि सबके कुछ कर्त्तव्य होते हैं। हमको यह-यह करना है, इसीको कृत्य बोलते हैं।

नारायण! मनुष्यके जीवनमें इतने कर्त्तव्य हैं कि कोई साधारण व्यक्ति उनको पूरा नहीं कर सकता और जब पूरा नहीं कर सकता तो पछताता हुआ ही मरेगा कि हाय-हाय, मैंने अपने जीवनमें यह-यह काम नहीं किया।

तो, नारायण गीताके पन्द्रहवें अध्यायमें जो बात बतायी गयी है, यह समझ लो, जान लो। एतद् बुद्धवा बुद्धिमान् स्यात्'। समझदारीसे काम लो। अगर इस अध्यायमें कही हुई बात समझ ली तो तुम्हारे लिए तब कोई कर्त्तव्य नहीं रह जायेगा। सब कर्त्तव्योंसे छूट गये। तो यह जो कर्तव्योंसे छुट्टी मिली, उसमें सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति हो गयी। क्यों? कर्त्तव्य पूरा करनेमें ही मनुष्यको पाप भी लगता है। एकके प्रति कर्त्तव्य पूरा करने गये, दूसरेकी उपेक्षा हो गयी, तिरस्कार हो गया, हिंसा हो गयी। तो कर्त्तव्यके साथ दोष भी लगे रहते हैं। गीताका सिद्धान्त है, 'सर्वारम्भा हि दोषेण।' भगवद्गीता 18-48 संसारमें जितने काम शुरू किये जाते हैं उनमें दोष जुड़ा रहता है। बिना दोषका कोई काम नहीं होता।

तो सबसे बढ़िया यह है कि हम ऐसी अवस्थामें पहुँच जायें जहाँ कर्त्तव्यका कोई झगड़ा ही न हो। तो भगवान् कृष्णने बताया–एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्'–यह जब तुम समझ लोगे, तब बुद्धिमान् हो जाओगे। अपनी आत्मासे अभिन्न परमात्माको जानना बुद्धिमानीका काम है और बिना उसको जाने कोई कृतकृत्य हो नहीं सकता।

(पुरुषोत्तमयोग पृ. 258-261)

दुराचारी भी धर्मात्मा हो सकता है

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। गीता 9.30

भावार्थ–*यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भजन करता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने यथार्थ निश्चय कर लिया है।*

अब प्रश्न यह आया कि यदि कोई दुराचारी हो तो भगवान् क्या करेंगे?

दुराचारीको छोड़ देंगे कि पकड़े रहेंगे? क्योंकि कोई-कोई प्रेमी ऐसा होता है कि आचरणमें कभी च्युत हो जाता है। ज्ञानमें भी कभी पूर्णता नहीं होती है। तो भगवान् क्या देखेंगे वहाँ? बोले कि भगवान् न तो उसके ज्ञानकी ओर देखेंगे और न आचारकी ओर। भगवान् तो प्रेम ही देखते हैं। प्रेमको छोड़कर और कुछ देखना उन्हें नहीं आता है।

पहले भगवान्की आँख सब कुछ देखा करती थी, परन्तु उन्होंने भक्तके प्रति प्रेमका एक ऐसा लेंस लगा लिया है कि उनको न तो अपने भक्तके ज्ञानकी कमी दीखती है और न उसके आचारकी त्रुटि दीखती है। वे देखते हैं केवल उसका प्रेम।

भगवान्को भक्तका दोष दिखता ही नहीं है। भक्तका दोष देखनेमें भगवान् अन्धे हैं। जब भक्तोंका गुण देखना होता है–तब भगवान् आँखें खोल लेते हैं, और जब भक्तका दोष देखना होता है–तब भगवान् आँखें बन्द कर लेते हैं।

भक्तने यह प्रतिज्ञा कर ली कि अब मैं भगवान्को छोड़कर किसीकी सेवा नहीं करूँगा। भगवान्ने कहा कि महात्मा लोगों, देखो! अब तुम उसको दुराचारी मत कहना। पूरा साधु मानना।

मनुष्यका जो जीवन है, वह कर्मरूप नहीं है; निश्चयरूप है। कर्मको इतना मूल्य मत दो। मनुष्यके निश्चयको मूल्य दो कि वह क्या निश्चय किये हुए है?

देखो, रास्तेमें जब आदमी चलने लगता है, तब ठोकर लगने पर कहीं गिर भी पड़ता है। हम लोग एक बार बद्रीनाथ जा रहे थे, तो देवप्रयाग तक जाते-जाते ऐसा हो गया कि चल भी न सकें। पाँच-छह दिन वहीं ठहर गये। वहाँ डाक्टरकी दवा की, अच्छे हुए और फिर आगे बढ़े। ऐसा नहीं कि गिर पड़नेसे, पाँव लड़खड़ा जानेसे अपनी यात्रा बन्द कर दें। यदि यह निश्चय है कि हमको वहीं पहुँचना है, तो पाँव लड़खड़ाते हैं तो लड़खड़ाने दो। गिरते हैं तो गिरने दो। फिर उठो, फिर चलो। गिरना अपराध नहीं है। अपराध अपनी यात्रा बन्द कर देना है। तुम्हारा विश्वास नहीं टूटना चाहिए। निश्चय बिलकुल पक्का रखो कि हमें तो गन्तव्य स्थान तक पहुँचना ही है–'सम्यग् - व्यवसितो हि सः।

यह नहीं समझना कि दुराचारी धर्मात्मा नहीं हो सकता। धर्मात्मा नहीं होनेवाला होता तो भगवान्की ओर चलता ही कैसे? उसको मिलनेवाले फलमें भी दोष नहीं होगा–उसे शाश्वती शान्ति मिलेगी– 'शश्वच्छान्तिं निगच्छति।' गीता 9-31।

(श्रीगीता रस-रत्नाकर-पृ. 412-143-414)

भगवान् व्यापारी नहीं है!

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। भगवद्गीता-12.20

परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।

भगवानके शब्द यहाँ ध्यान देने योग्य हैं। जो ज्ञानीभक्त हैं, जिनमें 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदि गुण विद्यमान हैं, उन्हें तो भगवानने केवल 'प्रिय' कहा और जिसमें वे गुण अभी आये नहीं हैं, उन्हें अपनेमें लानेका प्रयत्न कर रहा है, जिसे अभी भगवान मिले भी नहीं है, केवल श्रद्धा करके जो भगवानके परायण हुआ है, उसे भगवान् 'अती प्रिय' कह रहे हैं। यह बात कुछ अटपटी जान पड़ती है। यहाँ विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भक्त अभी शिशुके समान है। अभी यह चलनेका प्रयत्न कर रहा है। इसे प्रोत्साहनकी आवश्यकता अधिक है।

जो ज्ञानी भक्त हैं, जिन्होंने भगवानको प्राप्त कर लिया है, भगवानके सौन्दर्य-माधुर्यका जो रसास्वादन कर रहे हैं, उनका प्रेम यदि भगवानसे है तो इसमें विशेषता क्या है? उनका प्रेम भगवानसे न हो, तभी आश्चर्यकी बात होती। अद्वेषादि गुण उनमें स्वभावसे ही आ गये हैं। इसके लिए भी उन्हें कुछ करना तो पड़ता नहीं है। जिसने सबमें ईश्वरका दर्शन कर लिया, वह किसीसे द्वेष नहीं करता तो बड़ी बात क्या करता है? लेकिन जिसने ईश्वरको देखा नहीं, उसके सौन्दर्य-माधुर्यका रस जिसने पिया नहीं, वह केवल सुनकर, उस सुनी हुई बातमें श्रद्धा करके ईश्वरके परायण हो गया, ईश्वरसे प्रेम करने लगा, उससे ईश्वरको अत्यन्त प्रेम होना ही चाहिए। उसे तो शत्रुमें ईश्वर दीखता नहीं, दीखता सामने शत्रु हैं; किन्तु सुना है कि सबमें भगवान् हैं, इसलिए शत्रुके प्रति द्वेष मनमें न आये, इस प्रयत्नमें लगा है। भगवानको ऐसा बालक, प्रयत्नशील श्रद्धालु भक्त अतिशय प्रिय है।

साधक भक्त नन्हें बच्चेकी भाँति है। माता-पिता अपने सभी पुत्रोंसे प्यार करते हैं; किन्तु छोटे बच्चेपर उनका स्नेह स्वाभाविक ही अधिक होता है। भगवान प्यार तो ज्ञानीभक्तको भी करते हैं; किन्तु इस साधक भक्तको अतिशय प्यार करते हैं। जिसमें भक्ति अत्यन्त पुष्ट है, उससे तो कम प्रेम और जो भक्ति-प्राप्त करनेके मार्गमें चल रहा है, उसे अधिक प्यार, यह बात साधारण व्यक्तिको उलटी लग सकती है। लेकिन भगवान् व्यापारी नहीं हैं कि भक्तिके बदलेमें अपने स्नेहका सौदा तौल-तौलकर देवें। वे तो यह देखते हैं कि अधिक प्रोत्साहन देनेकी किसे आवश्यकता है?

(भक्तियोग : पृ. 355-357)

भगवान्के दर्शनकी श्रेणियाँ

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। भगवद्गीता 18.55

वास्तवमें जितना एवं जो मैं हूँ-भक्ति द्वारा इसकी वह अभिज्ञा करता है। उस भक्तिसे मुझे यथावत् जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

भगवान्ने यहाँ बातको बहुत स्पष्टरूपसे कहा है। वे कहते हैं **भक्त्या मामभिजानाति**, मुझसे परिचय भक्तिके द्वारा होता है। देख लेने मात्रसे परिचय नहीं होता। परिचय होता है सेवासे।

प्रतिदिन सुषुप्तिमें आत्मा अकर्ता-अभोक्ता रहता है। सबको प्रतिदिन कई घण्टे यह अवस्था प्राप्त होती है; किन्तु क्या इससे ब्रह्मज्ञान होता है? सुषुप्तिमें सुखी-दु:खीपना, कर्ता-भोक्तापना, सब छूट जाता है, सब सम्बन्ध, सब अभिमान लीन हो जाते हैं, किन्तु इतने पर भी ब्रह्मज्ञान नहीं होता। जबतक श्रवण-मनन-निदिध्यासन नहीं किया जाता, ज्ञान नहीं होता है। अतएव परमात्माको देखना ही पर्याप्त नहीं है, उसका अभिज्ञान चाहिए।

भक्त्या मामभिजानाति-भक्त भक्तिसे भगवान्को जानता है।

भगवान्के दर्शनकी भी कई श्रेणियाँ हैं :-

(1) भगवान्का दर्शन हो गया, झाँकी हुई; किन्तु कोई बात नहीं हुई।

(2) भगवान्के दर्शन हुए, बात भी हुई; किन्तु उन्होंने वरदान माँगनेको नहीं कहा।

(3) उन्होंने वरदान माँगनेको कहा, वरदान भी दिया; किन्तु यह नहीं कहा कि तुम मेरे हो।

(4) भगवान्ने भक्तको दर्शन देकर अपना भी स्वीकार कर लिया; किन्तु यह नहीं कहा कि मैं तुम्हारा हूँ।

(5) भक्तको अपना स्वीकार किया प्रभुने और अपनेको भक्तका भी कह दिया; किन्तु 'हम तुम दोनों अभिन्न हैं' यह नहीं कहा।

(6) भगवान्ने भक्तको अपनेसे अभिन्न कर लिया। इसी अवस्थाको वेदान्तमें 'आवरण भंग' कहते हैं।

अविद्या निवृत्त (आवरण भंग) हो जाने पर ज्ञानीमें यावज्जीवन बनी रहनेवाली ब्रह्ममयी वृत्तिका नाम भक्ति है।

बारहवें अध्यायमें जो भक्तियोगका प्रारम्भ हुआ, उसकी परिसमाप्ति इस प्रकार गीताके अठारहवें अध्यायमें यहाँ आकर हुई है।

(भक्तियोग : पृ. 367-369/373)

ईश्वरके भजनके आनन्दमें निर्मलता है

भजतां प्रीतिपूर्वकम्-अपनी प्रीति ईश्वरमें जोड़ो। प्रेमसे हृदयमें ईश्वरका सेवन करो। ईश्वरको चखो। चखें कैसे? कि ईश्वरको भोग लगाओ। उसका स्वाद भोगमें आ जायेगा। ईश्वरकी पवित्रता भोगमें आ जावेगी। दिखावेके लिए जो भोग लगाते हैं अथवा नेगचारके लिए जो भोग लगाते हैं, उनकी बात दूसरी है। दिलसे जो भोग लगाते हैं, उसमें स्वाद आ जाता है।

एक आदमी बहुत भजन करते थे, खूब माला फेरते थे। जब वे भजन करने बैठते तो उनकी आँखों से झर-झर आँसू गिरते और शरीरमें रोमाञ्च होने लगता था। मैंने उनसे पूछा तुम्हें भजन के समय मजा आता है? बोले-आता है। तो मैंने उनसे पूछा-अच्छा गुड़ खाते समय जीभको जितना स्वाद आता है। भजन करते समय उताना आता है कि नहीं आता? तो बोले कि अच्छा मैं सोचके बताऊँगा। फिर गुड़ खाया। बोले कि गुड़ खाते समय मजा तो ज्यादा आता है, लेकिन उसमें कुछ मलिनता मालूम पड़ती है और भजन करते समय जो मजा आता है, उसमें निर्मलता, स्वच्छता मालूम पड़ती है।

भजन करते समय विषय और इन्द्रियों का संयोग नहीं है, इसलिए गन्दगी नहीं है। भजन करते समय आनन्द तो ऐसा आता है जैसे कोई 'ग्लेशियर' दिल में हो, उसमें से टप-टप पानी टपकता हो। ऐसे यह सात्त्विक हृदय, सफेद बर्फकी तरह हिमानी है, ग्लेशियर है और उसमें से अमृतकी गंगा बहती है। ऐसा शीतल और स्वादु है, सन्त लोग पहले पीते थे इसको।

रस गगन गुफा में अजिर झरे।

कबीरदास कहते हैं कि आकाशकी गुफा में निरन्तर रस-प्रस्रवण होता रहता है, एक अमृतका गंगा रूपी झरना हृदयमें बहता है और वह जल ज्योतिर्मय शिवपर आकर गिरता है। देखो, क्या आनन्द आता है! उसमें निर्मल आनन्द होगा। उसकी गन्ध, उसका रस, उसका रूप, उसका स्पर्श, उसकी ध्वनि निर्मल होगी।

और, यह संसारमें जो मजा आता है तो यहाँ तो भोजन-पान करनेके बाद मुँह धोना पड़ता है। अगर गन्दगी न पैदा होती तो क्यों धोना पड़ता, क्यों पोछना पड़ता? संसारमें विषय भोगके अनन्तर स्वच्छता चाहिए। कोई भी विषय-भोग करें, उसमें गन्दगी आती है।

एक बार इत्र लगा लेते हैं शरीरमें, लेकिन दूसरे दिन साबुन न लगावें, तो थोड़े दिनों के बाद मैला हा जायेगा शरीर। लगाते जाओ इत्र, पर मलिनता है न! संसारके भोगों में मलिनता है। और ईश्वरका जो आनन्द है उसमें निर्मलता है।

डबल कृपा

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः....(भ.गी. 11/10)

'भक्तोंपर कृपा करनेके लिए उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं प्रभावाले ज्ञानरूप दीपकसे, अज्ञानसे उत्पन्न तमको नष्टकर देता हूँ।'

यहाँ भगवान् स्वयं अपने मुँहसे अपने भक्तपर जो विशेष कृपा करते हैं, उसका वर्णन कर रहे हैं। शिष्टाचार तो ऐसा है कि अगर किसीका कोई उपकार करे, तो अपने मुँहसे न बतावे कि हमने तुम्हारे ऊपर यह कृपा की है। परन्तु यह एक बात ऐसी है कि भगवान् जो कृपा जीवपर कर रहे हैं और भक्तपर जो प्रेम कर रहे हैं, वह संसारी जीवोंकी समझमें, भक्तोंकी समझमें जल्दी आती नहीं है और जबतक उनको समझमें नहीं आवेगा। तबतक उनका कल्याण नहीं होगा।

तो, यह भी कृपापर कृपा है, माने डबल कृपा है। क्योंकि जो कृपाको समझे नहीं, स्नेह-प्रेमको समझे नहीं उसके ऊपर किया हुआ स्नेह-प्रेम, की हुई कृपा भी अपना फल नहीं दिखाती है। कारण यह है कि उसके हृदयकी जो रुक्षता है, जो कठोरता है वह दूर नहीं होती है। इसलिए भगवान् कृपा करके यह बात भी बताते हैं।

भगवान् देखते हैं कि ये जो हमारे भक्त हैं ये तो हमारे लिए ही नाचते हैं, गाते हैं, बजाते हैं; हमारे अन्दर अपना मन लगाते हैं, अपनी बुद्धि लगाते हैं, मेरी बात करते हैं, मुझमें लगे रहते हैं, तो इन भक्तोंको प्रयत्न करके कर्तृत्व पूर्वक लगे रहना पड़ता है। इन्हें जोर लगाकर हमको पकड़ना पड़ता है। अब इनके ऊपर ऐसी कृपा करें कि जिससे इनको जोर न लगाना पड़े और मैं मिलता रहूँ। यह ज्ञानकी विशेषता हो गयी।

भक्तिकी विशेषता है कि भक्त अपने मनसे, बुद्धिसे, प्राणसे, वाणीसे, कर्मसे अपने प्यारे भगवान्‌को पकड़े हुए है।

अब भगवानके हृदयमें कृपाका जब समुद्र उमड़ा तब उन्होंने कहा कि अब ऐसा कर दें कि किसीको पकड़ना न पड़े। तो–उनके ऊपर कृपा करनेके लिए कि जिससे वे साधनके परिश्रमसे मुक्त हो जायँ।

अतएव भगवान् , साधन और साध्यभावकी निवृत्तिके लिए अप्राप्तपनेका भाव ही काट देते हैं।

इसप्रकार भगवान् कृपा करके साध्य-साधनके भ्रमको काट देते हैं।

भगवान्‌की विभूति (वैभव) दिव्य है!

देखो, जिसको श्रीकृष्णकी एकबार झाँकी दिख गयी, जिसके सामने उनका एक बार सौन्दर्य दिखायी पड़ गया, जिसको एक बार उनके वैभवकी झाँकी मिल गयी, संसारका वैभव उसको फँसा नहीं सकता। उसको तो वह जादू मालूम हो गया, वह मन्त्र मिल गया, जिससे कि संसारमें अब कोई भी उससे बढ़िया चीज दिखा नहीं सकता, तो वह कैसे लुभायेगा संसारकी वस्तु पर? यह भगवान्‌की विभूति अर्थात् वैभव दिव्य है। और भगवान्‌के सिवाय इसको और कोई नहीं दिखा सकता, बता नहीं सकता। क्योंकि इसका रहस्य तो वही जानते हैं।

एक बारकी बात है, मैं वृन्दावनमें था। किसी बात पर दुःखी हो गया। तो मैंने कहा—चलो वृन्दावन छोड़ दें। कभी नहीं आवेंगे, वृन्दावनमें क्या रखा है! गुस्सा आया और अपना दण्ड, कमण्डलु उठाया, बायें हाथमें कमण्डलु और दाँये हाथमें दण्ड, और निकल पड़ा वहाँसे कि अब वृन्दावनसे जाते हैं। कोई पोटली तो अपने पास थी नहीं; कहाँ जायेंगे यह भी मालूम नहीं था, किराया भी नहीं था। लेकिन जब वृन्दावनसे बाहर निकलने लगे, लुटेरिया हनुमानसे जरा आगे बढ़े—वहाँ एक नाला पड़ता है, पुल बना हुआ है और उसके चारों ओर वृक्ष हैं। तो दृष्टि पड़ी वृक्षों पर। ऐसा लगे कि ये वृक्ष-पौधे नहीं हैं। बिलकुल सुनहले पत्ते, सुनहली डालियाँ चमकें, वृक्षोंकी डाल हिलती हुई दिखे—ऐसा मालूम पड़े कि मुझे मना रहे हों कि कहाँ जा रहे हो? यह है श्रीकृष्णका वैभव! तो उस समय वृन्दावनने अपना वैभव प्रकट कर दिया और अब जब उसने वृन्दावनमें मना लिया तो फिर मैं लौटकर आ गया।

यह भगवान्‌की विभूति इसी सृष्टिमें देखनेको मिलती है। कभी दिव्यरूपके महात्मा तो कभी दिव्यरूपके देवता मिलते हैं। यहाँ हिमालयमें, गंगाजीके किनारे, ब्रजभूमिमें ऐसी-ऐसी दिव्य विभूतियोंका दर्शन होता है!

याभिर्विभूतिभिर्लोकान् इमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि भगवद्‌गीता 10.16—ये जितने लोक हैं, इनमें भगवान् अपनी विभूतियोंके द्वारा व्याप्त होकर विराजमान हैं।

जहाँ देखो, वहाँ भगवान्; जहाँ देखो, वहाँ भगवान्‌की विभूति। यह तो हमारी नजरकी, हमारी आँखकी कमी है कि वे हमें नहीं दिखायी देते।

(विभूतियोग : पृ. 407-409)

तुम सब मेरे पास आओ, मैं तुम्हें शान्ति दूँगा!

तुम आत्मतुष्टि और आत्मग्लानि पर ध्यान रखो। यदि बुरे काम करोगे तो तुमको आत्मग्लानि जरूर होगी, दुःख जरूर होगा। और यदि आत्म-तुष्टिसे भरकर काम करोगे तो उसी समय उस सत्कर्मका फल सुखके रूपमें भोगोगे। आप स्वयं सोचो कि जब आप किसीको दुत्कार देते हो तो आपके मनमें ग्लानि होती है कि नहीं? यदि आप एक रोते हुए को हँसा दें, एक मनहूसको मुस्कान दे दें और एक दुःखीको एक बार सुखी कर दें तो यह आपका बड़ा भारी काम है।

आपकी यह गीता आपको इसी समय परमानन्द देनेवाली है। यह भगवती गीता, सबको आनन्द बाँटती हुई, रस बाँटती हुई, ज्ञान बाँटती हुई, जीवन बाँटती हुई, संगीतकी धारा प्रवाहित कर रही है। गीताका कहना है कि आपके हृदयमें ईश्वरका निवास है और ईश्वर 'पुण्योगन्धः' है। उसके द्वारा तुम्हारे हृदयमें-से एक सौरभ, एक सुगन्ध निकलकर फैल रही है। 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'-ईश्वर रस है। इसलिए तुम्हारे हृदयमें-से रसकी फुहारें छूट रही हैं। ईश्वर सौन्दर्य-माधुर्यका निधान है, इसलिए तुम्हारे जीवनमें सौन्दर्य-माधुर्य प्रस्फुटित हो रहा है।

ईश्वर बड़ा कोमल है, बड़ा सुकुमार है। वह दयासे, प्रेमसे, करुणा और वात्सल्यसे भरा हुआ है। इसलिए तुम्हारे जीवनमें भी ये सारे सद्गुण प्रकट होने चाहिए। ईश्वरमें अनन्त पौरुष है, इसलिए तुम्हारे भीतर भी एक बड़ा भारी पौरुष, एक बड़ी भारी शक्ति भी पड़ी है; जिसके द्वारा तुम चाहो तो दुनिया को उलट-पुलट कर सकते हो। तुम तो उस ईश्वरके अंश हो जो सम्पूर्ण विश्वको अपने सुख और आनन्दसे भरता है।

गीता माता इस ज्ञानका, इस जीवनका वितरण करने आयी है, जो सत् है, चित् है और आनन्द है।

मैं पहले बाइबिलमें यह वचन पढ़ा करता था कि-'तुम सब मेरे पास आओ, मैं तुम्हें शान्ति दूँगा।' परन्तु यह वचन निकला कहासे है?

देखिये यह गीतामें-से निकला है-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18.66

यही तो है वह मूल स्रोत जिसमें-से बाइबिलका उक्त आश्वासन वाक्य निकला है। हमारी गीतामें भगवान् कहते हैं-'भरोसा दूसरेका मत करो; एक मात्र मेरे भरोसेपर आ जाओ। मैं तुम्हें सारे दुःख से छुड़ा दूँगा!'

(गीतामें भक्ति-ज्ञानसमन्वय, पृ. 107-180-109)

भगवान् तो सहृदयोंके शिरोमणि हैं!

गीता छोटेके लिए भी है, बड़ेके लिए भी है, सबके लिए है।

जितने भी मजहब हैं, वे कहते हैं कि जो हमारे शास्त्रको नहीं मानेगा वह हमारे मजहबका नहीं है। आपने सुना ही होगा कि जो बाइबिलको न माने वह ईसाई कैसा? जो कुरानको न माने वह मुस्लिम कैसा? वैदिक लोग भी यह कहते हैं कि जो वेदको नहीं मानता, वह सर्वधर्म बहिष्कृत है, उसको क्या पूछना?

किन्तु गीताने इस बातपर दृष्टि डाली है और टीकाकारोंको उसमें बुद्धि लगानी पड़ी है। आप गीता पढ़ते होंगे और न पढ़ते हों तो जरूर पढ़ें। अधिक न पढ़ें तो आप एक नियम यह ले लें कि केवल दो श्लोक रोज पढ़ेंगे। इस तरह एक वर्षमें गीताकी एक आवृत्ति पूरी हो जायेगी। आप यह श्लोक देखें–

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः।। 17.1

हे कृष्ण! जो शास्त्रकी विधि समझे बिना; किन्तु श्रद्धासे सम्पन्न होकर देवादि-विषयक पूजा, यज्ञ, दान करते हैं उनकी सात्त्विक, राजस, तामसमें-से कौन-सी निष्ठा होती है? अद्भुत प्रश्न है। इसका जैसा उत्तर गीतामें दिया गया है, वैसा दुनियाके किसी मजहबमें-किसी भी पन्थमें नहीं मिलेगा। 'उत्सृज्य'का अर्थ मैं क्या सुनाऊँ, वह आचार्योंके विरुद्ध पड़ता है। किन्तु उत्सृज्यका अर्थ होता है जान-बूझकर फेंक देना। अब आप देखें कि कोई किताबी मजहब किताब छोड़नेको कितना बड़ा अपराध मानता है। किताब छोड़नेवालोंमें भले ही श्रद्धा हो, लेकिन वह श्रद्धाको बड़ा सद्गुण नहीं मानेगा। किन्तु गीताका कहना है कि हम उस हृदयको देखते हैं जिसमें श्रद्धाका निवास है। भगवान् देखते हैं–हृदय। इस संसारमें भी सहृदय पुरुष हृदय ही देखते हैं। भगवान् तो सहृदयोंके शिरोमणि हैं और कहते हैं कि जो श्रद्धालु है, वह शास्त्र-विधिको छोड़ भी दे तो उसकी श्रद्धा उसको ऊपर उठाकर ले जायेगी। यह श्रद्धा भक्तिकी माँ है। श्रद्धासे भक्ति प्रारम्भ होती है। 'आदौ श्रद्धा ततः सङ्गः ततोऽस्ति भजनक्रिया'-पहले श्रद्धा होती है, उसके बाद सत्सङ्ग होता है और जब सत्सङ्ग होता है तब भजन होता है।

जब तुम श्रद्धापूर्वक, रुचिपूर्वक, प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का अनुस्मरण करोगे तो क्या भगवान् तुम्हारे हृदयमें नहीं प्रकट होंगे?

(गीतामें भक्तिज्ञान-समन्वय : पृ. 35-36)

अपने दिलको शोक-प्रूफ बनाओ

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।भगवद्गीता 6.23

जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिए। उस 'योग'का अभ्यास न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना चाहिए।

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं.........'-इसमें जो 'दुःख संयोग वियोग' है, इसपर हम आपका ध्यान जानबूझकर खींच रहे हैं। क्या दुःखके वियोगका नाम योग है, दुःखका वियोग ही हो जाय माने दुःख परदेश चला जाय अथवा दुःखको उठाकर फेंक दिया जाय कि कुछ तो अमेरिकाकी ओर चला जाय और कुछ योरोपकी ओर चला जाय-इसका नाम योग है? नहीं, दुःखवियोगका नाम योग नहीं है। तब? दुःखके संयोगके वियोगका नाम योग है। दुःख तो हो, पर उसके संयोगका वियोग हो माने वह अपने साथ चिपक न सके। जन्म-मरण भी हो, धन-हरण भी हो, भवन-दहन भी हो और भी जो होना हो सो होता रहे, लेकिन वह हमारे साथ न लगे। ऐसी कोशिश मत करो कि तालाबमें जोंक (Leech) न रहे, बल्कि इस तरहकी दवा लगा लो कि तुम्हारे शरीरमें जोंक चिपके ही नहीं।

इसी तरह दुनियाको रहने दो अपनी जगह पर। इसको मिटानेकी कोशिश मत करो। जो मरते हैं, उनको मरने दो; जो बिछुड़ते हैं, उनको बिछुड़ने दो; जो छूटते हैं, उनको छूटने दो, परन्तु इस बातका ध्यान रखो कि कहीं दुःख अपने साथ न चिपक जाय। अपनेको सब चिपकनोंसे बचा लेना ही योगका काम है।

किसी स्त्रीका बच्चा मर गया तो जैसे बन्दरिया अपने मरे हुए बच्चेको गोदमें लिए रहती है, वैसे ही कहती रही कि कोई इसे जिला दो, कोई जिला दो, कोई जिला दो! लोगोंने कहा कि यह पागल हो गयी है। फिर लोगोंको मजाक सूझा तो उसको कह दिया कि बुद्धके पास जाओ, वे बड़े भारी महात्मा हैं, जिन्दा कर देंगे तुम्हारे बच्चेको। वह स्त्री गयी बुद्धके पास और बोली कि बाबा, हमारे बच्चेको जिन्दा कर दो। बुद्धने कहा कि माई, मैं जिन्दा कर दूँगा। लेकिन उसके लिए हमको एक मुट्ठी सरसों (Mustard seeds) ऐसे घरसे लाकर दो, जिसके खानदानमें कोई मरा न हो। वह स्त्री गयी सरसों ढूँढ़नेके लिए, लेकिन सरसों नहीं मिली।

इसी तरह यदि तुम यह चाहते हो कि हमारा कोई मरे ही नहीं, तब हम सुखी होंगे तो तुम्हारी यह चाह ठीक नहीं है। अरे मरने दो, लेकिन मरनेका दुःख तुम्हारे दिलमें व्यापे नहीं। अपने दिलको शॉक प्रूफ नहीं, शोक-प्रूफ बनाओ।

श्लोकके उत्तरार्द्धमें दो बातें कही गयी हैं। एक तो 'निश्चयेन योक्तव्यः'-निश्चय करके इसमें लगना चाहिए और दूसरे चित्त निर्विण्ण न हो-उकताये नहीं-'अनिर्विण्णचेतसा'। यह कहना ठीक नहीं है कि अरे, बहुत दिन हो गये साधना करते-करते; लेकिन उसका परिणाम कुछ नहीं हुआ। अर्थात् निश्चय दृढ़ करके अनिर्विण्ण चित्तसे अपनेको योग करना चाहिए।

(गीतारसरत्नाकर - पृ. 295-297)

समर्थ स्वामीश्री योगानन्दपुरी

मेरे गाँवसे थोड़ी ही दूर, पाँच मील पर एक सहेपुर गाँव है। स्वामीजी वहीं रहते थे और स्वाध्याय, जप, पूजा, ध्यान, चिन्तनमें अपना समय व्यतीत करते। स्वामीश्री योगानन्दजी महाराजके गुरु श्रीस्वामी नित्यानन्दजी एवं उनके गुरु परमहंस श्रीरामकृष्ण थे।

मैंने उनके मार्गदर्शनमें गायत्री-पुरश्चरण किया, इससे स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए। तत्पश्चात् उन्होंने मुझे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा प्रदान की। यथाशक्ति श्रद्धा एवं विधिसे मैं अनुष्ठान करता रहा। स्वामीजीकी आज्ञा थी कि कलियुगमें जपकी संख्या चतुर्गुण होनी चाहिए। जब मैं उदास, निराश एवं विषादग्रस्त होने लगता, तब स्वामीजी बड़े प्रेमसे वात्सल्यसे उत्तेजित करते। 'क्लैब्यं मा स्म गमः' नपुंसक मत बनो। कोई सफलता नहीं दिखती इससे क्या? साधनकी घनघोर अन्धकारमयी निशाका अब अवसान होने ही वाला है। यह मत समझो कि यह अन्धकार अविनाशी है। अब थोड़ा-सा शेष है। रात बीत गयी-दो घड़ी बाकी रही। सूर्योदय होगा। हृदय-कमल खिलेगा।

एक बार वे कर्णवासमें चातुर्मास्य करनेके लिए गये। मैं भी उनके साथ वहाँ गया। मैं जप-अनुष्ठान करता तो ऐसा लगता कि मेरे लिए घर वाले अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। मैंने स्वामीजीसे निवेदन किया। इस पर स्वामीजीने कहा—यह सब अनुष्ठानका विघ्न है। जब साधक सिद्धि-लाभके निकट पहुँचता है, तब देवता लोग, माता, पत्नी, पुत्र आदिका वेश धारण करके विघ्न डालने लगते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिए। वे लोग अपने घरमें सुखी हैं। तुम उनकी चिन्ता मत करो।

स्वामीजी श्रीयोगानन्दजी महाराजके पास जाना-आना होता ही रहा। कभी जेठकी दोपहरीमें नंगे पाँव, नंगे सिर चले जाते, तो वे हँसकर बोलते-'बाहर गर्मी है, भीतर आजाओ। यहाँ शीतलता ही शीतलता है।' हँसकर भीतर बुला लेते। कभी गम्भीर शास्त्र चर्चा करते। शिवरात्रि आदिका दिन होता, तो पूजा-पाठमें ही लगा देते। स्वामीजी अपने गुरुदेवके चित्रमें ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण आदि सबकी पूजा कर लेते। कभी-कभी भागवतकी वह प्राञ्जल एवं प्रसाद-माधुर्यसे परिपूर्ण कथा सुनाते कि जगत्की विस्मृति हो जाती।

स्वामीजीने मुझे अपने अनेक ग्रन्थ भी दिये थे। वे सभी शास्त्रोंको बोलचालकी भाषामें सरल-से-सरल करके समझा देते थे।

स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराजकी शिक्षा, दीक्षा, प्रेरणा, प्रोत्साहनसे ही मेरी प्रतिभा प्रस्फुटित होती गयी। आज अतिशय कृतज्ञताके साथ मैं उनका स्मरण कर रहा हूँ।

(पावन प्रसंग : पृ. 125-133)

जागरण ही साधन है और यह करना ही होगा

मनुष्य जीवनका लक्ष्य परमसुखकी प्राप्ति है।

साधारण मानव समाजकी ओर दृष्टि डाली जाय तो यह प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है कि सभी किसी-न-किसी साधनमें अर्थात् लक्ष्यकी प्राप्तिमें लगे हुए हैं। ऐसा होने पर भी वे दुःखी हैं, निराश हैं और साधना करके जिस आत्म-तुष्टिका अनुभव करना चाहिए, वे उससे वञ्चित हैं। कारण यह है कि विनाशी वस्तुओंको सुख समझकर अपनानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वास्तविक सुख एकमात्र 'परमात्मा' है। परमात्माको प्राप्त करनेमें ही जीवके जीवनकी पूर्णता है। और जिस जीवनका वह लक्ष्य है वही सच्चा जीवन है।

हृदयके अन्तर्देशमें परमात्मा और उसके बहिर्देशमें स्थूल प्रपञ्च है। दोनोंके मध्यमें स्थित हृदय जब स्थूल प्रपञ्चका चिन्तन करता है तब जड़भावापन्न हो जाता है और जब अन्तःस्थित चित्स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता है, तब चिद्भावापन्न हो जाता है। हृदयको जड़ताके दलदलसे निकालकर चिद्भूमि पर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न ही साधना है। इस प्रयत्नमें अनेकों प्रकारके स्तर और भूमिकाएँ सहजरूपसे ही आती हैं। कई साधक पहले जन्मोंमें उनमें-से बहुत-सी अथवा कुछ भूमिकाएँ पारकर चुके होते हैं, इसलिए वर्तमान जन्ममें उन्हें उसके आगेकी ही साधना करनी पड़ती है। अधिकार-भेदका भी यही कारण है। इसीसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिए अलग-अलग साधनाओंका निर्देश है। जैसे किसी साधकका अभिमान स्थूल शरीरमें है तो किसीका सूक्ष्म शरीरमें-इसके भी अनेकों स्तर होते हैं। जो जिस स्तरकी साधनाको पार कर चुका है, वह उसके लिए सहज होता है और जो अभी दूर है, उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। ज्ञानसम्पन्न पुरुष कभी किसी भी साधनाका विरोध नहीं करते।

अपनी वासनाएँ ही जो कि अनादि कालसे अगणित रूपोंमें दबी पड़ी रहती हैं, नाना प्रकारके रूप धारण करके आती हैं। समस्त संस्कारोंके धुल जाने पर ही परम सत्यका साक्षात्कार सम्भव है। उसको धो डालना ही साधनाओंका काम है। जबतक लक्ष्यकी सिद्धि न हो, तबतक साधनासे निवृत्त हो जाना कायरता है।

यह देखा गया है कि भगवत्कृपा पर जिनका जितना अधिक विश्वास है, वे उतना ही अधिक साधनामें संलग्न होते हैं। अज्ञान निद्रामें सोया हुआ यह जीव यदि जग जाय तो यह अपनेको परमात्माकी गोदमें अथवा उनके स्वरूपमें ही पाकर निहाल हो जाय और दृश्य प्रपञ्चकी सारी विभीषिकाएँ निर्मूल होकर लीलाके रूपमें दीखने लगें। यह जागरण ही साधन है और यह करना ही होगा।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंको प्राप्त करके ज्ञान प्राप्त करो!

(भक्ति सर्वस्व : लेख-साधनकी अनिवार्य आवश्यकता)

मनके स्वामी बनो

परमात्मारूप कल्पवृक्षकी छायामें तुम रहते हो। वहाँ अपने बारेमें तुम जैसा सोचोगे, वैसे हो जाओगे। अपने बारेमें हीन भावना नहीं लानी चाहिए। पहली बात तो यह है कि तुम परब्रह्म परमात्मा ही हो! दूसरी बात यह है कि शुद्ध द्रष्टा हो तुम! तीसरी बात यह है कि ईश्वरके अंश हो तुम! और, चौथी बात यह है कि शरीरके संचालक हो तुम! अपने आपको कहीं भी अवसन्न (दुःखी) मत करो।

मनुष्यको अपने मनका गुलाम नहीं होना चाहिए, अपने मनका मालिक होना चाहिए। मालिक मानने का अर्थ यह होता है कि मन आज्ञाकारी हो। ऐसे ही हम मालिक नहीं मानते हैं। एक धनी होता है, धनस्वामी और एक धनदास होता है। जिसके पास धन तो बहुत हो, पर किसीको दे न सके, देनेका सामर्थ्य नहीं है, तो वह धनका सेवक हुआ। जिन्दगी भर सेवा करेगा और वैसे ही छोड़कर मर जायगा। पता नहीं, किसके हाथ लगेगा? जो धनस्वामी होता है, वह अपना अधिकार रखता है। जो जिसका मालिक होता है, वह जो चीज चाहे, सो किसीको दे सकता है। देखो, दुनियामें जो भी चीज हो, तुम सोचो कि दुनिया में तुम क्या चीज नहीं छोड़ सकते? जो चीज तुम नहीं छोड़ सकते, नहीं दे सकते, वह भी तुम्हें एक दिन छोड़नी पड़ेगी, देनी पड़ेगी। तो यह बिल्कुल मोह है कि हम नहीं दे सकते। एक बात व्यवहारकी सुनाता हूँ—जैसे, घरमें पति-पत्नी रहते हैं और कभी झगड़ा हो जाय तो—'हमारे मनकी रहे'—यह आग्रह बिल्कुल नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह तो तुम्हारा नौकर है! 'चुप! सामनेवालेके मनकी होने दो'—ऐसे अपने मनको आज्ञा दो। तब तो मन तुम्हारा नौकर है।

यदि तुम्हारा मन प्रबल हो उठा और तुम जिद्द कर बैठे कि—'नहीं, आज तो हमारे मनकी होगी', तो मन तुम्हारा नौकर नहीं रहा। तुम मनके नौकर हो गये। दो आदमियोंमें परस्पर व्यवहारका मौका पड़े तो जहाँतक धर्मका विरोध न हो, सामनेवालेकी बात मान लो, अपना आग्रह छोड़ दो। अपने मनकी वासनाको नितान्त हल्की-फुल्की रखो, तब तुमको दुःख नहीं होगा। व्यवहार करते समय जब तुम अपने मनको तो मन मानते हो और दूसरेके मनको चुकन्दर (insignificant) मानते हो तो यह गलत है। आखिर उसका मन भी तो मन है! उसके मनको भी समझो! कभी अपने मनको छोटा कर दो, उसको बड़ा बना दो!

आदरकी परिपाटी यह है कि तुमको कोई काम करना हो तो अपने घरवालोंसे सलाह करके करो। उसमें यदि तुम्हारा बहुत बड़ा नुकसान न हो, तो उन्हींके मनकी करो। तुम्हारे साथ दुराग्रहरूपी एक भूत लगा हुआ है जो कभी-कभी तुमको बिगाड़ देता है अतएव सावधान रहना चाहिए। जिस दिन यह अपने मनकी जिद्द रखनेको कहे, उस दिन जरूर ही दूसरेके मनकी मानना चाहिए। दूसरेके मनके साथ अपने मनको मिलाओ तो वह तुम्हारे लिए अमृत हो जायेगा, विष नहीं होगा, दवा हो जायेगा।

(शिवसंकल्प सूक्त-पृ. 65-68)

साधनमें निष्ठा

हम लोग ऐसा करते हैं ना, कि जो समझ सकते हैं या कर सकते हैं या जो आसान होता है-उसको उतना पसन्द नहीं करते। बोले-जो सबसे बढ़िया साधन हो, हम तो वही करेंगे। यह नहीं देखते कि हम उसको कर भी सकते हैं कि नहीं, समझ भी सकते हैं कि नहीं? सुनेंगे तो ब्रह्मसूत्र ही सुनेंगे चाहे उसका एक अक्षर भी समझमें न आये। हम करेंगे तो वेदान्त-चिन्तन ही करेंगे। अपने अधिकारसे अपनी हैसियतसे, अपनी योग्यतासे ऊँचा साधन जब करना चाहते हैं-तब उसमें स्थिति नहीं होती है, निष्ठा नहीं होती है। जैसे कोई जहाँ चढ़कर नहीं जा सकता हो-वहाँ जानेके लिए बार-बार उछलने-कूदनेका प्रयास करे, तो गिरता है; उसी प्रकार जो लोग अपनी योग्यतासे बहुत ऊँची साधना करना चाहते हैं-उनकी स्थिति साध्यमें न होकर, साधनामें निष्ठा भी न होकर-गिर जाती है।

बड़ा आश्चर्य होता है जब कोई आकर पूछता है कि महाराज! हमको नाम-जप करते-करते, और जो आपने बताया वह करते-करते बहुत दिन हो गये। अब कुछ आगे की बात सुनाइये। यदि साधनमें निष्ठा हो जाती है तो उसमें जो कुछ आगे है-सो अपने आप ही आजाता है। आगे कहाँसे बढ़ोगे? जहाँ पाँव जमना चाहिए, वहाँ तो जमा ही नहीं।

हम अपने जीवनको तौलें कि हम जो काम करते हैं वह स्वार्थका विचार करके करते हैं अथवा परमार्थका विचार करके करते हैं? आप जो काम कर रहे हैं उससे भगवान् प्रसन्न होंगे? आपका अन्तःकरण शुद्ध होगा? आपका जीवन अच्छे मार्गमें बढ़ेगा? बढ़-बढ़कर बातें करनेसे कोई लाभ नहीं होता है। जीवनको एक गति मिलनी चाहिए। जिससे हम अन्तर्मुखताकी ओर बढ़ें।

सब बल झूठे, मात्र ईश्वरका बल सच्चा

आपको सुनाना यह चाहता हूँ कि दुनियाके सम्पूर्ण बल आपको काम नहीं देंगे। आप दुनियामें चारों ओर भयसे घिरे हैं। क्या आपके पास कोई ऐसा मददगार है-जो उन भयोंसे उबारे। आपको अपना बल है कि भगवान्का बल है कि अपनी बुद्धिका बल है? किस बलके सहारे आप भयोंको पार करना चाहते हैं? जो भगवान्के चरणोंका आश्रय लेकर आगे बढ़ता है, वह जीवनमें निडर होता है। सम्पूर्ण भयोंको मिटानेवाले भगवान् हैं। यदि आपके जीवनमें भगवान्का सहारा है, तब तो आप निर्भय होकर चल सकते हैं। और यदि आप किसी गुण्डेका सहारा लेंगे, सिपाहीका सहारा लेंगे, किसी नातेदार-रिश्तेदारका सहारा लेंगे-तो आपके निर्बल हो जानेका भय है। तो ये सब बल-झूठे हैं।

(दैवी सम्पदयोग-पृ. 1,2,3,5)

सौभाग्यका सूर्योदय

देखो, यह है अर्जुन! उसकी क्रिया तो एक ही है कि वह युद्ध नहीं करना चाहता। इसको लेकर सञ्जय कहते हैं कि उसमें कृपाका आवेश है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि उसके हृदयकी क्षुद्र दुर्बलता है। किन्तु अर्जुन कहता है कि कार्पण्य दोषसे मेरा स्वभाव चञ्चल हो रहा है। यह उसका आत्मनिरीक्षण है, जो बहुत बड़ा मानवधर्म है।

यदि मनुष्यको आत्मनिरीक्षण द्वारा अपनी गलती समझमें आने लगे तो समझना चाहिए कि अब उसका सौभाग्य-सूर्य उदय होने वाला है और मार्ग मिलनेमें विलम्ब नहीं है। धर्मकी स्थिति यह है कि उसका निवास छाती पर, वक्ष:स्थलपर रहता है। इसी तरह अधर्मका निवास पीठ पर है। यह पौराणिक व्यवस्था है। मनुष्यको अपना अधर्म नहीं दीखता, किन्तु धर्म दीखता है। अधर्म दीखना, गलती मालूम पड़ना बड़ा कठिन है।

अर्जुनको स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मेरे अन्दर कार्पण्य अर्थात् अज्ञान आगया है। और धर्मके सम्बन्धमें मेरा ज्ञान भटक गया है। आप कभी ऐसा अन्तर्निरीक्षण करते हैं? नहीं करते हैं तो करना चाहिए। यही मानवता है, मानव धर्म है। यदि आत्म निरीक्षण करने पर भी आपकी समझमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य न आता हो तो जो आपसे बड़े हैं, उनकी सलाह लीजिये, उनसे पूछिये, वे आपको बतायेंगे।

इसीलिए अर्जुन श्रीकृष्णसे कहते हैं-'जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो, वह मुझे बताइये। इस प्रकार अपने बड़े-बूढ़ोंकी सलाह लेना, उनके बताये रास्ते पर चलना, उन्होंने इतने वर्षों तक जो संसारका अनुभव प्राप्त किया है, उससे लाभ उठाना मनुष्यका धर्म है। अब देखो, उपदेशकी बात! उपदेश ग्रहण करनेके लिए भी एक योग्यता चाहिए! अर्जुन कहता है-मैं तुम्हारी शरणमें हूँ, मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझे अनुशिष्ट बनाओ। ठीक है, बहुत बढ़िया बात है। जिससे शिक्षा लेनी हो, उससे थोड़ा छोटा होना पड़ता है।

परन्तु केवल मन या वाणीसे गुरु या बड़े-बूढ़ोंकी शरणमें जाने पर भी पुराने संस्कार सहसा मिट नहीं जाते, पहलेका निश्चय तुरन्त कट नहीं जाता। उसके लिए बहुत समझने-समझानेकी जरूरत पड़ती है। इसका उदाहरण अर्जुनके प्रसंगमें देख लो। उसने एक बार तो कहा कि मैं आपकी शरणमें हूँ किन्तु दूसरी बार यह बोलता है कि मैं लड़ूँगा नहीं। यह तो उपहासके योग्य शरणागति है। तो जबतक अहंभावका निवारण नहीं होगा, तबतक उपदेशकी गङ्गाका अवतरण कैसे होगा? आप थोड़ी गीताके अन्तरङ्गमें प्रवेश कीजिये। श्रीकृष्णने अर्जुनके हृदयमें अपनी बात बैठानेके लिए तरह-तरहकी शैलियाँ और युक्तियाँ अपनायीं। यह भगवान्‌की करुणा है।

समझनेवाला हार नहीं मानता तो समझानेवाला हार क्यों मानेगा? वह तो सत्य, परमार्थ समझा रहा है। यदि एक अज्ञानी अपनी जिद्द पर इतना दृढ़ है और अज्ञानसे इतना दबा हुआ है, तो जो सद्‌गुरु हैं, करुणाशील है, स्वयं भगवान् हैं वह उसकी उपेक्षा क्यों करे, उसको बार-बार समझानेमें पीछे क्यों हटें?

(गीतामें मानवधर्म-पृ. 20,21,22,23)

स्थिर बुद्धिके लिए मनको निर्मल बनाओ

यदि बुद्धि प्रतिष्ठित न हो, सच्ची न हो, विश्वसनीय न हो तो वह मनुष्यको गलत रास्तेमें डाल देगी। इसलिए मनुष्यके जीवनमें प्रतिष्ठित बुद्धिकी, प्रतिष्ठित प्रज्ञाकी आवश्यकता होती है-'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। प्रतिष्ठित व्यक्तिकी बात पर ही लोग विश्वास करते हैं। जब आपकी बुद्धि प्रतिष्ठित होगी, स्थिर होगी, तभी वह आपको अच्छी सलाह देगी और आपके साथ बनी रहेगी। यदि डाँवाडोल होगी तो आपको छोड़कर चली जायेगी और समय पर काम नहीं देगी। वह कभी रागके अधीन हो जावेगी, कभी द्वेषके अधीन हो जावेगी। मनुष्यके जीवनमें यदि उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं है तो वह ईश्वरको भी नहीं मानेगा। उसको कभी नास्तिकोंका संग मिलेगा तो उनके कुतर्कोंके प्रभावसे ईश्वरको छोड़ देगा। वह धर्मको भी नहीं मानेगा। जब अधर्मसे फायदा होते देखेगा तो धर्मको छोड़ देगा।

इसलिए बुद्धिका प्रतिष्ठित होना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान्‌ने अर्जुनको स्थिर बुद्धिके लिए प्रेरणा दी।

अब मानो अर्जुनने कहा कि महाराज, ऐसी बुद्धि कहाँसे मिले? वह आप दीजिये। श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि बुद्धि एक आध्यात्मिक वस्तु है । वह शरीरके भीतर रहती है, बाहरसे ठूँसी नहीं जाती। उसको परिनिष्ठित करनेका उपाय करो। वह उपाय है मनको प्रसन्न रखना। जो मनुष्य अपने मनको हमेशा प्रसन्न एवं निर्मल रखता है, उसकी बुद्धि परिनिष्ठित होती है। मलिनमना पुरुषकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। मनका निर्मल होना अनिवार्य है। निर्मल मनसे ही धर्म होता है। यदि मनुष्यका मन दूषित है तो उसका अच्छेसे अच्छा काम भी दूषित हो जाता है। तपस्या करो, अध्ययन करो, दान करो, परन्तु यदि मनमें मलिनता अथवा कपट भरा हुआ है तो वह सबको सदोष कर देता है। मलिन मन बुद्धिको भी मलिन कर देता है। अतः बुद्धिकी स्थिरताके लिए मनको निर्मल बनाओ।

अब प्रश्न उठता है कि मनको निर्मल बनानेके लिए हमें क्या करना चाहिए? बोले कि- (1) इन्द्रियोंसे विषयोंमें जो राग-द्वेष होते हैं, उनके पराधीन नहीं होना चाहिए। मनुष्यको स्वाधीन होना चाहिए। राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिए। (2) आपकी इन्द्रियाँ स्वच्छन्द न हों। आपके वशमें हों। व्यवहारके दो ही रूप हैं-'शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपं वा' अर्थात् हम कैसा बोलते हैं और कैसा सोचते हैं? अगर हमारा सोचना और बोलना दोनों ठीक हैं तो हमारा व्यवहार सर्वदा ठीक रहेगा। (3) हमारा मन आज्ञाकारी हो। हम दूसरोंको तो आज्ञाकारी बनाना चाहते हैं लेकिन स्वयं हमारा मन आज्ञाकारी नहीं है।

यदि आपका मन आज्ञाकारी हो, आपकी इन्द्रियाँ वशमें हों, किसीके साथ आपका राग-द्वेष न हो तो आप यथोचित व्यवहार करते रहिये। आपको प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता प्राप्त होगी। आपका मन प्रसन्न रहेगा, निर्मल हो जायेगा और मनके प्रसन्न एवं निर्मल रहने पर, आपको दुनियाका कोई भी दुःख छूयेगा नहीं।

(गीतामें मानवधर्म-पृ. 40 से 45)

मैं हूँ और मेरा भगवान् है!

मनमें तीन बातें होती हैं-द्वेष, लोभ और मोह। जो इनको कम नहीं करता, उसका मन दुर्बल एवं चञ्चल हो जाता है। उसका मन निपुण भी नहीं होता। लोभी, मोही, द्वेषी लोग बेईमान, पक्षपाती और निष्ठुर होते हैं। ऐसा मन निर्बल होता है। उसमें स्वयंको रोकनेकी शक्ति नहीं होती। वह एक स्थान पर टिक नहीं सकता। उसमें सूक्ष्म विचारोंका उदय नहीं हो सकता। चित्तमें लोभ, द्वेष, मोहकी प्रधानता हो तो वर्तमान जीवनमें भी मनुष्य पशुतुल्य ही है। जो लोभ, मोह, द्वेषको रोकते हैं, उनका मन सबल बनता है। वह स्थिर तथा परमार्थ विचारमें पटु हो जाता है।

जिसके मनमें लोभ, मोह, द्वेष अधिक हैं, वह ईश्वरका भक्त नहीं है। आप वस्तुतः ईश्वरके भक्त बनना चाहते हों तो द्वेष, मोह, लोभ छोड़कर मनको ईश्वरके चिन्तनमें लगाइये।

ऐसी कोई क्रिया नहीं होती, जिसमें भगवान्‌की दया, करुणा, वात्सल्य न हो। मनुष्यकी बुद्धि दूसरी ओर लगी रहती है, अतः उस क्रियामें उसे भगवान्‌की कृपा समझमें नहीं आती।

कभी-कभी किसीसे वियोग होनेमें लाभ होता है। कभी पैसा खोनेमें भी लाभ होता है। कभी-कभी किसीके मरनेमें भी लाभ होता है। संन्यासी होना, त्यागमय जीवन-अकेला जीवन बिताना भी भगवान्‌की कृपा है। एक बार मैं घरसे भागकर चित्रकूट जा रहा था। मार्गमें एक परिचित मिले। बोले-'अकेले जा रहे हो या कोई साथ है?'

मैंने कहा-'मैं हूँ और मेरा भगवान् है।'

जब दूसरे साथ होते हैं, तब भगवान्‌का पता नहीं लगता। हम अकेले होते हैं तब भगवान्‌का पता चलता है कि वह हमारी कैसे सहायता करता है? जिसने आपको मुख दिया, शरीर दिया, पेट दिया, उसीने रोटी दी है। आपकी एक-एक चेष्टा भगवान्‌की दृष्टिमें है। जीवनमें जो भी घटना घटे, उसमें भगवान्‌का हाथ, भगवान्‌की करुणा देखो।

भगवान्‌की कृपाको भली प्रकार देखते हुए, अपने शुभाशुभ कर्मफल भोगते हुए; हृदय, वाणी और शरीरसे जो भगवान्‌के सम्मुख नत रहता है, मुक्ति पदका, प्रभुके प्रेमका वह सच्चा अधिकारी है।

जीवनकी किसी घटनाका कर्ता कोई मनुष्य नहीं, ईश्वर है। अतः जब तुम किसी काम करनेवालेको गाली देते हो तो वह सीधे ईश्वरको जाती है। एक बार किसी बड़े पण्डितने कोई बात कही। बात मुझे जँची नहीं। मैंने कह दिया-'किस मूर्खने ऐसा कहा है?' उन पण्डितने मेरे गुरुजीका नाम लेकर कहा-'उन्होंने कहा है।' मैं-'तब तो ठीक कहा है।' पण्डितजी-'पहले गाली दे दी, अब कहते हो, ठीक कहा है!'

इसी प्रकार हम कार्योंको दूसरोंका किया मानकर गाली देते हैं। जैसे खीर खिलानेवाला चटनी, नमक, मिर्च भी परसता है कि इन्हें बीच-बीचमें खानेसे खीरका स्वाद बढ़ जाता है, वैसे ही भगवान् बीच-बीचमें अपमान, दुःख, अभाव, रोग हमारा अभिमान तोड़नेके लिए भेजते हैं।

(कपिलोपदेश-पृ. 134-6)

जीवनमें पहलेसे तैयारी करो

भगवान्‌ने हमें हृदय दिया कि उनसे प्रेम करें। बुद्धि दी कि उनके विषयमें सोचें। हाथसे भगवान्‌को माला चढ़ाओ। पूजा करो। पाँवसे भगवान्‌की परिक्रमा करो। मुखसे जप, पाठ, कथा करो। सारा जीवन स्वार्थके लिए ही लग जाय, यह कैसा जीवन है? जिसने तुम्हें शरीर, हृदय, बुद्धि दी, परिवार दिया, खुशियाँ दीं, उसके लिए जीवनमें कुछ न किया जाय, यह तो बड़ी भारी कृतघ्नता है। तुम्हारे पास बेटे-बेटीके लिए है, पति या पत्नीके लिए है, शरीरके लिए है, परन्तु ईश्वरके लिए कुछ भी नहीं है?

यह भोगायतन देह नदीके कगार पर बैठी है। आग लग गयी तब कुआँ खोदने लगना समझदारी नहीं। पहलेसे कुआँ होगा तभी आग बुझेगी। अतः जीवनमें पहलेसे तैयारी करो। हाथमें विवेकका डंडा रखो। मनको छुट्टी मत दो कि जो चाहे सो बोल दे, जो चाहे सो खा ले, जो चाहे सो करने लगे। न जीभपर वश, न हाथपर, न पैर पर-ऐसा व्यक्ति पशु है या मनुष्य?

एक राजाने अपने राज्यमें घोषणा करवायी-'मेरे पास एक बकरी है, कोई उसका पेट भर देगा तो उसे आधा राज्य दे देंगे और अपनी कन्या ब्याह देंगे।' बहुत से लोग आये बकरीको अच्छी-से-अच्छी वस्तुएँ खिलाते थे; किन्तु परीक्षाके समय जब उसके सामने हरे पत्ते रखे जाते तो वह मुँह मार ही देती। बस, राजा कह देता-'बकरीका पेट नहीं भर सकते और राज्य लेने आये हो? मूर्ख हो, जेल जाओ।' इस प्रकार बहुतसे लोग जेल गये। अन्तमें एक गड़रिया आया। राजासे बोला-'बकरी मुझे दे दें, मैं इसका पेट भर दूँगा।' राजासे बकरी लेकर वह अपनी झोपड़ीमें गया। वहाँ बकरीके सामने घास-पत्ते डाले और जब बकरी मुँह लगाये तो उसके मुँह पर डण्डा मार दे। बकरी डण्डा देखकर डरने लगे तो डण्डा पीछे छिपा ले। फिर बकरी जैसे ही पुनः मुख बढ़ाये, उसके मुँह पर डण्डा पड़े। फल यह हुआ कि बकरी उसे देखते ही घास-पत्तेसे दूर खड़ी रहने लगी। अब गड़रिया बकरीको राजाके पास ले आया। राजाने परीक्षा की; किन्तु गड़रियेको देखते ही बकरी पत्तोंसे दूर जा खड़ी हुई। गड़रिया बोला-'मुझे न आपकी कन्या चाहिए, न राज्य। आपने जिनको कारागारमें बन्द कर रखा है, उन्हें छोड़ दीजिये।'

मनुष्यका मन बकरी है। यह चलते-चलते इधर-उधर मुँह मारने लगता है। इसे सीधा रखनेके लिए विवेकका डण्डा चाहिए। इसे पशुकी भाँति खुला मत छोड़ो। भगवान्‌ने आपको समझदारी दी है अपने मनको संयमित करनेके लिए, अपने मन-बुद्धिको शुद्ध बनानेके लिए। मनको संसारमें जानेसे रोक लेना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है मनको भगवान्‌में लगाना। जब हर बातमें भगवत्कृपा दीखती है, जीवन भगवान्‌के लिए बन जाता है, तब भक्ति होती है। एक है जो रात-दिन तुम्हारी रक्षाके लिए सावधान रहता है-उस ईश्वरको देखो। पैसेके स्थान पर ईश्वरको चाहो। पैसा तो प्रारब्धसे मिलता है। जैसा स्वाद, कामीको कामिनीमें या लोभीको धनमें आता है, वैसा ही स्वाद जब भगवान्‌में आये तब भक्ति है। अतः समझदारीसे आप हृदयमें भगवान्‌को भरो तो संसार हृदयमें प्रवेश नहीं करेगा। ज्यों ही हृदय भगवान्‌से जुड़ा, त्यों ही राग-द्वेष छूटा। तब क्षण-क्षणमें, कण-कणमें भगवान् दीखने लगते हैं। तब प्रकृतिके गुणोंसे विघ्न नहीं होता।

(कपिलोपदेश-पृ. 137,138,139,140,141)

अनुशासित कर्म ही यज्ञ

हमारे जीवनकी गति सूर्य-चन्द्रमाके समान होनी चाहिए। उनकी तरह सबको कुछ-न-कुछ देते चलो। देखो हमारी यह साँस निकलती है-यह कैसी है? आप लोगोंको गन्दगी देते चलते हैं कि पवित्रता देते चलते हैं? सबके शरीरमें से काम-क्रोध, लोभ- मोह, शान्तिकी तन्मात्राएँ निकलती रहती हैं। समाधिकी किरणें भी सबके शरीरसे निकलती रहती हैं। आप देखिये कि आप कौन-सा यज्ञ करते हुए चलते हैं? चन्द्रमा सबके ऊपर चाँदनी बरसाता हुआ चलता है। सूर्य सबके ऊपर प्रकाश और ताप देता चलता है। आप क्या देते हुए चलेंगे? यह जीवन एक यज्ञ है और इसको यदि हम प्राकृत यज्ञके साथ मिलाकर देंखे तो समग्र जीवन, समग्र विश्व सृष्टि, एक पूजाके रूपमें दिखने और अनुभूत होने लगती है।

अब आप देखो कि यज्ञ कहाँ है? हमने कहा कि धरती तुम लोगोंको सुगन्ध देती हो, धरती बोली कि ना बाबा, मैं नहीं देती, वह तो ईश्वरकी दी हुई सुगन्ध है, जो अपने आप फैलती रहती है। मतलब यह कि धरतीको देनेका अभिमान नहीं है। इसीसे पृथ्वीको पाप-पुण्य नहीं लगता। आकाश वायुको भी पाप-पुण्य नहीं लगता। लेकिन हमारे शरीरमें जो जीभ है, उसको पाप-पुण्य लगता है। क्योंकि जीभमें मैं बैठा हुआ है। हमारे कानमें पाप-पुण्य लगता है। दूसरोंकी निन्दा सुनो तो जिसका पाप सुनोगे, उसके पापका प्रभाव कानके द्वारा तुम्हारे हृदयमें चला जायेगा। मनमें जो दुर्भाव आयेगा, उसके तुम कर्ता बने और पापी हुए। वस्तुतः यह बुद्धि और अहंकार, ये दोनों हमें पाप-पुण्यके साथ जोड़ देते हैं। यह चीज बहुत अच्छी है, हमको मिलनी चाहिए और यह चीज बहुत बुरी है, हमको नहीं मिलनी चाहिए-यह जो अपेक्षा-युक्त बुद्धि है, इसीसे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति होती है। और पाप-पुण्य लगता है उसे जिसमें अहंकार होता है। जहाँ बुद्धिमें अपेक्षा माने-कामना नहीं है और जहाँ अपनी परिच्छिन्नताका अहंकार नहीं है, वहाँ पाप-पुण्य नहीं लगता। वहाँ जीवनकी प्रत्येक क्रिया यज्ञ हो जाती है।

आँख तो रूपको ही देखती है, हाथ काम करता है और पाँव चलता है। परन्तु वह अनुशिष्ट है कि नहीं, यह देखनेकी बात है। आपके पास कितना भी काम हो, वह चाहे लेन-देन का हो, चाहे सोच-विचारका हो, आप उसको एक नियमके, मर्यादाके, अनुशासनके अन्दर रहकर करें, उसीका नाम यज्ञ है। यज्ञका अर्थ केवल होम करना नहीं है।

जब अपने जीवन-तत्त्वका, परमात्माका बोध हो जाता है तब यज्ञकी रूपरेखा ही बदल जाती है। इसीलिए कबीर गाते थे कि-'जहँ जहँ डोलौं, सोई परिकरमा; जो-कुछ करौं सो पूजा'। ऐसी दृष्टि रखनेपर समग्र जीवन ही यज्ञके रूपमें हो जाता है।

(व्यवहार शुद्धि-पृ. 37,32,39)

द्वेष और भगवत्प्रेमका विरोध है

दुःख तो सभीके जीवनमें आता है। परन्तु दुःख होनेपर समझदार आदमी दूसरे ढंगसे काम करते हैं और नासमझ लोग जो नराधम होते हैं वे दूसरे ढंगसे काम करते हैं। जैसे समझो दुःख आया, तो द्रौपदी यह नहीं कहती है कि हे द्वारकावासिन! आओ तुम दुःशासनको मार डालो। द्रौपदी, दुःशासनको नोंचती नहीं है, दाँतसे काटती नहीं है भला। माने दुःशासनके प्रति द्रौपदीके चित्तमें द्वेषका उदय नहीं हुआ। दुःख तो आया; परन्तु दुःखके कारण जो द्वेष होता है और द्वेषके कारण जो आत्मा-परमात्माका विस्मरण हो जाता है, सो द्रौपदीको नहीं हुआ।

जबतक चित्तमें द्वेष होता है तबतक मनुष्य भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता। क्यों? कि द्वेष जो है वह आग है और यह जिसके मनमें होता है उसको जलाता है। जिसके प्रति होता है उसको नहीं जलाता है। दुःख और भगवत्प्रेमका विरोध नहीं है, परन्तु द्वेष और भगवत्प्रेमका विरोध है।

लोग इसलिए दुःखी हो रहे हैं कि अपने प्यारे भगवान्‌को भूलकर भटक गये, नराधम हो गये। जो दुःख देनेवाला है उसको नष्ट करनेका उपाय सोचते हैं। जो दुःखसे बचानेवाला है उसको नहीं पुकारते हैं! जो दुःख देनेवाला है, उसका नाश करनेकी सोचते हो, उसको दुःख देनेकी सोचते हो, तो दोनों ओर दुःख हो गया। तुम दुःखके खजाने हो गये, क्योंकि तुम दुःख देना चाहते हो। वह भी दुःखका खजाना हो गया, क्योंकि वह तुमको दुःख देने आया है। उसके पास दुःख होता नहीं तो वह तुमको देने आता कहाँसे? बोले-उसके पास दुःख है और वह देनेके लिए आया है, लेकिन हमारे पास तो दुःखका खजाना नहीं है, तो हम क्या करें? बोले-हमारे पास जो है सो ही, वह आग लेकर आया तो हम पानी लेकर आवेंगे। और क्या करें क्योंकि उनके पास आग है, हमारे पास पानी है। नारायण कहो!

तो भक्त जो होता है, वह दुःख आनेपर भगवान्‌का स्मरण करता है जो नराधम होता है, दुष्कृती नराधम, वह दुःख आने पर यह ढूँढ़ता है किसने दुःख दिया? उसका पता लगाओ। अरे भाई, मिल जायेगा तो क्या करोगे? कि उसने हमको एक ढेला मारा है, हम उसको दो ढेला मारेंगे। नारायण कहो! इसीका नाम नराधम है। तो ऐसे लोग जो दुनियामें दुःख डबल करनेका कारखाना खोले हुए हैं, वे भगवान्‌का स्मरण नहीं करते-'न मां प्रपद्यन्ते'-वे भगवान्‌के भजनमें नहीं लगेंगे क्योंकि वे तो अभी दुःखका निर्माण कर रहे हैं।

(ज्ञान-विज्ञान-योग पृ. 327,328,329)

भगवद्-कृपाका स्वरूप

भगवान्‌की लीलाका रहस्य स्वयं भगवान् ही जानते हैं, अथवा उनके कृपापात्र भक्त।

जबतक जगत्‌के जीव दुःखी हैं, उन्हें उस दुःखसे त्राण पानेका सरल-से-सरल मार्ग नहीं प्राप्त हुआ है, तबतक जगतका हित चाहनेवाले भगवान् अथवा उनके कृपापात्र भक्त कैसे सुखी हो सकते हैं? सबके अतृप्त रहनेपर वे कैसे तृप्त हो सकते हैं?

भगवान्‌की कृपा किस रूपमें आती है?

मिठाई बनकर ईश्वरकी कृपा नहीं आती है, भला!

जिन कारणोंसे हमें दुःख हो रहा है, उन कारणोंकी निवृत्तिके रूपमें कृपा आती है। अर्थात् देहाभिमानको छुड़ाना, अज्ञानको निवृत्त करना यही ईश्वरकी कृपा है।

जब ईश्वर हमारे जीवनमें कभी सत्सङ्गका प्रसंग देता है, तुम समझो कि ईश्वर हमारे ऊपर कृपा कर रहा है।

यदि ईश्वर कभी हमको श्रवणका प्रसंग देता है, तो समझो कि ईश्वर हमारे ऊपर कृपा कर रहा है।

दुनियामें बिना सोचे-समझे, हम इधर-से-उधर भटक रहे हैं। कभी विचार तो करते नहीं कि हम आखिर चाहते क्या हैं? जब कभी हमारे चित्तमें यह विचार आता है कि दरअसल हम क्या चाहते हैं, तब समझो कि ईश्वरकी कृपा आ रही है।

जब हम संसारकी पराधीनताको, विषयकी पराधीनताको, इन्द्रियकी पराधीनताको, भोगकी पराधीनताको, व्यक्तियोंकी पराधीनताको, वृत्तियोंकी पराधीनताको, स्थितियोंकी पराधीनताको छोड़ने लगते हैं, तब समझो कि अब ईश्वरकी, पूर्ण अनन्तकी जो कृपा है, वह हमारे ऊपर उतर रही है।

भजन-सत्सङ्गका फल

भजन-सत्सङ्गका फल यह नहीं है कि व्यापारमें घाटा न हो, स्वजन-सम्बन्धी न मरें, मुकदमे हारे नहीं अथवा अयश-अपमान न हो अथवा रोग न आवें। ये सब तो प्रारब्धके अनुसार आवेंगे ही।

भजन-सत्सङ्गका फल यह है कि इन विपरीत स्थितियोंके आने पर भी चित्तमें विक्षेप न हो और अन्तरमें धैर्य एवं शान्ति बनी रहे।

(श्री शुकदेवजीका अनुपम दान : कल्याण भागवताङ्क: पृ. 74,75, मा. आ. प्र. (New ed.): पृ. 525)

यह संसार भी एक चित्रशाला है!

जिज्ञासु : भगवन्! ध्यान करनेके समय तो भगवान्का चिन्तन करना ही चाहिए; परन्तु सर्वदा ध्यान ही तो नहीं होता। व्यवहारके समय इस जगत्पर किस प्रकार दृष्टि डाली जाय?

महात्मा : भैया! तुमने कहा कि ध्यान सर्वदा नहीं हो सकता—यह कहना ठीक नहीं है। ध्यान सर्वदा हो सकता है और ऐसा हो सकता है कि उसमें 'सर्वदा'का ही लोप हो जाय; परन्तु यदि व्यवहारमें जाना ही पड़े तो भगवान्को साथ लेकर ही जाना चाहिए। किसीसे बात करनी हो तो इतनी कोमलतासे करो मानो भगवान्से ही बातकर रहे हो। तुम अपनी युक्तिओं और वक्तृत्वकलाकी ओर दृष्टि मत रखो। यह भी मत देखो कि तुम्हारी बातका उनपर क्या असर पड़ रहा है; परन्तु यह अवश्य देखते रहो कि तुम भगवान्के कितने निकट होकर बोल रहे हो। तुम्हारी बातोंकी सुन्दरता—मधुर होनेमें या दूसरोंको मोहित करनेमें नहीं है। उसकी सच्ची सुन्दरता है—भगवान्का स्पर्श करते हुए निकलनेमें। मैं साक्षात् भगवान्से ही बात कर रहा हूँ, उसके हृदयमें भगवान् हैं—यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए। एकान्तमें भी भगवान्की मधुर सन्निधिका, उनके कोमल करोंके सुखमय स्पर्शका अनुभव करते रहना चाहिए।

व्यवहारकी एक दृष्टि और है। क्या तुमने कभी कोई चित्रशाला देखी है? एक चित्रशालामें अनेकों रंग, रूप और रसके चित्र टंगे रहते हैं। कोई अत्यन्त करुणाजनक होता है, तो कोई अत्यन्त हास्यजनक, कहीं आमूल-चूल श्रृंगार रहता है, तो कहीं बीभत्स, कहीं शान्त, तो कहीं रौद्र और भयानक! दर्शक सब चित्रोंको देखता है, सबके भाव ग्रहण करता है, सब रसोंसे मनोरञ्जन करता है; परन्तु उन चित्रोंको चित्र ही समझता है। एक क्षण उन्हें देखकर हँस सकता है या रो सकता है; परन्तु वह हँसना और रोना दोनों ही मनोरञ्जन हैं और रसका अनुभव करानेवाले हैं। वह इस चित्रशालामें-से चित्रकारकी प्रशंसा करता निकल आता है।

यह संसार भी एक चित्रशाला है। इसमें अनेकों प्रकारके दृश्य आते हैं—कोई हँसनेके, कोई रोनेके; परन्तु यह हँसना और रोना दोनों ही किसीको सुखी करनेके लिए ही है। बुद्धिमान दर्शक इन्हें देखकर प्रसन्न होता है, किसी भावमें आसक्त नहीं होता और इस चित्रशालाको देखकर चित्रोंके रचयिता भगवान्का स्मरण करके आनन्द विभोर होता है और करुणा, बीभत्स, रौद्र, श्रृंगार सबमें एक-सा रसका अनुभव करता है। व्यवहारमें सभी वस्तुओंको भगवान्की बनायी हुई, भगवान्से सम्बन्धित और भगवान्की कला समझकर प्रसन्न होना चाहिए और सभी परिस्थितियोंमें उनका स्मरण करते हुए आनन्दमें ही मग्न रहना चाहिए।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 33, 34)

श्रीकृष्णकी मुरलीका सामर्थ्य

एक बार स्वामी रामतीर्थजी मथुरामें आये तो रात्रिमें शहरमें उनके प्रवचनकी व्यवस्था की गयी। रातके समय जब लोगोंने वंशीध्वनिके सामर्थ्यके बारमें पूछा तो पहले वह चुप हो गये और फिर बोले–'हम यहाँ जवाब नहीं देंगे। चलो यमुनाके किनारे, अब हमारा मन शहरमें व्याख्यान देनेका नहीं है।'

चाँदनी रात महाराज! ग्यारह बज रहे थे, हजारों श्रोताओंको लेकर शहरसे निकलकर वे यमुनाके किनारे बालू पर बैठ गये। लोगोने पूछा–बताओ महाराज! श्रीकृष्णकी मुरलीमें क्या सामर्थ्य था? स्वामी रामतीर्थ बोले कि हजारों वर्ष बाद भी जिसकी मुरलीका सामर्थ्य सुननेके लिए तुम लोग हमारे पीछे-पीछे स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, घर-द्वार छोड़कर रातको ग्यारह बजे इस बालुकामय पुलिनमें आ गये, उसमें कितना सामर्थ्य रहा होगा, यह सोचो तो सही।

अपने बलसे त्याग–यह दूसरे साधनोंमें है। ईश्वरके बलसे त्याग–वैराग्य–यह भक्ति मार्गमें है। श्रीकृष्णने बाँसुरी बजा-बजाकरके सबको अपनी ओर खींच लिया।

व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः व्रज स्त्री कोई साधारण गोपी नहीं। जैसे कोई भूत किसी आदमीको पकड़ ले; जैसे कोई सूत्रधार कठपुतलियोंको अपनी ओर खींच ले, ऐसे ये कृष्णके द्वारा पकड़ी गयी थीं।

श्रीकृष्णने किसीका कंगन नहीं उतारा, किसीका हार नहीं उतारा, कड़ा नहीं उतारा, करधनी नहीं उतारी, किसीका नूपुर या कुण्डल नहीं उतारा–ये तो मामूली कीमतकी चीजें हैं; जो सबसे कीमती वह जो दिलके सन्दूकमें रहता है अर्थात् कलेजेमें बन्द रहता है–उसको शब्दसे चुरा लिया, हाथ नहीं लगाया, वंशी-ध्वनिका यह एक महाचोर निकला।

उसको कानका रास्ता मिला, उसके द्वारा भीतर गया, वहाँ उनके मनरूपी धनको उसने चुराया और चुराकर वहाँसे भागा। तो जैसे चोर भागने लगे तो घरके लोग जो जैसे, वैसे ही चोरके पीछे दौड़ पड़ते हैं, किसीसे सलाह करके नहीं दौड़ते हैं, जो जहाँ हो वहाँसे ही चोरके पीछे दौड़ता है कि माल छीन लो इससे; ऐसे गोपियाँ निकल पड़ीं जैसे कोई अपना चुराया हुआ माल छीननेके लिए जा रहा हो। गोपियोंके मनमें बड़े-बड़े माल रखे हुए थे और उन्हींके बलपर वे कृष्णसे अलग टिकी हुई थीं। धृती थी, स्मृति थी, विवेक था, लज्जा थी, भय था, बुद्धि थी–ये सब गोपियोंके दिलमें रहता था। श्रीकृष्णने उनके मनको खींच लिया था।

(रासपञ्चाध्यायी : पृ. 130,131,132,133)

वैराग्यरूप हनुमानजीमें सम्पूर्ण विघ्नोंके निवारणका सामर्थ्य!

एक बार श्रीकृष्णावतारमें सत्यभामाजीको अभिमान हुआ कि मैं सीतासे बहुत सुन्दर हूँ और गरुड़जीको अभिमान हुआ कि मेरे जितना तेज उड़नेवाला तो कोई है ही नहीं; और सुदर्शनचक्रको अभिमान हुआ कि हमारे जैसा बलवान कोई नहीं है। भगवान्‌का एक स्वभाव यह है कि जहाँ भक्तमें अभिमान आता है, उसको वहाँ तोड़ देते हैं। अभिमान छोड़े बिना कोई भक्त हो ही नहीं सकता।

एक दिन भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि हम हनुमानजीको बुलाना चाहते हैं, कुछ काम है उनसे! लेकिन वह तो हमारे राम-रूपके दर्शनके प्रेमी हैं। मैं तो राम बन जाऊँगा, लेकिन सीता सरीखी सुन्दरी कहाँ मिलेगी, जो हमारे पास बैठे। सत्यभामाने छाती ठोंकी कि मैं सीता बनकर बैठ जाऊँगी और हनुमानजी पहचान भी न पावेंगे। मैं क्या सीतासे कम सुन्दर हूँ! श्रीकृष्णने कहा ठीक है तुम सीता बनकर बैठ जाना। अब बोले कि उनको बुलानेके लिए कौन जावेगा, कि गरुड़जीको भेज दिया जाय। गरुड़जीने कहा अभी मिनटोंमें ले आता हूँ। इधर चक्रको आज्ञा हुई कि बिना मेरी आज्ञाके पुरीमें कोई प्रवेश न पावे। चक्र तैयार होकर घूमने लगा।

गरुड़जी पहुँचे गन्धमादन पर्वत पर और हनुमानजीसे बोले कि प्रभुकी आज्ञा है, आप जल्दी-से-जल्दी द्वारिकापुरीमें चलिये। हनुमानजीने कहा कि ठीक है, मैं भजन कर रहा हूँ और पूरा होने पर आता हूँ, तुम चलो। गरुड़जीने कहा कि मैं चला जाऊँगा तो तुम्हें आनेमें कई दिन लग जायेंगे, बड़ी देर हो जायेगी। मेरे ऊपर बैठ जाओ, मैं अभी तत्काल पहुँचा देता हूँ। दोनोंमें कहा-सुनी हो गयी। अभिमान तो था गरुड़जीको, लड़ गये। अभिमानी आदमी जल्दी लड़ जाता है। तो हनुमानजीने हाथसे पकड़कर गरुड़जीको इतने जोरसे फेंका कि द्वारिकाके समुद्रमें वे गिर पड़े। इतनेमें हनुमानजीने एक छलांग मारी और द्वारिका पहुँच गये।

अब द्वारिकामें चक्रजी घूम रहे थे, उन्होंने हनुमानजीको कहा कि हम बिना भगवान्‌की आज्ञाके किसीको भीतर नहीं जाने देते हैं। बोले-भगवान्‌की आज्ञा है और मैं आया हूँ, तुम काहेको रोकते हो? चक्र बोले-नहीं मैं तुमको नहीं जाने दूँगा। हनुमानजीने उसे बाँयें हाथसे पकड़कर मुँहमें डाल लिया।

अन्दर सत्यभामा शृंगार करके सीता बनी बैठी थीं और श्रीकृष्ण भगवान् धनुष-बाण लेकर राम बनकर बैठे थे। जाकर हनुमानने श्रीकृष्ण भगवान्‌को प्रणाम किया और पूछा कि यह किस दासीको आपने अपने पास बैठा रखा है? पर बोला न जाये, मुख खुले नहीं। भगवान् श्रीकृष्णने कहा तुम्हारी आवाजमें क्या हो गया है? अब उन्होंने निकाला चक्रजीको मुँहमें-से; बोले-ये बड़ा टें-टें कर रहा था, आने नहीं दे रहा था, तो इसे मैंने अपने मुँहमें रख लिया था।

यह वैराग्यरूप हनुमानजी जो हैं, इनमें सब विघ्नोंके निवारणका सामर्थ्य है और सबसे अधिक भगवान्‌की ओर जानेकी गति है। इनके इष्टदेव सीतारामके सिवाय इनको कोई आकृष्ट नहीं कर सकता। यहाँ तक कि कालचक्रकी गतिको नष्ट करनेका यदि किसीमें सामर्थ्य है तो वह वैराग्यमें है।

(मानसदर्शन (से.एडीशन) पृ. 48-50)

सर्वोपकार

स्वामी शिवानन्दजी पहले स्वर्गाश्रममें रहते थे, फिर मुनिकी रेतीमें रहने लगे। पूर्वाश्रममें वे डाक्टर थे। अपनेको अप्पय-दीक्षितका वंशज बताते थे। ऐसे निर्मल हृदय थे कि जो अपने पास आये उसे कुछ-न-कुछ देना, यह उनका स्वभाव था। पुस्तक, पैसा, भोजन जो हो, देते रहते थे। एक दिन उनके पास एक खोमचेवाला आया। उन्होंने उसे कुछ पुस्तकें और पाँच रुपया दिया। वहाँ उपस्थित एक सज्जनने कहा- 'यह तो दही-बड़ा बेचता है, पैसा कमाता है, इसे पाँच रुपये व्यर्थमें क्यों दिये?' वे बोले-'देखो भाई, आमका पेड़ जब फलता है, तब नहीं पूछता कौन हमें खायेगा! धरती नहीं कहती, कौन हम पर पाँव रखे और कौन न रखे! गंगाजी नहीं कहती कौन हमें पीये और कौन न पीये! हवा नहीं कहती कौन साँस ले, कौन न ले। हम तो विश्व विराट हैं। जैसे सूर्य-चन्द्र, धरती, हवा, पानी, आमका वृक्ष पक्षपात नहीं करते, सबकी भलाई करते हैं, वैसे ही संत सर्वोपकारक है। अपना-पराया करनेवालेको इस मार्गमें नहीं जाना चाहिए। ढूँढ़-ढूँढ़कर भलाई मत करो। जो सामने आजाय उसे मीठी आँखसे देख लो, उससे मीठी बात करो, ठंडा जल पिला दो।

ईश्वर इनका कल्याण करे!

एक थे सेठ! उन्होंने कपड़ेके थैलेमें रखकर सौ रुपये अपनी पत्नीको दिये। उसने कहीं आलेमें रख दिये। पत्नीने कुछ दिन बाद देखा कि कपड़ा-ही-कपड़ा है, रुपये नदारद हैं। उसने समझा कि कोई चोर रुपये ले गया। सेठने जाँच-पड़ताल करके बताया, 'तुम फिक्र मत करो। रुपये घरमें ही हैं, क्योंकि चोर ले जाता तो थैलेके सहित ले जाता। वह निकालकर रुपये ले जानेकी तकलीफ क्यों करता? उठाकर ले जानेमें कोई समय नहीं लगता और निकालकर ले जानेमें तो समय लगता है।' बात आयी-गयी हो गयी।

एक दिन सेठने रातमें देखा, मध्यम लौका दीपक जल रहा है। एक चूहा बिलमें-से रुपये निकाल-निकालकर रोशनीमें रखता है। वह प्रतिदिन सब रुपये बाहर निकालता और भीतर ले जाता। सेठ देखते और सोचते कि रुपये घरमें ही हैं, जब जरूरत होगी ले लेंगे। उन्हें जिस दिन आवश्यकता पड़ी, उस दिन निन्यानवे (९९) रुपये निकालकर जब चूहा सौवा (१००) रुपया लेने बिलमें घुसा, तो उन्होंने वे रुपये उठा लिये। चूहा मुँहमें रुपया दबाये निकला और अपनी पूँजी बाहर न देखकर व्याकुल हो गया। उसने छटपटा-छटपटा कर अपने प्राण दे दिये।

यही दशा संसारी भोगोंकी है। पहले तो धन अपना नहीं है। मिला तो भी दान, धर्म या भोग नहीं कर पाते। गिनते-गिनते जिन्दगी बीत जाती है और अन्तमें उसीके लिए छटापटाकर मर जाते हैं।

ईश्वर इनका कल्याण करे!

(सत्सङ्ग सुधा-पृ. 46-47)

भगवान्‌के नामसे बड़ी रक्षा होती है!

हम तो छोटी उम्रके थे, तबसे सत्सङ्ग करने जाते थे। सफेद कपड़ा पहनते थे। अब महाराज! जो मिले सो ही खा लेते थे और कहीं भी सो जाते थे, भला! मन्दिरके चबूतरे पर सो जाते थे। हमको अकेलेको कौन कमरा देता?

एक बार 'ऋषिकेश'में 'पंजाब सिन्ध क्षेत्र'में गया। वहाँके कर्मचारीने पूछा–'अकेले हो कि दो हो कि चार हो?' मैंने कहा–'अकेले हैं।' उसने कहा–'क्षेत्रमें अकेले आदमीको कमरा नहीं दिया जाता है।' मैं बड़ी जोरसे चिल्लाया–'श्रीकृष्ण!' कमरा न मिलनेपर मेरे मुँहसे ऐसे ही आवाज निकली। मेरी आवाज सुनकर वहाँका चपरासी आ गया और बोला–'तुम्हारे मुँहसे यह श्रीकृष्ण आवाज जो निकली है, वह तो बड़े प्रेमकी-बड़ी भक्तिकी आवाज है। ऐसी आवाज हृदयमें भक्ति हुए बिना नहीं निकल सकती। आओ हम तुमको कमरा देते हैं।'

हाँ! महाराज! एक श्रीकृष्णका नाम लेनेसे हमको अकेले ठहरनेको कमरा मिल गया। भगवान्‌के नामसे बड़ी रक्षा होती है। लोगोंको मालूम नहीं पड़ता है।

एक बार हम अपनी बहनको कहीं पहुँचानेके लिए बैलगाड़ीपर चढ़कर स्टेशन जा रहे थे। मेरी बहन ससुराल जा रही थी। बहनके साथ जेवर भी होता ही है। रातको डाकुओंने घेर लिया। आहा! मेरी उम्र तो बहुत छोटी थी। लेकिन, मैंने बताया कि 'हम फलाने पण्डितके नाती हैं–पोते हैं। यह सामनेवाले गाँवमें अमुक व्यक्ति हमारे रिश्तेदार हैं। तुम लोग हमको मत लूटो।' यह सुनकर डाकुओंने कहा– 'पायलागी पण्डित जी! अच्छा! आप हमारे बाबाजीके लड़के हैं? आप हमारे बाबाजीके पोते हैं? माफ करना! हमने आपको पहचाना नहीं। आओ! आओ! हम आपको स्टेशन तक पहुँचा देते हैं। आप निश्चिन्त रहो।'

देखो! हमारे बाबाके नामसे–हमारे पितामहके नामसे काम चल गया हो! केवल नामसे काम चल गया। है न? लोगोंको मालूम हो कि भगवान्‌के नामसे बड़ी सुरक्षा होती है। बड़े-से-बड़े संकट प्रभु-नामके प्रभावसे टल-मिट जाते हैं।

(जीवन्मुक्ति-विवेक : पृ. 506,507,508)

परमात्मा हमारा पोषण करना कभी नहीं छोड़ता!

एष सेतुर्विधरणः–श्रुति कहती है यह परमात्मा स्वयं भवसागरमें डूबते प्राणीके लिए पुल बन गया है। भगवान् ही धर्मकी मर्यादा बनकर आता है। जिसे वह अपने समीप बुलाना चाहता है, उसे बताता है कि यह करो, यह मत करो। यह खाओ, यह मत खाओ। ऐसे चलो, ऐसे मत चलो। यह बोलो, यह मत बोलो।' हाथ पकड़कर भगवान् उसे बचा लेता है।

वह भगवान् ही पुल है और पुलपर चलनेके लिए पकड़ने वाला डण्डा भी वही है। पुल हो, डण्डा हो; किन्तु पैरमें चलनेकी शक्ति न हो तो? वह शक्ति भी भगवान् देता है। शरीरमें पोषण वही पहुँचाता है। यह देह पञ्चभूतोंसे बना है, अतः देहका पोषण पञ्चभूतोंसे ही होता है। अन्न, जल, उष्णता, वायु और अवकाशका भोजन देहको चाहिए। मनके लिए प्रेमका भोजन चाहिए। रसखान कविने कहा है–

"जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान"

जिस हृदयमें प्रेम नहीं है, वह श्मशान समझो। वहाँ भूत-प्रेत निवास करेंगे। बुद्धिका भोजन ज्ञान है। परमात्मा अस्ति, भाति, प्रियके रूपमें सबके हृदयमें रहता है। अस्तिके रूपमें सत्ता प्रदान करता है; भातिके रूपमें प्रकाश-ज्ञान देता है। प्रियके रूपमें आनन्द बनकर सबका पोषण करता है–'सच्चिदानन्द।' समष्टिगत अस्ति, भाति, प्रियसे सम्बन्ध न हो तो व्यष्टिका जीवन ही न चले। समष्टि वायु न मिले तो श्वास कैसे चल सकता है?

परमात्मा तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबको पुष्टि देता है। पुष्टिका अर्थ है कि हमसे भूल पर भूल होती चली जाती है, जैसे–हमसे पैर रखने तकमें भूल होती है। हम बोलने-हँसने, बैठने-चलने, सोचने-समझने–सबमें भूल-ही-भूल करते रहते हैं। यह सब होने पर भी परमात्मा हमारा धारण-पोषण बन्द नहीं करता। बिल न चुकाये जाने पर भी परमात्माकी ओरसे आने वाली बिजली की लाईन नहीं कटती। हमारी ओरसे सब प्रकारकी विमुखता होने पर भी ईश्वर विमुख नहीं बनता। बच्चा, माँको मारता है, नोंचता है, दाँतसे काट भी लेता है; किन्तु माता उसे चपत भले मार दे, दूध पिलाना बन्द नहीं करती। इसी प्रकार परमात्मा हमारा पोषण करना कभी नहीं छोड़ता।

तीनों लोकोंका पोषण परमात्मा करता है तो उसका कोष कभी समाप्त भी हो जायेगा? कभी बिजलीकी कटौतीके समान पोषणमें कटौती करेगा? नहीं। उसका कोष कभी घटता नहीं 'अव्ययः'। उसके कोषको कोई लूट लेगा, चुरा लेगा, यह भय भी नहीं है; क्योंकि 'ईश्वरः'–परमात्मा देश, काल, वस्तु सबका स्वामी है।

(पुरुषोत्तमयोग: पृ. 212,213,214)

मालिककी नज़रसे अपनी नज़र मिल जानेपर आनन्द-ही-आनन्द है!

एक बातपर आप ध्यान दें। आपका ईश्वरसे कुछ मतभेद है कि उसके मनसे आपका मन मिलता है? ईश्वरकी मतिसे आपकी मति मिलती है कि नहीं मिलती है? गुरुके अनुभवसे चेलेका अनुभव मिलता है कि नहीं मिलता? ईश्वरकी नज़रसे जीवकी नज़र मिलती है कि नहीं मिलती? आपका सारा दुःख मिट जायेगा, अगर आप इस बातपर ध्यान देंगे।

आप ज्ञानमें ईश्वरसे मतभेद रखेंगे तो आपका ज्ञान झूठा है। यदि आप ईश्वरके प्यारसे अपना प्यार अलग बना रहे हैं तो आपका प्यार टिकाऊ नहीं होगा। आप ईश्वरको छोड़कर और को पकड़ना चाहते हैं तो कभी पकड़ नहीं सकेंगे। आप अपनी युक्तिपर विचार कीजिये।

क्या कभी आपने सोचा है कि ईश्वरको यह दुनिया कैसी दीखती है? जैसे ईश्वरको यह दुनिया दीखती है, यदि वैसी ही आपको दीखनी लग जायेगी तब तो आपकी दृष्टि सच्ची होगी। और यदि ईश्वरको जैसी यह दुनिया दीखती है, वैसी आप नहीं देख पाते हैं, तो आपकी आँख बिल्कुल अधूरी दुनियाको देख रही है; सच्ची नहीं देख रही है। आओ, ईश्वरकी आँखमें आँख मिलाकर देखें।

ईश्वरने कहा–'अर्जुन, मैं देखता हूँ कि यह सम्पूर्ण विश्व मेरा स्वरूप है।' (गीता–11वां अध्याय)

अर्जुनने कहा–'हाँ महाराज, यह सम्पूर्ण विश्व आपका स्वरूप है।'

ईश्वर–'अर्जुन! तब भय किस बातका है? जब जन्म, जीवन और मृत्यु दोनों ईश्वरका स्वरूप है; जब होना और न होना दोनों ईश्वरका स्वरूप है तब भय किसका? छूटनेका शोक किसका? मरनेका भय किसका? इस परिवर्तनशील वर्तमानमें मोह किसका?

भगवान् पर जब दृष्टि जाती है–तब शोक, मोह और भयको अपने जीवनसे भगा देती है। देखो, यदि आपका जीवन शोक, मोह और भयसे मुक्त न हो तो आप सुखी नहीं होंगे। जो स्वयं सुखी नहीं है वह दूसरेको सुखी नहीं रख सकता। इसलिए ईश्वरकी दृष्टिसे अपनी दृष्टि मिलना आवश्यक है। वह अविनाशी है एवं शाश्वत धर्मका रक्षक है, वह सनातन पुरुष है। आप वह जैसा है, उसको वैसा जानिये और जैसा वह देखता है, वैसा देखिये। मालिककी नज़र से अपनी नज़र मिल जाने दीजिये और देखिये शान्ति-ही-शान्ति है–आनन्द-ही-आनन्द है!

(गीता-दर्शन 9 (अध्याय 11) पृ. 54, 55)

बस-बस महाराज, मैं आपको पहचान गया!

भक्तिकी यह महिमा है कि जब वह हमारे हृदयमें आती है तो अकेली नहीं आती, भजनीयको लेकर आती है–

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।

श्रीमद्भागवत 5.18.12

जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आ जाती है, उसकी पहचान क्या है? ईश्वर पर आस्था होना, एक अचिन्त्य, अनन्त, दिव्य, अदृश्य-शक्तिके प्रति श्रद्धा-विश्वास होना, उसका ज्ञान होना, उसका स्मरण होना और उसके प्रति प्रेम होना। ऐसी भक्तिके आते ही सब देवता अपने-अपने श्रेष्ठ गुणोंको लेकर उस भक्तके पास आजाते हैं। उससे भेंट करने भी आते हैं और उसको भेंट देने भी आते हैं।

'सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः'का अर्थ यह भी है कि कान अच्छी-अच्छी बातें सुनने लगते हैं, बुरी बातें नहीं सुनते, आँखे अच्छी-अच्छी चीजें देखने लगती हैं, नासिका अच्छे गन्धको सूँघती है, जीभ अच्छी वाणी बोलती है, पाँव अच्छी जगह जाता है, हाथ अच्छा काम करता है, हमारा जीवन सद्‌गुण सम्पन्न हो जाता है।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा.....मनोरथेनासति धावतो बहिः।

जिनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति नहीं है, उनके जीवनमें महद्‌गुण कहाँसे आवेंगे? वे तो पार्टीबन्दी करेंगे, जबकि भगवान्‌में पार्टीबन्दी नहीं है। भगवान् तो सबके आत्मा हैं, सर्वात्मा हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि–'सर्व सर्वगत सर्व उरालय'-भगवान् सब हैं, सबमें हैं और सबके हृदयोंमें रहते हैं। ऐसे भगवान्‌की भक्ति जब हृदयमें आती है तो स्पर्द्धा, असूया, तिरस्कार और अभिमान-ये चार दोष तुरन्त निवृत्त हो जाते हैं। तिरस्कार वह है जिसकी भावना आनेपर हम कहते हैं कि हट-हट, तू नीच है।

एक बार स्वयं शंकरचार्यने एक चाण्डालको कह दिया था कि 'दूरं गच्छ'-दूर हटो। इसपर उस चाण्डालके भीतरसे शंकरजी बोल पड़े–'दूर हटो' किसके लिए बोल रहे हो? देहको दूर हटाना चाहते हो कि देहीको दूर हटाना चाहते हो? देह तो हमारा और तुम्हारा अन्नमयकोश है, एक ही है, मिट्टी, पानी, आगसे बना हुआ है। किन्तु देहीमें तो भेद ही नहीं है। फिर तुम किसको हटाना चाहते हो? अब श्रीशंकरचार्यजीकी आँख खुली। उन्होंने चाण्डालको देखा और बोले कि, 'बस-बस महाराज, मैं आपको पहचान गया।'

(गीतामें भक्तिज्ञान-समन्वय : पृ. 33-34)

व्यवहारका सार

व्यवहारमें केवल दो बातें हैं और बहुत सरल हैं-

1. आप जो मुँहसे बोलते हैं, आप ध्यान रखें, आप अपने मनमें जो कड़वा है उसको मत दोहराइये। यथा सम्भव असत्य मत बोलिये। नहीं तो आपका व्यवहार ही दूषित हो जायेगा। यदि सत्य भी बोलने लायक न हो तो उसे भी मत बोलिये। यह नहीं कि हम तो सच बोलेंगे चाहे कुछ हो जाये। ऐसा नहीं। सत्यके साथ-साथ हितका भी ध्यान रखना पड़ता है। सत्य बोलिये, परन्तु हित बोलिये। असत्य, अहित मत बोलिये।

तो सत्य हो, हित हो और सुननेमें प्रिय हो, इस ढंगसे बोलिये और मित-थोड़ेमें बोलिये और अवसरोचित बोलिये। आपकी वाणीमें सत्य, ज्ञान एवं आनन्दका अवतार हो। जो सुने सो सुखी हो जाय। जो सुने उसकी समझ बढ़ जाय। जो सुने उसके जीवनमें सदाचारका प्रसार हो।

आपकी वाणीमें तोड़-फोड़ न हो। भेद न हो, अभेद हो। तो व्यवहारका सार यह है कि आपका शब्दोच्चारण सुधरे। आपके बोलनेमें नम्रता हो, कोमलता हो, यदि कभी कठोर भी बोलना पड़े तो हित तो उसमें जरूर हो। डाक्टर आपरेशन करता है, आपका हित होता है उसमें। हितसे रहित आपकी वाणी न हो। आपका व्यवहार शुद्ध हो जाय।

2. और, थोड़ी बात इसमें है, थोड़ी कठिन है वह, परन्तु आप उसका अनुभव करते हैं।

आप किसीको मृत्युके पास पहुँचाना चाहते हैं तो आपका व्यवहार गलत है। आप किसीको अज्ञानान्धकारमें रखना चाहते हैं तो आपका व्यवहार गलत है। आप किसीको दुःख पहुँचाना चाहते हैं तो आपका व्यवहार गलत है। आप कहीं तोड़-फोड़ करना चाहते हैं, पति-पत्नीमें, भाई-भाईमें, पिता-पुत्रमें झगड़ा कराना चाहते हैं तो आपका व्यवहार गलत है।

व्यवहारमें बहुत सावधानी रखनेकी जरूरत नहीं है, केवल दो बातें, गिनी हुई दो बातें, एक तो आपका मन ठीक हो, दूसरे आपकी वाणी ठीक हो। अगर आप अपने जीवन में इन दो बातोंको धारण कर लेते हैं, तो आपका सारा व्यवहार ठीक हो जायेगा। आपका धन ठीक हो जायेगा, आपका परिवार ठीक हो जायेगा, आपकी पार्टी, जाति, मजहब, राष्ट्र, सारी मानवता ठीक हो जायेगी, केवल आप अपने मनको मत बिगाड़िये एवं वाणीको ठीक रखिये।

जब आप गन्दा बोलते हैं, तो वह दूसरा गन्दा नहीं होता, परन्तु आपकी जबान गन्दी हो जायेगी। जब आप दूसरोंको नुकसान पहुँचाना चाहेंगे, तो आपके हृदयका नुकसान हो जायेगा। आपका यह खजानोंका खजाना-दिल गन्दा हो जायेगा। आप उपदेशका सार-सार जीवनमें धारण कीजिये।

(ईशानुभूति-पृ. 93,94,95)

भगवान्का अनुग्रह

जैसे किसान देखता है कि हमारा यह पेड़ मुरझा रहा है तो उस पर विशेष ध्यान देता है-उसको खाद-पानी-दवा देता है और अपने उस पौधको सींच-सींचकर बड़ा करता है। वैसे ही भगवान् भजन करने वाले स्वस्थ व्यक्तियोंसे जैसा प्रेम करते हैं वैसे ही आध्यात्मिक दृष्टिसे जो रुग्ण हो जाते हैं उनके प्रति भी भगवान्की कृपा होती है। माँ केवल स्वस्थ बेटेका ही संवर्धन नहीं करती, अपने रुग्ण बेटेका भी संवर्धन करती है। भगवान्की कृपा सबके ऊपर होती है।

भगवान्का अनुग्रह मनुष्यके जीवनमें व्यक्त होता है और पहचाना जा सकता है कि इस आदमी पर भगवान्ने कृपा की। यदि भगवन्नाम-कीर्तन करने लगे, नाम-स्मरण करने लगे-तो समझ लो कड़ी जुड़ गयी। नामके अर्थका चिन्तन करने लगे, ध्यान करने लगे, पूजा करने लगे तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे जीवनकी कड़ी परमेश्वरके साथ जुड़ गयी।

बाबाकी उदारता

आपको साधुओंकी उदारताकी बात सुनाता हूँ-श्रीउड़ियाबाबाजीके आश्रममें एक बार कोई सेठ आये और अपनी कोट उनकी कुटियामें टाँगकर कहीं चले गये, उसमें सौ-सवा सौ रुपये थे। वह किसीने निकाल लिया। भक्तोंको बहुत बुरा लगा कि महाराजकी कुटियामें चोरी हो जाय-यह तो बड़ी बदनामीकी बात है। तुरन्त सावधान होकर उन लोगोंने उस चोरको ढूँढ़ निकाला। वह आश्रमका ही एक आदमी निकला! सेठका रुपया तो मिल ही गया और उस चोरको, लोग महाराजके पास ले आये कि महाराज आप इसको आश्रमसे निकाल दो। महाराज बोले कि तुम क्या समझते हो कि यह आश्रम ही हमारा है, धरती हमारी नहीं है? अरे भाई यह तो अज्ञानी है, हम तो कहीं भी रह सकते हैं, हम ही आश्रम छोड़कर चले जाते हैं-यह रहे-तुम रहो, मौजसे रहो।

लोग दंग रह गये! बाबाने कहा सारी सृष्टि हमारी है-यह व्यक्ति कहीं भी रहेगा तो हमारी सृष्टिमें रहेगा-यह हमारे हृदयमें है, यह हमारे मनमें है-चोर हुआ तो क्या हुआ? अब आप जानते हैं उस चोरकी क्या दशा हुई होगी, आप सोचो! उस चोरके ऊपर सौ घड़े पानी पड़ गया कि नहीं? वह धुल गया कि नहीं? उसका दिल धुल गया।

(मानव जीवन और भागवत धर्म-पृ. 180,193)

ईश्वर रक्षा करता है

हमारे एक मित्र सिन्धके थे। वे वृन्दावन आये थे। उनके साथ सौ-डेढ़ सौ उनके भक्त लोग थे। जब लौटने लगे, एक छोटा-सा स्टेशन आया, जहाँ गाड़ी तीन मिनट ठहरती थी। उनके हृदयमें ऐसी प्रेरणा भीतरसे आयी कि गाड़ीमें-से उतरकर प्लेटफार्म पर खड़े हो गये और उन्होंने कहा कि तीन मिनटमें हमारे सब सत्सङ्गी यहाँ उतर जाँय। हमारे भीतर से प्रेरणा उठ रही है कि यहाँ मुसाफिरखानेमें बैठकर सत्संग करो। जब तीन घण्टे सत्सङ्ग कर लेंगे, तब खा-पीकर अगली गाड़ीसे चलेंगे। सब सत्सङ्गी उतर गये। नारायण, वह गाड़ी उस स्टेशनसे चली और अगले स्टेशन पर पहुँचनेसे पहले ही उलट गयी। अब उनको किसने बताया? यह नहीं कि उनको ईश्वरने बताया कि गाड़ी उलट जायेगी। ईश्वर तो जरा चोर टाईपका है। भीतर छिपा रहता है यह नहीं बताया कि गाड़ी उलट जायेगी। यह बताया कि यहाँ उतर कर हमारा सत्सङ्ग करो, हमारी चर्चा करो। माने अपनी स्मृति दी और संकटसे बचाया।

वृन्दावनमें कोकिल साईं थे। उनसे किसी भक्तने पूछा कि जब हमलोग चावलमें नमक डालने लगते हैं तो भीतरसे एक आवाज आती है कि इतना डालो तो ठीक रहेगा। वह आवाज किसकी होती है? साईंने कहा कि यह ईश्वरकी आवाज होती है। वह भीतर बैठा है। यह ज्ञान कि कहाँ कितना नमक डालना चाहिए, भीतर बैठा हुआ ईश्वर ही देता है। यदि भीतर बैठा हुआ ईश्वर ज्ञान न बाँटता रहे, प्रकाश न बाँटता रहे, तो सारी दुनिया अन्धी हो जाय। किसीके दिल और दिमागमें कुछ सूझे ही नहीं। आँख देने वाला यहीं भीतर बैठा है।

एक बार मेरे एक मित्र गंगोत्रीसे आगे गोमुख गये। जब स्नान करनेके लिए गंगाजीमें घुसे तो उनके भीतरसे ऐसी आवाज हुई कि तुम किनारे न रहकर घुस चलो धारामें। वे घुस गये। भीतरकी आवाजका आदर किया। घुस गये तो क्या देखते हैं कि बर्फकी सैकड़ों मनकी चट्टान ऊपरसे नीचे चली आ रही है! उन्होंने समझ कि अब मृत्यु आ गयी और आँख बन्द कर सिर झुका लिया। उनका ईश्वर पर बड़ा भारी विश्वास, और उन्होंने पुनः ऊपर देखा कि वह चट्टान बिल्कुल उनके ऊपर एक-दो फुटकी दूरी पर आते-आते दो टुकड़ोंमें होकर, एक टुकड़ा दायें गया और एक बायें गया और वे बीचमें ज्यों-के त्यों सुरक्षित। उन्होंने देखा कि ईश्वर कैसे रक्षा करता है! उनके जीवनमें एक नया अनुभव हुआ कि इतने भयंकर समयमें भी ईश्वर मनुष्यकी किस तरह रक्षा करता है!!

(पुरुषोत्तमयोग-पृ. 149-150)

जब ईश्वरका दर्शन होवे तब तीन बात ध्यानमें रखना

हमको बचपनमें एक महात्माने तीन सूत्र बताये थे कि जब ईश्वरका दर्शन होवे तब तीन बात ध्यानमें रखना–

1. ईश्वर तुम्हें वैराग्यकी ओर चला रहा है कि राग-द्वेषकी ओर? ईश्वर जब प्रसन्न होकर चलाता है तो वैराग्य की ओर चलाता है, अन्तर्मुख बनाता है, तब ईश्वरकी प्रेरणा-ईश्वरकी कृपा उसमें प्रत्यक्ष होती है।

2-दूसरी बात है, शास्त्रमें ईश्वरका जो स्वरूप बताया गया है, उसीके अनुसार तुम्हें ईश्वरका दर्शन हुआ है कि मनमाने ढंगका हुआ है? अगर मनमाने ढंगका ईश्वरका दर्शन हुआ है तो उसमें तुम्हारी वासना जुड़ी हुई है। वासनाका नाश तो शास्त्रोक्त पद्धतिसे होता है। प्राकृत-पद्धतिसे तो वासनाकी पूर्ति होती है, विकृति होती है। संस्कृति शास्त्रसे आती है। इसलिए, जो लोग कहते हैं कि पशुओंकी रहनी देखकर कर्त्तव्यका निर्णय करेंगे या भोजनका निर्णय करेंगे या औषधिका निर्णय करेंगे–वह गलत है। शाल-ग्रामकी मूर्ति, राधाकृष्णकी मूर्ति संस्कार करके बनानी पड़गी। और, स्त्री-पुरुषका जो प्रेम है, वह विकारसे ही हो जायेगा, परन्तु ईश्वरसे प्रेम, गुरु-दीक्षा, शास्त्रका स्वाध्याय, सत्सङ्ग–ये सब भावनाकी उत्पत्तिसे होगा।

देखना यह है कि तुम्हारा 'अनुभव', शास्त्रके संस्कारसे अनुविद्ध है कि विरुद्ध है : यदि तुम्हारे भाव शास्त्र संस्कारके अनुरोधी हैं, तो वे ईश्वरकी प्रेरणा हैं और यदि शास्त्र विरोधी भाव उठते हैं तो वे तुम्हारे लिए साधन नहीं है, कृपा नहीं है।

3-तीसरी बात है, माता-पिताके दिये हुए शरीर और ज्ञानकी अपेक्षा, ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गमें, गुरुका दिया हुआ शरीर, गुरुका दिया हुआ भाव अपने लिए विशेष उपयोगी होता है। गुरुने तुम्हारे हृदयमें जिज्ञासु रूपका-सखी, सखा, सेवक, दासी, दास, पत्नी आदिके रूपका संस्कार डाला है, उस संस्कारके अनुसार ईश्वरकी ओर चलोगे तो ईश्वरकी सच्ची प्राप्ति होगी।

नारायण, इन तीनों बातों पर जो दृढ़ रहता है, उसको उसीमें, पर्दे-पर-पर्दा हटता जाता है और भीतर जो चीज है वह बाहर आती जाती है। श्रीमद्भागवतमें बताया कि भगवान्‌के दिव्य रूपका दर्शन उनके साथ बातचीत-ये सारी बातें होती हैं। और, जो उस मार्गमें दृढ़ नहीं होता है, उसको अन्तर्देशके जो रहस्य हैं, वे प्रकट नहीं होते हैं।

तो भाई, साधनाके मार्गमें जो अग्रसर होता है, उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

(पुरुषोत्तमयोग-पृ. 151-153)

वेद, हर तरहसे हमारी भलाई हो, ऐसा वर्णन करता है

वेदमें वर्णन आया है–हमारा छोटा बच्चा बिमार न पड़े, हमारी आयु पूरी हो, हम बीचमें न मरें। हमारी गाय, हमारा घोड़ा, हाथी, बीमार न पड़े। वेदोंमें यह वर्णन क्यों है?

इस वर्णनमें यह अभिप्राय है कि एक ईश्वर पर तुम्हारे हृदयमें विश्वास आये। जिससे प्रार्थना की गयी, उसके प्रति तुम्हारे हृदयमें विश्वास आवेगा तो तुम्हारी बुद्धि जो संसारमें भटक रही है, वह स्थिर होगी। जो उच्च-कोटिके साधक हैं उनको निष्काम रहने दो। वेदोंमें सकामका भी वर्णन है; क्यों है? दूसरों पर विश्वास करनेकी अपेक्षा ईश्वरपर विश्वास करोगे तो ईश्वरके नजदीक आओगे। ईश्वरके निकट आनेका यह भी एक उपाय है।

वेदोंमें यह भी वर्णन है कि शरीरको ऐसे-ऐसे रखो। यह खाओ, यह पीओ। शरीरको स्वस्थ रखो तब वेदान्त विचार होगा। परमात्माको जाननेके लिए स्वस्थ तन-मनकी आवश्यकता है वेद कहता है चरित्र शुद्ध होगा तो तुम ईश्वरके निकट पहुँचोगे। वेदमें यह भी आया है कि ब्याह कर लो। ठीक है, वेदने बताया कि तुम्हारे मनमें काम-विकार तो है और ब्याह नहीं करोगे तो कामकी पूर्तिके लिए संसारमें हजार साधन मिलेंगे; तो न जाने कहाँ-कहाँ भटक जाओगे, नष्ट-भ्रष्ट हो जाओगे। सो इसके लिए एक जगह ब्याह करना अच्छा है यह भी ईश्वरकी प्राप्तिके लिए है।

अच्छा वेदमें यह है कि ईमानदारीसे धन कमाओ। जूआ मत खेलो। जूआ खेलोगे तो कभी ऐसा मौका आवेगा कि सारी कमाई खो दोगे। सनसनी वाले जितने काम हैं वेदमें सब वर्जित हैं। काहेके लिए? तुम्हारे मनको शान्त करनेके लिए। वेद कहता है, किसीकी हिंसा मत करो। क्यों मत करो? यह भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन है। क्रोध अगर तुम्हें आवेगा और हिंसा करोगे तो भजन-साधनसे जितना शान्तिका रस, अन्तःकरणमें इकट्ठा होगा, वह क्रोधसे नष्ट हो जायेगा। इसलिए वेदने कहा कि हिंसा मत करो।

विकारोंको संस्कार बनानेके लिए वेद है, उपाधिको शुद्ध करनेके लिए वेद है। अपनेमें एक खास प्रकारके अधिकारी-पनेका भाव उत्पन्न करके-हम मनुष्य हैं तो हमें ईश्वरकी ओर अवश्य चलना चाहिए, इसलिए हमारे मनुष्यत्वका वर्णन है।

तो मुख्य बात यह हुई कि वेद हर तरहसे हमारी भलाई हो, हम परमात्माके मार्गकी ओर चलें-ऐसा वर्णन करता है।

(पुरुषोत्तमयोग - पृ. 166-167)

धन त्याग क्रियाके द्वारा ही सुख देता है

मैत्रेयी–यदि यह सारी पृथिवी जो धनसे भरपूर है, वह हमको मिल जाय, तो क्या अमृतत्वकी प्राप्ति हो जायेगी?'

याज्ञवल्क्य–जैसे संसारमें बहुत सारा धन, सम्पत्ति-सामग्री रखने वालोंका जीवन होता है वैसा ही तुम्हारा जीवन होगा। धनके द्वारा कोई चाहे कि हमको अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाय, तो उसकी आशा तो बिल्कुल बेकार है।

देखो, यहाँ धनसे मतलब यह नहीं है कि मकान मिल जाय, मोटर मिल जाय, खान-पान अथवा कपड़ा मिल जाय-वह अर्थ यहाँ नहीं है। असलमें धनका सिद्धान्त मैं आपको सुनाता हूँ।

धन स्वयंमें पुरुषार्थ नहीं होता है। माने धन किसीके चाहनेकी चीज नहीं है। उस धनको जब हम क्रियाशील करते हैं, अर्थात् धनका जब त्याग करते हैं तब धन त्यागके द्वारा ही सुख देता है। बिना त्यागके धन सुख दे ही नहीं सकता।

आपको साड़ी पहननी हो, तो पैसा दुकानदारको देना पड़ेगा। आपको चाट खानी हो तो पैसा भेलपुरी वालेको देना पड़ेगा। धन त्यागके द्वारा ही सुख देता है। संग्रहके द्वारा धन कभी सुख देता ही नहीं। संग्रह तो केवल एक प्रकारका मानसिक अभिमान बढ़ाता है। आप इस बातपर ध्यान दीजिये।

यदि आप धन खर्च नहीं करोगे, तो बेटेको धन सुख देगा? आपके बेटे भी यदि खर्च नहीं करेंगे, तो उनको भी सुख नहीं देगा। धन ऐसी चीज है कि त्याग क्रियाके द्वारा ही सुख देता है। उसके पास सुख देनेका और कोई उपाय ही नहीं है। आप भले चाट खाओ, आप भले वैश्याको दो, आप भले मोटर बनवाओ, मकान बनवाओ, कपड़े-लत्ते पहनो, लेकिन यदि धन खर्च नहीं करोगे, तो वह सुख नहीं देगा, नहीं देगा, नहीं देगा। बल्कि पुलिस और पीछे लग जावेगी, डाकू और पीछे, घरके लोग और पीछे! दुनियाके लोग दुश्मन बने रहेंगे।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (ईशा०)

देखो, आपको जो धन सम्बन्धी उपनिषद्का सिद्धान्त है, वह सुनाया।

बोले, 'धनत्यागके द्वारा लौकिक भोग तो मिलेगा।' अरे भाई मेरे वह भी त्याग ही है। कोई चीज खरीदकर धन दुकानदारको देते हैं, पुलिसको धन देकर अपनेको संकट से छुड़ाते हैं; इन्कम टैक्सके अफसरको देकर अपनेको बचाते हैं–यह सब त्याग ही है। बिना त्यागके धन आपको सुख दे नहीं सकता। तिजोरीमें धन पड़ा रहे, वह बात दूसरी है। तिजोरीमें पड़ा धन आपको भय जरूर देगा, चिन्ता जरूर देगा, आतंक जरूर देगा। परन्तु सुख नहीं दे सकता।

(बृहदारण्यकोपनिषद् : पृ. 119-113)

त्यागके द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति होती है

बोले–क्या धनका इतना ही प्रयोजन है कि हम इस लोकमें सुखी हों? नहीं, इतना ही प्रयोजन नहीं है। उससे भी बड़ा प्रयोजन है। यदि आप शास्त्रोंकी रीतिसे धनका परित्याग करें, तो वह परित्याग आपको स्वर्ग सुख दे सकता है। आप यज्ञ करें, दान करें, धर्म करें, गरीबोंको पालें।

असलमें यह जो लोगोंका खयाल है कि केवल गरीब ही दानके अधिकारी हैं, तो यह बात बिल्कुल गलत है। यह किसी मूर्खतापर आधारित है।

हम लोग पुराने ढंगके हैं, तो हम सब बातको पुराने ढंगसे सोचते हैं। यदि जो बिल्कुल गरीब हो, वही धनका अधिकारी हो तो एक मनुष्य बड़ा उत्तम चिन्तन कर रहा है, विद्याका स्वाध्याय कर रहा है, वह सृष्टिके गूढ़ तत्त्वका चिन्तन कर रहा है; फिर उसको नौकरी करनी पड़े, दुकानपर बैठा रहना पड़े या वह अपमान सहकर अपनी जीविका चलावे; नौकरी जिसकी करे उसकी चार बातें सुने; व्यापारमें जो करे उसमें नफा-नुकसानके चिन्तनमें पड़ जाय, तो उसका जो शुद्ध और उत्तम चिन्तन है, वह चिन्तन छूट जायेगा। वहाँ तो सारे विश्वका, सारी मानवताका नाश हो जायेगा। वह दिन विश्वमें कभी न आवे, जब शुद्ध चिन्तन करनेवाले और विद्याजीवी लोग इस संसारमें न रहें।

आपका जो वेद-विद्याका विद्वान है, वह चिन्तन करता है कि मनुष्यका कहाँ हित है और कहाँ अहित है, उसको देनेसे धर्मकी उत्पत्ति होती है।

अतः धर्म न केवल लोकमें, अपितु परलोकमें भी मनुष्यको सुखी रखता है। परलोकका सुख यह है कि इस बाहरी दुनियासे परे, भीतरी सूक्ष्म सृष्टिमें भी आप सुखी हो जाते हैं।

देखो, त्यागके द्वारा ही लौकिक सुख प्राप्त होता है। जबतक धन आप मुट्ठीसे निकालेंगे नहीं, तबतक आपको धार्मिक सुख नहीं होगा। और जबतक आप अपनी बुद्धिवृत्तिमें-से, धनको निकालेंगे नहीं। तबतक आपको आध्यात्मिक सुख नहीं होगा। इसलिए त्यागके द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति होती है।

अब याज्ञवल्क्यजीको मैत्रेयीने कहा–'महाराज। आप तो अमृत होने जा रहे हैं और हमको इस मृत्युमयी सृष्टिमें छोड़ रहे हैं। जिस वस्तुको प्राप्त करके मैं अमृत नहीं होती, वह चीज अर्थात् धन, मैं नहीं लूँगी। मुझे वह नहीं चाहिए। जिस अमृतत्वकी प्राप्ति आपको होती है, उसी अमृत्वकी प्राप्ति मुझे भी होनी चाहिए।

हमें केवल ज्ञान चाहिए। जैसी आपकी बुद्धि है, जैसी आपकी अनुभूति है, वही अनुभूति मेरी हो। हमारी बुद्धि आपके साथ बिल्कुल मिल जाय।

(बृहदारण्यकोपनिषद् : पृ. 114-115)

हमारी शुद्ध पवित्रतम अवस्था!

एक बात हम आपको सुनाते हैं, जो बचपनमें किसी महात्माने हमको सुनायी थी। हमको आया क्रोध तो ऐसा लगा कि क्रोध बिलकुल ठीक आया है, उचित है। न्याय है।

ईश्वरकृपासे घण्टे-दो-घण्टे बीत गये; समझ आयी कि वह क्रोध गलत था। तो वह क्रोध उस समय उचित क्यों लगा?

वस्तुत: उस समय जब हमारी वृत्ति क्रोधाकार हुई, तो हमारा 'मैं' उसके साथ मिल गया और 'मैं' तो हमेशा उचित ही होता है, जहाँ यह 'मैं' मिल जाता है, जिस दोस्तके साथ 'मैं' मिल गया, वह दोस्त बढ़िया। जिस कामके साथ 'मैं' मिल गया, वह काम बढ़िया आदि। असलमें बढ़ियापन न काममें है, न क्रोधमें है, न लोभमें है, न मोहमें है, न दोस्तमें है, न दुश्मनमें है, न देवतामें है, न वैकुण्ठनाथमें है। हम अपने 'मैं' को जिसके साथ मिला देते हैं, वही हमको बढ़िया लगने लगता है। यही बात देह और मनके बारेमें लागू होती है। हमने देहके साथ अपने 'मैं' को मिला दिया, तो इसीके साथ रिश्तेदार-नातेदार अपने हो गये, हमने मनके साथ अपने 'मैं'को मिला दिया तो इसकी वृत्तियाँ अपनी हो गयीं।

यदि कदाचित् हमारे विवेकका उदय हो जाय और हम अपने 'मैं' को विविक्त अर्थात् अलग कर लें तो जिस पदार्थमें हम अपने 'मैं' को मिला लेते हैं उसका मरना हमारा मरना नहीं, उसका जिन्दा रहना हमारा जिन्दा रहना नहीं, उसकी अच्छाई हमारी अच्छाई नहीं और उसकी बुराई हमारी बुराई नहीं।

संस्कृत भाषामें 'विविक्त' शब्दका अर्थ दो होता है—अलगाया हुआ और पवित्र। जो सबसे अलग किया हुआ है, वही पवित्र है और जो किसीके साथ मिला हुआ है, वह गन्दा है। जब हम अपने आपको किसी वस्तु, व्यक्ति, शरीर, वृत्ति अथवा स्थितिके साथ जोड़ देते हैं, तब हम अशुद्ध हो जाते हैं।

जब हम अपने-आपको सबसे अलग कर लेते हैं और ऐसा अलग कर लेते हैं कि अपनी अद्वितीयताको हम जान लेते हैं कि हमारे सिवाय और कोई नहीं है तब यही हमारी शुद्ध पवित्रतम अवस्था होती है।

वेदान्त बताता है कि—'बस तुम्हीं तुम हो। तुम्हारे सिवाय कुछ नहीं है। व्यवहारमें तुम्हीं तुम हो, स्वप्नमें तुम्हीं तुम हो, सुषुप्तिमें तुम्हीं तुम हो, समाधिमें तुम्हीं तुम हो, वैकुण्ठ स्वर्ग-नरकमें तुम्हीं तुम हो। जहाँ तुम अपनेको देखते हो, वहाँ तुम्हीं तुम हो! दूसरा तो है ही नहीं, यह वेदान्तकी शिक्षा है।'

(बृहदारण्यकोपनिषद् : पृ. 175-177)

मुखिया मुख सो चाहिए!

एक ऐसी वस्तु है कि जिसका ज्ञान होनेपर सबका ज्ञान हो जाता है। श्रुतिमें आया कि—एक ऐसी वस्तु है कि उसको देख लो, सुन लो, उसका विचार कर लो, उसका अनुभव कर लो। फिर सबका दर्शन हो गया, सबका श्रवण हो गया, सबका मनन हो गया, सबका विज्ञान हो गया।

तो, यह 'दृश्य' क्या है? कि जो होय सो होय।

नहीं, जो होय सो होय नहीं! इसकी भी खोज करके, इसका अन्वेषण करके और अनुभव करके, इसको भी जान लो कि 'दृश्य' क्या है?

वस्तुतः विद्वान लोग, 'जो होय सो होय'—इसको उपहासकी दृष्टिसे देखते हैं; यदि किसी चीजको कह दिया—'जो होय सो होय', तो तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारा विवेक-विचार कहाँ गया? अनुभव कहाँ गया?

जब आत्मज्ञान हो जायेगा, तब यह सारी दुनिया तुमको अपनेसे अलग बिलकुल मालूम नहीं पड़ेगी।

'सर्वं यदयमात्मा'—यह सब परमेश्वर है, परमात्मा है एक देशका राजा सारे देशको भलाईकी दृष्टिसे देखता है और एक प्रान्तका राजा सिर्फ अपने प्रान्तको भलाईकी दृष्टिसे देखता है, कुटुम्बका आदमी होता है, वह अपने "मैं" को, अपने शरीरको और अपनी प्रियताको सबसे बड़ी मान लेता है। और एक व्यक्ति होता है जो सारे कुटुम्बको अपना मानता है। संसारमें व्यवहार कैसे चलता है?

हमारे गाँवके पास एक बड़े-बूढ़े थे। वे थे हमारे दादाके शिष्य, वे पचहत्तर वर्षके थे, मैं सोलह वर्षका था। हमारे यहाँ आते थे कभी-कभी, वह हमको कई बातें बताते थे।

मैंने उनसे पूछा—आपका ८०-९० आदमियोंका परिवार एकमें है, तो अलग-अलग कैसे नहीं होता? एकमें कैसे चलता है?

बोले—'महाराज! जिस दिन एक बच्चा भी खाये बिना रह जाय, उस दिन मैं रोटी नहीं खाता हूँ।

'मुखिया मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक'—मुखिया मुखके समान होना चाहिये, जो खाने-पीनेको तो अकेला है, परन्तु विवेकपूर्वक सब अंगोंका पालन-पोषण करता है।

तो यह बात बतायी कि आत्माके सिवाय दूसरा कोई नहीं है; आत्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है।

(बृहदारण्यकोपनिषद् : पृ. 142-148)

बिना पराधीन हुए तुम दूसरेको पराधीन कर नहीं सकते!

कोई भी बात प्रमाण तब होती है, जब वह अज्ञात-ज्ञापक होती है। तो यह जो अपना आत्मा है, इतना तो ज्ञात है, कि 'वह है'। इतना तो मालूम है कि 'मैं हूँ।' परन्तु यह पापी है कि पुण्यात्मा है; सुखी है कि दुःखी है, अथवा पाप-पुण्य, सुख-दुःखसे न्यारा है; कि यह केवल साक्षी मात्र है-केवल एक शरीरका ही साक्षी है कि यह सर्वात्मा है-आत्माके बारेमें यह सब कुछ मालूम नहीं है।

वेदान्तकी सार्थकता ही इसमें है कि यह बताता है कि-

'सर्वं यदयं आत्मा'-यह जो कुछ है, सब अपना आत्मा ही है। सर्वात्मभाव जो है, वह किसीको सहज-रूपसे प्राप्त नहीं है।

उपनिषद् एक ऐसी बात बताती है कि जिसमें तुम्हारे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अर्थात् 'तुम्हीं सब हो' बतानेके लिए उपनिषद्की प्रवृत्ति हुई है। इसके लिए छोटी-छोटी चीजोंकी ओरसे अपने मनको हटाना पड़ता है, अपने आपको निवृत्त करना पड़ता है।

इसीलिए शास्त्रमें यह प्रश्न उठाया गया है कि तत्त्वज्ञानके लिए कुछ त्यागकी भी जरूरत है कि नहीं है? यह देखो! तो जिस छोटी-सी चीजको पकड़कर आप बैठ रहोगे, उसी चीजके बारेमें आपकी बुद्धि सोचती रहेगी। बड़ी चीजको प्राप्त करनेके लिए छोटी चीजको छोड़ना पड़ता है।

लोग कहते हैं कि-देखो, हमने यह रूमाल पकड़कर अपनी मुट्ठीमें कर लिया।

अच्छा, देखो, यह तो सब समझते हैं कि रूमाल हमारी मुट्ठीमें हैं। परन्तु यह हमारी मुट्ठी रूमालके साथ बँध गयी, यह बात ख्यालमें आती है? यही दुनियाकी हालत है।

जो किसी दूसरेको काबूमें करके रहता है, उसको खुद दूसरेके काबूमें रहना ही पड़ता है। बिना पराधीन हुए तुम दूसरेको पराधीन कर नहीं सकते।

रस्सीमें एक लकड़ीको बाँधना चाहो, तो केवल लकड़ी बँधेगी, ऐसा सोचते हो? नहीं, जब लकड़ी बँधेगी तो उसके साथ-साथ रस्सी भी बँध जायेगी।

इसलिए जहाँ द्वैतका सम्बन्ध होगा, सम्बन्धके साथ बन्धन भी अवश्य होगा।

(बृहदारण्यकोपनिषद् : पृ.108-110)

परम सत्यकी उपलब्धि!

परमेश्वर क्या है? इस सम्बन्धमें वेद-वेदान्तका जो सिद्धान्त है, वह यदि प्रगट न किया जाय तो किसीको इस बातका ज्ञान ही नहीं होगा कि ईश्वर क्या है?

दुनियामें बड़े-बड़े मजहब मशहूर हैं। उनमें और वैदिक-सिद्धान्तमें अन्तर है। उन मजहबोंमें ईश्वरको तो मानते हैं, परन्तु उसे वे सृष्टिसे अलग सातवें आसमानमें रहनेवाला और निराकार मानते हैं, वह कभी साकार नहीं होता। वैदिक सिद्धान्तके अनुसार ईश्वर कुम्हार अर्थात् घड़ा बनानेवाला भी है और माटी भी है। बनने और बनानेवाला दोनों एकमें है, ऐसा जाननेपर मालूम पड़ेगा कि स्वयं ईश्वर ही सृष्टिके रूपमें प्रकट हो रहा है। उसने अपनेको ही सृष्टिके रूपमें प्रकट किया है। जब आप इस सिद्धान्तको स्वीकार कर लेते हैं, तब सर्वत्र परमात्मभावकी प्राप्ति होती है और तत्त्व साक्षात्कारके रूपमें परम सत्यकी उपलब्धि होती है।

देखो, जबतक परमेश्वर सब समय रहनेवाला न होगा, तब तक सब समय उसका भजन नहीं हो सकता है। यह मत समझ लेना कि हम अपने मनके बलसे हर समय ईश्वर-ही-ईश्वर देखने लगेंगे। यह तुम्हारे मनका लगाया हुआ जोर काम देनेवाला नहीं है-इसको हम लोग समझते हैं। तुम्हारे पास कितना जोर है कि तुम हर समय मनपर जोर देकर उसको परमात्माके साथ जोड़ोगे?

दूसरी बात, यदि परमात्मा हर जगह नहीं होगा तो क्या उसे तुम अपने मनके बलसे सब जगह सोचते रह सकते हो? नहीं सोचते रह सकते।

तीसरी बात, यदि परमात्मा सर्व रूपमें नहीं होगा तो क्या तुम मनके बलसे सोचते रह सकते हो कि सब परमात्मा है?

असलियत यही है कि परमात्मा हर जगह है, हर समयमें है और हर रूपमें है। एक बार उसको पहचान लेना होता है, सावधानीसे समझ लेना होता है-जैसे स्वर्णका कंगन हो, कि हार हो, कि कड़ा हो, कि कुण्डल हो-सोना है। सोनेको एक बार पहचान लिया तो पहचान लिया और जो सोनेको नहीं पहचानेगा वह तो दूसरी-दूसरी शक्ल देखेगा और मारा जायेगा बेचारा।

एक बार जहाँ सावधानीसे ईश्वरको पहचान लिया, फिर जहाँ हम चलें वहाँ, जहाँ देखें वहाँ, जो बोलें वह और जो करें वह-सर्वत्र, सब समय, सब रूपोंमें-फिर तो रात-दिन परमेश्वरका भजन होता है। जिन्दा रहो, तब भी भगवान मर जाओ तो भी भगवान्! इस लोकमें भी भगवान्, परलोकमें भी भगवान्!

दुःखके तीन स्तर

एक दिन मैं काशीमें अपने पूर्व परिचित पण्डितजीके घर गया। उस समय पण्डितजी कहीं बाहर गये हुए थे। घरमें केवल माताजी थीं। सात-आठ वर्षोंके बाद उनसे मिलना हुआ था। इस बीचमें उनके एक जवान पुत्रकी मृत्यु हो गयी थी। वे मुझे देखते ही रोने लगीं। थोड़ी देर बाद उन्हें अपने दूसरे पुत्रके विवाहकी बात याद आ गयी; जो इसी बीचमें हुआ था, उसका सम्वाद सुना-सुनाकर हँसने लगीं। इसके बाद आगे आनेवाले लड़कीके विवाहकी चर्चा छिड़ी, तो चिन्ताकी रेखा चेहरे पर झलकने लगी...। आज मनुष्यके मनकी यही दशा है। उसमें न कोई क्रम है, न संगति है और न ही विचारकी गम्भीरता है। छिछौरा सा छिछले पानीमें छलकता फिरता है।

वस्तुतः अपना दुःख अपने ही मिटाये मिटेगा। इसे कोई दूसरा मिटा नहीं सकता। क्योंकि दुःख शरीरके बाहर अथवा ऊपर नहीं होता, भीतर होता है। वहाँ केवल विचारका रसायन ही अपना असर डाल सकता है।

दुःखके तीन स्तर होते हैं : पहला स्तर है-**दुःखके निमित्त :**

संसारके पामर और विषयी पुरुष, जी-जानसे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर दुःखके निमित्तको दूर करनेमें लगे हुए हैं। परन्तु निमित्तोंका पूर्ण रूपसे दूर होना कदापि सम्भव नहीं है। सर्दी-गरमी, रोग-मृत्यु, दरिद्रता-अपमान, संसारमें सदासे रहते आये हैं और आते रहेंगे। इनको मटियामेट करके सुखी होनेकी आशा स्वप्नमात्र है और यथार्थतासे बड़ी दूर है। यह एक ऐसी योजना है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे कभी पूरी नहीं हुई है, और होगी भी नहीं।

दुःखका दूसरा स्तर है-**दुःखाकार-वृत्तियाँ :** जिनके मन उन झूठमूठके निमित्तोंको पानेके प्रयत्नमें संलग्न हैं, उन लोगोंके लिए दुःखाकार वृत्तियोंके प्रवाहको रोक पाना सम्भव नहीं है। मनोवृत्तियोंको दुःखाकार न होने देना निवृत्ति-परायण विरक्त पुरुषोंके लिए ही सम्भव है-ऐसे लोग, भगवत् स्मरण अथवा योगाभ्यासके द्वारा अपनी वृत्तियोंको निरन्तर भगवदाकार अथवा शान्त रखते हैं।

दुःखका तीसरा स्तर है-**दुःखाभिमान :** किसी भी परिस्थितिमें 'मैं दुःखी हूँ'-ऐसा अभिमान अपनेमें न होने देना। यह प्रत्येक विचारवान्‌के लिए सुगम तथा व्यावहारिक है। हमारे द्वारा दुःखीपनेकी स्वीकृति ही 'दुःख'को सत्ता देती है। साहसके साथ दुःखको अस्वीकार कर देना चाहिए। वास्तवमें अपने स्वरूपमें दुःखका लेश भी नहीं है। आत्माको दुःखकी छाया भी नहीं छू सकती। सत्सङ्ग और विचारके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिका सच्चा उपाय है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 126-127)

स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज

जब दैवी-सम्पद् महामण्डलकी तीर्थयात्रा ट्रेन, मुम्बई पहुँची, तब प्रेमकुटीरके सत्सङ्ग प्रेमियोंने हम लोगोंको आमन्त्रित किया। स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी स्वयं स्टेशन पर आये। हम लोग बड़ी प्रसन्नतासे प्रेम कुटीर आये। प्रातःके सत्सङ्गमें मेरा भी प्रवचन हुआ। मैंने शांकर-वेदान्तकी रीतिसे तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन किया वह श्रीस्वामीजीको बहुत पसन्द आया। उनके अध्यक्षीय-प्रवचनमें उनका गम्भीर चिन्तन और स्पष्ट-भाषिता मुझे बहुत अच्छी लगी। बस, यहींसे हमारी उनकी घनिष्ठता आरम्भ हो गयी।

स्वामीजीसे दूर-दूरसे मिलना-जुलना तो एक-दो बार पहले भी हुआ था। यह भी सुन रखा था कि कभी-कभी लोगोंको बहुत डाँटते-फटकारते थे। अतएव उनके निकट आनेमें संकोच करता था।

जब उनके हृदयसे अपना हृदय एक हुआ, तब उनके सम्बन्धमें सुनी-सुनायी जितनी भ्रान्तियाँ थीं, सब कपूरकी तरह उड़कर न जाने कहाँ लुप्त हो गयीं। श्रीस्वामीजी महाराजके क्रोधमें भी हितभावना रहती थी। उनके झिड़कनेमें भी एक स्नेह था। उनकी कठोरतामें भी द्रवता और माधुर्य छिपा रहता था। वे सचमुच एक विलक्षण और विचक्षण महापुरुष थे। वे क्षण-भरमें ही परीक्षण एवं समीक्षण दोनों ही कर लेते थे।

स्वामीजी महाराज, त्याग-वैराग्यकी महिमाको भली-भाँति जानते थे। उनके पितामह संन्यासी होकर काशीमें निवास करते थे। आठ वर्ष तक स्वामीजी उनकी सेवामें रहे तथा साथ-ही-साथ विद्याभ्यास भी चालू रखा। श्रीस्वामीजीने अपने सदगुरु श्रीप्रकाशानन्दपुरीजी महाराजसे ऋषिकेश स्थित कैलाशाश्रममें अद्वैत-वेदान्तका गहन ज्ञान प्राप्त किया। इतने पर भी आवरण भंग न होनेके कारण तीव्र उत्कण्ठाके कारण निद्रा नहीं आती थी। श्रीस्वामीजीने निश्चय किया कि तीन दिन तक उपवास करके, तब इस शरीरका गङ्गाजीमें समर्पण कर देंगे। तीसरे दिन उनके पास एक संन्यासी वृद्धा माता आयी। उनके मुख पर तेज था। कल्याणमयी वाणीमें प्रभाव था। गम्भीर स्वरसे उपदेश किया : '....बन्धन मिथ्या है, आत्मा अबाध्य सत्य है। मुक्ति कहींसे आती है या मिलती है या उसके आनेमें कुछ देर है यह सब तो तब हो, जब मुक्ति कोई दूसरी वस्तु हो, दूर हो, देरसे मिले। वस्तुतः बन्धनके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित आत्मा ही मुक्ति है। मैं फिर आऊँगी। तुम बन्धन दिखाना। मैं मुक्ति दिखा दूँगी। आप ही आप हैं। मुक्ति-बन्धनका भेद मिथ्या है, कल्पित है।' माता अदृश्य हो गयीं। स्वामीजीकी आँखें खुल गयीं। स्वामीजीने परमशान्तिका अनुभव किया।

स्वामीजी महाराजकी निष्ठा औपनिषद् सिद्धान्तमें ही थी। वे निर्भीक और दृढ़ निश्चयी थे। वृद्धावस्थामें भी स्वामीजीका व्यक्तित्व अक्षुण्ण प्रभावशाली एवं दूसरोंके हृदयमें श्रद्धा-प्रेम उत्पन्न करनेवाला था।

जैसे अर्जुनका रथ कर्णके अग्नि-बाणसे दग्ध हो चुका था, परन्तु श्रीकृष्णके द्वारा अधिष्ठित होनेसे अपना काम कर रहा था। युद्ध समाप्त होते ही अर्जुन एवं भगवान्‌के उतर जानेके बाद, न रथ, न घोड़े, न चाबुक, न बागडोर। तत्त्वज्ञानीका जीवन 'दग्ध-रथ-न्याय'से ही रहता है। वह तत्त्वज्ञानसे तत्काल भस्म हो जाता है। परन्तु आरब्ध कर्मके वेगसे चलता रहता है। आरब्ध कर्मकी समाप्ति पर वह शान्त हो जाता है।

(पावन प्रसंग : पृ. 94-102)

सद्‌गुणोंकी फैक्ट्री खोलिये!

काम-क्रोध-लोभ वशमें करने चले और वशमें नहीं हुए तो बोले, अच्छा आते हैं तो आने दो। यह मनकी कमजोरी है। अभ्यासके लिए इस वृत्तिका आदर नहीं किया जाता। शत्रुमें द्वेष, मित्रमें राग, परिवारमें मोह ये दोष-दुर्गुण छोड़नेके लिए हैं। ये कैसे छोड़े जायेंगे! यह बात बहुत कम लोगोंके ध्यानमें आती है।

असलमें आप लोग निश्चय कर लीजिये कि हम किसीको सतावेंगे नहीं, मन-वाणी-कर्मसे हिंसा नहीं करेंगे, हम किसीको हानि नहीं पहुँचावेंगे। अपने जीवनमें एक संकल्प ले लो तो कभी-कभी क्रोध, द्वेष आयेगा, लेकिन हानि न पहुँचानेका नियम यदि जीवनमें रहेगा तो क्रोध, द्वेषको प्रकट होनेका मार्ग नहीं मिलेगा।

पहली बात यह है कि दोष-दुर्गुणोंको क्रियामें आनेसे रोकना चाहिए। किसीके प्रति आसक्ति मनमें आती है तो आने दीजिये। परन्तु उसके कारण बेईमानीसे उसको लाभ पहुँचानेका संकल्प छोड़ दीजिये। बात इतनी नहीं बढ़े कि उसके लिए हम दूसरेको नुकसान पहुँचाकर, छल, कपट करें। यदि हम उसे फायदा पहुँचाने लगे तो हमारा राग बुरे रास्तेसे बढ़ गया है। इसलिए हमारे राग-द्वेषको हमें बुरे रास्तेमें नहीं बढ़ने देना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि मनमें जो काम-क्रोध-मोह आते हैं, उनको पचानेकी शक्ति-जीभसे बुरा बोलना, कानसे बुरा सुनना और मनसे जान करके बुरे-बुरे संकल्प करना-इनसे बिलकुल बच जाइये। मनमें जो दोष आते हैं उनको पकाइये। ये जो काम-क्रोध हैं, इनका मुरब्बा बनाना जरूरी है। उसमें थोड़ी शक्कर, थोड़ा नमकीन और थोड़ा घी मिलाइये। शक्कर मिलानेका अर्थ है, उसमें मधुरता भरिये। नमक मिलानेका अर्थ है, उसमें हँसी-मजाकका थोड़ा पुट दे दीजिये। घीसे थोड़ा चिकना-कोमल बना दीजिये। अपने मनको इतना कोमल बना दीजिये कि वह किसीकी हिंसा करने लायक न रहे। मन कड़ा होता है, तभी हिंसा करता है। कोमल रहेगा तो वह किसीकी हिंसा कैसे कर सकता है?

यदि दिलमें कड़वाहट हो तो मीठे लोगोंका संग कीजिये।

तीन बातें आप अपने ध्यानमें रखिये-

(1) किसीके नुकसानको तो छोड़िये....न अपना, न दूसरेका।

(2) मनमें बुराई है, उसको पचा लीजिये।

(3) अपनेमें जो सद्‌गुण नहीं है, उनको सत्सङ्गमें-से उधार ले-लेकर अपने घरमें बनाना सीख लीजिये और उसे दसगुना, सौगुना कर-करके लौटाइये। अपने घरमें सद्‌गुणोंकी फैक्टरी खोलिये।

हम लोग आपसमें विद्वेष न करें

'मा विद्विषावहै'–हम लोग आपसमें विद्वेष न करें, क्योंकि विद्वेष जलन है। द्वेषकी एक सबसे बड़ी विशेषता है, इसको द्वेष करनेवाले नहीं समझ पाते हैं। देखो जब कोई रेलके इंजनमें काम करने लगता है तब उसको गरमी तो हर समय लगती है पर मालूम नहीं पड़ती; क्योंकि गर्मी लगते-लगते वह उसके लिए नाचीज-सी हो गयी है। परन्तु यह द्वेष जो है यह आग है। कैसे आग है? कि अग्निका स्वभाव है कि वह जिस लकड़ीमें लगती है उसी लकड़ीको पहले जलाती है बादमें दूसरेको गरम करती है। बटलोई बादमें गरम होगी, उसमें रखा पानी बादमें गरम होगा। तो द्वेषका स्वभाव आगका है कि जिस हृदयमें यह पैदा होता है पहले उसीको जलाता है, उसीको ताप देता है, भस्म करता है। देखो, तुम्हारे हृदयमें कभी किसीके लिए आग लगती है कि नहीं लगती है? यदि कभी किसीके लिए तुम्हारे दिलमें आग लगती हो तो दूसरेकी रक्षासे तो जुदा, पहले अपनी रक्षा करना। इसलिए हमलोग कभी कहीं किसीसे द्वेष न करें।

ब्रह्मज्ञान होनेके लिए परमात्माको प्राप्त करनेके लिए जो कि सबके दिलमें एक सरीखा रहता है अपने दिलको निर्मल करना, स्वच्छ करना अत्यन्त आवश्यक है। सब खजानों-का-खजाना तुम्हारा दिल है। यदि तुम्हारा हृदय सुरक्षित है तो फिर हृदयमें धर्म भी आ जायेगा, ज्ञान भी आजायेगा, भक्ति भी आजायेगी। लेकिन कहीं यदि दिल ही जल गया–तब फिर ये सब कहाँ आवेंगे? **बाहरका शरीर आगसे जलता है और भीतरका शरीर द्वेषसे जलता है, इसलिए अपने शरीरको, आत्माको, अपने अन्त:करणको बचानेके लिए अपने हृदयको द्वेषसे मुक्त रखना चाहिए।**

इसलिए उपनिषद्के प्रारम्भमें तीन बार शान्ति-शान्ति-शान्ति बोलनेकी प्रथा है–ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! हमारा स्थूल शरीर शान्त हो! सूक्ष्म शरीर शान्त हो! कारण शरीर शान्त हो! स्थूल शरीर शान्त हो का अर्थ है कि जब आप श्रवण करनेके लिए या वर्णन करने लिए बैठें तो बारम्बार आसन न बदला करें, आँखको इधर-उधर न किया करें, किसीसे बात-चीत न करें, इशारे न किया करें।

सूक्ष्म शरीर शान्त होवे माने मनको दुकान पर न भेज देवें, मनको पड़ोसी के घर न भेज देवें। कारण शरीर शान्त होवे माने उसमें जो अज्ञान है उस अज्ञानकी शान्तिके लिए पूरी सावधानीके साथ इस प्रवचनको श्रवण करें। तब ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! और शरीर चंचल हो, मन चंचल हो और अज्ञान निवारणकी इच्छा न हो तो यह सुना प्रवचन किस काम आवेगा?

(कठोपनिषद् प्रवचन-पृ. 11-12)

आज्ञा पालन

प्रत्येक धर्मका इस ढंगसे विचार करना चाहिए कि यह हमारे आत्म-ज्ञान और अविद्या निवृत्तिमें किस रीतिसे मददगार होता है।

एक होता है अपनी वासनाके अनुसार चलना और एक होता है दूसरेकी आज्ञाके अनुसार चलना। जो आदमी बड़ोंकी आज्ञाका उल्लंघन करता है उसके हृदयमें तो अपनी वासना बड़ी प्रबल है। अपनी वासनाके प्रबल होनेका प्रमाण यही है कि वह शास्त्रकी, गुरुकी, बड़ोंकी, भगवान्की बात न मानकर अपने मनमें जो इच्छा-वासना उठती है उसीको करता है और बोलता है कि हम स्वतन्त्र हैं। अरे, वह स्वतन्त्र नहीं, अतन्त्र है, उच्छृङ्खल है। दूसरेके काबूमें तो तुम हो ही नहीं, अपने भी काबूमें नहीं हो। जब मनने तुम्हें गड्ढेमें डाला तो तुम गड्ढेमें गिर गये।

जब मनुष्य अतन्त्र हो जाता है तो धीरे-धीरे आदत बिगड़ जायेगी। फिर मनमें होगा कि यह बात नहीं बोलनी चाहिए परन्तु बोलोगे; मनमें होगा कि नहीं मारना चाहिए; परन्तु जब गुस्सा आ जायेगा तब मारोगे, मनमें होगा कि इस चीजको नहीं खाना चाहिए परन्तु जब वह चीज सामने आयेगी, तब खा लोगे। बुद्धि कहेगी कुछ, इन्द्रियोंसे करोगे कुछ। यह क्यों हुआ कि तुमने आज्ञापालन करना नहीं सीखा, मनमानी करना सीखा है। अब तुम अपनी इन्द्रियोंके परतन्त्र हो। जो दूसरोंकी आज्ञा मानकरके चलता है उसका मन अपने अधीन हो जाता है और जो आज्ञापालन नहीं करता उसका मन अपने वशमें नहीं रहता। अत: वासनाकी निवृत्तिके लिए, अन्त:करणकी शुद्धिके लिए आज्ञा-पालन करना आवश्यक है।

अब देखो, आज्ञापालनमें भी एक नियन्त्रण है। अफसर कोई आज्ञा दे तो उसको मानें या न मानें? यदि यह प्रश्न उठे, तो उसकी कसौटी यह है कि वह आज्ञा संविधानके अनुसार है या नहीं? यदि तुम्हारा अफसर संविधानके खिलाफ, कानूनके विरुद्ध किसी उपकर्मको करनेकी आज्ञा देता है तो उसकी वह आज्ञा मानने योग्य नहीं है। कहो कि फिर तो वह अफसर हमको नौकरीसे ही छुट्टी कर देगा, तो भाई, जो धर्मात्मा होगा वह निर्भय होगा।

देखो, आज्ञाकी कसौटी यह है कि जो अपौरुषेय वेदवाणी है, जो मनुष्यकी सृष्टिकी आदिसे लेकर अन्ततकके लिए शाश्वत संविधान है, सनातन कानून है-उस वेदवाणीके अनुकूल जो आज्ञा है वह तो ठीक है और जो उसके प्रतिकूल है वह ठीक नहीं है, मानने योग्य नहीं है। प्राचीन संस्कृतिमें, वैदिक-धर्ममें कौन-सी बात किस अभिप्रायसे कही हुई है, यह बात हम बताते हैं।

देखो, यह जो आज्ञापालन है वही अन्तमें तत्त्वज्ञान करा देगा। कैसे? कि एक दिन वेदकी आज्ञासे और गुरुकी आज्ञासे तुम्हारी आज्ञाकारिणी बुद्धि तत्त्वको ग्रहण कर लेगी। तुमने यह आज्ञापालन रूप अखण्ड सम्पत्ति अर्जित की हुई है। आज्ञा पालन भी मनुष्यको तत्त्वके द्वार पर पहुँचा देता है।

(कठोपनिषद् प्रवचन-1 : पृ. 19,22,23,24)

सत्संगीको बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता

सत्सङ्गमें रहनेवालेको अपनेमें कभी कोई कमी नहीं मालूम पड़ती है। रूखी रोटी मिलने पर भी वह खुश रहता है और चुपड़ी रोटी मिलनेसे भी खुश रहता है। मामूली कपड़ा मिलने पर भी खुश, बढ़िया कपड़ा मिलने पर भी खुश। असलमें धनी है ही वह-जिसको ईश्वर-रूप धन, सन्त-रूप धन प्राप्त है और बाकी तो ये, नोटोंके बण्डलों या कि हीरा-मोती-सोना-चाँदीका बोझ ढोनेवाले-जोशमें, आवेशमें भले ही बोल दें कि हमारे बराबर सुखी कौन है; दिलमें तो वे कुढ़ते-चिढ़ते, दुःखी रहते हैं। शान्ति नामकी कोई चीज नहीं रहती इनके पास।

देखो, जिसका तुम संग करना चाहते हो, वह सन्त है-यदि ऐसा तुम्हारा विश्वास है तो तुम उसके आस-पासकी ओर मत देखो। उसको देखो, भगवान्‌को देखो। अपनी नजरको पक्की करो। यदि उस व्यक्तिके संगमें ही दुःसंग है तब तो वह सन्त है ही नहीं और फिर जिसके संगको ही आप दुःसंग समझते हैं, मैं तो कहता हूँ कि आप निश्चित रूपसे ही उसको छोड़ दीजिये, वहाँ एक क्षण भी आपको नहीं रहना चाहिए।

सत्सङ्गियोंमें आपसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सत्संगी जब एक दूसरेको देखने लगते हैं और आपसमें प्रेम करने लगते हैं, तब वे एक दूसरेसे लाभ उठानेमें लग जाते हैं।

इसलिए सत्संगीको तो केवल भगवान्‌से ही प्रेम करना चाहिए और जबतक सत्संग करनेका, भक्ति या ज्ञानका उपदेश सुननेका मन हो तबतक सुने और जबतक अपनी सेवा करनेकी रुचि हो तबतक गुरुकी भी सेवा करें। संग करें। नहीं तो, यदि गुरुकी सेवा भी परमार्थके ज्ञानमें, अपने अद्वैत-अखण्डकी अनुभूतिमें बाधक होती हो तो उसको भी छोड़ देना चाहिए-न गुरुः न शिष्यः। शंकराचार्य भगवान्‌ने स्पष्ट रूपसे कह दिया, 'जब परमार्थमें स्थिति हो जाय तब गुरु-शिष्यका, सेवक-सेव्यका भी शारीरिक सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। बस; अपने आपमें मग्न रहे, मस्त रहे। असलमें, परमार्थमें जो स्थिति है, वह बहुत विलक्षण है। यह नहीं कि 'निकले थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास।' माँ छोड़ी, बाप छोड़ा, बहन छोड़ी, भाई छोड़ा, पत्नी छोड़ी, बच्चे छोड़े, धन छोड़ा, मकान छोड़ा, चारों तरफसे आसक्ति छुड़ाई और छुड़ाकर चले सत्संगमें और वहाँ 'बीच ही में माया मिली और पुनः फँसकर रह गये।' यह जो द्वैतकी माया है, यह द्वैतका परित्याग किये बिना नहीं छूट सकती। आप सत्संगकी चर्चा आपसमें कीजिये, लेकिन इसके बिना मैं नहीं रह सकता, ऐसा मत सोचिये।

इसलिए सत्संगीको बहुत सावधान रहना चाहिए, अपने सम्बन्धमें भी और दूसरोंके सम्बन्धमें भी। सत्संगकी बात छोड़कर उसकी नजर दूसरी ओर जानी ही नहीं चाहिए।

(आनन्द उल्लास-पृ. 88,89,90,91,220)

संसारको काटनेका तरीका क्षमा है!

आदमीको देखकर पता चल जाता है कि यह किस रास्ते पर चल रहा है और कहाँ पहुँचेगा! जो उन्नतिके मार्ग पर चल रहे हैं, वे अच्छे रास्ते पर पाँव सँभाल-सँभालकर रखते हुए चलते हैं। जो अवनतिके रास्ते पर चल रहे हैं, वे बिना अपना पाँव सँभाले धड़ल्लेसे नीचे गिरते जा रहे हैं। जो सन्ध्या-वन्दन करता है, प्रसादका आदर करता है, ईश्वरका स्मरण करता है, गुरु-शास्त्रके प्रति श्रद्धा रखता है, वह ऊपर जाता है और जो पतनीय कर्म कर रहा है, वह नीचे जायेगा।

ईश्वर बड़ी कृपा करके जीवनमें क्षमा देता है। यह क्षमा कमजोरीकी निशानी नहीं है, समर्थका लक्षण है। दण्ड देनेका सामर्थ्य होने पर भी, किसीके गलत करने पर भी तुम कह दो-'जा भाई, तेरा भला हो!' तो बात वहीं खत्म हो जायेगी। अतएव संसारको काटनेका तरीका दण्ड देना नहीं है, संसारको काटनेका तरीका क्षमा है। यह क्षमा शब्द 'सामर्थ्य'के अर्थमें भी है और 'अनुकम्पा'के अर्थमें भी है।

देखो, अपराध किससे नहीं होता? आपने सुना होगा कि ईसा कहीं जा रहे थे। देखा, एक मैदानमें बड़ी भीड़ थी। ईसाने पूछा-'यह काहेकी भीड़ है?'

बोले-'चोर पकड़ा गया है, उसको ढेलेसे मार डालेंगे। हमने न्याय किया है। अपराधीको दण्ड दे रहे हैं।'

ईसाने कहा-'ठीक है। अब हमारी भी कुछ सुन लो; जिसने कभी चोरी न की हो, वह पहला ढेला मारे।' इतना सुनते ही सबके हाथ रुक गये।

इस विश्वमें ऐसा कोई नहीं होता जिसके अन्दर गुण और दोष दोनों न हों।

होता यह है कि अपनी गलती मनुष्यकी दृष्टिमें नहीं आती। क्यों नहीं आती?

क्योंकि असलमें तो 'ब्रह्मभाव' अज्ञातरूपसे, भीतर-ही-भीतर काम करता रहता है। इसलिए आदमी अपने कर्म एवं सौन्दर्यको सबसे बढ़िया समझता है; अपनी बुद्धिको सबसे बढ़िया समझता है। अपनेको बिलकुल दुष्ट कोई नहीं समझता। दूसरेके दिलको दुष्ट समझेगा।

और दूसरेको अगर अच्छा अथवा शिष्ट समझेगा भी, तो अपनी बुद्धिसे उसकी बुद्धिको थोड़ी कम जरूर समझेगा। यहाँ तक कि हम अपने गुरुको भी-जब वे कोई काम हमारी बुद्धिके अनुसार नहीं करते हैं तो उनके बारेमें कहते हैं कि वह भोले-भाले हैं, संसारकी बातको नहीं समझते। माने उनसे ज्यादा उस बातको हम समझते हैं। यह होता है, अपनेमें पूर्णताकी अज्ञातरूपसे अनुगतिके कारण।

(विभूतियोग : पृ. 55-57)

मेरी वेदना, मेरे हृदयकी पीड़ा!

एक हृदयकी बात मैं आपको, बड़ी पीड़ाके साथ सुनाता हूँ, अपनी वेदना लेकर सुनाता हूँ—यह जो लोग अपना विकार मिटानेके लिए कर्म-संस्कार नहीं मानते या नहीं करते हैं, वे लोग सही रास्ते पर नहीं चल रहे हैं।

जैसे कि व्यभिचार एक कर्म है, झूठ बोलना एक कर्म है, चोरी करना एक कर्म है। अब जिस मनुष्यका जीवन विकारी कर्म करते-करते विकारमय हो गया है एवं जिसके मनमें विकारोंका समुदाय भर गया है। यदि वह मनुष्य विकारोंके दोषोंके निवारणके लिए कर्म नहीं करेगा, और बोलेगा कि बाबा हम तो ईश्वरके भरोसे पड़े हैं; जैसी मौज होगी, ईश्वर वैसा ही कर देगा। अथवा यदि वह कहे कि हम तो अन्त:करणको ज्यों-का-त्यों छोड़करके साक्षी, द्रष्टाके रूपमें बैठे हैं-तो जबतक वह ईश्वर-भावमें या साक्षी-भावमें बैठा है, तबतक तो ठीक। परन्तु फिर जब वह उठेगा, तब उसके मनमें बैठे हुए वही काम, क्रोध, लोभ; वही विकार उदय होंगे और उनके द्वारा जैसी क्रिया उसके शरीरसे पहले होती थी, वैसी ही बादमें होगी।

इसलिए जो हमारे जीवनमें चोरी, बेईमानी, झूठ, अनाचार, व्यभिचार आया हुआ है, उसके विपरीत हमारे जीवनमें सदाचारकी स्थापना जानबूझकर जब हम करेंगे तभी होगी।

नारायण! आप इस बातको अच्छी तरह समझ लो कि जो लोग आपसे यह कहते हैं कि तुम तो द्रष्टा हो, साक्षी हो और जीवनमें जो अनाचार-व्यभिचार है, वह रहने दो, उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, वे आपको गलत रास्ते पर ले जाते हैं।

जो बात जानबूझकर आपने अपने जीवनमें जमायी है, वह ईश्वरके भरोसे हो जानेसे अथवा वह साक्षी, द्रष्टा बनकर बैठ जानेसे नहीं निकलेगी। यदि साँप लाकर आपने अपने घरमें पाला है तो उसको निकालनेके लिए आपको प्रयास भी करना पड़ेगा। यदि आप चुप लगाते रहेंगे तो अपने जीवनमें जो बुराईयाँ घुस आयी हैं, वे बिलकुल नहीं निकल सकतीं।

इसलिए कर्मदोषकी निवृत्तिके लिए सत्कर्म करनेकी आवश्यकता है। यदि आप सत्कर्म करोगे तो-1. निद्रा, आलस्य, प्रमाद-तमोगुणका नाश होगा। 2. आप जो चोरी-बेईमानीसे संग्रह करते हैं, अथवा कि हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं-वह सब मिटेगा। 3. भोगमें जो दोष हैं-अनाचार, व्यभिचार वह मिटेगा। 4. भाषणमें जो अशुद्धि है-वह मिटेगी। और 5. जो कर्म आप करते हैं, वह शुद्ध होगा।

तो, जब आप ठीक-ठीक कर्म करने लग जायेंगे, तब इन पाँचों दोषोंकी निवृत्ति हो जायेगी और इन पाँचों दोषोंके निवृत्त होने पर इनसे उत्पन्न होनेवाले जो दु:ख हैं, वे भी निवृत्त हो जायेंगे; वे दु:ख होंगे ही नहीं।

(दैनिक जीवनमें गीता-पृ. 80,81,82)

दोषोंको मिटानेके लिए उपाय करना पड़ता है

अपने दोषको अतीतके गर्भमें फेंक देना बहुत बुद्धिमत्ता नहीं है कि यह पूर्वजन्मसे आया हुआ है; या किसी आदमी पर डाल देना कि उसने हमको सिखा दिया–यह भी गलत है; या यह कह देना कि यह हमारे माँ-बापसे आया है–यह भी गलत है। दोष आपने स्वयं देख-देखकर, सुन-सुनकर सीखा है और उसको स्वयं आपने अपने जीवनमें धारण किया है। दोष पहले इन्द्रियोंमें आते हैं, फिर मनमें प्रवेश करते हैं, फिर उनके साथ आप मिल जाते हैं। आप यह देखो कि आपमें दोष हैं कि नहीं हैं?

आप अपने दुश्मनको नहीं पहचानते हैं-बोलते हैं कि यह हमारा क्या करेगा? दोषोंको मिटानेके लिए उपाय करना पड़ता है। आपके जीवनमें यदि कोई दोष है तो उसको छोटा समझकर उसकी उपेक्षा मत कीजिये कि यह हमारा क्या बिगाड़ लेगा? शत्रुको, रोगको, आगकी चिंगारीको, पापको, साँपके बच्चेको और राजाको कभी छोटा मत समझिये, **इनके अन्दर बहुत शक्ति भरी रहती है।**

रहने दो ईश्वरको वहाँ, जहाँ रहता है और ब्रह्मज्ञानको रहने दो वेदान्तकी पोथियोंमें और असंगताको रहने दो योगियोंके घरमें, परन्तु यदि आपको अपने इस मनुष्य जीवनका संस्कार करना है तो पहले दोषके स्वरूपको समझो, दुश्मनको समझो। हो नहीं सकता ब्रह्मज्ञान, हो नहीं सकती स्वरूपस्थिति जबतक दोषोंका निवारण न किया जाय।

एक राजा साहब हमारे भक्त हैं। उनके कुछ विदेशी मित्र उनके पास आये और बोले–जाकर स्वामीजीसे पूछा आओ कि यदि वे हमारे दैनिक क्रिया-कलापमें जो हम रोज-रोज करते हैं-जो खाते हैं, जो पीते हैं, जैसे रहते हैं उसमें कोई दस्तन्दाजी (Interfere) न करें तो हम उनका उपदेश सुननेको तैयार हैं, उनसे ब्रह्मज्ञान सीखनेको तैयार हैं, योग और ध्यान करनेको तैयार हैं।

लो भला! यह तो चेला बनानेकी जब बहुत बड़ी गर्ज होती है तब कुछ तो ऐसा भी बोलते हैं कि तुम ईश्वरको मानो चाहे मत मानो, आओ तुमको हम ध्यान सिखाते हैं; कुछ ऐसा भी कहते हैं कि तुम्हारी जो मौज हो सो खाओ-पीओ जैसी मौज हो वैसे रहो, अनाचार-व्यभिचार करते रहो आओ हम तुम्हें ब्रह्मज्ञानका उपदेश देते हैं।

तो, अब यह बात तो भाई, यदि ऐसा चेला बनाकर उससे बहुत कुछ कमाना हो तभी कही जा सकती है, बिना लौकिक स्वार्थ हुए ऐसा काम कोई साधु, कोई महात्मा नहीं कर सकता। कोई भी बात दो टूक कहनेमें हमें संकोच नहीं है।

(दैनिक जीवनमें गीता-पृ. 87,88,89)

यह बुरा काम है, यह तुम मत करो!

गीताका कहना है कि तुम्हारी जीवन-चर्य्याका प्रेरक कौन है? आप देखो जब आप चोरी और बेईमानीकी ओर अग्रसर होते हो तब लोभ आपके भीतर बैठकर आपका संचालन करता है, उस समय ईश्वरका पता कहाँ होता है? जिस समय आप मार-काट-हिंसामें प्रवृत्त होते हो उस समय क्रोध आपके जीवनका संचालन करता है; जिस समय आप अनाचार-व्यभिचारकी ओर प्रवृत्त होते हो उस समय काम आपके जीवनका संचालन करता है।

हम एक सच्ची बात बताते हैं। हमारे जाने हुए एक पुरुष हैं, उनको अपनी पत्नी पसन्द नहीं थी। इससे उनका दिमाग गरम हो गया और रातकी नींद उड़ गयी। डाक्टरके पास गये। डाक्टरने कहा कि तुम्हें तुम्हारी पत्नी पसन्द नहीं है इसलिए तुम्हें यह सब तकलीफ है तो तुम दूसरी स्त्री रख लो। तब वह दूसरी स्त्रीके पास जाने लगा और जब उसका आकर्षण दूसरी स्त्रीकी ओर हो गया और इसका पता उसकी पत्नीको चला तो वह पागल हो गयी और जब पागल हो गयी तब इत्तफाकसे (coincidence) वह भी उसी डाक्टरके पास पहुँची। डाक्टरने उसको भी वही सलाह दी-तुम दूसरा पुरुष रख लो! फिर दोनों मेरे पास आये और दोनोंने हमें बताया कि हमें डाक्टरने यह सलाह दी है! तो, पति गिर गये, पर पत्नी बच गयी। कैसे? कि उसके चित्तमें धर्मका संस्कार था।

धर्मका जो संस्कार होता है, वह गलत काम करनेसे चित्तको कचोटता है! यह धर्म हमारा एक अविज्ञात सखा है, जिसको आप जानते नहीं, देखते नहीं, पहचानते नहीं। यदि यह आपके हृदयमें बैठा है तो बुरा काम करते समय यह भीतरसे आपको संकेत करेगा कि तुम यह गलत काम करने जा रहे हो, यह मत करो।

असलमें धर्मकी उपाधिसे परमेश्वर ही आपके हृदयमें बैठकर आपको चोरी-बेईमानीसे रोकता है, आपको अनाचार-व्यभिचारसे रोकता है, आपको हिंसा-वैमनस्यसे रोकता है।

ऐसा है कि परमेश्वरको भी प्रेरणा देनेके लिए कोई द्वार चाहिए। यह बात मैं सामान्य रूपसे बोल रहा हूँ। जैसे, आपको परमेश्वर दिखावेगा; परन्तु आँखके द्वारा दर्शनकी योग्यता देगा; आपको परमेश्वर गन्धका ज्ञान करवायेगा; परन्तु नासिकाके द्वारा करवायेगा; परमेश्वर आपको शब्दका ज्ञान करावेगा परन्तु कानके द्वारा। आपको प्रेम देगा, परन्तु हृदयके द्वारा। वैसे ही ईश्वर आपको सच्चा सन्देश देगा, लेकिन वह धर्मकी उपाधिसे देगा।

यदि आपके हृदयमें धर्म बैठा हुआ है, तो उसको उपाधिके रूपमें स्वीकार करके ईश्वर आपको यह कहेगा कि यह बुरा काम है, यह तुम मत करो।

(दैनिक जीवनमें गीता-पृ. 40,41)

पक्के महात्मा!

ये महात्मा लोग तो इतने पक्के होते हैं-यहाँ यों भी वाह-वाह है! यहाँ त्यों भी वाह-वाह है! ऐसे भी मजा है और वैसे भी मजा है। एकके घर गये महाराज, तो मूँगकी दाल और रूखी रोटी लाकर सामने रख दिया खानेको। बोले-देखो, कितना सद्भाव है इसका कि हमारे स्वास्थ्यका ध्यान रखकर बिलकुल सादा भोजन इसने हमको दिया और यह हमको विरक्त समझता है, जिह्वा लोलुप नहीं समझता-खुशी हुई-बहुत बढ़िया, बहुत बढ़िया!

अब दूसरेके घर गये, तो खीर-पुड़ी, हलुआ-पकौड़ी सब सामने आया! बोले-देखो भाई, कितने प्रेमसे इतनी चीजें बनायी हैं। दोनोंमें खुशी हुई!

अब एक सज्जन थे; सादा भोजन आया तो बोले-राम, राम, राम! इतने दरिद्र हो तुम रोटी-दाल खिलाते हो केवल! दुःखी हो गये, नाराज हो गये। चार गाली सुना दी। हलुआ-पूरीवालेके घर गये तो बोले कि अरे तू हमको जिह्वा लोलुप समझता है, हमको चटोरा समझता है-दोनों जगह दुःख पैदा कर लिया।

यह मनुष्यका अन्तःकरण जो है न, अगर सुख बनाना चाहे तो सब जगह सुख बना ले और अगर यह दुःख बनाना चाहे तो सब जगह दुःख बना ले; देखो, दुनियाकी घटनाओंमें कुछ नहीं होता-मनुष्यके अन्तःकरणमें जो भीतर-भीतर भरा रहता है वह हर निमित्त पर जाहिर हो जाता है। भीतर दुःख भरा है तो हर निमित्त पर दुःख भभक उठेगा और भीतर सुख भरा है तो सब जगह सुख महक उठेगा-बाहर कुछ नहीं रहता, मनुष्य अपनी प्रकृतिको ही प्रकट करता है कि वह दुःख लिये हुए है कि सुख लिए हुए है!

परमात्माको पकड़ें!

यह रेशमका कीड़ा होता है न, वह रेशमका जाल बनाता है और फिर उसीके भीतर मर जाता है, निकलनेका रास्ता नहीं रहता है। ऐसे ही ये संसारी लोग जो हैं ये अपने आस-पासमें ऐसा जाल बुन लेते हैं-हम माँके बिना नहीं रह सकते, हम बेटेके बिना नहीं रह सकते, हम घरवालीके बिना नहीं रह सकते, हम घरवालेके बिना नहीं रह सकते, हम धनके बिना नहीं रह सकते, हम मकानके बिना नहीं रह सकते-और सचमुचमें देखो तो रह सबके बिना सकते हैं-है न! अपने मनसे ऐसा जाल-ऐसा जाल बुनते हैं कि उसमें खुद फँस जाते हैं-अपने ही बनाये जालमें खुद फँस गये।

अपना यह जो दिल है, यह छोटी-छोटी चीजको पकड़नेके लिए नहीं है, यह सबसे बड़ी चीज परमात्माको पकड़नेके लिए है।

(कठोपनिषद् प्रवचन-2-पृ. 68,82)

भगवान् पक्षपात क्यों करते हैं?

भक्तिमें दो सामर्थ्य है। एक-भगवान्के स्वरूपका ज्ञान और दूसरा-संसारके राग-द्वेष, ईर्ष्या, मद-मोहसे निवृत्ति। यह अन्तःकरणका स्वभाव है कि उसमें दो वृत्ति एक साथ नहीं रह सकती। या तो ईश्वरका चिन्तन होगा या संसारका चिन्तन होगा।

एक दिन राधारानी बहुत दुःखी हो रही थीं, रो रही थीं। श्रीकृष्णने पूछा—प्रियाजी, आप इतनी दुःखी क्यों हैं? बोलीं—महाराज, जिस हृदयमें आप रहते हैं उस हृदयमें आज हमको अपनी सौतकी याद आ गयी, उसकी शक्ल दीखने लगी। आपके रहते, आपकी उपस्थितिमें हमारे हृदयमें सौतका प्रतिबिम्बन हो गया—आपसे मेरा प्रेम कहाँ है? आपके प्रति मेरा सच्चा प्रेम होता तो हमारे हृदयमें दूसरेकी याद आती ही क्यों? यह है भक्तिका स्वरूप।

भक्तिमें जब हम भगवानका ध्यान करते हैं, तब भगवान्का स्वरूप हमारे हृदयमें आ जाता है और जब भगवान्से हमारा प्रेम हो जाता है तब संसारके राग-द्वेष आदि सब मिट जाते हैं। इसलिए भक्तिकी बहुत महिमा है। भगवान् भी भक्तिके वशमें हो जाते हैं।

तो भगवान्को वशमें करनेकी एक ही रीति है! वह क्या है—

सत स्त्रियः सत् पतिं यथा।

जैसे सती स्त्री अपने पतिको वशमें कर लेती है वैसे ही जब हमारे हृदयमें भजनीय भगवान्का ध्यान ठीक-ठीक होने लगता है और जब संसारका ध्यान छूट जाता है और केवल भगवान्-ही-भगवान् रह जाते हैं, तब; हमारे हृदयमें जैसे-जैसे संकल्प होते हैं, वैसे-वैसे बनकर भगवान् दिखायी पड़ने लगते हैं। यह भक्तिकी महिमा है। यह भक्तके हृदयमें रहनेवाली भक्तिकी महिमा है कि वह भगवान्से जो चाहे सो करा लेती है।

प्रह्लाद जन्मसे, जातिसे दैत्य थे। पर, जब उनके हृदयमें भगवान्की भक्ति आ गयी, तब भगवान्ने यह नहीं देखा कि यह दैत्य है, बल्कि उनकी रक्षा की।

तो असलमें भगवानके आचरणमें, चरित्रमें जो अद्भुत बात देखनेमें आती है, वह भगवान्का पक्षपात नहीं है। बल्कि भक्तके हृदयमें जो भक्ति है और उस भक्तिमें जो भगवान्का प्रतिबिम्ब है, वह हृद्देश-निवासी जो भगवान् हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। गीता 18.61

जो हमारे अन्तर्देशके निवृत्त-प्रदेशमें सूक्ष्माति सूक्ष्म रूपसे विराजमान भगवान् हैं, वे भक्तिके द्वारा पकड़े जाते हैं और फिर भक्तिके वशमें होकर भक्तका पक्षपात करते हैं।

(प्रह्लाद चरित पृ. 24,25,26)

कैसे भी ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़ो!

हमारे पड़ोसमें एक महात्मा थे वृन्दावनमें, उनको सब काठिया बाबा बोलते थे। काठकी लंगोटी पहनते थे और उनके यहाँ नियम था कि जिस दिन जो भी चीज आवे उसी दिन खत्म कर दी जाय। दूसरे दिनके लिए कुछ नहीं रखें। सैकड़ों साधु उनके साथ रहते थे और उनके अनुयायी भी बहुत थे। एक दिन उनके रसोईयेके मनमें ख्याल आया कि काठकी लँगोटीके अन्दर ये गिन्नी रखते हैं। और इसलिए इसको हर समय कमरमें बाँधे रहते हैं। फिर एक दिन उसने उनको जहर दे दिया कि ये जब मर जायेंगे तब हम यह लँगोटी निकालकर ले जायेंगे। उसने तो जहर दिया पर वे इतने सिद्ध महापुरुष कि जहर उनको पच गयी। उसको कुछ बोले नहीं, पचा लिया जहरको। फिर दो-चार महिनोंके बाद सन्तोंकी सेवा थी, उस दिन उसने दालमें नमक ज्यादा डाल दिया। तब बुलाया रसोईयाको और कहा उससे कि हे रसोईया महाराज, उस दिन तो तुमने हमको जहर दे दिया तो हमने पचा लिया। पर, संतोंको तुम इतना अधिक नमक खिलाओगे तो यह कैसे पचेगा उनको? इसलिए अब तुम कृपा करो और जाओ यहाँसे। जिस दिन जहर दिया उस दिन नहीं निकाला। जिस दिन नमक ज्यादा डाल दिया संतोंके भोजनमें, उसदिन निकाल दिया।

तो, नारायण, भगवान्‌का क्या स्वभाव है कि उनको मरनेका तो डर नहीं है, ठगे जानेका डर नहीं है, दुःखी होनेका डर नहीं है। कोई भी किसी तरहसे उनके पास आ जाये तो वे उसका कल्याण ही करते हैं–भगवान् कभी किसीका अमङ्गल नहीं करते हैं। जब साधु पुरुषका यह स्वभाव है–

साधु ते होय न कारज हानि।

साधु कभी किसीका काम नहीं बिगाड़ता है, किसीको नुकसान पहुँचानेका ख्याल साधुके मनमें नहीं आता है। तो जब साधुकी यह स्थिति है तब क्या ईश्वर कभी किसीको नुकसान पहुँचाना, हानि पहुँचाना चाहेगा? यह सम्भव ही नहीं है–इसलिए कहते हैं कि कैसे भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लो।

तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।

उपाय करो–जप करो, तप करो, व्रत करो, पूजा करो, सत्सङ्ग करो–उपाय चाहे कोई भी हो; लेकिन मन लगना चाहिए भगवान्‌में।

(प्रह्लाद चरित : पृ. 62, 63, 64)

देख-देख यह नृत्य कर रहा, मेरा प्यारा नन्द किशोर!

आओ, आपको ईश्वरसे मिला दें, क्यों? क्योंकि ईश्वरमें किसी प्रकारका दुःख नहीं है। सब सुख-ही-सुख है। परमेश्वरकी प्राप्ति केवल शान्ति, विश्राम नहीं है; केवल आराम, समाधि अथवा सुखमय नहीं है अपितु सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकरके परमानन्दकी प्राप्ति वहाँ होती है।

आप सोचते हैं कि हमारी आत्मा असंग है और इतनेसे ही काम चल जायेगा। नहीं, आपके मनको दुनियासे असंग होना पड़ेगा तब काम चलेगा। आत्मा दुनियासे असंग है, यह स्थिति तो सांख्य और योगसे मिलती है; लेकिन मन दुनियासे असंग है-आपके मनको यह शक्ति, भक्तिसे मिलती है।

आओ, नन्दबाबाके आँगनमें देखो! सायंकाल है, अथाई पर नन्दबाबा बैठे हैं। यशोदा मैय्या और वे, नन्हेंसे साँवरे-सलोनेको बड़े प्रेमसे देख रहे हैं। नन्हा-सा, नन्द-नन्दन, उसका नन्हा-सा मुँह, नन्हीं-नन्हीं दन्तुलियाँ और उस पर मुस्कान एवं नन्हें-नन्हें हाथ तथा पाँव, कमरमें करधनी, नन्हीं-सी कछोटी, पाँवमें नुपूर, हाथमें कंगन और गोपियाँ ताली बजाती हैं और नन्दबाबाके आँगनमें यह नन्द-नन्दन श्याम सुन्दर नाच रहा है।

प्रेममें चित्तकी स्थिरताकी जरूरत नहीं होती। प्रेम करना और मनको एकाग्र करना-यह दोनों बात एक साथ नहीं चल सकती है। यहाँ तो अपने आपको भूलकर उसके साथ मिल जाना होता है। यहाँ अपने अहंकारको मिटाया नहीं जाता, यहाँ तो सारा-का-सारा अहंकार प्रियतममें मिल जाता है। केवल परमानन्द-ही-परमानन्द इस प्रेममें रहता है। यहाँ अचल भगवान् नहीं होता है। यहाँ तो नाचता हुआ भगवान् होता है। मन्त्र-मुग्ध, भोला-भाला ईश्वर अपनी ईश्वरताको भूलकर नाच रहा है और गोपियाँ अपने जीवत्वको भूलकर ईश्वरको नचा रही हैं।

आपका हृदय वृन्दावन है। आप स्वयं नन्द, यशोदा हैं। आपकी चित्तवृत्तियाँ गोपी हैं। और उनके बीच कभी दिखता हुआ और कभी न दिखता हुआ, कभी नाचता हुआ, कभी हँसता हुआ, कभी बोलता हुआ, कभी लेटा हुई, कभी तिरछा, कभी सीधा, सच्चिदानन्दघन, नन्दनन्दन मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ आपके हृदयमें नृत्य कर रहा है।

अरे विश्व! क्या मुझे लुभानेका करता है व्यर्थ प्रयास।
नहीं जानता मेरे उरमें, दीख रहा प्रियका मृदुहास।
भले फूट जायें ये आँखें, पर न लखेंगी तेरी ओर।
देख-देख यह नृत्य कर रहा, मेरा प्यारा नन्दकिशोर!

(श्रीकृष्णलीला रहस्य-पृ. 3,5,8,12,13,14)

भागवत-दर्शनमें बिखरे मोती....।

ठीक ढंगसे अपना साधन-भजन करें : लोग कहते हैं, भगवान् आशुतोष हैं, बड़ी जल्दी कृपा करते हैं, एक मिनटमें खुश हो जाते हैं। लेकिन ऐसा सुनकर जो लोग भजन करनेके लिए घर-द्वार छोड़कर निकल पड़ते हैं, वे जब माला हाथमें उठाते हैं तब आधी माला पूरी होते-होते यह देखने लगते हैं कि अभी भगवान् आ रहे हैं या नहीं? जब पाँच-सात माला फेरने तक भगवान् नहीं आते तो उनके मनमें निराशा हो जाती है। **इसलिए भगवान् दुर्लभ हैं, यह बात भी मनमें रहनी चाहिए।** नहीं तो लोग उनको सुलभ-सुलभ करके सस्ता सौदा बना देते हैं। ध्यान, भक्ति कोई घास-पात नहीं है कि कोई उसे हाथसे उठाकर दे दे। उसके लिए भजन, साधन, अभ्यास करना पड़ता है। जो चीज कायदेकी होती है, वह कायदेसे ही मिलती है। अतएव मनुष्यको ठीक ढंगसे अपना साधन, भजन, अनुष्ठान करना चाहिए।

भगवान्को छोड़कर दूसरेसे प्रेम करनेवाले बावरे हैं! ऐसा वर्णन आता है कि अपने सेवकके लिए भगवान्की आँखोंसे झर-झर आँसू गिरते हैं; अपने सेवककी गोदमें सिर रखकर भगवान् लोट-पोट हो जाते हैं, अपने सेवकका ध्यान भगवान् बैठकर करते हैं। वास्तवमें भगवान् ऐसा ही हो, जो अपने सेवकके प्रेमको चाट जाय, और अपना समग्र प्रेम अपने सेवक पर बरसा दे। ऐसा सुशील, ऐसा भक्तवत्सल, ऐसा उदार, ऐसा सौन्दर्य-माधुर्य सार और ऐसा गुण निधान भगवान् और कहाँ मिलेगा? इसको छोड़कर जो लोग दूसरेसे प्रेम करते हैं, वे बावरे ही होते हैं।

हितकारी क्रोध! देखो, जो भगवान्के मार्गमें चल रहा है, उसको क्रोध आदि विकार नहीं आना चाहिए, क्योंकि वे आयेंगे तो उसके भजनमें बाधा पड़ जायेगी। परन्तु जिसको एक बार भगवान् मिल जाते हैं, उसके जीवनमें यदि कभी-कभी क्रोध आ भी जाय तो उसपर दोष दृष्टि भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वे अब कोई साधक तो हैं नहीं; इसलिए उनके जीवनमें जो क्रोध आदि आते हैं, उनमें भी ईश्वरकी इच्छा रहती है और उनसे किसी-न-किसीकी भलाई होती है। आप यदि ऋषियोंके जीवन पर ध्यान देंगे तो आपको यह बात बिलकुल स्पष्ट मालूम पड़ेगी। महात्मा लोग जो शाप दे दिया करते थे, वह देखनेमें तो क्रोध ही मालूम पड़ता है, किन्तु उस शापमें भी अनुग्रह ही रहता है, हित भरा रहता है।

स देवो यदेव कुरुते तदेव मङ्गलाय : असलमें हम भगवान्के काममें तभी कोई दोष निकालते हैं, जब उसको पूरी तरहसे नहीं समझते। यदि उसकी गहरायीमें घुसें तो भगवान्के किसी भी काममें दोष निकालनेका कोई कारण ही नहीं। क्योंकि :

स देवो यदेव कुरुते तदेव मङ्गलाय।

भगवान् जो करते हैं, उसीमें हमारा बड़ा भारी मङ्गल होता है।

(भागवत-दर्शन-1, पृ. 4.31/4.39/4.43/4.53)

हम तो बस भजन ही करेंगे!

विजयनगरके महाराज एक दिन छत पर अपने मंत्रीके साथ घूम रहे थे। मंत्री बड़ा बुद्धिमान था। परस्पर यह बात हो रही थी कि ईश्वरकी उपासनासे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। इतनेमें नीचेसे श्रीधरस्वामी, सोलह-सत्रह वर्षकी उम्र, हाथमें जूता लिए और उसमें तेल भरे चले जा रहे थे। राजाकी दृष्टि पड़ गयी। पूछा कि यह कौन है? मंत्रीने बताया कि कोई ब्राह्मणका बेटा है। राजा बोले कि बुलाओ इसको! यह जूतेमें तेल क्यों लिए जा रहा है? बुलाया गया और उससे पूछा गया। वह बोला कि मैं तेल लेने गया था तो बरतन तेलसे भर गया तो बाकीका तेल मैंने जूतेमें ले लिया। राजा बोले कि महामूर्ख है यह। मंत्रीसे पूछा कि अच्छा, ईश्वरकी उपासनामें ऐसी शक्ति है कि यह मूर्खसे विद्वान् हो जाय? मंत्रीने कहा कि हाँ, उपासनासे सम्भव है।

राजा बोले कि अच्छा! इसको विद्वान् बनाओ।

मंत्रीने नृसिंहतापिनी उपनिषद्में वर्णित भगवान् नृसिंहके मन्त्रका उन्हें उपदेश किया और श्रीधरस्वामी उसका अनुष्ठान करने लगे। राज्यकी ओरसे उनके माता-पिताके भरण-पोषणकी सारी व्यवस्था कर दी गयी। एक दिन वे अनुष्ठान कर रहे थे, उसी समय उन्होंने देखा कि ऊपर पक्षीके घोंसलेमें-से एक अण्डा नीचे गिरा और फूट गया। उसमें-से एक नन्हा-सा बच्चा निकल पड़ा, लेकिन वह मरा नहीं। अब उसका मुँह कभी खुले कभी बन्द हो। भूखा-प्यासा। कौन उसको भोजन-पानी दे? लम्बी-लम्बी साँस ले। वे सोचने लगे कि अब मरता है, अब मरता है। इतनेमें क्या हुआ कि दो मक्खी आपसमें लड़ गयीं। जब वे लड़ने लगीं तो उस बिना पंखके बच्चेका मुँह खुला और दोनों जाकर उसके मुँहमें गिरी और उसका मुँह बन्द हो गया एवं उसको भोजन मिल गया।

श्रीधरस्वामी चौंक पड़े और सोचने लगे-'अरे इसके तो पंख नहीं है, माँ नहीं है और इसके मुँहमें यह खुराक कहाँसे आया? उन दोनों मक्खियोंको किसने लड़ाया? यह ईश्वरकी लीला है! फिर मुझे माँ-बापके भोजनकी क्या फिक्र? अपने भोजनकी क्या फिक्र? हम तो बस भजन ही करेंगे। जिसने इसको भोजन दिया है वही हमको भोजन देगा। उसके बाद उनका अनुष्ठान पूरा हुआ। नृसिंह भगवान् प्रसन्न हुए। इष्ट प्रसादसे उनको श्रीमद्भागवतका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ।

व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंह प्रसादतः।।

श्रीमद्भागवतका ठीक-ठीक अभिप्राय भगवान् व्यास जानते हैं और श्रीशुकदेवजी जानते हैं; राजा परीक्षित समझते हैं कि नहीं इसमें सन्देह है। लेकिन नृसिंह भगवान्की कृपासे श्रीधराचार्य, श्रीमद्भागवतके अभिप्रायको सम्पूर्ण समझते हैं।

(पुरुषोत्तमयोग : पृ. 214-215)

यह तो ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय नहीं है!

आप यह बात पक्की समझो कि जो लोग सगुण साकार ईश्वरके दरबारमें जाना चाहते हैं, वे भी जबतक इस स्थूल-शरीरको छोड़कर भावमय शरीरको ग्रहण नहीं करेंगे, तबतक ईश्वरके दरबारमें नहीं जायेंगे। क्या, यह हड्डी-मांस, मल-मूत्र युक्त शरीर, भगवान्‌के दरबारमें ले जाने लायक है? बिलकुल नहीं।

एक बार हम पाँच-सात जन, एक महात्माके पास गये। हम सब साधन-भजन करते थे। उन्होंने बातचीतमें मौजमें आकर कहा कि तुम लोग वरदान माँगो! एक ही आदमी हम लोगोंमें-से ऐसा निकला, जिसने कहा कि हमको बिना किसी शर्तके ईश्वरका दर्शन चाहिए और अभी चाहिए।

उन महात्माने कहा कि अच्छी बात है। ईश्वर तुम्हें अभी चाहिए तो अभी आता है ईश्वर! जरा शान्तिसे बैठ जाओ। तत्पश्चात् वे महात्मा संकीर्तन और प्रार्थना करने लगे। गंगाका किनारा था, रात्रिका समय था, चाँदनी खिली थी और ऐसा दिव्य वातावरण बन गया जैसे ईश्वर आनेवाला हो। हम लोग भी सावधान हो गये। थोड़ी देरके बाद महात्माजी बोले कि ईश्वर तो दर्शन देनेके लिए आगया है। कोई शर्त नहीं है। तुमको कोई भी साधन-जप, तप, ध्यान आदि नहीं करना पड़ेगा। जैसे हो ऐसे ही दर्शन मिलेगा। लेकिन ईश्वर यह कहता है कि इसने साधन-भजन तो किया नहीं है। मैं जब इसको दर्शन दूँगा तो इसके सब पुण्य क्षीण हो जायेंगे। सो इस जीवनमें सुख देनेवाला कोई साधन नहीं रहेगा। सो इसके बाद यह कोढ़ी हो जायेगा और इसका शरीर पनालेमें पड़ा रहेगा और लोग इसके ऊपर थूकते रहेंगे। इसको यह बात बता दो कि मेरे दर्शनके बाद यह गति होनेवाली है। क्या वह मेरा दर्शन करनेके लिए तैयार है?

नारायण, महात्माजीकी यह बात सुनते ही उन ईश्वर दर्शन चाहनेवाले सज्जनके हाथ-पाँव ढीले पड़ गये और बोले कि नहीं-नहीं, ठहरिये! जरा हमको सोच लेने दीजिये। महात्माजीने पूछा-'आखिर तुम चाहते क्या हो?' वह बोले कि हम तो समझते थे कि दर्शनके बाद लोग हमारा आदर करेंगे, ऊँचा बैठावेंगे और हमें पूजा प्राप्त होगी। हम यह थोड़े ही समझते थे कि हम कोढ़ी हो जावेंगे!

तो नारायण, मनुष्य ईश्वरको प्राप्त करके भी अपने देहका ही श्रृंगार करना चाहता है। ईश्वरको भी एक माला बनाकर इस हड्डी, मांसके शरीरमें पहनना चाहता है। देहके लिए ईश्वरको चाहता है। यह जो देहमें मनुष्यका 'मैं'पना अटका हुआ है, यही तो ईश्वरकी प्राप्तिमें रुकावट है। अपने सुख, भोग एवं तृप्तिके लिए हम ईश्वरको चाहते हैं। यह तो ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय नहीं है। चाहे साकार ईश्वरको प्राप्त करना चाहो, चाहे निराकार, निर्गुण ब्रह्मको; लेकिन यह जो देहमें 'मैं' अटका हुआ है, इससे तो ऊपर उठना ही पड़ेगा। इसमें-से 'मैं' निकाले बिना ईश्वरके साथ कैसे जुड़ सकेंगे?

(पुरुषोत्तमयोग : पृ. 227-228)

भक्तिका सिद्धान्त : भक्ति प्रतिक्षण वर्द्धमान है!

भक्ति-मार्गमें सर्व भगवान्‌का स्वरूप है। इसलिए, जब असली भक्तिका उदय होता है, जब सर्वज्ञानमयी भक्ति उदय होती है, तब भक्तको सर्वरूपमें अपने इष्टदेवका ही, अपने प्रभुका ही दर्शन होता है।

देखो जितना बाहर दिखायी पड़ता है, वह परमात्माका स्वरूप है और भीतर जितने भाव उठते हैं, वे सब भी परमात्माके स्वरूप हैं-यह सर्वभावसे भजन है। इस प्रकार बाहर-भीतर एकरस-यह भक्ति है।

कई लोगोंका ऐसा ख्याल होता है कि जितनी भक्ति हमारे आ गयी है, बस उतनी ही भक्ति है। तो वे जब ऊँची भक्तिकी बात सुनने लगते हैं तो उनकी समझमें नहीं आती है।

नामजप करना-यह भगवान्‌की भक्ति है भला! उनकी पूजा करना भक्ति है। सत्सङ्ग करना भक्ति है। ध्यान करना भक्ति है। भगवान्‌की प्राप्तिके लिए व्याकुल होना-यह भी भक्ति है। और, उनके भरोसे पर छोड़ देना कि जब तुमको मौज हो तब मिलना-यह भी भक्ति है। व्याकुलता भी भक्ति है और शरणागति भी भक्ति है। एक रूपमें भगवान्‌को देखना भी भक्ति है और सबके अन्दर उसी रूपको देखना भी भक्ति है। और, सबको परमात्माका स्वरूप समझना भी भक्ति है।

तो इस प्रकारसे यह मत समझना कि हम जितना करते हैं, बस उतनी ही भक्ति है। भक्तिको छोटी मत बनाओ। अभी तुम जो नहीं करते हो, सो भी भक्ति है भला! जितना तुम जानते हो उतना ही भगवान् नहीं है। जितना नहीं जानते हो सो भी भगवान् है। अतः भगवान् और भक्तिको अपनी मतिके घेरेमें लाकर उसको 'मत' नहीं बनाना।

सबकी मतिमें जितनी भक्ति और भगवान् हैं, वे भी ठीक हैं और उस मतिसे बाहर जो भक्ति और भगवान् हैं, वे भी ठीक है; इसलिए कहीं राग-द्वेष न करके अपनेको साधनाके रूपमें जो वस्तु प्राप्त है, अपनी निष्ठामें दृढ़ रहकर चलते जाना चाहिए। उससे आगेकी बातसे इन्कार नहीं करना चाहिए कि इसके आगे कुछ है ही नहीं।

यही भक्तिका सिद्धान्त है कि भक्ति प्रतिक्षण वर्द्धमान है। यह मत कहो कि इतना ही है। और भगवान्? इससे भी परे हैं। बाँधो मत। जितना-जितना हृदयका विकास होता जाय, जितनी-जितनी आँख खुलती जाय, जितनी-जितनी समझ आती जाय, उतना-उतना स्वीकार करते चलो। तब देखो आगे बढ़ोगे।

(पुरुषोत्तमयोग : पृ. 244-245)

सगुण ईश्वरकी भक्ति अनुग्रहकर्ता भगवान्‌की प्रधानतासे होती है

एक गाँवका गँवार किसी महात्माके पास गया। उसने महात्माजीसे प्रार्थना की–'हम भगवान्‌का नाम लेंगे; कोई सीधा-सादा नाम बता दो।' महात्माने कहा कि तुम 'अघमोचन, अघमोचन' नाम लिया करो। 'अघ' माने पाप और 'मोचन' माने छुड़ानेवाला। गाँवमें जाते-जाते उस गँवारको 'अ' भूल गया। वह 'घमोचन, घमोचन' बोलता और हल जोतता।

एक दिन हल जोत रहा था और 'घमोचन' नाम ले रहा था, इतनेमें वैकुण्ठमें भोजनपर बैठे भगवानको हँसी आ गयी। लक्ष्मीजीके पूछनेपर भगवान् बोले कि आज हमारा भगत एक ऐसा नाम ले रहा है कि वैसा नाम तो किसी शास्त्रमें है ही नहीं। नया नाम ले रहा है। लक्ष्मीजी बोलीं कि तब तो हम उसको देखेंगे और सुनेंगे कि कौन-सा नाम वह ले रहा है। अब लक्ष्मी-नारायण दोनों खेतमें पहुँचे। भगवान् स्वयं भगतके पासमें नहीं गये। पासमें एक गड्ढा था, वहीं छिप गये और लक्ष्मीजीको उस भगतके पास भेजा।

लक्ष्मीजीने पूछा। 'अरे, तू यह क्या 'घमोचन, घमोचन' बोल रहा है? उन्होंने एक बार, दो बार, तीन बार पूछा। परन्तु वह कुछ उत्तर ही न दे। उसने सोचा कि इसको बतानेमें हमारा नाम छूट जायेगा। जब बार-बार लक्ष्मीजी पूछें तो अन्तमें उसको आया गुस्सा। गाँवका आदमी तो था ही। बोला, 'जा-जा, तेरे खसमका नाम ले रहा हूँ।' अब तो लक्ष्मीजी डरीं कि यह तो हमको पहचान गया। फिर बोलीं कि अरे तुम मेरे खसमको जानता है क्या? कहाँ है हमारा खसम। बार-बार पूछनेपर वह चिढ़कर बोला, 'वह खड्डेमें है, जा'! लक्ष्मीजी समझीं कि यह तो हमको पहचान गया। फिर लक्ष्मी-नारायणने उसको दिव्य रूपमें दर्शन दिये।

यद्यपि वह 'अघमोचन' और 'घमोचन'का भेद नहीं समझता था; किन्तु भगवान् समझते हैं कि यह हमारा ही नाम ले रहा है।

तो, सगुण ईश्वरकी जो भक्ति है, वह कर्ताकी प्रधानतासे नहीं होती है, वह अनुग्रहकर्ता भगवान्‌की प्रधानतासे होती है। और वे जब देखते हैं कि टूटे-फूटे, शुद्ध-अशुद्ध कैसे भी मनुष्य प्रेमसे मेरा नाम लेते हैं तो उसका हृदय उनको मिलनेके लिए द्रवित हो जाता है।

तो, हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि आप भगवान्‌का नाम लें। आपको सिर्फ इतना मालूम हो कि यह भगवानका नाम है। नामका स्वरूप क्या है–इसके साथ इस बातका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(नाम-महिमा : पृ. 17-18)

नामोच्चारणका अद्भुत फल

पंजाबी सेठ दो भाई थे। बड़ा भाई तो महात्माओंका बड़ा भारी भक्त था; किन्तु दूसरा बड़ा विरोधी था। बड़े भाईके मनमें यह चिन्ता थी कि हमारा भाई भक्त कैसे हो जाय! इसका कल्याण कैसे हो?

एक दिन कोई बड़ा लम्बा-तगड़ा पंजाबी साधु आया। उसने कहा कि महाराज, किसी प्रकार हमारे भाईका कल्याण कर दीजिये। तो उन्होंने कहा कि अच्छी बात है, उससे हमको मिलने दो! तो संयोगवश मिल गया! महात्माजी देखकर बोले, ऐ सेठ, सुन! भगवान् रामका नाम ले। उसने कहा कि हम किसीका नाम-वाम नहीं लेते। हम अपने आपमें मस्त हैं। महात्मा बोले कि नहीं, लेना पड़ेगा! नहीं तो हम तुमको गला घोंटकर मार डालेंगे। उसने झुँझलाकर कहा कि मैं नहीं लेता रामका नाम, चाहे तुम मुझे मार डालो। तो साधुने कहा बस-बस हो गया। तेरे मुखमें भगवान्‌का नाम आगया। अब देख, मेरी एक बात ध्यानमें रखना, इसको किसी कीमत पर बेचना मत। उन्होंने उसको यह उपदेश किया और चले गये। जब वह व्यक्ति मरा और मरनेके बाद, यमदूत उसे यमपुरी ले आये तो यमराजने कहा कि तूने सिर्फ एक बार रामका नाम लिया है तो उसके बदलेमें जो चाहे ले ले और फिर अपने कर्मोंका फल भोगने नरकमें जा। उसको साधुकी बात याद आगयी, उसने कहा, आप जो ठीक समझो दे दो! यमराजके बही-खातेमें नामके बदलेमें क्या दिया जा सकता है, यह नहीं लिखा था अतएव वे अपने स्वामी इन्द्रके पास उस पापी सेठको लेकर गये। इन्द्रको नहीं मालूम था तो तीनों मिलकर ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने कहा कि हमको भी नहीं मालूम, तब सब मिलकर शंकरजीके पास पहुँचे। शंकरजीने कहा हम तो सहज स्वभावसे नाम लेते हैं, अतएव हम इसकी कीमत नहीं बता सकते।

अब हुआ यह कि उस पापी सेठकी बुद्धि भी सूक्ष्म हो गयी और दोष भी मिट गया। उसने कहा अब हम यहीं रहकर भगवान्‌का नाम लेंगे। कहीं जायें-आयेंगे नहीं। तो फिर एक पालकी लायी गयी और उसमें यमराज, इन्द्र, ब्रह्मा एवं शंकर चारों लगे और पापीको पालकीमें बैठाकर विष्णु भगवान्‌के पास ले गये। अब विष्णु भगवान् तो भोले-भाले। उन्होंने सोचा कि कोई बहुत बड़ा भक्त होगा, सो आसनसे उठे। उसको पालकीसे उतार कर अपने हृदयसे लगाया और अपने सिंहासन पर ले जाकर बराबर बैठा लिया।

अब प्रश्न हुआ कि इसने झुँझलाकर एक बार नामोच्चारण किया है तो इसके बदले इसको क्या दिया जाय? विष्णु भगवान्‌ने कहा कि देखो भाई, अब मैं तो इसको मिल गया। यमराजने पूछा कि इसके बहुत सारे पाप हैं, उनका क्या होगा? भगवान् बोले कि मेरे मिलनेके बाद तो यह पाप-ताप भोगनेके लिए जा नहीं सकता। क्योंकि हमारे धामका नियम ही यही है।

(नाम महिमा-पृ. 19-21)

भगवद् नाम परमानन्द स्वरूप होनेसे ब्रह्म है!

हमारे पास एक साधक रहते थे। एक दिन आये, बोले कि महाराज, बहुत दिन हो गये जप करते-करते, कुछ होता-हवाता नहीं है। अब छोड़ देंगे। हमने कहा कि अरे भाई, छोड़ो मत। वे माने नहीं और जिद्द पकड़ लिए कि हम तो छोड़ देंगे। हमने कहा कि अच्छी बात है, छोड़ दो। छोड़कर गये तो वे पन्द्रह-बीस मिनट बाद आये और बोले कि महाराज, छूटता नहीं है। मैंने कहा कि नहीं अब भगवद्-नाम लेना नहीं, तुम्हारे लिए मना हो गया है। घंटे भरमें तो वे व्याकुल होकर रोने लगे और बोले कि अब इसके बिना रहा नहीं जाता है।

'अरे तुम कहते हो कि इससे कुछ होता-जाता नहीं है। यह तो इतना कर गया कि तुम छोड़ ही नहीं सकते।'-यह क्या फल नहीं है?' फल तो यह है कि यह जिह्वासे गया तुम्हारे अन्तसमें, और वहाँ चिपक गया, आसक्ति हो गयी। देखो, पति लोग पहिले तो पत्नियोंको बोल देते हैं कि तुम जबसे आयी हो, दुःख-ही-दुःख है, हम पहले ही अच्छे थे। तुम जहाँ जाना चाहो, चली जाओ! परन्तु जब वे जानेको तैयार होती हैं तो हाथ जोड़कर, पाँव पड़कर मनाते हैं कि नहीं, तुम्हारे बिना हम जिन्दा नहीं रहेंगे! यह क्या हुआ? इसीका नाम तो आसक्ति है।

तो, नारायण! नामके साथ एक बार सम्बन्ध हो गया तो यह ऐसा सम्बन्ध है कि इसमें तलाक हो ही नहीं सकता। यहाँ तक कि अगर ब्रह्मज्ञान भी हो जाय और कोई चाहे कि हम नामको छोड़ देंगे तो ब्रह्मज्ञानीकी जिह्वा अपने आप ही हिलती रहेगी। यह नाम तो ऐसा चिपकना है-जैसे परब्रह्म परमात्मा, जैसे आत्मा हमको छोड़कर कभी अलग नहीं हो सकता, वैसे व्यवहारमें यह परमानन्द स्वरूप नाम हमको छोड़कर कहीं जा नहीं सकता।

अब कोई कहते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ नहीं मानतीं! नारायण कहो! आप जब नाम लेने लगेंगे तो आँख भीतर देखेगी कि देखें यह नामका क्या रूप है! कान भीतर सुनेगा कि नामकी ध्वनि हो रही है। त्वचा भीतर नामका स्पर्श करेगी। जिह्वा भीतर नामका स्वाद लेगी। नासिका नामका गन्ध सूँघेगी। यह नाम क्या है? चिन्तामणि है। 'नाम चिन्तामणि'।

इससे गन्ध लो, रस लो, रूप लो, स्पर्श लो, इसमें ध्वनि लो और इसमें तन्मयता लो। यह नाम सब कुछ देनेके लिए आया है। यह नाम नहीं है, अमृत है। यह आनन्द है, ब्रह्मस्वरूप है।

उपासनामें दृश्य-वस्तुमें ब्रह्मकी अनुस्यूतताका चिन्तन होता है। उपासनाकी प्रक्रिया यह है कि 'नाम ब्रह्म'-यह नाम साक्षात् ब्रह्म है। ब्रह्म कैसे? जैसा परमानन्द स्वरूप ब्रह्म है, वैसा परमानन्द हमें 'नाम'में ही अनुभव होता है-यह बात श्रुतिमें कही जाती है। अतएव यह भगवद् 'नाम' बिलकुल परमानन्द स्वरूप होनेसे ब्रह्म है।

(नाम-महिमा : पृ. 45-46)

भगवद् नाम आपके मनका अनुसरण करेगा

आपके घरमें लड़ाई-झगड़ा होता है कि नहीं? उस लड़ाई-झगड़ेमें बात क्या होती है? जैसे दो आदमी घरमें हैं। तो एक आदमी चाहता है दूसरा आदमी हमारे मनके अनुसार चले। अब मन तो दोनोंके दो हैं। स्त्रीका मन है, पुरुषका मन है-दोनोंके मन दो हैं। थोड़ी देरके लिए मिला लेते हैं; नहीं तो वे रहते तो अलग-अलग ही हैं। तो जब एक आदमी चाहता है कि दूसरा आदमी हमारे मनके अनुसार चले और वह नहीं चाहता, तब दोनोंमें लड़ायी हो जाती है। घरमें जितना वैमनस्य है, इसका रूप यही है। पारस्परिक सम्बन्ध कोई भी हो, मन मिलाकर ही चलना पड़ता है। दो व्यक्तियोंका मन एक सरीखा नहीं हो सकता। जब मन नहीं मिलता तो लड़ायी हो जाती है।

अगर आपके घरमें कोई लड़ाई-झगड़ा होता है तो जरा अपने मनको दबा लीजिये और सामनेवालेके मनकी पूरा हो जाने दीजिये। और, कभी जरूरत पड़े तो दूसरा भी दब जाय। तो अपने मनको दबाकर जो दूसरेके मनको प्रधान रखकर काम करेगा, वही मजा ले सकेगा; असलमें उसकी घर-गृहस्थीमें हमेशा सुख बना रहेगा। नहीं तो रोज खींचा-खाँची और तनाव बना रहेगा।

अब जरा अपने प्यारे भगवद् नामकी ओर देखिये। वह अपने मनके अनुसार आपको चलावेगा ही नहीं। वह तो आपके मनके अनुसार चलेगा। तो नामको आप कह दो कि जरा जोरसे! कहेगा कि अच्छा, जोरसे। 'जरा जल्दी'। 'हाँ जल्दी'।

कहते हैं कि एक लड़की-लड़केका ब्याहसे पहले मिलना हुआ। लड़कीने पूछा कि आपको कैसी पत्नी पसन्द है? तो उसने बताया कि जब हम चाहें कि बोले, तो बोले और जब हम चाहें कि चुप रहे, तो चुप रहे। तो लड़कीने कहा कि श्रीमान्, आप एक अच्छा-सा रेडियो खरीदकर घरमें रख लीजिये। आपको लड़की नहीं चाहिए, रेडियो चाहिए। अरे भाई, लड़की भी तो कभी अपने मनसे बोलेगी, अपने मनसे भी गावेगी, मनसे भी चलेगी। उसका भी मन होगा। केवल तुम्हारे ही मनसे काम करे, ऐसा कैसे होगा?

लेकिन हम प्रत्येक लड़के-लड़कीको यह बात बता सकते हैं कि यदि वह भगवन्नाम अपने हृदयमें बसा ले तो वे यदि कहेंगे कि हे नाम नाचो! तो वह नाचेगा। वे कहेंगे कि नाम गाओ, तो गावेगा। वे कहेंगे कि नाम चुप रहो! तो चुप रहेगा। माने वह आपके मनका अनुसरण करेगा। और मनका अनुसरण करते-करते आपके मनको हजम कर जायेगा भला! यह भी एक अनुसरणकी पद्धति है। जब नाम आपके हृदयमें पहुँचेगा तो आपकी इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण कृतिको समेट लेगा।

(नाम-महिमा : पृ. 46-47)

बिना नामाश्रयके आज तक कोई महात्मा बना ही नहीं है!

हम मोकलपुरके बाबाका दर्शन करनेके लिए जाते थे। तो वे कहते थे कि आओ, हम तुमको कुछ खिलाते हैं। तो महाराज, उनके पास चिवड़ा होता था। थोड़ा सा दहीमें डालकर उसमें नमक डाल देते और थोड़ा दूसरे पात्रमें दहीमें चिवड़ा डालकर उसमें शक्कर डाल देते थे और थोड़ा चिवड़ा दूधमें डाल देते। अब देखो चिवड़ा तो एक ही है परन्तु दहीकी उपाधिसे, नमककी उपाधिसे, शक्करकी उपाधिसे, दूधकी उपाधिसे भिन्न-भिन्न प्रकारका स्वाद देता।

नारायण! इसी तरह ब्रह्म तो है एक, आनन्द तो है एक। परन्तु आप अंगूरका आनन्द लेना चाहते हैं कि चटपटेका? तो जब हम नामोच्चारण करते हैं तो चाहे जल्दी-जल्दीका आनन्द ले लो, चाहे धीरे-धीरेका आनन्द ले लो, चाहे जोर-जोरसे का आनन्द ले लो, चाहे नामके ध्यानका आनन्द ले लो। भगवन्नाम ऐसा है जैसे मोम (WAX) आपके हाथमें हो—उसका चाहे जैसा पुतला अथवा खिलौना बना लो। नाम ऐसी नम वस्तु है, ऐसी नमनशील वस्तु है कि आप इससे राम देख लो, कृष्ण देख लो, शिव देख लो! नामका सब कुछ बन जाता है। इसीसे हमारे महात्माओंने कहा—नाम परमानन्द है; नाम 'मधु' है माने जिसको लेकर मनुष्य मस्त हो जाय।

आप अपने हृदयमें नामकी ज्योति जगाइये। अपने हृदयमें आप नामकी बाँसुरी बजाइये। आप नामका मृदुल-मृदुल स्पर्श कीजिये। नामकी गन्ध फैलने दीजिये। आपके हृदयमें देखिये, यह भगवन्नाम क्या रस, क्या स्वाद वितरण करता है।

आपको ब्रह्म-मधुका पान करना हो तो नामका उच्चारण कीजिये। आजतक दुनियामें ऐसा कोई सन्त, ऐसा कोई महात्मा, ऐसा कोई सिद्ध पैदा ही नहीं हुआ है, जिसने नामका आश्रय न लिया हो। बिना भगवन्नामाश्रयके आज तक कोई भी महात्मा बना ही नहीं है। यहाँ तक कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर यदि जीवनमें भगवन्नाम है तो ब्रह्मविद्या सधवा है, अन्यथा विधवा है। ब्रह्मविद्याका भगवन्नाम सौभाग्य चिह्न है।

(नाम-महिमा-पृ. 48,49,53)

हम लोग ईश्वरको सातवें आसमानमें नहीं रखते हैं!

श्रद्धा-भक्ति विशिष्ट ज्ञानसे सगुण साकार ईश्वरका दर्शन होता है। शुद्ध तत्त्वज्ञानसे निर्गुण-निराकार, निर्विशेष ब्रह्मतत्त्वका बोध होता है। इस सबकी प्रक्रिया एवं साधना है। इसलिए अपने लक्ष्यका निश्चय करके एक साधनाके मार्ग पर चलना चाहिए।

परन्तु साधनाके मार्ग पर चलें तो तब जब बाहरके विषयोंसे विरक्ति होवे! उनमें कुछ अरुचि होवे! जबतक चित्तमें विरक्ति न हो मुमुक्षा न हो, जिज्ञासा न हो, परमार्थकी प्राप्तिके लिए व्याकुलता न हो तबतक साधन बेचारा क्या करेगा?

अब देखो, नाम-साधनामें अधिकारीकी जरूरत नहीं है। फिर भी यदि कोई श्रद्धा-भक्तिसे नाम-जप करे, तब तो कहना ही क्या! वस्तुतः श्रद्धा भक्तिके बिना भी नाममें वही शक्ति है, जो ईश्वरमें शक्ति है।

हम लोग ईश्वरको सातवें आसमानमें नहीं रखते हैं।

देखो, आत्मा तो मिलता है 'अहं'के भीतर और ईश्वर मिलता है 'तत्' अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टिके भीतर। और ब्रह्ममें न अहं है और न तत् है; वह सर्वातीत, स्वयंप्रकाश और सर्वाधिष्ठान है।

लेकिन भगवान् अथवा ईश्वर हम उसको कहते हैं-

जो 'अहं' भी है, 'इदं' भी है, 'तत्' भी है और 'त्वं' भी है। भगवान् शब्दका प्रयोग हम इस अर्थमें करते हैं कि भगवान्का निर्गुण रूप ब्रह्म है। भगवान्का ऐश्वर्यशाली रूप ईश्वर है; भोग्य रूप, नियम्य रूप जीव है और भगवान्की लीलाके विस्तारके लिए यह जगत्के रूपमें वही प्रकट हुआ है। यद्यपि सब एक ही है, परन्तु जैसे एक ही अनारके फलमें छिलका, गुदा, बीजका भेद कर लेते हैं; ऐसे एक ही भगवान् सारी सृष्टिके रूपमें प्रकट है।

हम नास्तिकको भी ईश्वरका रूप मानते हैं और आस्तिकको भी।

और, किसी आचार्य-सम्प्रदाय, अनुयायीको भी ईश्वरका रूप मानते हैं और जो अनुयायी नहीं है, उसको भी। हम भारतको भी, पाकिस्तानको भी, चीन और अमेरिकाको भी ईश्वरका रूप ही मानते हैं।

नारायण! यह भगवद्रूपकी जो मान्यता है वह हमारे हृदयको इतना सुन्दर, इतना स्वच्छ, इतना निष्पक्ष, इतना सम और ऐसी सच्चिदानन्दकी अनुभूतिसे पूर्ण बनाती है, जिसकी कोई हद नहीं।

जैसे सर्वरूप भगवान् हैं, ऐसे सारे नाम भगवान्के हैं-यह सिद्धान्त है।

(नाम महिमा : पृ. 14,15,16)

भगवान् कानके रास्ते हृदयमें जाना पसन्द करते हैं

संसारमें जितने भी मनुष्य होते हैं, मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी, देवता-दानव भी, प्राणिमात्र, सबको रस चाहिए। सबको स्वाद चाहिए। मजा न मिले तो मनुष्यकी प्रवृत्ति नहीं होती। थोड़े दिनों तक खींच-खाँचकर जोर-जबरदस्तीसे कहीं लगे भी तो रसके बिना निष्ठा नहीं होती। जब मनुष्यके हृदयमें श्रद्धा होती है, तब उसमें निष्ठा होती है। मनुष्यके हृदयमें जब लालसा होती है, तब प्रयत्न होता है। हमारे महात्मा लोगोंको यह मालूम था कि जीव संसारमें क्यों लगे हैं? किसीको धनमें तो, किसीको कुटुम्बमें; किसीको भोगमें तो किसीको 'काला-धन्धा' करनेमें ही रस आता है। भगवान्‌में तो ये लोग लगते ही नहीं है। इसका मतलब यह है कि भगवद्-रसका आस्वादन इनको नहीं होता-

राम कहने का मजा जिसकी जुबाँ पर आ गया।
मुक्त जीवन हो गया, चारों पदारथ पा गया।।

जैसे तुम्हारे मनमें धन, स्त्री-पुरुष अथवा भोगकी वासना है, इसी तरह चित्तमें भगवान्‌की वासना उत्पन्न करो।

भगवान्‌की यह वासना अपने चित्तमें कैसे आयेगी?

कुछ वासना तो अपने चित्तमें उदय होती है, देख-देखकर और कुछ होती है सुन-सुनकर। यहाँ श्रवणके द्वारा भगवद् वासनाको अपने हृदयमें भरना है। भगवान् कानके रास्ते हृदयमें जाना पसन्द करते हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है :

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्ण सलिलस्य यथा शरत्।।2.8.5

भगवान् कानके छिद्रसे प्रवेश करके हृदयमें, भाव कमल पर आते हैं और वहाँ आकर पहले जो दिलकी गन्दगी है उसको दूर करते हैं। तो नारायण! जिनकी स्वच्छतामें प्रीति होती है वे जहाँ जाते हैं, वस्तुको स्वस्थ बनाते हैं। भगवान्‌का अभ्यास भी क्षीरसागरमें रहनेका है, कमल पर रहनेका है। भगवान्‌को मृदुलतामें, कोमलतामें रहनेका अभ्यास है। जब वे जीवके हृदयमें आते हैं तो देखते हैं, यहाँ तो गन्दगी है। यह तरह-तरहकी इच्छाएँ एवं वासनाएँ ही गन्दगी हैं। यह गन्दगी दूर कैसे हो? तो भगवान् अपने प्रति जीवके हृदयमें वासना उत्पन्न करते हैं।

आस्तिक होना-सुबह-शाम भगवान्‌को हाथ जोड़ लेना, नाम ले लेना यह दूसरी बात है। और भगवान्‌के संयोगसे रस लेना तथा भगवान्‌के वियोगमें दुःखी होना, यह दूसरी बात है।

हमारे गाँवमें कहावत है-'छिगुनी पकड़के पहुँचा पकड़ लिया।' पहले तो उँगली छुई और बादमें हाथ ही पकड़ लिया। यह भगवान् श्रीकृष्ण, यह ग्वाला इसकी पकड़ बड़ी जबरदस्त होती है! एकबार पकड़ ले तो छोड़े नहीं।

(रासपञ्चाध्यायी : पृ. 1-4)

भगवद्-रस तुम्हें भगवान्‌की ओर ले चलेगा

जैसे संसारमें सुख मानकर संसारी लोग सुखके लिए, रसके लिए, स्वादके लिए संसारमें लगे हुए हैं वैसे ही जो लोग कृष्णकी कथा सुनते हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्ण अपनी वासना देते हैं। वासना ही वासनाको काटती है।

लोग बच्चेके लिए रोते हैं, भगवान्‌के लिए नहीं रोते! तो भगवान् कहते हैं थोड़ा हमारे लिए भी रोना शुरू करो। लोग बच्चेका नाम लेकर दिनभर पुकारते हैं। कृष्ण कहते हैं अब थोड़ा मेरा नाम लेकर पुकारना शुरू करो। लोगोंको भोगोंमें बड़ा मजा आता है; भगवान् कहते हैं अब हमारे पास आओ, उससे ज्यादा मजा देंगे। बोले भाई! धर्म करनेसे हृदयमें बड़ी पवित्रता आती है; भगवान् कहते हैं, हमारे पास आओ, हम उससे ज्यादा पवित्रता देंगे। बोले-श्रवण-मनन करनेसे बड़ा ज्ञान होता है; भगवान् कहते हैं-आओ हमारे पास हम कैसा 'रसात्मकज्ञान' देते हैं!

यह जो भगवद्-कथा है, यह मनुष्यके हृदयमें रस-संचार करनेके लिए है। संसारकी वासना काटनेके लिए भगवान्‌की वासना, हृदयमें उदय होनी चाहिए। चार वर्ष भजन करके फिर संसारमें चले गये, ऐसा क्यों होता है? क्योंकि भगवान्‌में रस नहीं आया। ईश्वरके बारेमें सोचना-समझना, ध्यान करना, दूसरी वस्तु है और ईश्वरके रसका अनुभव करना, यह दूसरी वस्तु है।

जीवनमें ईश्वररसकी उत्पत्ति होनी चाहिए; यदि रस उत्पन्न नहीं होगा तो जब दूसरी मजेदार चीज दुनियामें मिलेगी तो ईश्वरको छोड़ देंगे और उधर चले जायेंगे। जिसके जीवनमें रस उत्पन्न नहीं होता वह निष्ठावान नहीं होता; उसका भाव, उसका प्रेम टिकाऊ नहीं होता।

भगवद्कथाका मुख्य काम है हमारे जीवनमें श्रद्धाका रस, भावका रस, भक्तिका रस, प्रेमका रस, भगवद् रस हमारे हृदयमें पैदा कर देना। भगवान्‌का रस हमारे हृदयमें आवे, तब आपको मालूम पड़ेगा कि कृष्ण किसका नाम है? कृष्णके साथ अपनेको जोड़ देनेकी जरूरत है। यह प्रीतिकी रीति बड़ी निराली है। इसमें दीनता नहीं है, इसमें मरनेकी जरूरत नहीं है। अरे! आओ न, अपने मनको इसमें डाल दो। फिर देखो दुनिया भूलती है कि नहीं भूलती है!

अगर तुम्हारे दिलमें, दुनियामें प्रेम न हो, ठोंककर छाती देख लो, जाँच कर लो अपने दिलकी। कहीं तुम्हारा प्रेम न हो तो हम एक बार कह सकते हैं-चलो छुट्टी! तुम अपनी असंगतासे ही मुक्त हो जाओगे। लेकिन जब दुनियामें तुम्हें रस है, दुनियामें प्रीति है तो रसान्तरकी आवश्यकता है, भगवद्-रसकी आवश्यकता है। वह रस तुम्हें भगवान्‌की ओर ले चलेगा।

(रासपञ्चाध्यायी : पृ. 7,8,9)

किसीको न छोड़ना ही कृपा है

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजीके साथ ब्रह्मचर्चा हो रही थी तो मैंने पूछा कि महाराज, कृपा क्या होती है? ब्रह्म तो निर्गुण है, निर्विकार है। फिर उसकी कृपा कैसे? बाबा बोले कि किसीको न छोड़ना ही कृपा है-'अपरित्याग लक्षणा कृपा'। ब्रह्म सबके भीतर आत्मरूपसे विद्यमान है-चाहे कोई चर हो या अचर। चर और अचर दोनों ही रूपोंमें ब्रह्मकी स्थिति है। यह परमात्माकी कृपा ही है कि दुनियामें कोई कुछ भी कहे, परन्तु आज तक परमात्माने किसीको छोड़ा नहीं है। किसीका परित्याग नहीं किया है। नरकस्थ जीवकी आत्माके रूपमें भी परमात्मा ही रहता है।

देखो, मैंने ऐसा सुना था कि एक बार सन्त कबीर अपनी कुटियामें अपने परिवारके साथ सो रहे थे। रातको एक आदमीने उनकी किवाड़ खटखटायी। कबीरजीने किवाड़ खोल दी। आनेवाला अपने-आप ही कह उठा कि मैं चोर हूँ। पुलिस मेरा पीछा कर रही है। वह मुझको मार डालेगी। आप मेरी रक्षा कीजिये।

अब कबीर साहब क्या करते? उनके घरमें ज्यादा जगह नहीं थी। फिर भी उन्होंने कह दिया कि यह मेरी लड़की सो रही है। तुम चुपचाप इसके साथ सो जाओ। बोलना मत। फिर जो कुछ करना होगा, मैं कर लूँगा।

इतनेमें पुलिस आ गयी। उसने भी कबीर साहबकी किवाड़ खटखटायी। कबीर साहबने दरवाजा खोल दिया। पुलिसवालोंने पूछा कि आपके घरमें कौन-कौन है? एक चोर इधर ही आया है। वह छिपा है क्या?

कबीर साहब बोले कि देख लो, मेरा घर तुम्हारे सामने है। पुलिसवाले घर देखने लगे तो स्त्री-पुरुष एक साथ सोते दिखायी पड़े। पुलिसवालेने पूछा कि यह पुरुष कौन है? कबीर साहबने जवाब दिया कि मेरा जमाई है। यह सुनकर पुलिसवाले चोरको छोड़कर चले गये।

अब यदि कोई कहे कि इस प्रकार झूठ बोलकर दोषीकी रक्षा करना तो बहुत बुरा है। ऐसा करनेसे संसारकी व्यवस्था बिगड़ जायेगी।

लेकिन; श्रीमद्वाल्मीकि रामायणमें भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि सत्पुरुषोंमें शरणागतकी रक्षा करना निन्दित नहीं माना जाता। शरणागत कैसा भी क्यों न हो, उसकी रक्षा करना निन्दनीय नहीं है। दूसरे लोग भले ही निन्दा करें, लेकिन उस निन्दाकी परवाह नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सत्पुरुष जानते हैं कि आजतक परमात्माने, सद्वस्तु, चिद्वस्तु, आनन्द वस्तुने, अद्वैत वस्तुने किसीको छोड़ा नहीं है।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 264-266)

मनुष्यको आत्महत्या कभी नहीं करनी चाहिए

युद्धमें श्रीरामचन्द्र और रावणका आमना-सामना हुआ तब उस भयंकर युद्धमें एक बार रावणने ऐसी शक्ति छोड़ी, जो लक्ष्मणको लगी और वे मूर्च्छित हो गये। लेकिन श्रीरामचन्द्रने रावणके ऊपर ऐसा भीषण प्रहार किया कि वह भयभीत होकर रणक्षेत्रसे भाग खड़ा हुआ।

अब रावणसे शक्तिबाण द्वारा लक्ष्मणके मूर्च्छित हो जाने पर श्रीरामचन्द्र व्याकुल हो गये और वे अत्यधिक विलाप करने लगे।

देखो, श्रीरामचन्द्रके इस करुण विलापसे एक तो यह सिद्ध होता है कि लक्ष्मणके प्रति उनके हृदयमें कितना अनुराग था। और दूसरे हमें यह शिक्षा मिलती है कि एक भाईका अपने भाईके प्रति कैसा प्रेम होना चाहिए। एक बात और है। वह यह कि यदि मनुष्यके मनमें शोक-मोह आये तो यह नहीं समझना चाहिए कि वह शोक-मोह, सदैवके लिए आया है। कोई भी मनोभाव ऐसा नहीं होता, जो आकर हमेशाके लिए टिक जाय। वह तो आता है और चला भी जाता है। इसलिए मनुष्यको विवेक-बुद्धिसे काम लेकर, उसमें बह नहीं जाना चाहिए।

असलमें ये काम-क्रोध-लोभ-मोहके भाव ऐसे हैं, जिनके साथ मनुष्यका 'मैं' मिल जाता है- तो वह काममय, क्रोधमय, लोभमय और मोहमय हो जाता है। लेकिन जब मनुष्य इन विकारोंके वेगसे अलग हो जाता है और अपने स्वरूपमें स्थित होकर विचार करता है तब उसको उनकी बुराई मालूम पड़ती है।

इसीलिए वाल्मीकि रामायणमें यह बात अनेक प्रसङ्गोंमें आती है कि मनुष्यको उदास-निराश होकर आत्महत्या कभी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि मनुष्य यदि जीवित रहेगा तो उसके जीवनमें सुखके अवसर अवश्य आयेंगे।

तो, श्रीरामचन्द्र जब बहुत व्याकुल हो गये तब सुषेणने कहा कि महाराज, आप व्याकुलताका परित्याग कीजिये।

इसके पश्चात् सुषेणकी सलाहसे हनुमानजी फिर हिमालय गये और वहाँसे सञ्जीवनी बूटीका पर्वतखण्ड ही उठा लाये। सुषेण द्वारा उस बूटीका सेवन कराते ही लक्ष्मणके शरीरसे बाण निकल गये और वे निरोग होकर उठ बैठे। श्रीरामचन्द्रने लक्ष्मणको हृदयसे लगा लिया और उनकी आँखोंसे स्नेहाश्रुओंकी वर्षा होने लगी।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 296-297)

चित्तका विश्वास

'यह आदमी हमारे सामने आवे, और यह आदमी हमारे सामने न आवे'-ऐसा मत करो। जो आँखके सामने आता है उसे आने दो और जो जाता है, उसे जाने दो।

हमको एक-दो बार बड़ा वहम हो गया था। हमारे गाँवमें एक-दो आदमी ऐसे थे जिनके बारेमें हमारा ऐसा ख्याल हो गया कि अगर नींद टूटते ही ये हमारे सामने आजायँ और इनका मुख दिख जायँ तो दिनभर बड़ी तकलीफ होती है। अब देखो, क्या हुआ?

जब हमको पता चल जाय कि वे आदमी आगये हैं, बात कर रहे हैं तो हम अगर जगे हुए हों, तब भी उठते नहीं थे, जबतक वे चले न जायँ। यह अपनी बात आपको सुनायी।

एक बैल था हमारे। तो हमको ऐसा वहम हो गया कि यदि सबेरे-सबेरे उठकर हम इसका मुख देखते हैं तो उस दिन हमको धनकी प्राप्ति होती है। हमने तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया। ऐसा विश्वास जम गया कि उसका मुँह अगर सबेरे दिख जाय तो धनकी प्राप्ति जरूर होवे। अब उस बैलेसे राग हो गया।

अब क्या हुआ कि हमारी बहनकी शादी जहाँ हुई थी, बड़े सम्माननीय रिश्तेदार थे। उन लोगोंको किसी तरह इस बातका पता चल गया कि यह बैल ऐसा-ऐसा है।

उन्होंने माँग लिया कि हमको यह बैल दे दो। अब समझो, दुःख होगा कि नहीं? दे तो दिया। लेकिन मनमें दुःख हुआ कि 'हाय-हाय! यह ऐसा लक्ष्मीका कृपापात्र जो वृषभ-धर्म था हमारे घरमें, वह गया।' दुःख हुआ।

तो, मनमें ऐसा राग-द्वेष हो गया।

असलमें यह एक चित्तका विश्वास होता है, एक भाव होता है। और आपका जहाँ विश्वास हो जाय, भाव हो जाय, बस!

बात यह होती है कि दिन भरमें कुछ-न-कुछ अनिष्ट भी होता है और दिन भरमें कुछ-न-कुछ इष्ट भी होता है। तो जहाँ अपने मनमें बात भरी रहती है, उसके साथ हम अपना सम्बन्ध बना देते हैं।

इन्द्रियोंके साथ राग-द्वेषका सम्बन्ध मत जोड़ो। 'रागद्वेष वियुक्तैस्तु'। जो सामने आवे उसको देखते चलो। ज्ञानका काम केवल प्रकाशित करते चलना है। विषयको पकड़कर बैठ जाना नहीं है।

(सांख्ययोग (नवीन सं.)पृ. 657-658)

........यही जिन्दगी है

ईश्वरके बारेमें कहतेहैं कि श्रुति प्रमाण हैं। जो चीज हमारे सामने हो और हम पहचानते न हों तो उसमें क्या प्रमाण हो सकता है?

कहते हैं कि एक आदमीको उसके पिताकी मृत्युके पश्चात् घरमें एक सन्दूकमें बिलकुल चमचम-चमकते हुए बहुतसे पत्थर मिले। अब उसने सोचा कि हमारे घरमें इतने हीरे हैं! सो हम बहुत धनी! उसके चाचा बड़े जौहरी थे, सो उनके पास गया और उनको एक चमकता पत्थर दिखाकर पूछा कि इसकी कितनी कीमत है? चाचा देखते ही पहचान गये कि यह तो कुछ नहीं है। लेकिन सोचा कि अभीसे बतावेंगे तो विश्वास नहीं करेगा। वह बोला कि देखो बेटा, हम तो हो गये बूढ़े! अब हमारी आँखसे ठीक दिखता भी नहीं और हमारे लड़के इस विषयमें बड़े निपुण हैं। परन्तु तुम यह करो कि छः-आठ महीने उनके साथ काम करो और तुम खुद सीखो कि हीरा कैसा होता है?

उसने परिश्रम करके वह विद्या सीख ली। एक दिन उसके मनमें आया कि अब घरमें रखे मालकी जाँच कर लें। अब उसने सन्दूकमें-से निकालकर एक हीरा देखा तो वह काँच निकला, दो कौड़ीका भी नहीं। दूसरा उठाया तो वह भी, तीसरा उठाया तो वह भी! सारा ही बाहर उड़ेल दिया।

तो नारायण, यह जो सृष्टि है, जिसको हम लोग परब्रह्म परमात्मासे जुदा, कीमती समझते हैं-यह तो जब तक हमको जाँच करना नहीं आता है, तभी तक इसको कीमती समझते हैं। असल और नकलकी पहचान होवे तो यह जो संसार हमको बहुत महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ता है, इसमें कुछ नहीं है। सब जिन्दगीके साथ मौत लगी हुई है। सब प्यारमें बेवफाई छिपी हुई है। यह संसारकी स्थिति है भला! वेद भगवान् कहते हैं :

अश्वत्थे वो निवसनं पर्णे वो वसतिः कृता (यजुर्वेद)

जैसे ओसकी बूँद पत्ते पर लटकी हुई है-पत्ता जरा हिला और बूँद नीचे गयी-यही जिन्दगी है।

एक दिन एक सज्जन आये। बोले कि देखो जी, यह सृष्टि तो हमको आँखसे प्रत्यक्ष दीख रही है। तुम इसको मिथ्या कैसे कहते हो?

हमने कहा कि हमने कभी ऐसा नहीं कहा होगा कि रूप मिथ्या है और आँख सच्ची है! तुम आँखको तो सच्ची मानते हो और रूपको मिथ्या मानते हो। अरे भाई, अधिष्ठान ज्ञानसे अन्तःकरण भी मिथ्या होता है, इन्द्रियाँ भी मिथ्या होती हैं, तब विषय मिथ्या होता है। माने अन्तःकरण जब बाधित होगा, तब विषय बाधित होंगे।

जब परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना होता है तो केवल रूपको ही नहीं आँख सहित अन्तःकरणको भी छोड़ना पड़ता है।

(माण्डूक्यकारिका (वैतथ्य) प्रवचन : पृ. 20-23)

महात्माका अनुभव

तत्त्वज्ञ अपनेको तत्त्वज्ञ नहीं जानता है, और न मानता है। वह तत्त्व है। वह अपनी दृष्टिमें स्वयं ब्रह्म है; ब्रह्मका ज्ञाता नहीं है। ब्रह्म कोई डण्डा नहीं है कि वह दण्डी हो जाय। वहाँ केवल अज्ञान दूर होता है, फल व्याप्ति नहीं होती। इसलिए, तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें दूसरा कोई तत्त्वज्ञ नहीं होता। दूसरे तो सब स्वप्न पुरुष हैं।

होता यह है कि ये श्रद्धालुभक्त जो तत्त्व नहीं जानते हैं और तत्त्वज्ञानपर श्रद्धा रखते हैं, उनकी दृष्टिमें दस-बीस-पचास तत्त्वज्ञ (पूर्णप्रज्ञ) होते हैं। वस्तुतः स्त्रियाँ तो संसारमें लाखों होती हैं, परन्तु अपनी माँ, अपनी माँ होती है। इसी प्रकार जहाँ श्रद्धा परिनिष्ठित होती है, वहीं 'यह तत्त्वज्ञ है' ऐसा विश्वास होता है।

अतएव जने-जनेको तत्त्वज्ञ माननेका कोई कारण नहीं है। श्रद्धालुके लिए एक महापुरुष सृष्टिमें रहता है और तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें एक भी नहीं। वह स्वयं तत्त्व होता है।

इसमें निराश होनेकी कोई बात नहीं है। क्योंकि आप स्वयं ब्रह्म हैं और सब ब्रह्म हो सकते हैं, क्योंकि वस्तुतः ब्रह्म ही है।

इसलिए अपने स्वरूपका विचार करें, जानें। यदि आपको तत्त्वज्ञ किसीको मानना है तो अपने गुरुको मानिये और यदि तत्त्व दृष्टिसे देखना है तो सबको तत्त्वरूप देखिये।

असलमें यदि जने-जने तत्त्वज्ञ होंगे तो कोई बड़ा होगा तो कोई छोटा। कोई अल्पायु होगा तो कोई दीर्घायु। वस्तुतः वह संसार ही होगा।

इसलिये, अपने गुरुको मानिये श्रद्धासे तत्त्वज्ञ और आप स्वयं और आपके गुरु भी सब तत्त्व-स्वरूप हैं, साक्षात् ब्रह्म हैं।

(आनन्द वार्ता : पृ. 23-24)

बाबा! तुम अपने हृदयसे संशयको निकाल दो!

शास्त्रोंमें वर्णन है कि एक मन्त्रका जपकर रहे हों, अगर उस मन्त्रके बारेमें सन्देह हो, यह सच्चा है कि झूठा, तो उस जपका फल नहीं मिलता है।

संदिग्धो हि हतो मन्त्रः।

क्योंकि पूर्ण निष्ठा, पूर्ण विश्वासके साथ हम जप नहीं करते। जिसके साथ चल रहे हों वह आगे चलकर हमको गड्ढेमें तो नहीं ढकेल देगा, यह संशय हो मनमें, तो उसके साथ चलनेका मजा नहीं आवेगा। हर समय जहाँ चौकन्ना रहना पड़े, हर समय सावधान रहना पड़े। यह हमको ठग न ले, यह हमको धोखा न दे दे, तो उसका साथ कैसे निभ सकता है? इसीसे गीतामें संशयको सबसे बड़ा पाप बताया है। **संशयात्मा विनश्यति।**

अगर मनमें संशय बैठ गया तो यह लोक भी नहीं, परलोक भी नहीं, सुख भी नहीं और शान्ति भी नहीं। इसीसे भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तुम्हें संशयको काटना पड़ेगा। **छित्त्वैनं संशयं....**।उठ, खड़े हो जाओ। उपाय करो, साधन करो। तपस्या करो। अज्ञानके कारण तुम्हारे चित्तमें यह संशय है। ज्ञान यही सबसे बड़ा काम करता है कि निःसंशय बना देता है।

मित्रपर विश्वास होता है और शत्रुपर संशय होता है।

अब लो-यह ज्ञान! यह बतावेगा कि जहाँ शत्रु ले जायेगा वहाँ भी मैं ही हूँ। जहाँ मित्र ले जायेगा वहाँ भी मैं ही हूँ। बाबा! तुम अपने हृदयसे संशयको निकाल दो।

ज्ञान कहता है कि जब तुम मरोगे तो भी मैं ही हूँ और जिन्दा रहोगे तो भी मैं ही हूँ। जब मैं तुमसे छूटता ही नहीं हूँ, तो तुम अपने दिलमें यह संशयका साँप क्यों पालते हो? सुखमें, दुःखमें, रणमें, वनमें, शत्रुमें-मित्रमें, नरकमें-स्वर्गमें, वही एक अखण्ड सत्ता परिपूर्ण हो रही है, उससे छूटकर कहीं जा तो नहीं सकते। तो डर काहेका? पापका, पुण्यका, सुखका दुःखका, लोकका, परलोकका? यह तत्त्वज्ञान जो है इन दुविधाओंको भस्म कर देता है। हम जहाँ हैं, जैसे हैं, जो हैं, जब हैं, वही, वैसे ही वहीं, तभी परमात्मासे एक हैं। इतना बड़ा सुख-सौभाग्य, इतना बड़ी शान्ति, यह ज्ञान देता है कि मनसे अज्ञानका अन्धकार मिट जाय!

जीवनको सुखी करनेवाली इससे बड़ी कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए अर्जुन बनो। अर्जुन माने ज्ञान अर्जन करनेवाले। परमात्माके स्वरूपको समझो, ज्ञानार्जन करो।

(विभूतियोग : पृ. 313-14)

श्रीहरिबाबाजी महाराज

इसमें सन्देह नहीं कि श्रीहरिबाबाजी महाराज आज भी ब्रह्मरूपसे, ईश्वररूपसे, आत्मरूपसे और विराटरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उनका स्वरूप अविनाशी है।

उनके जीवनका यह अद्भुत चमत्कार था कि वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते थे। उनका कहना था कि जीवनमें प्रमाद या अनियन्त्रणका प्रवेश नहीं होना चाहिए।

उनके जीवनमें विनय और छोटे बालकका-सा सरलभाव था। छोटे-से-छोटा काम अपने हाथसे कर लेते। बराबर बैठते। निरभिमानताकी तो मानो मूर्ति ही हों। परन्तु जो लोग स्वयं अपने मुँह अपनेको बड़ा मानते हैं, उनकी ओर आँख उठाकर देखते तक नहीं थे। संसार जिनको बड़ा कहता है, उसमें उनकी कोई महत्त्वबुद्धि नहीं थी।

उनके जीवनमें जैसी गुरुनिष्ठा देखनेमें आयी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके गुरु स्वामीश्री सच्चिदानन्द गिरिकी कृपासे बाबाको अडिग ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त हुई थी।

श्रीहरिबाबाजीकी जीवनचर्यामें महापौरुषका प्रकाश था। जब उन्होंने करीब सात सौ गाँवों, वहाँकी गायें और किसानोंको गंगाजीकी बाढ़से ग्रस्त और संत्रस्त देखा तो स्वयं फावड़ा और टोकरी लेकर बाँध (DAM) बनानेके काममें लग गये। झुण्ड-के-झुण्ड लोग जुट पड़े। केवल दस महीनेमें 23 मील लम्बा बाँध तैयार हो गया, जिसके निर्माणमें करोड़ों रुपयोंका खर्च होता। वे सभी वस्तुओंको ईश्वररूप और सभी क्रियाओंको ईश्वरकी सेवा समझते थे और बताया करते थे।

उनमें एक अद्भुत विशेषता यह थी कि वे किसीकी निन्दा सर्वथा नहीं सुनते थे। निन्दा करनेवालेसे कह देते थे कि 'भगवान्‌का नाम लो या बाहर जाकर कोई काम करो।'

उनके जीवनमें यह प्रत्यक्ष देखा गया कि वे सर्वदा ही किसी-न-किसी बड़े महात्माके साथ रहे। बड़ोंकी छत्रछायामें रहनेसे अपनेमें दम्भ, अभिमान आदि दोष नहीं आते। वे किसीके पाँव छूनेमें हिचकिचाते नहीं थे। सबको हृदयसे लगा लेते थे। उन्हें सफाई बहुत पसन्द थी। उनका कहना था कि 'अपने हृदयको भगवन्मय बनाओ। संसारमें एक ईश्वर ही निर्दोष है।'

वे कहा करते थे-'संकल्प पूरा करनेका आग्रह संसारियोंका होता है। साधुके संकल्पका तो टूट जाना ही अच्छा है। जहाँ अपना संकल्प पूरा नहीं होता, वहाँ अपने प्रियतम प्रभुका संकल्प पूरा होता है।'

सदाचारका प्रचार-प्रसार इष्ट होने पर भी वे स्वयं भगवद्-रसास्वादनमें ही अपना समय व्यतीत करना चाहते थे। उन्हें भूत-भविष्य, प्रचार या लोक कल्याणकी कोई वासना नहीं थी। वे जानते थे कि कुत्तेकी पूँछ कितनी भी सीधी करो, वह टेढ़ी-की-टेढ़ी ही रहती है। अपने आपको परमानन्द-प्रभुमें और उनके रसमें मग्न रखना-यही जीवनकी सफलता है।

उनका कहना था कि महात्मा शरीरसे भी अमर होता है। उसका दीखना, न दीखना तो आँख-मिचौनीका एक खेल है। उनकी मुस्कान, उनके अधरोंकी थिरकन, उनकी प्रेमभरी चितवन, उनके कर-कमलोंका स्पर्श, उनकी मीठी-मीठी बातें लोगोंको प्रत्यक्ष-सी दीखती हैं। उनके करुणा-कोमल कर-कमलोंकी छत्रछाया अब भी भक्तजनोंके त्राण-कल्याणमें तत्पर है।

(पावन प्रसंग-पृ. 166-177)

सत्सङ्गका सन्देश!

अब हम आपको गीताका सन्देश सुनाते हैं–जितनी निष्ठासे धन कमानेके लिए एक व्यापारीको लगना पड़ता है; भोग चाहनेवालेको जितनी निष्ठाके साथ भोगकी वस्तु प्राप्त करनेमें लगना पड़ता है; एक धार्मिकको यज्ञ-यागादि करनेमें जितनी वस्तु, जितने सहायक और जितने परिश्रमकी आवश्यकता पड़ती है, वही 1. अर्थोपार्जन वाला परिश्रम, 2. वही भोग-वासनावाली इच्छा और 3. वही धर्मानुष्ठानवाली मर्यादा जब तीनोंको मिलाकर हम परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए साधन करते हैं तब यही साधन लगन बन जाता है। कहते हैं–इनको लगन लग गयी है।

होता यह है कि लौकिक काम-भोगकी पूर्तिके लिए जो वासना होती हैं वह 'प्रेम भक्ति' बन जाती है। जो धर्ममें मर्यादा, नियम, कायदे-कानून होते हैं वे चित्तके दोषोंके निवारणके लिए 'सावधानी' बन जाते हैं। अर्थोपार्जन वाला परिश्रम ही 'लगन' बन जाता है। इसलिए, सब लोग इसमें न आवें तो इसकी फिक्र नहीं करनी चाहिए।

यह आध्यात्मिक जीवन आपको स्वच्छताकी शिक्षा देता है। काम, क्रोध और लोभ नरकके द्वार हैं और आत्माको मलिन करनेवाले हैं, 'तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्' गीता 16.21–इसलिए काम, क्रोध, और लोभ इनका परित्याग करना चाहिए।

'एतैर्विमुक्तः'–इनसे मुक्त होकरके इस मार्ग पर चलिये और अपने कल्याणका साधन कीजिये। हमारे स्वामीजी श्रीयोगानन्दजी महाराज ऐसे कहते थे कि देखो भाई, पहले तुम अकेले थे, तुम्हारी जो मर्जी होती थी, सो तुम करते थे, अब तुम हमारे साथ जुड़ गये हो; अब तुम यदि कोई बुरा काम करोगे तो अकेले तुम्हारी बुराई नहीं होगी, हमारी भी बुराई होगी इसलिए तुम अपने आचरण और अपने चरित्रको पवित्र रखो।

तो, अपने जीवनको स्वच्छ, निर्मल बनानेका जो प्रयास है वह कभी मत छोड़ना-यह सत्सङ्गका सन्देश है, यह आध्यात्मिक सन्देश है, यह गीताका, उपनिषद्का सन्देश है।

यदि कोई आपको जीवनमें मलिनता लानेके लिए उत्तेजित करता है, प्रेरणा देता है कि आप अपने जीवनको मैला बना लो तो, मलिनता तो संसारमें सब कहीं होती है; सत्सङ्गमें भी जाकर यदि आपने वही प्राप्त की तो क्या प्राप्त किया? जीवनकी निर्मलता सत्सङ्गमें ही निखरती है। असलमें भक्ति और ज्ञान-ये दोनों निर्मल चित्तमें ही पूरी तरहसे प्रकट होते हैं। जहाँ चित्तमें पूरी निर्मलता नहीं होती वहाँ ये प्रकट नहीं होते। इसलिए, यह जो आध्यात्मिक मार्ग है, इसका अर्थ यह है कि जैसे आप अपना घर, अपने कपड़े, अपने शरीरको साफ देखना चाहते हैं, वैसे आप अपने मनको भी निर्मल और उज्ज्वल देखना चाहें। यह आध्यात्मिक जीवन निर्मलताका प्रतीक है, उज्ज्वलताका प्रतीक है।

(दैनिक जीवनमें गीता-पृ. 123,124,125)

हमारे मनकी वासना दु:खका कारण!

हमको बचपनमें इस बातका बहुत शौक था कि हम अपने विचारके अनुसार जो बात ठीक समझते थे, वह कभी-कभी बड़े-बूढ़ोंसे भी कह देते थे कि आपको ऐसा करना चाहिए और आपको ऐसा नहीं करना चाहिए। लेकिन, हमने यह अनुभव किया कि हमारे उपदेशसे हमारा अत्यन्त आत्मीय भी अपने स्वभावका परित्याग नहीं करता है, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या करनी है?

उस समय हम साधन-भजन करते थे। अतएव, हमारे चित्तमें ब्रह्मचर्यका संस्कार ज्यादा था। हमने अपने एक अत्यन्त आत्मीय व्यक्तिसे कहा कि 'तुम लाल-मिर्च खाना छोड़ दो।' उसने कहा कि- 'ठीक है, आपकी बात मान ली।' उसने महीने-दो-महीने लाल मिर्च खाना छोड़ दिया और फिर खाने लगा। अब हमने उसको सौगन्ध दिलवायी कि 'अब लाल मिर्च नहीं खायेंगे।' उसने कहा कि 'जीवनमें लाल मिर्च कोई ऐसी चीज नहीं है कि जिसके बिना मनुष्य जिन्दा न रहे। लो! मैंने शपथ ली कि अब लाल मिर्च नहीं खायेंगे।' शपथ लेकर दो-तीन महीने लाल-मिर्च खाना छोड़ दिया और फिर खाना शुरू किया।

अबकी बार हमने उससे कहा कि जहाँ अपने आप मिर्च परसी हुई आजाये, वहाँ खा लिया करो; लेकिन माँग मत करो कि हमको मिर्च दो। जब तुम खाते समय माँगते हो कि हमको लाल मिर्च दो, तब उससे हमको संकोच होता है।

देखो! ये सब प्रयोग हैं भला! एक छोटी-से-छोटी चीज, लाल मिर्च खाना भी नहीं छूट सका। और तो और, वह माँगना भी नहीं छूट सका। उस दिनसे हम उस व्यक्तिको कुछ भी शिक्षा नहीं देते हैं। हम अपने आपसे ही कहते हैं कि 'हमारे मनमें शिक्षा देनेकी जो वासना है, वही हमारा दु:ख है। दूसरेका निरुद्ध होना या न होना तो उसके स्वभाव पर निर्भर करता है।'

पहले हमने 'पारसभाग'-'पारसमणि'में पढ़ा था कि यदि कुत्तेकी पूँछ बारह वर्षतक बाँसकी नलीमें सीधी करके रखो और फिर उसमें-से निकाल दो, तो वह फिर टेढ़ी-की-टेढ़ी होती है। लोग अपनी गतिसे चलते हैं। सबकी अपनी-अपनी स्वतन्त्र गति होती है। यह जो दूसरोंको सुधारनेकी समस्या है, यह भी मनुष्यकी नजरको एक व्यक्ति पर या एक परिवार पर या एक सम्प्रदाय पर सीमित कर देती है। अपने दृष्टिकोणको बहुत उज्ज्वल, बहुत निर्मल, बहुत व्यापक बनानेकी जरूरत है।

(आनन्द रत्न-पृ. 167,168,169)

भजन करो

एक व्यक्ति बहरा था। महात्माके पास जाता था। महात्माने कहा-'भजन करो!' बहरा बोला-'मेरी पत्नी मुझसे बहुत प्रेम करती है। मेरे पुत्र और पुत्रवधूका भी मुझसे बहुत प्रेम है। उन्हें मैं कैसे छोड़ दूँ?

महात्माने कहा-'दिखा दें कि ये सब तुमसे कैसा और कितना प्रेम करते हैं?' बहरा बोला-दिखा दीजिये।'

महात्माने कहा-'हम तुम्हारा कान ठीक किये देते हैं; किन्तु घर जाकर किसीसे बतलाना मत। बहरेके समान ही व्यवहार करना!'

अब वह घर लौटा। पानी माँगने पर पुत्रवधू बड़ा आदर दिखाती जल ले आयी; किन्तु लौटते हुए पतिसे बोली-'बुड्ढा मरता नहीं है। दिनभर दौड़ाया करता है।' पुत्र बोला-'धन पर सर्पके समान जमकर बैठा है। यह मरता, तो हम लोग कुछ खुलकर रहते।' पत्नी बोली-'कहते तो ठीक ही हो। इन्हें तो अब भगवान्‌का घर देखना चाहिए।

उस व्यक्तिने एक ही दिन-रातमें देख लिया कि उसे कोई नहीं चाहता है। सब धनके कारण उसका बनावटी सत्कार करते हैं।

अब वह पुनः महात्माके पास आया और बोला-'महात्माजी, आपने मुझे सब दिखा दिया। संसारमें सब स्वार्थके संगी हैं। अब मुझे आपका उपदेश-आदेश समझमें आया कि 'भजन करो'।

दृढ़-निश्चय

आप अपने मनमें यह बात बैठा लो कि दृढ़-निश्चयमें भगवान्‌का निवास है। यदि आप तार्किकोंके तर्कमें पड़ोगे, तो कहेंगे शालिग्रामसे नर्मदेश्वर श्रेष्ठ हैं। यदि आप नर्मदेश्वरकी पूजा करोगे, तो श्रीरामको शिवका आराध्य बतावेंगे। यदि आप श्रीरामको अपनाओगे, तो श्रीकृष्णको षोडश कलापूर्ण कहेंगे। यदि आप श्रीकृष्णको पकड़ोगे, तो कहेंगे कि श्रीकृष्ण तो अवतार हैं, अवतारी तो श्रीनारायण हैं। इस प्रकार निर्गुण निराकारादिमें बुद्धिको भटकाते फिरेंगे, तार्किक आपको कहीं भी टिकने नहीं देंगे। अतएव, आप तर्कके जालमें मत पड़ो। गुरु-शास्त्रके अनुसार जहाँ आपकी निष्ठा हो गयी है, वहीं जमे रहो। निष्ठाका परिपाक होकर रसायन बन जाता है। यदि निष्ठा कच्ची रहे, तो विष होती है। यदि आप बदलते रहोगे, तो निष्ठा कभी पकेगी ही नहीं। इसलिए, भक्तके लिए दृढ़-निश्चयी होना आवश्यक है। किसीका कोई तर्क आपकी बुद्धिको विचलित न कर सके-यही निश्चयकी दृढ़ता है।

चक्कीके दो पाट

यह असत्य नहीं है कि हमारे मनमें किसीके प्रति गुस्सा आ जाता है। कभी-कभी काम आ जाता है; परन्तु इसके लिए दो बात पर ध्यान रखना चाहिए। मनमें काम-क्रोध आ गया, आ गया-लेकिन बुद्धिसे उसका समर्थन मत करो और क्रिया पर्यन्त उसको जाने मत दो।

काम-क्रोधका स्वभाव यह है कि वे आनेके बाद मालूम पड़ते हैं। जब पहले आ जाते हैं-मनमें तब ज्ञान होता है कि आ गये; आनेके पहले नहीं मालूम पड़ते। अच्छा, आ गये तब? तब आप उनको बिल्कुल पीस दीजिये।

कैसे पीसें? कि चक्कीके दो पाटसे। चक्कीके वे दो पाट कौन-से हैं?

एक तो क्रियामें उनको मत उतरने दीजिये। माने वैसा होने मत दीजिये-क्रोध आया तो गाली मत दीजिये, काम आया तो व्यभिचार मत कीजिये, लोभ आया तो चोरी-बेईमानी मत कीजिये-सपनेकी तरह मनमें आया और वहीं उसको मिट जाने दीजिये।

दूसरी बात है कि बुद्धिके द्वारा समर्थन मत कीजिये। ऐसा मत सोचिये कि यह कोई अच्छी बात मनमें आयी। ऐसा सोचिये कि एक बुरी बात मनमें आ गयी। ध्यान लगा लीजिये, ब्रेक लगा दीजिये- उनपर वारकका प्रयोग कीजिये।

यह इसी जीवनके लिए है। यदि आप साधक हैं तो नारायण, दो बात इसके लिए है-काम-क्रोधादिको चित्तमें आनेसे रोकना किसीके वशकी बात नहीं है, परन्तु आनेके बाद क्रिया पर्यन्त जाना- यह वशकी बात है। मनमें किसीपर गुस्सा आना दूसरी चीज है, हाथ आपके काबूमें है-आपके चलानेसे हाथ चलता है, तो गुस्सा आ गया, दिलमें तो आ गया, लेकिन हाथ पर जो आपका नियन्त्रण है उसको मत छोड़िये; और दूसरी बात है बुद्धिसे उसको सहयोग मत दीजिये! **इसमें एक पाट बुद्धिका है और एक पाट क्रियाका है।**

अपने शिष्य पर क्रोध किया जा सकता है, अपने पुत्र पर भी क्रोध किया जा सकता है, उसको ठीक रास्ते पर चलानेके लिए, उसकी भलाईके लिए। यदि उसकी भलाई की भावना हृदयमें है तो क्रोध, क्रोध करनेवालेके लिए अहितकर नहीं होगा। क्योंकि जब स्वयं उसके मनमें हितकी भावना है और जब वह स्वयं हितको पकड़े हुए है कि हम जिसपर क्रोध कर रहे हैं उसका हित हो तो क्रोध करनेवालेका अहित नहीं हो सकता है! और इसप्रकार हम अपने कामको और क्रोधको एक ओर बुद्धिसे विचारके द्वारा और दूसरी ओर क्रिया-पर्यन्त न जाने देकर अपने वशमें कर सकते हैं।

(दैनिक जीवनमें गीता : 190, 191, 201, 202)

सारी सृष्टि आपके लिए मंगलमय हो जायेगी!

हमारे सनातन धर्मके अनुसार जीवनमें कभी अहिंसा भी आती है और कभी हिंसा भी। जो विहित हिंसा है, वह हिंसा नहीं होती है–यह सनातन धर्मका नियम है। लोगोंको (अपराधीको) फाँसी पर चढ़ानेकी आज्ञा संविधान देता है; माने इसमें हितकी प्रधानता है। परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिए जो चित्तकी स्थिति है उसका नाम तो अहिंसा है, और व्यवहारमें हिंसा और अहिंसा दोनों रहती है।

तो भाई! किसीको जानबूझकर दुःख पहुँचानेकी प्रवृत्ति मनमें न आवे। भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिए–'हे प्रभु! हमसे अनजानमें भी किसीको दुःख न पहुँचे', क्योंकि यह जो अहिंसाकी स्थिति है, यह भगवत्कृपासे ही जीवनमें आती है।

गीता 10.5 में बताया कि अहिंसाका भाव भगवान्की ओर से आता है। भगवान्की कृपा हमारे हृदयमें प्रकट हुई है, हमने उसको पहचाना, यह कब समझना चाहिए? कि यह तब समझना चाहिए, जब हमारे मनमें किसीको दुःख पहुँचानेका ख्याल स्वप्नमें भी उदय न हो।

एक थे राजा। वे अपनी राजधानीमें कभी-कभी निकला करते थे। एक दुकानके सामने जब आते थे, तब उनके मनमें आता था, इस दुकानदारको पकड़कर फाँसीकी सजा दें। जब-जब आवें, तभी-तभी यही मनमें आवे। एक दिन उन्होंने दुकानदारको अपने दरबारमें बुलाया और पूछा कि भाई! हमको तुम्हींको देखकर यह मनमें क्यों आता है? दुकानदार बोला–महाराज! हमारे अपराधको आप क्षमा करें। बात यह है, कि मेरी चन्दनकी लकड़ीकी दुकान है और चन्दन बाजारमें बिक नहीं रहा है। मैं सोचता हूँ कि राजा जिस दिन मर जाय, उस दिन हमारी दुकानका सब माल बिक जायेगा।

यह तो बराबरीकी बात है भाई! तुम्हारे मनमें हिंसा आ गयी, तो सामनेवालेके मनमें भी हिंसा आ गयी। तो जब तुम्हें कोई गाली देता है–तो अपने मनमें देखो; हमसे कोई गलती तो नहीं हुई?

असलमें, संसारको अपनेसे अलग एवं सच समझना ही सबसे बड़ी गलती है, अविद्या है। और फिर इस मायामय संसारमें यह अच्छा है, यह बुरा है–ऐसा मानना दूसरी गलती है। फिर, किसीको अच्छा मानकर फँस जाना, और किसीको बुरा मानकर उससे नफरत करना, यह तीसरी गलती है।

साधक वह होता है, जो अपने दिलके अन्दर छिपे हुए दोषोंको (गलतियोंको) निकाल-निकालकर उसको मिटाता है। और संसारी वह होता है जो दूसरोंमें दोष देख-देखकर उसकी गलती निकालता है।

देखो भाई! यदि आप समझते हो कि हम दूसरोंकी गलती दूर कर सकेंगे तो आप भूलमें हो। इतनी बड़ी दुनिया, जिसमें इतने लोग, उनकी इतनी गलतियाँ; उनको दूर करनेमें लग जाओगे; तो तुम स्वयं गलत हो जाओगे। अनादि कालसे चली आयी इस सृष्टिमें न जाने कितने अवतार, सन्त, फकीर, आचार्य, मजहब और पन्थ हुए हैं–दुनियामें कुछ गलती कम हुई है? बाबा, आजतक यह कुत्तेकी पूँछ सीधी नहीं हुई।

यदि आप अपने दिलसे अपनी गलतियोंको निकाल लो तो सारी सृष्टि आपके लिए मंगलमयी, भगवद्मयी हो जायेगी। और दुनियाको शुद्ध करने जाओगे, तो बस, किसको-किसको समझाओगे? तुम मर जाओगे और दुनिया नहीं सुधरेगी–यह दो टूक बात है।

(दैवी सम्पद् योग : पृ. 39, 40, 41, 42, 43)

सत्य मनुष्यकी रक्षा करता है!

परमात्मा अविनाशी सत्य है और दुनिया विनाशी सत्य है। परमात्माको वेदान्ती लोग सत्यके रूपमें जानते हैं और दुनियाको मिथ्याके अथवा मायाके रूपमें जानते हैं। अब यदि आपको अपने जीवनमें सत्य धारण करना है, तो परमात्माको, सत्यको पकड़नेकी कोशिश करो और असत्यकी उपेक्षा करो।

असत्यको पकड़ना शुरू कर दोगे, तो सत्य छूट जायेगा तुम्हारे हाथसे। इसलिए असत्यके प्रति त्यागका भाव होना आवश्यक है। जो छूट रहा है, उसको छूट जाने दो; जो आ रहा है, उसको आ जाने दो। असत्य उपेक्षित अवस्थामें रहे, आवे-जावे। 'साधु, आवे-जावे सो माया!'

सत्यके लिए थोड़ा त्याग चाहिए, थोड़ी हिम्मत चाहिए, थोड़ी-सी तकलीफ उठानी पड़ेगी। जो तकलीफ नहीं उठा सकता, वह सदाचारी भी नहीं हो सकता। बात-बातमें, 'कौन करे, इतनी मेहनत कौन करे', तो नहीं होगा। अपने अन्दर थोड़ी सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, गाली-अपमान सहनेकी शक्ति चाहिए।

एक था डाकू। उसका नाम था राकब। एक दिन वह किसी महात्माके पास गया और बोला- महाराज, और तो कुछ हमसे होगा नहीं, कोई एक बात आप ऐसी बता दो-जिसका हम पालन करें। महात्माने बताया-अच्छा, तुम सच बोला करो। वह बेचारा बावरा डाकू, उसने महात्माकी बात मान ली।

अब उसको राजाका एक घोड़ा चुराना था। घुड़सालमें गया। पहरेदारोंने पूछा तुम कौन हो? उसने कहा-डाकू! उन्होंने सोचा, यह महाराजका आदमी है; डाकू अपनेको डाकू कभी नहीं बताता। वह घुड़सालमें घुस गया और महाराजका जो बढ़ियासे बढ़िया सफेद घोड़ा था, उसको चुरा लिया। उसपर चढ़कर भाग निकला। बादमें पता लगा। फौजने, पुलिसने पीछा किया। वह भागते-भागते एक ऐसी जगह पहुँचा, जहाँ सत्सङ्ग हो रहा था। वहाँ जाकर घोड़ेको पेड़से बाँध दिया, खुद सत्सङ्गमें जाकर बैठ गया।

आकर सिपाहियोंने पकड़ा उसको; कौन हो? मैं डाकू हूँ। डाकू हो तो क्या डाका मारा है? हमने महाराजका घोड़ा चुराया है। अब पुलिसवाले सोचने लगे, डाकू होता तो अपनेको डाकू क्यों बताता? यह तो कोई महात्मा मालूम पड़ता है। इसने सत्सङ्गमें बैठे-बैठे जान लिया है कि महाराजका घोड़ा चोरी हो गया है। सो उसको प्रणाम करते हुए पूछा-महाराज! आप इतने अन्तर्दर्शी हैं तो वह घोड़ा कहाँ है? बताइये, भला! वह देखो, पेड़से बँधा है।

अब वे पेड़में बँधा हुआ घोड़ा देखने गये। तो घोड़ा सफेद न दिखे, काला दिखे। वे बोले, यह तो महाराजका घोड़ा नहीं है; उसको छोड़कर चले गये। सत्यकी महिमा इतनी होती है! माने सत्य जो है, वह मनुष्यकी रक्षा करता है।

(दैवी सम्पद्योग-पृ. 22,50,51,52)

जो भी कर्म करो, आदरपूर्वक करो!

मनुष्य यदि स्वार्थ ही स्वार्थ देखता हो, भोगसे रहित एवं वासनासे रहित स्थितिकी कल्पना ही न करता हो, तो क्या वह ईश्वरको समझ सकेगा? वह तो समझेगा कि ईश्वरने भी किसी प्रयोजनसे ही सृष्टि की है। वह दोष दृष्टिसे मुक्त नहीं होगा। जो स्वयं निष्काम कर्म नहीं कर सकता, वह दूसरेको भी निष्काम भाव नहीं समझ सकता।

एक दिन चीलोंका झुण्ड एकत्र था। वे सब मांसयुक्त हड्डियों पर छीना-झपटी कर रही थीं। ऊपरसे हसोकी पंक्ति निकली। चीलोंको लगा कि हंस बलवान् हैं, हमारी हड्डियाँ वे छीन न लें। वे अपने पंजों और चोंचमें हड्डियाँ लेकर भागने लगीं।

हंसोंने देखा तो बोले-'तुम सब डरो मत। हम तो मान-सरोवर-निवासी, कमलनाल और मोती चुगनेवाले हैं।' लेकिन चीलें भाग गयी। उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ कि हंस उनसे उनका आहार नहीं छीनेंगे।

निष्काम कर्म न करनेवाला समझता है-जैसे मैं प्रत्येक कर्म स्वार्थसे ही करता हूँ, वैसा ही सब करते हैं। ऐसे लोगोंकी दृष्टिमें, संसारमें कोई सत्पुरुष नहीं है। सब स्वार्थी हैं। सब भोगी हैं।

जब व्यक्ति निष्काम कर्म करने लगता है, तब सोचता है-'जैसे मैं बिना स्वार्थ करता हूँ, दूसरे भी मेरे समान निःस्वार्थ-कर्मी हो सकते हैं!

जो निष्काम मार्ग पर नहीं चलता, कोई उत्तम काम वह नहीं कर सकता।

कई लोग कार्यमें दोष भी देखते जाते हैं और उसे करते भी जाते हैं। अरे, दोष दीखता है तुम्हें; तो उस कामको क्यों करो?

अर्थात् जो भी कर्म करो, सब आदरपूर्वक करो।

काम करते हुए भी जो उसकी निन्दा करते जा रहे हैं, उसमें दोष बतला रहे हैं, वे तो जीवित ही नरकमें हैं, मरकर तो जायेंगे ही।

जो श्रद्धा नहीं करते, वे विवेक-बुद्धिसे रहित हैं। अश्रद्धालु होना-अपने बड़ोंके अनुभवसे लाभ न उठाना मूर्खता है।

जैन महात्माओंने कहा-'जिसमें श्रद्धा नहीं है, उसने ज्ञानको ही तिलाञ्जलि दे रखी है।'

अन्यथा-

मुनिन प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।।

किसी वृद्धने युवकसे कहा-'अफीम खानेसे नशा होता है।' युवक-'मैं खाकर देखूँगा।' अविवेकी होनेसे जो ज्ञान, जो अनुभव आज अभी मिल रहा था, उसकी प्राप्तिमें देर हो गयी एवं श्रम तथा पीड़ा और भोगनी पड़ेगी।

(कर्मयोग-पृ. 205,206,207)

मन एक असाधारण भूत

एक कहानी सुनाते हैं आपको। एक आदमीने एक भूत सिद्ध किया। यह एक कल्पित बात है। भूतने उस आदमीसे कहा-'तुम जबतक हमको काम देते रहोगे, तबतक तो हम तुम्हारी आज्ञाका पालन करेंगे और यदि तुम मुझसे काम नहीं लोगे तो हम तुमको खा जायेंगे।' उस आदमीने बताया-'अमुक जगहसे, विलायतसे यह ले आओ, वह ले आता। भूतको तो चाहिए काम। अब भूत उस आदमीके पीछे पड़ा। जितना काम बताया जाय, वह दो मिनटमें, पाँच मिनटमें, दस मिनटमें खत्म। फिर सामने आ खड़ा हो कि काम बताओ।

अब तो बेचारा आदमी घबड़ाया कि यह तो हमको खा जायेगा। वह एक महात्माके पास भागा-भागा गया। महात्माने कहा-'अच्छा, तुम घबड़ाओ मत।' उस भूतसे कहो कि एक इतना लम्बा बाँस लावे जिससे ऊँचा बाँस दुनियामें और कोई न हो।' भूतसे कहा गया और भूत ढूँढते-ढूँढते एक बाँस ले आया। तब महात्माके अनुसार उसने कहा-'इसको ऐसा गाड़ो कि फिर यह उखड़े नहीं।' भूतने गाड़ दिया। महात्माने कहा-'अब इस भूतसे कहो कि जबतक हम दूसरी आज्ञा न दें तबतक तुम इस बाँसपर चढ़ो और उतरो।' अब इससे भूतका डर तो बिलकुल मिट गया।

आपका यह मन कोई साधारण भूत नहीं है, यह असाधारण भूत है। आप इसको एक आलम्बन, एक बाँस दीजिये। जिस समय आप इससे कोई काम न ले रहे हों, उस समय आपका यह मन नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे, आपके बाँसपर, आपकी पीठकी रीढ़में, आपकी सुषुम्नामें, आपके षट्चक्रमें, आपके भगवान्‌में (नाम-जपमें), आपके वृन्दावनमें, आपके गोलोकमें, आपके वैकुण्ठमें, आपके दिव्यधाममें, आप उस श्यामसुन्दरमें विचरें, चढ़ें और उतरें।

जब दुनियाका काम आये तब कर लो। जब जहाँ यह मन बेकार होगा, वहाँ तुम्हें अस्वस्थ कर देगा और ले जाकर कहीं-न-कहीं गड्ढेमें, बेकार वस्तुमें, निकम्मेपनमें डाल देगा। इसलिए अपने हृदयमें एक ऐसा आलम्बन रखो कि घूमने-फिरनेके बाद अपना मन काम करने लग जाय।

(योगः कर्मसु कौशलम्-पृ. 50-51)

✽✽✽

सुखका मार्ग-इच्छाकी शान्ति

पृथ्वीमें जितने भी धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं–वे सब-के-सब मिलकर भी उस पुरुषके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जिसका चित्त कामनाओंसे ग्रस्त हो रहा है। विषयोंके भोगनेसे भोग- वासना कभी शान्त नहीं हो सकती। बल्कि जैसे घीकी आहुती डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोग वासनाएँ भी भोगोंसे प्रबल हो जाती हैं। भागवत-9-19-13/14

लोक-परलोक दोनोंके ही भोग असत् हैं, ऐसा समझकर न तो उनका चिन्तन करना चाहिए और न भोग ही। समझना चाहिए कि उनके चिन्तनसे ही जन्म-मृत्युरूप संसारकी प्राप्ति होती है और उनके भोगसे तो आत्मनाश ही हो जाता है। वास्तवमें इनके रहस्यको जानकर इनसे अलग रहनेवाला ही आत्म ज्ञानी है। 9-19-19/20

यदि संसारमें कोई चाहे कि हम अपनी इच्छाओंको पूर्ण करके सुखी हो लेंगे, शान्त हो लेंगे! तो उनकी यह चाह बिल्कुल झूठी है! इच्छाएँ पूर्ण होकर कभी शान्ति नहीं दे सकतीं। इच्छाएँ तो निवृत्त होकर ही शान्ति दे सकती हैं।

समझो, दो आदमी कहीं यात्रा कर रहे हैं और दोनोंमें-से एकको प्यास लगी और एकको नहीं लगी। जिसको प्यास लगी, उसने गाँवमें-से लोटा-डोरी माँगा, कुएँमें-से पानी खींचा और पीया। जिसको प्यास नहीं लगी, उसको बिना किसी प्रयत्न, साधनके वह अवस्था पहलेसे ही प्राप्त है, जो अवस्था प्रयत्न करनेवालेको बादमें प्राप्त हुई।

कहनेका अभिप्राय यह है कि इच्छाकी निवृत्ति और इच्छाकी पूर्तिके दो मार्ग हैं। अब देखो, तुम यदि साधनाके मार्गमें चल रहे हो, तो अपनी इच्छाओंको पूर्ण करके सुखी होते हो कि अपनी इच्छाओंको निवृत्त करके सुखी होते हो! तुम्हें रस कहाँ आता है? स्वाद कहाँ आता है? इसपर विचार करो! तुम्हें अपनी इच्छाओंको पूरी करके स्वाद आता है, तो तुम इच्छाओंके बन्धनमें बँधे हुए हो और इच्छित पदार्थों और व्यक्तियोंके बन्धनमें बँधे हुए हो। और यदि इच्छाकी निवृत्तिसे रस आता है, तब तो संसारमें बिना फँसे ही तुम सुखी हो सकते हो!

नारायण! सबको जो सुख मिलता है, वह इच्छा शान्त होनेसे सुख मिलता है, इच्छा बनी रहनेसे किसीको सुख नहीं मिलता है। इच्छा-पूर्ति जिनकी होती है, उनको भी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होनेपर इच्छा जब शान्त होती है, तब सुख मिलता है और जो लोग इच्छाको निवृत्त करते हैं, उनकी भी इच्छा जब शान्त होती है, तब उनको सुख मिलता है। सुखका मार्ग इच्छाकी शान्ति है, इच्छाकी पूर्ति नहीं है। इच्छाको नियन्त्रित करना पड़ेगा! इसीलिए हमारे जीवनमें साधनकी आवश्यकता है भला!

कहनेका अभिप्राय यह कि तुम अपने गुरुको गुरु मानो; अपने इष्टको इष्ट मानो; अपने मन्त्रको मन्त्र मानो और अपने जीवनमें-कर्ममें नियन्त्रण; भोगमें नियन्त्रण, इन्द्रियमें नियन्त्रण, इच्छाओंमें नियन्त्रण, स्थितियोंमें नियन्त्रण और सुख एवं दुःखमें नियन्त्रणकी स्थापना करो और इस प्रकार अपने जीवनको नियन्त्रत करते-करते इस नियन्त्रणसे पृथक् होनेमें समर्थ हो सकोगे।

✽✽✽

(माण्डूक्य (आ. प्र.-नवीन सं.) पृ. 527, 528, 529)

बुराई छोड़नेके लिए अच्छाईको पकड़ें

अब यह देखो, एकने अभी पूछा है कि बुराई छोड़नेकी कोशिश करते हैं तो वह और ज्यादा याद आती है और भक्ति अगर छोड़ देते हैं तो वह बिलकुल दूर हो जाती है।

यह एकदम सच्ची बात है, बात अनुभवकी है। तो इसका कारण यह है कि अनादि कालसे हमारे जो संस्कार हैं, उसमें बुराई भरी हुई है, जब हम उसको छोड़कर हटने लगते हैं, तब वह हमको पकड़ती है कि जन्म-जन्मकी मैं तुम्हारी साथिन, मेरी वासना बनी हुई है, मेरी छाप लगी हुई है तुम्हारे दिल पर, तुम छोड़ना चाहते हो तो ठीक, लेकिन मैं तुमको नहीं छोड़ना चाहती भला!

बुराई आती है स्वभावसे और भक्ति स्वभावसे नहीं आती, उसको करना पड़ता है भला! उसका अभ्यास करना पड़ता है। सात्त्विक सुखके लिए अभ्यास करना पड़ता है, तामसिक और राजसिक सुखके लिए अभ्यास नहीं करना पड़ता।

भक्ति तो हमें अभ्यास करके शास्त्र-सम्प्रदायके अनुसार, गुरुसे सीख करके, अपने जीवनमें कसकर बैठानेकी है। इसलिए उसको छोड़ दोगे तो दूर हो जायेगी। और, बुराई तो पहिलेसे ही जीवनमें बैठी हुई है-ऐसी स्थितिमें बुराई छोड़नेका अभ्यास दृढ़तासे करना पड़ता है।

एक बात इसके सम्बन्धमें ध्यानमें रखना कि हमने बुराई छोड़ दी-ऐसा कह देनेसे बुराई नहीं छूटती या हम बुराई छोड़नेका संकल्प करते हैं तो संकल्प करने भरसे बुराई नहीं छूट जाती।

असलमें बुराई छोड़नेका उपाय है-अच्छाईको पकड़ना। एक आदमी जुआ खेलता है, ताश खेलता है, वह कहता है कि हमने संकल्प किया कि छोड़ दिया। कि अच्छा छोड़ दिया! बहुत अच्छा किया!!

लेकिन जब दूसरे दिन वह खाली बैठता है और कोई काम नहीं रहता, तो वह जुआ खेलनेकी वासना बारम्बार उठकर उसको परेशान करती है और वह फिर जुआ खेलने लगता है। तो जुआ छोड़ देनेसे ही जुआ नहीं छूटेगा। तब क्या करना? वह जो जुआ खेलनेका समय था, उसको दूसरे अच्छे कामसे भरना। उस समय भगवान्की पूजा करनी है, उस समय इतनी माला फेरनी है, उस समय गरीबोंको इतना दान करना है, उस समय मन्दिरमें जाकर दर्शन करना है। वह दुनियाके लिए तुम्हारे पास जो समय निश्चित था, जब उसे दूसरे अच्छे कामसे भर दोगे, तब जुआ खेलना छूटेगा। अब यदि समयको अच्छे कामसे भरोगे नहीं, अच्छाईका सहारा नहीं लोगे, तो केवल छोड़ देनेसे वह नहीं छूटेगा। उसके लिए बढ़िया कामका सहारा लेना पड़ेगा, यह उसके छोड़नेका तत्त्व है भला!

(ज्ञान-विज्ञानयोग पृ. 184-185)

विलक्षण चिकित्सा

राजा निमिने सर्वप्रथम नवयोगेश्वरोंसे 'आत्यन्तिक क्षेम' सम्बन्धी जिज्ञासा की। आत्यन्तिक माने जिससे बढ़कर दूसरा कोई न होवे। 'क्षेम' माने परम कल्याण। नौमें-से 'कवि' नामके महात्माने कहा-

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः।। श्रीमद्भागवत (11.2.33)

राजन्! भक्तजनोंके हृदयसे कभी दूर न होनेवाले अच्युत भगवान्‌के चरणोंकी नित्य निरन्तर उपासना ही इस संसारमें आत्यन्तिक क्षेम है और सर्वथा भयशून्य है। ऐसा मेरा निश्चित मत है। देह, गेह एवं तुच्छ असत् पदार्थोंमें अहंता एवं ममता हो जानेके कारण जिन लोगोंकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासनासे पूर्णतया निवृत्त हो जाता है।

कभी किसीको बताना हो तो-(1) रोगका कारण क्या है? (2) रोगका स्वरूप क्या है? (3) रोगकी औषधि क्या है? तथा (4) रोग-निवृत्तिका लक्षण क्या है-ये चार बातें बतानी चाहिए। तो महात्मा कवि चार बात बताते हैं-(1) संसारके जीवके रोगका कारण क्या है? बोले-'असदात्मभावात्' असत् वस्तुमें आत्मभाव होना, यह कारण है। जो चीज है ही नहीं-मरनेवाला है, धोखा देनेवाला है, क्षण-क्षण बदलता जा रहा है और उसीपर भरोसा करके, उसीको मैं-मेरा मानकर तुम बैठ गये, तो दुःख ही मिलेगा। यह जो परिच्छिन्न स्थूल, सूक्ष्म, कारण देहको अर्थात् शरीर, मन आदिको जिसे तुम मैं-मेरा करके बैठे हुए हो, यह असत् है माने दुष्ट है-इनका कोई ठिकाना ही नहीं है कि कब चले जायेंगे-यही रोगका कारण है।

(2) रोगका स्वरूप क्या है? अर्थात् आपको तकलीफ क्या होती है? बोले कि महाराज हमको तो कोई तकलीफ नहीं होती। आप ही कहते रहते हो कि तकलीफ है, तकलीफ है! हम तो मजेसे कमाते हैं, खाते हैं, भोगते हैं। अब आप जब कथा सुनाने लगते हैं, तब यह सिद्ध करते हो कि हम बड़े दुःखी हैं। तो, हमको कभी-कभी शंका हो जाती है कि हम सचमुच दुःखी हैं क्या?

तो रोगका स्वरूप है 'उद्विग्नबुद्धेः'-तुम्हारी बुद्धिमें जो उद्वेग है; जैसे किसी पागल आदमीको घरमें बन्द कर दो और वह बार-बार उचक-उचककर देखे कि किस रास्तेसे कूद पड़े, वैसे ही तुम्हारे हृदयमें जो तुम्हारी बुद्धि बन्द है, वह कभी आँखके रास्ते, कभी नाकके रास्ते, कभी जीभ तो कभी कानके रास्ते बाहर भागना चहती है। अगर घरमें उसको सुख शान्ति होती तो यह बाहर भागनेके लिये हर समय उतावली क्यों रहती? तुम्हारी बुद्धि पागल हो गयी है-यह रोगका स्वरूप है।

(3) अब इसकी दवा क्या है? बोले कि दवा है 'अच्युतस्य पादाम्बुजोपासनम्': माने हृदयमें चलो और वहाँ जो अच्युत (भगवान्) बैठे हुए हैं, उनका जो चरणारविन्द है, उसकी उपासना करो माने भगवद् भावमें स्थित हो जाओ। तुम्हारे हृदयमें जो कोमल-कोमल रस, सुगन्धित, असंग भगवद् पदारविन्द हैं, उनको पकड़ो। जैसे औषधियोंका रस निचोड़कर लेते हैं, वैसे यहाँ पदाम्बुजका रस-पान करो। यह रोगकी दवा है।

(4) स्वस्थका लक्षण क्या है? लक्षण यह है कि फिर कोई डर नहीं रहेगा। 'अकुतश्चिद्भयम्' एवं 'विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः'-जो तुम इस उपासनाको करोगे तो सर्वात्मना भयकी निवृत्ति हो जायेगी। फिर कोई डर नहीं रहेगा। पहली बात-किसी भी ओर से भय नहीं रहेगा। दूसरी बात-सम्पूर्ण रूपसे भयकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार बुद्धिके पागलपनेके रोगकी निवृत्तिके लिए अच्युतके पादाम्बुज की उपासना ही वास्तवमें आत्यन्तिक क्षेम है।

(मुक्ति स्कन्ध : पृ. 70 से 74)

अहंकी पूजा

अहंकी पूजा : हम जितनी भी पूजा करते हैं, सब घूम-फिरकर अपनी ही पूजा होती है। आपको हम एक बात सुनाते हैं—महात्मा गाँन्धीका जब देहान्त हुआ, तब हम जबलपुरमें थे। रेडियो पर ही हमने उनके देहान्तका समाचार सुना। बहुत दुःख हुआ। हमारी धार्मिकसभा शोक-सभामें बदल गयी। सबने श्रद्धाञ्जलि दी।

दूसरे दिन अखबारमें हमने गाँन्धीजीके सम्बन्धमें पूरे पन्नेकी (एक पृष्ठकी) कविता पढ़ी। शोक-संवेदनाकी। बहुत ही बढ़िया कविता थी। परन्तु, उसको पढ़कर हमारा दिमाग उलट गया। कभी-कभी खोपड़ी उल्टी हो जाती है। मैंने सोचा जिस कविने, गाँन्धीजीकी मृत्युपर यह कविता लिखी है, उसको यह कविता लिखकर सुख मिला होगा कि दुःख हुआ होगा? उसे तो गौरवका अनुभव हुआ होगा कि मैंने गाँन्धीजीके बारेमें इतनी उत्तम, इतनी श्रेष्ठ कविता लिखी है! वह गाँन्धीजीपर श्रद्धापुष्प नहीं चढ़ा रहा था, बल्कि वह अपनी उत्तम कविताका सुख अनुभव कर रहा था।

तो, यह जो अहंकी पूजा है, यह ब्रह्मज्ञानके पहले छूटती-मिटती नहीं है। जबतक आप अपनेको अद्वितीय परब्रह्म परमात्माके रूपमें साक्षात् अपरोक्ष अनुभव नहीं कर लेंगे, तबतक आप ईश्वरको भी अपना सेवक बनाकर ही रखनेका विचार रक्खेंगे, कि यह हमारे मनके अनुसार काम करे। जो हमारी बुद्धि ठीक समझती है, सो ही ईश्वरको करना चाहिए। आज गर्मी डालनी चाहिए; आज ठण्ड डालनी चाहिए; आज वर्षा करनी चाहिए! वह तो ईश्वर आपसे जरा छिप गया, नहीं तो सलाह देते-देते ही आप ईश्वरका कान खा जाते!

अपर्याप्त साधन

हम संसारकी वस्तुओंसे सुख चाहते हैं और उस सुखकी प्राप्तिके लिए जो साधन करते हैं, वह पर्याप्त नहीं है। इसे यों समझें कि हमारे पास एक बहुत बड़ा तालाब है—'भोपाल का ताल' और हम उसके किनारेसे एक दूब लेकर पानीमें डुबोते हैं और उस पानीको बाहर छिटक देते हैं, फेंक देते हैं और कहते हैं कि देखो, हम अपने तालाबका जल कितनी उदारता से देते हैं। तो क्या यह उदारता हुई? क्या हम उदार हुए? क्या यह धर्म हुआ? असलमें जब धर्मका अभिमान आता है, तब पाप भी आ जाता है।

(मामेकं शरणं व्रज : अहंकी पूजा : पृ. 35), (अपर्याप्त साधन : पृ. 88)

जानना दो प्रकारका

जिज्ञासु : महाराज! कोई ऐसा उपाय बताइये कि मेरा हृदय शुद्ध हो जाय, मेरे सब दोष मिट जायँ, और मैं निरन्तर भगवान्‌के भजनमें लगा रहूँ।

महात्मा : भैया! हृदय शुद्ध होना, दोषोंका मिटना और भजनका होना ये तीन बातें नहीं हैं। जितना भजन होता है, उतने ही दोष मिटते हैं और उतना ही हृदय शुद्ध होता है। फिर तो अधिकाधिक भजन बढ़ने लगता है। तुम इनका उपाय पूछते हो, पर मैं तुमसे ही पूछता हूँ, क्या तुम्हें दोष दोष रूपसे मालूम पड़ते हैं?

जिज्ञासु : भगवन्! शास्त्रोंमें जिन्हें दोष बताया है, सन्त लोग जिन्हें दोष कहते हैं–जैसे झूठ बोलना, क्रोध करना, हिंसा करना आदि इन्हें तो मैं दोष रूपसे जानता ही हूँ, फिर भी वही काम कर बैठता हूँ।

महात्मा : भैया! जानना दो प्रकारका होता है, एक तो ऊपर-ऊपरका और दूसरा आन्तरिक। हम दूसरोंसे सुनकर देखा-देखी जो कुछ जानते हैं वह केवल ऊपर-ऊपरका ज्ञान है। देखो न, सभी जानते हैं कि झूठ बोलना पाप है, झूठ बोलनेसे हानि है–ऐसी बातें कहते-सुनते हैं; परन्तु हृदयसे झूठपर आस्था रखते हैं। कोई मामला सामने आया तो ऐसा विश्वास कर लेते हैं कि झूठ बोलनेसे हमारा लाभ होगा और सच बोलनेसे हानि। यदि उनके हृदयमें सत्यकी महिमा बैठ गयी होती तो वे सत्यसे ही लाभकी आशा रखते, असत्य से हानि-ही-हानि समझते; परन्तु बात ठीक उलटी है। केवल वाणीसे कहने और कानसे सुननेका नाम दोषको दोष जानना नहीं है।

मान लो, तुम यहाँ छप्परके नीचे बैठे हो। अब यदि ऊपरसे एक साँप तुम्हारी गोदमें गिरे तो तुम किसीसे पूछने जाओगे या सोच-विचार करोगे कि इसे क्या करूँ? तुम दोनोंमें-से एक काम भी नहीं करोगे। एक क्षणका विलम्ब किये बिना उसे अपनी गोदसे झटकर फेंक दोगे। ऐसा क्यों होगा? इसका एक ही उत्तर है। जानते हो कि साँप मुझे काट खायेगा, साँपसे मेरी हानि है। ऐसे ही झूठ बोलने आदि दोषोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। यदि यह ज्ञान हो जाय, यह धारणा दृढ़ हो जाय कि ये दोष है, इनसे मेरे स्वार्थकी हानि है, इनके फलस्वरूप मुझे नरकमें जाना पड़ेगा, परमात्मा अप्रसन्न होंगे तो जान-बूझकर एक क्षणके लिए भी दोषोंको नहीं अपनाओगे। यदि अनजानमें भी कभी दोष आ जायेंगे तो तुम्हें बड़ा दुःख होगा, पश्चाताप होगा और फिर कभी न आयें इसके लिए सावधान हो जाओगे। इसलिए दोषोंको मिटानेका यह उपाय है कि उन्हें दोषरूपसे पहचाना जाय। यह निश्चय किया जाय कि इनसे हमारी हानि-ही-हानि है।

वास्तवमें हम दोषोंको दोष न जानकर, उन्हें न पहचानकर, इनमें आसक्त हो गये हैं और बाहर नहीं तो भीतर-ही-भीतर उन्हें अपनाये हुए हैं। उन्हें पहचानो और छोड़ो। सच्चाईके साथ छोड़ते ही वे भाग जायेंगे और फिर कभी नहीं आयेंगे।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 28, 29)

उनका मधुर स्पर्श पाकर कृत्य-कृत्य हो जाओगे!

जिज्ञासु : भगवन्! भगवान् पर विश्वास होता है; परन्तु कभी-कभी चेष्टा करके रोकने पर भी चिन्ताएँ आ घेरती हैं, उन्हें कैसे मिटाया जाय?

महात्मा : बस, भगवान्‌की प्रार्थना करो। सच्चे हृदयसे उन्हें, अपने आपको सौंप दो, उनकी शरण हो जाओ। वे जो करें, होने दो, जो-जो कराये, करो। अपनी इच्छाएँ, अभिलाषाएँ उनके चरणोंमें चढ़ा दो।

देखो! कितना सुन्दर मुख है, कितनी मधुर मुस्कान है, कैसी प्रेमभरी चितवन है, कितना कोमल स्वभाव है! तुमपर दया करके अपनी लम्बी-लम्बी भुंजाएँ फैलाकर तुम्हें अपने हृदयसे लगा लेना चाहते हैं। त्रिलोकीके एकमात्र स्वामी तुम्हारी बराबरीके परम हितैषी मित्र होकर निरन्तर तुम्हारे साथ रहना चाहते हैं और तुम उन्हें रखना नहीं चाहते! यह तुम्हारा दुर्भाग्य है।

अरे भाई! यह जीवन व्यर्थ जा रहा है, उनके चरणों पर सिर रखकर इसे सफल करो और अपना सारा भार उनपर डाल दो; डालनेकी आवश्यकता नहीं, जीवन और भारको भी याद करनेकी आवश्यकता नहीं, तुम केवल कह दो—सच्चे हृदयसे कह दो कि 'मैं तुम्हारा हूँ', वे तुम्हें अपनाये हुए हैं, कहते ही हृदयसे अपना लेंगे। उनका मधुर स्पर्श पाकर कृतकृत्य हो जाओगे।

सच्चा समर्पण होनेपर चिन्ताएँ नहीं आतीं। यदि आती हैं तो समर्पण में कुछ कमी है अथवा भगवान्‌की ओर से वे चिन्ताएँ आती हैं और समर्पित भक्तके मनमें वे चिन्ताके समान नहीं मालूम होती, उन्हें भी वह भगवत्स्वरूप ही देखता है।

यदि चिन्ताएँ आती हैं, तो पुनः-पुनः भगवान्‌को समर्पित करना चाहिए। उनसे कहना चाहिए कि 'हे प्रभो! इस सारे जगत्‌के सञ्चालक आप हैं। आप लीला-लीलामें ही इसका सञ्चालन करते हैं और ये मेरे प्राण आदि जो कुछ हैं—सब संसारके ही अन्तर्गत हैं। मेरे इन कल-पुर्जोंको और मुझे सञ्चालित करनेमें आपको कोई विशेष परिश्रम तो करना नहीं पड़ता और वास्तवमें तो आप ही इन्हें चलाते हैं। ऐसी स्थितिमें मेरे मनमें जो यह अहंकार हो जाता है कि मैं अपना जिम्मेवार हूँ, इसको नष्ट कर दीजिये और हर तरहसे मुझे अपना लीजिए।'

इस प्रकार सच्चे हृदयसे प्रार्थना करते-करते, एक-न-एक दिन वे अपना ही लेंगे। फिर चिन्ताएँ नहीं होंगी। समर्पण जितना ऊँचा और सच्चा होता है, चिन्ताएँ उतनी ही कम होती हैं।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 35, 36)

जीवका जन्म और ईश्वरका अवतार!

जीवका जन्म-मरण होता है कि नहीं? सिद्धान्त यह है कि जीवका जन्म-मरण नहीं होता। क्योंकि, वह तो स्वरूपसे, तत्त्वसे परमात्मा ही है, ब्रह्म ही है। परन्तु, अविद्यासे उसको अपनेमें जन्म-मरण जान पड़ता है। जबतक यह अपनेको ब्रह्म नहीं जानेगा, तबतक इसको अपनेमें जन्म-मरणकी प्रतीति होती रहेगी।

ईश्वरमें भी स्वरूपत:, तत्त्वत: जन्म-मरण न होने पर भी मायासे प्रतीत होता है। जैसे जीवके साथ अविद्या लगी है, वैसे ईश्वरके साथ माया जुड़ी है। अपनी अचिन्त्य शक्ति कहो अथवा माया शक्ति कहो-उससे भगवान् जन्म-मरणवाले प्रतीत होते हैं। तो जैसे जीवका जन्म होता है अविद्यासे और वासनासे, वैसे ही भगवान्‌का जन्म होता है मायासे और लीलासे भला!

देखो, ब्रह्मका न अवतार है, न जन्म है। और, ईश्वरका अवतार है; जीवका जन्म है। इसलिए व्यावहारिक सत्तामें ये दोनों होते हैं। जीवके जन्मको जन्म कहते हैं और ईश्वरके जन्मको अवतार कहते हैं। अपनी वासनासे विवश होकर जीवका जन्म होता है और ईश्वरका जन्म लीलासे अनुग्रह करके जीवोंका उद्धार करनेके लिए होता है।

तो, नारायण! जब अवतार होता है तो जीवमें जो कुछ होता है, वह सब कुछ भगवान्‌में भी होता है। जितने दोष-गुण जीवमें होते हैं, उतने ही दोष-गुण भगवान्‌में भी होते हैं। आप बिलकुल इसमें डरना मत। क्यों नहीं डरना? जीवमें वे होते हैं, अविद्यासे और भगवान्‌में होते हैं लीलासे। इसलिए जीवके लिए बन्धनके हेतु हैं और भगवान् के लिए बन्धनके हेतु नहीं हैं, मोचनके हेतु हैं। मोचनके हेतु हैं माने उन लीलाओंका चिन्तन करके दूसरे लोग मुक्त हो जाते हैं।

कहो तो हम श्रीकृष्णके जीवनमें बता दें। जो कुछ किसी जीवमें हो सकता है, वह सब कुछ श्रीकृष्णके जीवनमें है। क्योंकि एक ही तत्त्वकी दो अभिव्यक्ति है-एक लीलासे और एक कर्मसे।

'भय'-श्रीकृष्ण लीला द्वारा रणछोड़राय हैं। श्रीकृष्ण 'काम'की लीलासे बच्चे पैदा करते हैं। श्रीकृष्ण 'क्रोध'की लीला द्वारा रुक्मिको बाँधते हैं। हम कृष्णमें मोह लीला दिखा सकते हैं, ब्याह करते बता सकते हैं, जूआ खेलते दिखा सकते हैं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें ही सब वर्णन आया है कि नारदजी द्वारका गये तो उन्होंने वहाँ सब स्त्रियोंके घरोंमें देखा कि कृष्ण ही तलवार चला रहे हैं, कहीं घोड़ा धो रहे हैं, कहीं दान कर रहे हैं, कहीं यज्ञ कर रहे हैं, कहीं नाच रहे हैं, कहीं गा रहे हैं। कहीं बुढ़ापेमें नाचना-गाना सीखा रहे हैं। अरे, बुढ़ापा भी आता है भगवान्‌को? बचपन आता है तो बुढ़ापा भी आयेगा। यह सब लीला है, भला! लेकिन यह बात संसारी लोग, जो कायदेसे विचार नहीं करते हैं, उनकी समझमें नहीं आती है।

(ईशानुकथा-पृ. 71-72-73)

गोपियोंका प्रेम सम्पूर्ण प्रेम है!

यह जो भक्ति है, यह मनुष्यके जीवनका निर्माण करनेवाली है; नहीं तो आदमी संसारमें कहीं-न-कहीं फँस जाता है। जन्म-जन्मसे अन्तःकरणमें राग रहता आया है, आसक्ति होती आयी है, मोह होता आया है। इसे भगवान्‌के साथ जोड़ोगे—तब तो बचोगे, नहीं तो कहीं गड्ढेमें गिरोगे जरूर। राग किये बिना हृदय रह नहीं सकता।

प्रेम-भक्तिकी चर्चा सुननेमें बहुत सावधान रहनेकी जरूरत है, क्योंकि आदमी प्रेमकी बात सुनते हैं, तो उसे संसारमें जोड़ देते हैं। भगवान्‌के प्रेमको संसारके साथ जोड़ देनेसे बात कितनी भी ऊँची हो—गन्दी हो जाती है। अतएव अपने हृदयको संसारसे न जोड़कर, भगवान्‌से जोड़ो। यह तत्त्वकी बात नहीं है, यह तो हृदयके परिवर्तनका रसायन है; औषधि है। इससे दिल बदलता है।

यह तो वैष्णव महापुरुषोंकी कृपा है कि उन्होंने कामको प्रेम कर दिया। उन्होंने भगवान्‌के साथ प्रेम जोड़ा। जब काम भगवान्‌के साथ जुड़ता है-तो काम नहीं रहता प्रेम हो जाता है। जहाँ ऐन्द्रियक भोग ही सर्वस्व है-वहाँ प्रेम भी काम हो जाता है और जहाँ अपने प्रियतमकी प्रीतिको देखकरके प्रेमीका अहं जल जाता है—वहाँ प्रेम, सम्पूर्ण प्रेम होता है। असलमें प्रेम अहंको गलानेकी एक पद्धति है। यह एक ऐसा रसायन है, जो अभिमानको बिलकुल गला देता है।

इसके लिए देखना पड़ता है कि किसके साथ हमारा दिल मिलता है। किसी भक्तका हृदय अपने हृदयमें उतारना पड़ता है। अपने हृदयमें किसी भक्तका संस्कार लाना पड़ता है। जैसे गोपियोंकी सी प्रीति करनी हो तो गोपियोंका ध्यान करना चाहिए। इससे गोपियोंकी सी प्रीति तुम्हारे हृदयमें आ जावेगी। इसीको रागानुगा भक्ति बोलते हैं।

श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका प्रेम ऐसा नहीं है कि कृष्णसे हमें सुखी होना है; उनका प्रेम ऐसा है कि श्रीकृष्ण हमारे बिना सुखी नहीं होंगे। वे हमसे बहुत-बहुत प्रेम करते हैं। उनको कैसे नींद आती होगी? वे कैसे खाते होंगे? उनको कैसे आराम मिलता होगा? उनके सुखका ध्यान कौन करता होगा? हाय-हाय! हमारे बिना तो वे अपने मनकी बात किसीसे साफ-साफ कहते ही नहीं होंगे; बड़े संकोची हैं। उनके कष्टका ध्यान गोपियोंको आता है, अपने कष्टका; अपने सुखका ध्यान उन्हें नहीं आता है।

इसलिए गोपियोंका प्रेम सम्पूर्ण प्रेम है।

(उद्धव व्रजगमन : पृ. 416,417,420)

भगवान् जन्माभिमानी और व्ययात्मा नहीं होते

अवतारके सम्बन्धमें आप देखें–भगवान् शरीरधारी होते हैं; परन्तु जन्म लेने पर भी वे सर्वत्र ही रहते हैं। जीवका जन्म होता है तो वह जन्माभिमानी हो जाता है एवं अल्पज्ञ रहता है। जन्माभिमानी क्या? मैं मनुष्य हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ आदि-आदि।

तो देखो, जीवको तो अपने जन्मका अभिमान होता है कि मैं मनुष्य हूँ....क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, शूद्र हूँ। परन्तु, अवतार जन्मवाला होने पर भी अजन्मा ही रहता है। उसमें जन्मवाली वस्तुका अभिमान उदय नहीं होता।

अब एक दूसरा पक्ष देखो! यदि आपको, कोई यह कहता हो कि निराकार जन्म कैसे लेता है? तो इसके उत्तरमें आपको हम छोटी-सी युक्ति बता देते हैं। जीव निराकार है कि साकार है? जीव बिलकुल निराकार है! सर्वमतोंमें यह मान्य है कि जीव हस्त-पादादिमान् नहीं है। तो फिर निराकार जीव देहधारी कैसे हो जाता है? कहो कि वासनासे। तो जो कार्य वासनासे किया जा सकता है वह बिना वासनाके भी किया जा सकता है कि नहीं?

तो, वासनासे जिसको जन्म लेना पड़े सो 'जीव' और जो बिना वासनाके ही जन्म ले उसको 'ईश्वर' कहेंगे। जो अविद्याके वशवर्ती होकर, पराधीन होकर जन्म ले वह 'जीव' है और जो स्वाधीन होकर जन्म ले सो 'ईश्वर' है। माने जन्म लेने पर भी ईश्वरके अजत्वमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

अब देखो दूसरी बात–

यह जीव होगा महाराज, तो मरनेको डरेगा जरूर!! अर्थात् जीव व्ययात्मा होगा और ईश्वर, अवतार लेने पर भी व्ययात्मा नहीं होगा। ईश्वर अव्ययात्मा है। यह दोनोंमें फरक है।

तो, जीव जब जन्म लेता है तब शरीरकी मृत्युका अपने अन्दर आरोप करके-'मैं' बच्चा था, मैं जवान हुआ, मैं अधेड़ हुआ, मैं बुड्ढा हुआ और मैं मर जाऊँगा-वह व्ययात्माके साथ तादात्म्यापन्न हो जाता है और ईश्वर, व्ययात्माके साथ तादात्म्यापन्न नहीं होता। यह जीव और अवतारका भेद हुआ।

(अवतार-रहस्य : पृ. 10-11)

मुकुन्दसे है जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख!

मुकुन्दका अर्थ है जो मुक्ति दे। तो जिसको बन्धन ही न हो उसको मुक्ति कहाँसे दे? यह संसारके लोग कहते हैं हमको मुक्ति चाहिए।

मुक्ति चाहिए तो पहली बात तो यह है कि तुम पैसेसे बँधे हुए हो, इससे मुक्ति चाहते हो? बोले-ना महाराज! अच्छा; परिवारसे मुक्ति चाहते हो? बोले-ना महाराज! तो तुम काहेसे मुक्ति चाहते हो? यह चाहते हैं महाराज कि नरक-स्वर्गमें न जाना पड़े, फिर जन्म न हो। मरनेके बाद जो बन्धन है, उनसे हम छूटना चाहते हैं।

और मरनेके पहले जो बन्धन है सो? स्त्रीका बन्धन, पतिका बन्धन, धनका बन्धन, बन्धु-बान्धवोंका बन्धन-इन बन्धनोंसे छूटना चाहते हो?

ना महाराज! यह तो चल रहे हैं सो ठीक है। यह तो जैसा है वैसा ठीक है। मरनेके बाद कोई बन्धन न रहे ऐसा चाहते हैं।

तो मनुष्य धनके साथ बँधा है, कि बन्धु-बान्धवके साथ बँधा है, कि परिवारके साथ बँधा है, यह तो उसको ख्याल ही नहीं होता।

देखो, यह जो मुकुन्द-प्रेम है, यह घृणाका विस्मारक है। जिसके हृदयमें भगवान्‌से प्रेम आता है, उसमें घृणा नहीं होती। अपने प्रियतमकी सब वस्तु प्यारी लगती है। प्रेममें शङ्का नहीं होती है कि कोई हमको धोखा देगा। प्रेममें डर नहीं लगता-साँपसे डर नहीं, लोक-परलोकसे डर नहीं, घबराहटसे डर नहीं, धर्माधर्मसे डर नहीं। ये आठ बन्धन हैं। जिनमें मनुष्य फँसा-फँसा फिर रहा है-घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, निन्दा, कुल, शील, जाति-ये अष्टपाश हैं। मनुष्य किसीसे घृणा करता है, किसीसे शङ्का करता है, किसीसे डरता है, किसीसे शर्मिन्दा होता है। किसीकी निन्दा करता है। कहीं अपने खानदान (वंश)को देखता है। कहीं अपने शील-स्वभावका ख्याल करता है। कहीं अपनी जाति-पाँति, सम्प्रदाय-वर्णाश्रमका ख्याल करता है।

यह प्रेम जब आता है तब इन सबकी सफायी कर देता है। कलेजेमें-से इन आठों बातोंको निकालकर फेंक देता है। मीरा कहती है-

मैं तो गिरधर हाथ बिकानी होनी होय सो होय रे!

यह जीवन्मुक्ति है भला! यह जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है!

भक्तोंको इस बातसे खुश होना चाहिए कि तत्त्वज्ञान, जन्म-मरणका बन्धन तो छुड़ाता है, नरक-स्वर्गका बन्धन तो छुड़ाता है किन्तु इस जन्मको ज्यों-का-त्यों छोड़ देता है-रहो प्रारब्धके अनुसार। परन्तु, भक्तिमें यह जो मुकुन्द है, यह इस जीवनमें जो बन्धन हैं, उसको तोड़ देता है। मुकुन्दने सारे बन्धन गोपियोंके तोड़ दिये उनको जात-पाँतसे मुक्ति दिलवायी, धर्म-सम्प्रदायसे मुक्ति दिलवायी, पति-पुत्रसे मुक्ति दिलवायी-दुनियाकी फिक्र नहीं!

(युगलगीत : पृ. 34-35)

गोपीका प्रेम गुप्तप्रेम

सुनते हैं एक दिन एक सज्जन वैकुण्ठके दरवाजे पर पहुँचे। फाटक बन्द था। तो चिल्लाये–'हे भगवान्! फाटक हमारे लिए खोलो।'

'क्यों? तुम्हारे लिए फाटक क्यों खोला जाय?'

तो बोले–महाराज! हमने अपने हाथमें जिन्दगी भर माला रखी और ऐसा चन्दन लगाया और ऐसा छापा लगाया और ऐसा तिलक लगाया और तुम्हारे लिए हमने यह किया, हमने वह किया, ये मन्दिर बनाया, ये धर्मशाला बनवायी। अब हमारे लिए भी फाटक बन्द है तो कौन आवेगा वैकुण्ठमें? तो बोले कि 'ये तो सब तुमने किया; लेकिन यह तो लोगोंको मालूम पड़ गया, जूठा हो गया, अखबारमें छप गयी वे बातें। कोई गुप्त चीज, कोई गुप्त तोहफा मेरे लिए, लाये हो? जिसे बस मैं ही देखूँ खोलके कि मेरा भक्त, मेरा प्यारा मेरे लिए लेकर आया है। अरे, तूने तो सब अखबारमें छपवाकर उसका फल-'यश' लूट लिया, नाम लूट लिया; जो किया उसका तो सब मजा ले लिया, तू कुछ छुपाके भी मेरे लिए लाया है?'

तो बोला–'न महाराज, छिपाकर तो मैं नहीं लाया।'

तो वैकुण्ठसे आवाज आयी–'लौट जाओ अभी तुम संसारमें, वहाँसे कुछ गुप्तरूपसे मेरे लिए लाना।'

तो यह जो गोपीका प्रेम है यह गुप्तप्रेम है उसको गोपीके सिवाय दूसरा कोई समझता ही नहीं।

हमारे तो राम, कृष्ण...एक ही हैं

सुनते हैं कि एक कोई अंग्रेज आया हिन्दुस्तानमें; तो उसने एक हिन्दूसे कहा कि भाई हमने सुना है कि हिन्दुओंमें देवता बहुत होते हैं तो तुम सबके चित्र ले आओ, हम देखें कैसे-कैसे होते हैं? उनमें हम कोई एक पसन्द करेंगे। तो ले आये महाराज! तो देखा शंकरजीके हाथमें त्रिशूल, विष्णु भगवान्‌का चक्र, डोल रहा, रामचन्द्र भगवान् के हाथमें धनुष-बाण, श्रीकृष्णके हाथमें बाँसुरी। तो उसने कहा हमें यह बाँसुरीवाला ज्यादा पसन्द आया, हम यह रखेंगे। बोले-क्यों भाई, तुमको यह ज्यादा पसन्द क्यों आया? बोले-यह सब चक्र, त्रिशूल, धनुष-बाण वाले हैं, इनके कोई दुश्मन हैं तो उनसे डरके यह हर समय हथियार अपने हाथमें रखते हैं। यह कृष्ण जो है यह चैनकी बाँसुरी बजाता है, इसके कोई दुश्मन नहीं है, किसीका डर नहीं है इसको। हमेशा मजेमें डूबे रहता है, रसमें डूबे रहता है।

वह तो अंग्रेजकी बात है। हमारे तो राम, कृष्ण आदि सब एक ही हैं।

(युगलगीत : पृ. 24,25-27,28)

ईश्वर प्रेम पारमार्थिक प्रेम है

अपनी वृत्तिको संसारकी ओरसे हटाकर परमात्माकी ओर ले जानेके लिए उसमें विशेषका चिन्तन करना पड़ता है। अगर यही कहोगे कि जो दुकानमें है सो ही गंगा किनारे है तो दुकान छोड़कर कभी गंगा किनारे जाओगे ही नहीं। अगर कहो कि अरे दुकानमें बड़ा विक्षेप है, गंगा किनारे बड़ा आनन्द है, तब गंगा किनारे जाओगे।

तो यह जो लोग संसारियोंको 'सर्वब्रह्म' सब बराबर बताते हैं ना, वह उनको दुकानमें ही रोक देते हैं। वैराग्य तो हुआ नहीं, सांसारिकता, वासना तो छूटी नहीं, ईश्वरके लिए व्याकुल हुए नहीं और बोले सब वही, तो उनको तो स्त्री वही, पुत्र वही, धन वही इतना तो मालूम पड़ेगा लेकिन दुश्मन वही, यह नहीं मालूम पड़ेगा। गरीबी वही, मृत्यु वही, वियोग वही–नहीं मालूम पड़ेगा। इसलिए एक बार सविशेष, सगुण, साकार ईश्वरका सहारा लेकर संसारकी ओरसे अपनी वासनाओंको मोड़कर, उसके रास्तेमें चलना जरूरी है। यह परमार्थ-पथमें जानेवालोंकी भलाई इसमें नहीं है कि वह जहाँ फँसे हैं, उतनेको ही सब कुछ समझकर वहाँ रह जायँ। उनकी भलाई है कि स्वर्ग मानकर कुछ धर्म करें, ब्रह्मलोक मानकर कुछ उपासना करें। गोलोक-वैकुण्ठ मानकर चित्तवृत्तिको एकाग्र करें। वह जहाँ फँसे हैं, वहाँसे निकलनेके लिए कुछ चाहिए।

सर्वब्रह्म, सर्वब्रह्म कहनेका कुछ अर्थ नहीं। इसलिए बाबा ईश्वरकी विशेषता समझकरके ईश्वरसे प्रेम करना चाहिए। तो इसमें क्या विशेषता है? कि एक ओर तो हमारा हृदय उससे प्रेम करनेके लिए व्याकुल होता है और दूसरी ओर वह खींचता है। तो कहीं तिरछी चितवनसे खींचता है, कहीं मन्द-मुस्कानसे खींचता है, कहीं पाँवकी रुन-झुनसे खींचता है, कहीं बाँसुरीकी आवाजसे खींचता है; वह लोगोंके मनको अपनी ओर खींचता है। यह खींचनेकी प्रीती है।

देखो संसारमें स्त्री-पुरुषके प्रेमको सच्चा प्रेम क्यों मनाते हैं? खीर अथवा स्वर्णके प्रेमको सच्चा प्रेम क्यों नहीं मानते हैं? बोले–तुम तो खीर, सोनेसे प्रेम करते हो सोना अथवा खीर तुमसे प्रेम नहीं करते। तो सोनेमें एकांगी प्रेम करना पड़ेगा; खीरमें एकांगी प्रेम करना पड़ेगा। लेकिन स्त्री-पुरुष परस्पर प्रेम करेंगे तो डबल हो जायेगा। इसलिए 'अर्थ' प्रेमकी अपेक्षा भोग-प्रेम लौकिक सुख देनेवाला होता है। और 'धर्म' प्रेम लौकिक और पारलौकिक दोनों सुख देनेवाला होता है और ईश्वर प्रेम पारमार्थिक प्रेम है, वह जन्ममें, मृत्युमें, संयोगमें, वियोगमें, प्रलयमें, सब जगह सुख देने-वाला है।

भगवान्के पास पहुँचनेकी यह भी एक तरकीब है

संसारमें लोग दुःखी एवं व्याकुल हो रहे हैं तथा धन, स्त्री, पुत्र पौत्र आदिके लिये रो रहे हैं। असलमें अपनी करनी देखें तो इनको डूब-मरना चाहिये; किन्तु ये अपनेको बड़ा मानते हैं। और अपने बड़प्पनके अभिमानमें जिन्दा रह रहे हैं। ईश्वर यदि इनको यह अभिमान न देता तो ये मर जाते।

दुनियाके दुखियोंको सुखी करनेके लिए भगवान् प्रगट हुये। मनुष्योंकी जातिमें मनुष्योंको रस देनेके लिए नन्दनन्दन बनकर प्रगट हुये-हमारे स्नेह रसको जोड़नेके लिये ताकि हम भी भगवान्से स्नेह कर सकें।

ये संसारी लोग क्या करते हैं? परमात्माका ज्ञान तो कोई-कोई पाना चाहते हैं; लेकिन अपना स्नेह संसारमें ही जोड़े रखना चाहते हैं। ये नाव तो चलाते हैं परन्तु लंगर डालकर।

यह आपने सुना होगा कि बनारसमें सायंकाल पण्डे लोगोंने खूब विजया (भांग) छानकर, नावपर बैठे। बोले आओ नावको खेकर चुनारको ले चलें। चुनारका किला देखेंगे! अब वो दस-दस जने नाव चलाने लगे। सारी रात गयी, सवेरा हुआ। कोई स्नान करने आया तो उन्होंने पूछा कौन शहर हैं भाई! बोले-बनारसका दशाश्वमेध घाट है। नारायण कहो, झूठ बोलते हो! हम लोग शामसे ही नाव चला रहे हैं। तो उसने कहा, भले मानुसों, नाव तो तुम शामसे ही चला रहे हो, लेकिन लङ्गर तो तुमने उठाया ही नहीं है।

तो यह जो संसारमें आसक्ति है, यह लंगर है और यह जो पाठ-पूजा, स्वाध्याय आदि है, यह डांड चलाना है पर; विजया (अर्थात् मोह) का ऐसा नशा कि स्नेह तो जहाँ-का-तहाँ बँधा हुआ है, स्नेह माने सटना-चिपके तो जहाँ-के-तहाँ है।

तो यह कृष्ण भगवान् आये। काहेको आये। चाहे कहीं भी तुम दुःखी हो रहे हो; धनके लिए दुःखी हो, कुटुम्बके लिए दुःखी हो, यश-प्रतिष्ठाके लिए दुःखी हो, भोगके लिए दुःखी हो, कर्मके लिए दुःखी हो, अगर तुम संसारमें दुःखी हो रहे हो तो यह नाचता हुआ, गाता हुआ, बजाता हुआ उतरा और उसने बाँसुरी बजायी, मानो बिगुल बज गया-आओ, आओ तुमको हम ऐसा मजा देंगे जैसे तुमने कभी देखा नहीं होगा।

जिसके प्रति कामना उदय हो जायेगी उसके पास पहुँचोगे। अगर भगवान्के प्रति कामना उदय हो जायेगी तो भगवान्के पास पहुँचोगे। भगवान्के पास पहुँचनेकी यह भी एक युक्ति है, तरकीब है।

खूब खुश रहो!

आनन्द रामायणमें यह कथा आती है कि जब श्रीरामचन्द्रका राज्याभिषेक हो गया तब एक दिन उनको युद्धमें रावणके कटे हुए सिरोंकी याद आने लगी। उन्होंने ध्यानमें देखा कि रावणके सिर कट-कटकर आकाशमें उड़ते हुए अट्टहास करते जा रहे हैं। श्रीरामचन्द्र अपने सिंहासनपर बैठे-ही-बैठ रावणके उस रूपको देखकर व्याकुल हो गये और उन्होंने अपने राज्यमें यह आदेश पारित कर दिया कि कोई हँसे नहीं।

जब राज्यमें हँसी बन्द हो गयी, तब देवता-दावन-मनुष्य सब-के-सब दुःखी हो गये। वे सब ब्रह्माजीके पास गये और उनसे प्रार्थना करने लगे कि आप हमें इस संकटसे उबारिये। क्योंकि हँसना तो सबका स्वभाव है।

देखो, निरन्तर दुःखी रहना, अज्ञानमें रहना, सोते रहना या रोते रहना तो किसीका स्वभाव नहीं है। क्योंकि सत्का स्वभाव मनुष्य-जीवनमें प्रकट है-वह जन्म-मरणसे रहित है। यही आत्माका स्वरूप है। इसी तरह उसके चित्स्वरूपमें अज्ञान नहीं है और आनन्दस्वरूपमें दुःख नहीं है। इसलिए वह हर हालतमें हँसता तो रह सकता है, लेकिन निरन्तर दुःखी नहीं रह सकता।

अतः जब देवता-दानवोंने प्रार्थना की तब ब्रह्माजी आये और अयोध्याके बाहर एक पीपलके पेड़में आविष्ट हो गये। फिर तो उस पीपल-वृक्षके पत्ते हँसने लगे और उसको हँसता देखकर जो भी उस वृक्षके पास जाये, वह हँसने लगे। धीरे-धीरे सारी सृष्टिमें हँसी व्याप्त हो गयी।

इसपर श्रीरामचन्द्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा कि जो सबको इस प्रकार हँसा रहा है, उसको पकड़ो। इसके बाद ब्रह्माजी श्रीरामचन्द्रके सामने प्रकट हुए और बोले कि महाराज, हँसना तो देवता-दावन-मनुष्य सबका स्वाभाविक धर्म है, हँसे बिना कोई कैसे रह सकता है?

अब तो श्रीरामचन्द्रको कहना पड़ा कि हाँ बाबा, खूब खुश रहो, खूब आनन्दका अनुभव करो और खूब ज्ञानवान् बनो।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 298)

क्या कारण हुआ कि विमान नहीं आया ?

आप सचमुच सत्यको जानना चाहते हैं कि नहीं जानना चाहते? आपको आपका अगला कदम कहाँ ले जायेगा, कुछ पता नहीं है। आप घनघोर अन्धकारमें अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसलिए मनुष्यको ऐसे सद्‌गुरुकी आवश्यकता होती है, जिसकी दृष्टि एक हो, जो हमारे पूर्वजन्म और भविष्यको जान सके एवं हमारी योग्यताको भी जान सके। हमें हमारी शक्तिके अनुसार अलग-अलग साधन बतानेवाले सद्‌गुरुकी आवश्यकता होती है और उस साधनको हमें स्वयं करनेकी आवश्यकता होती है।

आपने अपनेको बाहरके कूड़ा-कबाड़ेमें खो दिया है। पैसोंमें, मान-प्रतिष्ठामें और भी न जाने कहाँ-कहाँ खो दिया है। अपने आपको लोग खोते कैसे हैं-यह देखो!

अयोध्याजीमें एक बड़े अच्छे सत्पुरुष थे। उन्होंने अपने शिष्योंको बताया कि जब मैं मरने लगूँगा तब मुझको लेनेके लिए एक विमान आयेगा। उसमें घण्टियाँ बजेंगी और मैं उस विमानमें चढ़कर भगवान्‌के धाम चला जाऊँगा। कुछ दिन बाद वे मर गये। लेकिन न तो विमान आया और न घण्टियाँ बजी। शिष्योंने कहा कि हमारे गुरुजीकी बात झूठी नहीं होनी चाहिए। क्या कारण हुआ कि विमान नहीं आया? अयोध्याजीके एक दूसरे सन्त बुलाये गये। उन्होंने वहाँ आकर विचार किया कि क्या कारण हुआ? तबतक उनकी दृष्टि सामनेके एक बेरके पेड़ पर पड़ी। वह बेरका पेड़ फलसे लदा हुआ था। महात्माने ध्यान लगाकर देखा और फिर कहा कि वह पका हुआ बेर तोड़ो। तोड़ लिया गया। बोले कि इसको मसल दो। मसल दिया गया। मसलनेमें उसमें जो एक कीड़ा था सो मर गया। कीड़ेके मरने पर तुरन्त घण्टियाँ बजीं, विमान आया और उसको लेकर चला गया।

देखो यह कहानी सच्ची है कि झूठी है इसकी तलाश करनेकी आवश्यकता नहीं है। इस कहानीका अभिप्राय यह है कि हमने अपनेको पाँवके नाखूनसे लेकर सिरकी चोटी तक बिखेर रखा है। हमें अपने आपको सब ओरसे समेटकर इतना सूक्ष्म हो जाना है कि फिर बाहर निकलकर सारे आसमानमें फैल जाना है। यही साधनाका स्वरूप है।

पहले आप अपने 'मैं'को, 'मैं'के तत्त्वमें अर्थात् 'मैं'की धातुमें मिला दो, एक कर दो और फिर देखो कि सृष्टि हो रही है, स्थिति हो रही है, प्रलय हो रहा है-ब्रह्मा, विष्णु, महेश पैदा हो रहे हैं और लीन हो रहे हैं; किन्तु तुम नहीं मर रहे हो। यही है आत्म-साक्षात्कार। तुम जहाँ पकड़े गये हो, उसको बल लगाकर छोड़ोगे नहीं तो तुमको आत्म-साक्षात्कार कैसे होगा! 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'।

(व्यवहारशुद्धि : पृ. 167-170)

संसारके बारेमें चार अनुभव

संसारके बारेमें चार अनुभव हैं।

(1) एक तो इसमें जो भी स्पर्श होता है, वह अन्तमें दुःख देता है। यदि वह शत्रुके रूपमें आकर छुए तो तुरन्त जलाता है और मित्रके रूपमें आकर छुए तो देरसे जलाता है, जलाते दोनों हैं। इसलिए राग-द्वेष दोनों दुःखके हेतु हैं। यह संसारके बारेमें पहला अनुभव है कि यह दुःख रूप है।

(2) दूसरा अनुभव संसारके बारेमें यह है कि यह क्षणिक है, माने बदलनेवाला है। यहाँ कभी विपत्ति आती है, तो कभी सम्पत्ति आती है; कभी जन्म होता है, कभी मरण होता है। दुनिया बदलती रहती है, यह क्षणिक है, यह इसके सम्बन्धमें दूसरा अनुभव है।

(3) तीसरा अनुभव संसारके सम्बन्धमें यह है कि प्रत्येक वस्तुमें अपना एक संस्कार होता है, एक बीज होता है। दो शक्ल एक सरीखी नहीं होती। दुनियामें जितने साँचे ईश्वरने बनाये हैं, वे सब-के-सब अलग हैं; कुछ-न-कुछ फर्क जरूर होता है। सब अपनी एक विशेषता लेकर आते हैं और अपनी विशेषताको लेकर जाते हैं। इसको मिटानेकी कोशिश नहीं करनी चाहिए।

(4) चौथी बात दुनियाके सम्बन्धमें यह है कि जिसको ईश्वरका अनुभव हुआ, तत्त्वका अनुभव हुआ, परमार्थका अनुभव हुआ उनके लिए दुनियाकी कोई कीमत नहीं रह जाती। संसारी लोग जिसको बहुत महत्त्वपूण समझके जिन्दगी भर उसमें लगे रहते हैं; पर जिसको परमात्माका अनुभव हो जाता है उनकी दृष्टिमें वह बच्चेका खिलवाड़ होता है। जिसने परमेश्वरको देखा है, उसके लिए जैसे सपना बदलता है वैसे दुनिया बदलती है।

दुनियाँकी सब चीजें बदलती रहती हैं, ईश्वर नहीं बदलता। वह परमार्थ वस्तु है। अपना मन भगवान्में लगाना चाहिए और वह ऐसा लगाना चाहिए कि रणमें भी और अरण्यमें भी-वनमें भी लगे और युद्धभूमिमें भी लगे।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।

इतना प्रेम ईश्वरसे होना चाहिए कि जिस समय वह गला काटे उस समय भी वह प्यारा लगे। जिस समय चूमे उस समय भी प्यारा लगे। ईश्वरकी किसी क्रियामें दोष दृष्टि न हो, बल्कि गुण दृष्टि हो। अपनेको दे रहा हो ईश्वर दुःख, और उसमें उसकी स्थिति देखकरके अपना रोम-रोम खिल जाय, प्रेम तो ऐसा चाहिए न!

मेरे इसी रूपका नाम निर्गुण-निराकार है।

पद्म पुराणके पाताल खण्डमें एक कथा आयी है–

एक बार नारायण भगवान्‌के पास शंकरजी आये और उन्होंने प्रार्थना की कि हमको आप अपने निर्गुण-निराकार, निर्धर्मक, निर्विकल्प, वास्तविक स्वरूपका दर्शन कराइये।

तो नारायण भगवान्‌ने कहा–अभी तो नहीं, जब मैं वृन्दावनमें प्रगट होकर रहूँ, तब वहाँ मेरे पास आ जाना। एक दिन शंकर भगवान् वृन्दावनमें पधारे। वृन्दावनमें क्या देखते हैं कि राधाकृष्ण युगल मूर्ति। कभी श्रीकृष्ण गौराङ्गी राधा हो जायँ और कभी गौराङ्गी राधा श्यामाङ्ग कृष्ण हो जायँ। वृन्दावनमें गौर-श्यामकी जोड़ीको क्रीड़ा करते देखा। आकर शंकरजीने नमस्कार किया।

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने पूछा कि कैसे पधारे महाराज! भगवान् शंकरने कहा कि आपने हमको निमन्त्रण दिया था कि वृन्दावन आना, अपने निर्गुण-निराकार रूपका, हमको दर्शन करायेंगे। अब आप दर्शन कराईये।

तो श्रीकृष्ण हँसकर बोले–'सो तो यही है, जो तुम देख रहे हो, यही निर्गुण और निराकार रूप है।'

शंकरजीने कहा कि महाराज! जिसको मैं आँखसे देख रहा हूँ, वह भला निराकार कैसे? जो इन्द्रियोंसे हमारे अनुभवमें आ रहा है, वह निर्गुण कैसे? हम यह कैसे मानें कि आपका निर्गुण-निराकार रूप यही है?

भगवान् बोले कि अच्छा तुम ब्रह्मका लक्षण बताओ? शंकरजीने कहा ब्रह्म निर्गुण होता है। निर्गुण माने सत्त्व, रज, तम–इन तीन गुणोंके बाहर जो हो उसे निर्गुण कहते हैं। माने जिसमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति–तीन अवस्थाएँ न हों, जो विश्व, तैजस, प्राज्ञ न हो; जिसमें मूढ़ता, विक्षिप्तता और समाधि न हो, उसीको तो निर्गुण बोलते हैं।

भगवान् बोले–यह जो मेरा शरीर तुम देख रहे हो, यह न तम है, न तमका कार्य है। यह न रज है, न रजका कार्य है। यह न सत्त्व है न सत्त्वका कार्य है। यह न विश्व है, न तैजस है और न प्राज्ञ है; यही निर्गुण है जो तुम मुझे देख रहे हो।

इसपर शंकरजी बोले–'वह तो निराकार हुआ करता है।'

तो नारायण भगवान् (जो कृष्णके रूपमें थे) ने उत्तर दिया कि आकार कौन सा? जो प्रकृतिमें आकार है उसका निषेध है, यह प्राकृत आकार न होनेसे मेरे इस रूपको ही निराकार कहते हैं। वस्तुतः मेरे इसी रूपका नाम निर्गुण-निराकार है।

(विभूतियोग : पृ. 321-322)

स्वजन - निष्ठुर-'जनार्दन'

जनार्दनका असली अर्थ सुनो!

जन माने जगत्। अपने स्वजनको तकलीफ दे करके भी परायेजनको जो सुख पहुँचावे, उसका नाम जनार्दन अर्थात् स्वजन-निष्ठुर। अपने भक्तको गरीब रखेगा और पराये भक्तको धनी कर देगा। यह नारायणका स्वभाव है। यह कृष्णका स्वभाव है। अपने भक्तको भरपेट खाना नहीं दिया और शंकरजीके भक्तको खूब खिलाया, वाह वाह! यह तो एक दिनके लिए आया है—इसको बोलते हैं—'स्वजन-निष्ठुर'।

स्वजन-निष्ठुरका अभिप्राय क्या होता है? स्वजन तो अपना ही है न! सुख-दुःखमें, संयोग-वियोगमें, अनन्तकाल तकका साथी है। तो उसकी वासनाको दबा देना, उसमें तपस्याका अभ्यास लाना, तितिक्षाका अभ्यास लाना, उसमें समताका अभ्यास लाना, उसमें मौनका अभ्यास लाना, उसके अन्तःकरणमें सद्गुणका विकास होवे, इसका ज्यादा ख्याल रखना; हमेशा अपने लोगोंकी अपेक्षा पराये लोगोंका ज्यादा आदर करना, इसको बोलते हैं जनार्दन—स्वजन निष्ठुर'।

एक अपना आदमी और एक पराया आदमी लड़ने लगे, तो आया मालिक। अब मालिक यदि अपने आदमीका पक्ष लेगा तो सामनेवाला उसको भी भला-बुरा कहेगा। और यदि वह अपनेवालेको दबा दे, तो लड़ाई खत्म हो जायेगी। इसको बोलते हैं—जनार्दन! यदि स्वजनपर विश्वास न होता कि यह दबानेपर भी हमारा ही रहेगा तो कैसे दबाते उसको?

स्वजनको तप करवानेवाला और अन्य जनको सुख-सुविधा देनेवाले—'जनार्दन', यह भक्तिभावका अर्थ हुआ।

जनान् दुष्ट जनान् अर्दयति। जन माने दुष्टजन। जो दैत्य हैं, अधर्मी हैं, बुरे लोग हैं, उसको जो रौंदे, उसको जो कुचल दे उसका नाम 'जनार्दन'-यह धार्मिक सम्प्रदायका अर्थ हुआ।

अब देखो, जनार्दनका तात्त्विक अर्थ—

जना माने माया-अविद्या, *जनयति जगत् इति जनाः। जनां अविद्यां अर्दयति इति जनार्दनः।* जो अविद्याको, मायाको नष्ट कर दे, उसका नाम होता है जनार्दन—यह ज्ञानका अर्थ हुआ।

(विभूतियोग : पृ. 416-417)

यह ईश्वर तुम्हारे मर्म-स्थानमें छिपा हुआ है

पुराणोंमें कथा आती है कि हरिण्यकशिपुको नरसिंह भगवान्ने मार दिया। प्रह्लाद तो उनके भक्त हो गये लेकिन उनके जब विरोचन पैदा हुआ तो दैत्योंने विरोचनको समझाया कि प्रह्लादने हमारे वंशके विपरीत आचरण किया है। तो बेटा विरोचन! जो काम तुम्हारे बापने नहीं किया सो काम तुम करके बताओ। विरोचनने कहा कि क्या करें? बोले–जिसने तुम्हारे दादाको मारा उसको तुम मारो, तुम बदला लो।

विरोचन डर गया। इसपर लोगोंने उसको समझाया कि तुम डरो मत, तुम्हारे पक्षमें एक बड़ी प्रबल युक्ति है; वह यह है कि नरसिंहने प्रह्लादको वरदान दिया है कि प्रह्लाद! जो तुम्हारे वंशमें पैदा होगा उसको मैं मारूँगा नहीं। तो तुम अबध्य हो। तुमको भगवान् मारेंगे ही नहीं और तुम उनको मार डालो।

अब महाराज, विरोचनने उठाया अपना अस्त्र-शस्त्र। देखकर भगवान् डर गये कि इसको तो हम मार नहीं सकते इसलिए यह हमको बहुत सतावेगा। अब भगवान् भागें–कभी स्वर्गमें जायें, कभी वैकुण्ठमें जायें और विरोचन गदा लेकरके पीछा करे। जब भगवान्को शान्तिसे छिपनेकी कहीं भी जगह नहीं मिली, तब उन्होंने ध्यान किया और बोले कि अच्छा, अब हम छिप जायेंगे और ढूँढ़े मिलेंगे ही नहीं–और जाकर विरोचनकी आत्मामें ही नारायण बैठ गये। अब वह विरोचन सारी दुनियामें तो नारायणको ढूँढ़े और अपनेमें ढूँढ़े ही नहीं, इसलिए नारायण उसको मिले ही नहीं। अब नारायणका विक्षेप तो मिट गया लेकिन ढूँढ़नेका विक्षेप विरोचनको मिल गया।

अब देखो, विरोचन कौन है? जिसको दृश्यमें रुचि है–रोचन है कि हमको यह-यह चाहिए–ऐसा बगीचा चाहिए, ऐसा फल चाहिए, ऐसा मकान चाहिए, ऐसा भोग चाहिए–ऐसा व्यक्ति विरोचन हो गया। अब विरोचन ढूँढ़ता और नारायण कहीं मिले नहीं तो उसने कहा चलो, डरकर नारायण कहीं भाग गया।

यह कथा आपको इसलिए सुनायी कि भगवान् कहाँ छिपे हैं? अब आप सब लोग जिज्ञासु हैं, वेद-शास्त्रके सारको जानते हैं, आप लोगोंको विरोचन कहनेमें तो संकोच होता है। लेकिन नारायण छिपे कहाँ हैं–इतनी बात तो कम-से-कम समझनेकी है। 'गुह्यं'–जो तुम्हारा गुह्य स्थान है, मर्म-स्थान है–यह ईश्वर तुम्हारे मर्म स्थानमें छिपा हुआ है।

(कठोपनिषद् प्रवचन-2 : पृ० 188-189)

अपना माल हो तो लुटानेमें भी मजा आता है!

हम लोग, यदि कोई व्यक्ति चार बात बोलता है अथवा कागज पर लिखता है तो पहचान जाते हैं कि माल उधारका है कि अपना है।

अरे महाराज, अपना माल हो तो लुटानेमें भी मजा आता है। एक माल आज लुटा रहे हैं; कल दूसरा लुटा देंगे। और उधारका हो तो देनेमें बड़ा संकोच होता है। और यह होता है कि आज दे देंगे तो कल कहाँसे आवेगा? फिर महाराज वही-वही दोहराते हैं।

हम सत्रह-अट्ठारह वर्षके थे तो घाट-घाटके साधुओंके पास जाया करते थे। हाँ, तो एक बार भागकर चुनार गये। वहाँ दुर्गाखोह नामके स्थानमें एकलिंग स्वामी नामके एक दक्षिणी महात्मा रहते थे। वहाँ गये तो गीताकी चर्चा चली। तो उन्होंने फिर हमको गीताकी दो टीका दी। वह कहीं बादमें हमको फिर देखनेमें नहीं आयी। एक टीकाका नाम था 'स्वयं विमर्श भाष्य' बंगला लिपिमें संस्कृत भाष्य था। और दूसरीका नाम 'स्वयं प्रकाश भाष्य'। तो पहली तो मननरूप टीका थी और दूसरीका अर्थ यह था कि गीताका आप पाठ करें, तो उसके श्लोक कल्पवृक्षवत् हैं और वे अपना अर्थ बताना प्रारम्भ कर देंगे।

बादमें फिर मैंने शांकर भाष्य, मधुसूदनी, शंकरानन्दी, तिलक भाष्य और ज्ञानेश्वरी पढ़ी। उसके बाद तो फिर श्रीरामानुज, श्रीमाध्व आदि पढ़ी तो ये सब जो हमारे महापुरुष हैं, बहुत बढ़िया बोलते हैं। अपने-अपने दृष्टिकोणसे सबका ठीक है। उनके-उनके मतसे, उनके-उनके दर्शनसे वे बिलकुल ठीक हैं, कहीं कोई काटने लायक नहीं है। हम उसकी उपपत्ति जानते हैं।

ईश्वरको सगुण मानो और शांकरभाष्य पढ़ो तो समझमें नहीं आवेगा। और ईश्वरको निर्गुण मानो और रामानुज भाष्य पढ़ो तो वह भी समझमें नहीं आवेगा। क्योंकि वह तो एक-एक दृष्टिकोण है। किस कोणसे वह फोटो लिया गया है, जबतक वह कोण नहीं पकड़ोगे तबतक ईश्वरका स्वरूप वे कैसे बताते हैं यह मालूम नहीं पड़ेगा।

मुझे आनन्द चाहिए!

एक दिन मैं स्वर्गाश्रममें गंगा किनारे बैठा था। चाँदनी रात थी। तो एक आया हमारा मित्र। उसने कहा कि स्वामीजी, संसारमें मेरी किसीसे आसक्ति नहीं है और मैं कुछ भी नहीं चाहता हूँ, यह शरीर भी मैं छोड़नेके लिए तैयार हूँ; लेकिन मुझे आनन्द चाहिए।

मैंने कहा कि यह बात तुम ईमानदारीसे बोलते हो? कि बिलकुल ईमानदारीसे, बिलकुल सच्ची। मैंने कहा कि अच्छा, बैठ जाओ। वह मेरे सामने आसन बाँधकर बैठ गया।

मैंने कहा कि अच्छा, जो मैं कहूँगा सो करोगे? हाँ करेंगे। तो मैं यह कहता हूँ कि यह जो आनन्दकी इच्छा है, वह तुम छोड़ दो।

उसने कहा–अच्छा छोड़ दिया। मैंने आपकी बात मानी, आनन्दकी इच्छा छोड़ दी और फिर महाराज, पहले उसके शरीरमें थोड़ा कम्प हुआ, उसकी आँखसे चार-छह बूँद आँसू टप-टप गिरे और जैसे चन्द्रमा चमकता है, वैसे उसका शरीर चमक गया और वह तो महाराज ऐसा समाधिस्थ हुआ कि आपको क्या बतावें! आधा-पौन घण्टे तक मैं भी वहाँ बैठा रहा और वह भी बैठा रहा और उसके बाद जब उठा तो बोला–मुझे आनन्दकी झाँकी मिल गयी, मैं समझ गया कि आनन्द कैसा होता है। यह है आनन्द!

असलमें यह जो इच्छा है, इच्छाएँ जो हैं ये आनन्दकी आच्छादिका हैं। ब्रह्माजीने सृष्टिमें 'आह' बनायी। आह जानते ही हैं आप। आह-आह करके दुनियाका आदमी कराहता है। तो ब्रह्माजीने जब आह बनायी। आहने कहा–पिताजी, आपने मुझे पैदा तो कर दिया, हमारा किसीसे ब्याह भी करो। बोले–जा बेटी, दुनिया भरमें चाहे किसीसे ब्याह कर ले। अब वह गयी महाराज, तो कोई उससे ब्याह ही न करे। बोले–'आहसे कौन ब्याह करेगा!' फिर गयी ब्रह्माजीके पास कि मुझसे कोई ब्याह नहीं करता। ब्रह्माजीने 'च'कारकी चादर ओढ़ा दी उसके मुँह पर कि बेटी घूँघट काढ़कर जा, तब तुझको लोग चाहेंगे। जो आहके मुँह पर चकारकी चादर पड़ी तो उसका नाम 'चाह' हो गया, तब लोग उसको अपने हृदयमें बसाने लगे।

असलमें हमारे मनमें, नित्य प्राप्त शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा, अपने स्वरूपका तिरस्कार करके जो अप्राप्तके लिए चाह है, संकल्प है, वही हमारे जीवनको दुःखी बनाये हुए है। इसीका नाम मृत्यु है, यही असत्, अचित् और दुःख है।

(ध्यानयोग : पृ. 65-66)

मोकलपुर बाबाके उपदेश

मैं केवल एक अर्थमें भाग्यवान् हूँ। जबसे होश सँभाला तबसे मैं किसी-न-किसी सन्तकी छत्रछायामें ही रहता आया हूँ। सन्तोंकी मुझ पर कृपा रही है। उन्होंने मुझे अपना समझा है।

सन् 1930 के लगभगकी बात है। मैंने सुना, काशीसे 6-7 कोसकी दूरी पर गंगा किनारे एक सिद्ध पुरुष रहते हैं, उनकी कुटिया जिस स्थान पर है, उसे गंगाजी चारों ओरसे घेरे रहती हैं। वे किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। कोई दुखिया, रुग्ण उनके पास आता है तो उसके लिए कुछ खरपात (घास-फूस) उठाकर दे देते हैं और वह भला-चंगा हो जाता है।

यद्यपि उन दिनों मेरे मनमें सिद्धियोंके प्रति कोई आस्था नहीं थी, फिर भी उनकी सिद्धियोंकी बात सुनकर मैं आकर्षित हुआ और अपने एक मित्रके साथ दर्शनार्थ यात्रा की। बाबाका ज्योतिर्मय मुखमण्डल और सौम्य स्वभाव मेरी आँखोंके सामने बार-बार नाच जाता था। बाबा कहते–

जब कुछ नहीं था, तो इतना प्रपञ्च फैल गया; जब तुम कुछ करोगे तब तो कभी मिटाये न मिटेगा। इसका बखेड़ा और भी बढ़ जायेगा। केवल जो तुमने अज्ञानवश संसारका बन्धन बना रखा है उसे ज्ञानके द्वारा काट डालो।

–आत्मसमर्पणका अर्थ है कि मैं असमर्पित हूँ–इस भावनाको समूल उखाड़ फेंका जाय। नचाते तो भगवान् हैं, परन्तु मानते हैं कि हम स्वतन्त्रासे नाच रहे हैं। इस मान्यताको नष्ट करना होगा। यह मान्यता संसारके स्वरूप पर, अपने जीवनके स्वरूप पर विचार न करनेके कारण है। इसको समझे बिना निस्तार नहीं हो सकता। चाहे यह बात सद्गुरुसे समझी जाये या भगवान् स्वयं समझायें।

–कलियुगके जीवोंसे ध्यान-समाधि तो बननेकी नहीं, केवल भगवान्के नामके आश्रयसे ही वे कल्याण-साधन कर सकते हैं।

बाबा बार-बार मुझसे कहा करते थे कि उपदेशक नहीं बनना। मैंने एक पुस्तक लिखी थी संस्कृतमें-'तत्त्व रसायन'। बाबाने कहा–इतने ग्रन्थ पड़े हैं, उन्हें पढ़नेवाला कोई नहीं, अब यह नया भार क्यों बढ़ा रहे हो? तुम्हें कागज काला करनेका शौक तो नहीं है? मैंने वह पुस्तक गंगाजीमें डाल दी और निश्चय किया कि अब कभी न लिखूँगा। परन्तु मेरे निश्चयसे क्या होता है, निश्चय तो किसी दूसरेका काम करता है।

यह मैंने देखा था कि कोई कहीं दु:खी होता तो बाबा उसके लिए व्याकुल हो उठते थे। उनके हृदयमें अपार करुणा थी; जीवों पर स्वाभाविक कृपा थी और यही सन्तोंका विशेष गुण है।

यद्यपि उनकी कृपा हम लोगों पर निरन्तर बरस रही है, तथापि वे और विशेष कृपा करके ऐसी योग्यता प्रदान करें कि हम शुद्धान्त:करण होकर उनकी कृपाका अधिकाधिक लाभ उठायें और उनकी छत्रछायाका निरन्तर अनुभव कर सकें।

सन्त स्वयं भगवान् हैं। सन्त भगवान्से भी बड़े हैं। बोलो सन्त भगवान्की जय!

(पावन प्रसंग-पृ. 117-124)

मन एक बदमाश घोड़ा!

जिज्ञासु : महाराज! समर्पण तो एक ही बार होता है, फिर बार-बार समर्पणके संकल्पको दुहरानेकी क्या आवश्यकता है?

महात्मा : बात तो सच्ची है, समर्पण केवल एक बार होता है। परन्तु समर्पण उस वस्तुका किया जाता है जो अपनी होती है, अर्थात् अपने अधीन होती है और जिसके बारेमें हम जानते हैं कि इसके समर्पणमें कोई अड़चन नहीं है। परन्तु यहाँ तो जिसका समर्पण करना है वह हमारे अधीन नहीं है। हमारी 'इन्द्रियाँ' उच्छृङ्खल हैं; हमारा 'मन' मनमानी करता रहता है; हमारी 'बुद्धि' अनेकमुखी है; और 'हम' क्या हैं, इस बातका हमें पता नहीं है। फिर इनका (इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि) समर्पण कैसे किया जा सकता है? यह अपने हाथमें तो है नहीं कि जब चाहा दूसरेको दे दिया। वह इनको वशमें कर लेनेके बाद होता है अथवा लेनेवाला बलात्कारसे इन्हें ले ले तब होता है।

जबतक ये हमारे अधीन नहीं हैं और हम समर्पण करना चाहते हैं तबतक प्रतिदिन नहीं, प्रतिक्षण इन्हें भगवान्को समर्पित करते रहना चाहिए। जब-जब इनके प्रति ममता हो, अहंकार हो, तभी सोचना चाहिए कि ये तो प्रभुके हैं; इन्हें मैं प्रभुको समर्पित कर चुका हूँ, फिर ये मेरे हैं, ऐसा भाव क्यों हुआ? तुरन्त उस भावको मिटा देना चाहिए।

हम संसारमें सच्चा बननेका दावा करते हैं, अपनेको सत्यवादी कहलाते हैं; परन्तु भगवान्के सामने रोज झूठ बोलते हैं कि 'प्रभु हम तुम्हारे हैं, हमारी सब वस्तुएँ तुम्हारी हैं।' कितनी लज्जा और दुःखकी बात है? जब अपनेपनका भाव उठे तभी अन्तस्तलमें घोर दुःख होना चाहिए और तुरन्त सबकुछ भगवान्के चरणोंपर चढ़ा देना चाहिए।

मान लो, तुम्हारे पास एक बदमाश घोड़ा है, उसे तुमने किसीको दान कर दिया या बेच दिया। वह घोड़ा अपने नये मालिकके घर नहीं रहता, बार-बार तुम्हारे पास भाग आता है। अब तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है? तुम उसे अपना मानकर उसपर सवारी करोगे या आते ही नये मालिकके पास पहुँचा दोगे? तुम्हारी साधुता इसीमें है कि उस घोड़ेके साथ तनिक भी ममता होना बेईमानी समझकर उसे तुरन्त उसके नये मालिकके पास पहुँचा दो। वह जबतक तुम्हारे पास आये, अपने नये मालिकसे हिल-मिल न जाय, तबतक बारबार उसके पास पहुँचाते रहो।

यह मन भी बदमाश घोड़ेसे कम नहीं है। समर्पण कर दो इसको भगवान्के चरण-कमलोंपर। इसे और कहीं जाने ही मत दो। भगवान्के चरण भी इतने रसीले हैं कि एकबार वहाँका रस जिस मनको प्राप्त हो जाता है वह फिर वहाँसे हटता ही नहीं।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 36, 37)

नाम जप ही भगवद्भजन है!

जिज्ञासु : भगवन्! यह बात तो समझमें आती है कि इस बातका निरन्तर स्मरण रहना चाहिए कि मैं और यह सब संसार भगवान्का है; परन्तु यह बात निरन्तर स्मरण रहती नहीं, भूल जाया करती है। कैसे स्मरण रक्खा जाय?

महात्मा : निरन्तर स्मरण रखना चाहिए, यह बात हृदयकी गहरायीमें बैठ जाय तो स्मरणके अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगेगा। वास्तवमें तो लोगोंको स्मरणकी आवश्यकताका अनुभव ही कम होता है। क्योंकि जिन सांसारिक पदार्थोंकी आवश्यकताका अत्यन्त अनुभव होता है उनके लिए हम प्राणप्रणसे चेष्टा करते हैं न? भूख लगने पर अन्नके लिए क्या-क्या नहीं करते? प्यास लगनेपर पानीके लिए किसका दरवाजा नहीं खटखटाते? इसी प्रकार स्मरणकी आवश्यकता होने पर हम स्मरणके लिए भी निरन्तर लगे रहते हैं।

संसारमें जितने साधन हैं–जप, तप, पूजा, तीर्थयात्रा, सत्सङ्ग अनेकों प्रकारके याग-यज्ञ आदि सब-के-सब भगवान्के स्मरणके लिए हैं। भगवान्का दर्शन भी भगवान्के स्मरणके लिए है। और तो क्या कैवल्य मोक्ष और जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन भी इसीलिए है कि वृत्तियाँ जगत्की ओरसे सर्वथा हट जायँ और निरन्तर भगवान्के स्मरणमें लगी रहें। भगवान्का दर्शन हो जाने पर जगत्की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। निरन्तर स्मरण होता रहता है। स्मरणके लिए भक्ति होती है। वास्तवमें भगवान्का स्मरण ही स्मरण है।

देश, काल, पात्र, शक्ति, आयु, अवस्था आदि पर विचार करके शास्त्रों और सन्तोंने एक मति से यह निर्णय दिया है कि वर्तमान समयमें नाम जपसे बढ़कर भगवत्स्मरणके लिए और कोई दूसरा साधन नहीं है। नामका उच्चारण हो, और नामका ही ज्ञान हो। नाम स्वयं भगवान् है, नाम स्मरणरूप है और नाम ही परम पुरुषार्थ है। आओ, हम दोनों भी सच्चे हृदयसे भगवान्का नाम गायें। बातें बहुत हो चुकीं। सबका सार यही है–

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

यही सब दोषोंका मिटना है, यही अन्तःकरणकी शुद्धि है और वास्तवमें यही भगवद्-भजन है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 37, 38)

राग-द्वेषकी निवृत्तिका मनोविज्ञान

जिज्ञासु : रागद्वेषकी वृद्धि कैसे होती है और इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है?

महाराजश्री : राग-द्वेषकी पहले थोड़ी-थोड़ी निवृत्ति होने दो, बादमें आत्यन्तिक अर्थात् हमेशाके लिए निवृत्ति करना। पहले यह देखो कि आपके जीवनमें किस चीजकी कमी मालूम पड़ती है। उसकी प्राप्ति जिससे होगी, उससे राग होगा और जो आपकी इच्छाकी पूर्तिमें बाधा डालेगा, उससे द्वेष होगा।

अपने हृदयमें जब किसी दूसरेसे सुख मिलता हुआ मालूम पड़ता है, तब उसके साथ हम जुड़ जाते हैं और वहाँ राग हो जाता है। जब राग हो जाता है तब पक्षपात आ जाता है; जिससे राग होता है,उसके प्रति पक्षपात हुए बिना नहीं रहता। फिर वह चोरी भी करता हो, बेईमानी भी करता हो तो हम उसका समर्थन करने लगते हैं और कहने लगते हैं कि भई! इस वजहसे इसने ऐसा किया है। इसके बाद उसको सुख पहुँचानेके लिए हम स्वयं बेईमानी करने लगते हैं, हिंसा भी करने लगते हैं, झूठ भी बोलने लगते हैं।

हमारे हृदयमें जो एक जलन होती है, एक आग जलती है, उसका नाम द्वेष होता है। हम जो किसीके बारेमें बुरा बोलते हैं, वह द्वेषकी चिंगारी है और किसीके लिए बुरा करते हैं, तो उससे द्वेषकी आग फैलने लगती है।

जैसे आग जिस लकड़ीमें लगती है उसको जलाती है वैसे ही द्वेष जिस हृदयमें आता है, उस हृदयको ही पहले जलाता है। उसकी जो चिन्गारीयाँ एवं लपटे हैं, वह जाकर दूसरेको जलाती हैं, तकलीफ देती हैं।

पहले हुआ द्वेष, द्वेषसे आया क्रोध। क्रोध हमारे भीतरसे जो सुख निकलता है, उसको रोकनेवाली चीज है। फिर यह क्रोध हिंसा एवं विद्रोहके रूपमें परिणत हो जाता है। यह द्वेषकी वंशावली है। इसलिए राग और द्वेष ये दोनों हमको बहुत नीचे गिरानेवाली चीजें हैं।

ये राग-द्वेष ऐसे हैं, जो बड़ी जल्दी-जल्दी आ जाते हैं। ये कभी-कभी कारणसे और कभी-कभी बिना कारणके भी आ जाते हैं। इसलिए इनसे बचनेकी व्यवस्था जीवनमें कर लेनी चाहिए।

राग-द्वेषसे बचनेकी व्यवस्था

....राग-द्वेषसे बचनेकी व्यवस्था जीवनमें कर लेनी चाहिए। यह व्यवस्था क्या है? वह यह है कि हम इन-इन चीजोंसे परहेज रखेंगे और इन-इन चीजोंका अपने जीवनमें सेवन करेंगे। इसीको व्यवस्था कहते हैं। जीवनमें एक व्यवस्था रहनी चाहिए कि हम यह खायेंगे, यह नहीं खायेंगे, यह करेंगे-यह नहीं करेंगे, यह लेंगे-यह नहीं लेंगे और यह बोलेंगे-यह नहीं बोलेंगे। मनमें भी व्यवस्था रखनी चाहिए कि हम इस ढंगसे सोचेंगे, इस ढंगसे नहीं सोचेंगे।

भगवान्ने जीवनकी सर्वोत्तम शैलीका वर्णन किया है, (गीता 2-64,65) जिसका अभिप्राय है कि आप व्यवहार सब करें-पत्नीसे पत्नीकी तरह, पतिसे पतिकी तरह, पुत्रसे पुत्रकी तरह और मातासे माताकी तरह-इस प्रकार व्यवहार सबसे हो, परन्तु राग-द्वेष, अपने चित्तमें किसीका न हो।

जीवनकी प्रणाली तो यह है कि अपनी सारी इन्द्रियाँ ही अपने वशमें होनी चाहिए और मन होना चाहिए आज्ञाकारी। अपने-आपको वशमें रखनेमें जो प्रसन्नता होती है, वह और किसी भी प्रकारसे नहीं होती है। इसलिए यदि अपना मन प्रसन्न रहे तो दुनियामें कहीं भी दुःख नहीं है।

अरे, दुनिया बिगड़ जाय तो बिगड़ने दो। लेकिन तुम अपने दिलको क्यों बिगाड़ते हो? तुम्हारे दिलमें तो परमेश्वर बैठा है। आप एक बार उठकर सबेरे ईश्वरसे हाथ मिलाइये और कहिये कि अरे, हम संसारके लोगोंसे क्या राग-द्वेष करेंगे? हमारा सम्बन्ध तो साक्षात् परमेश्वरसे है। किसीके लिए अपने दिलको खराब करनेकी क्या जरूरत है? ईश्वरसे कहिये कि हे प्रभु, आज दिन भरमें हमारे मनमें किसीके प्रति राग-द्वेष न आवे।

यह अभिमान कभी नहीं करना चाहिए कि यह दोष अब हमारे जीवनमें कभी नहीं आयेगा और यह गुण हमेशा बना रहेगा।

राग-द्वेषकी सम्पूर्ण निवृत्तिके लिए आप रागको एक ऐसी जगह जोड़ दीजिये, जो आपको आँखसे देखनेको नहीं मिलता है। वह कौन है? वह भगवान् है, ईश्वर है, परमात्मा है। उससे आप राग कीजिये, प्रेम कीजिये। इससे लाभ क्या होगा? लाभ यह होगा कि आपका संसारमें किसीसे राग नहीं रह जायेगा। आपका राग भगवान्से हो जायेगा। इसी तरह आपके मनमें द्वेष भी हो तो शिशुपाल एवं कंसकी तरह अपना द्वेष भी भगवान्से ही जोड़िये। फिर संसारमें किसीसे आपका द्वेष नहीं होगा। ईश्वरके साथ आपकी जो भी मनोवृत्ति जुड़ेगी, उससे आप संसारसे मुक्त हो जायेंगे।

(जिज्ञासा और समाधान-पृ. 12 से 16)

साधक जीवनकी कुछ आवश्यक बातें

(I) साधकके लिए सबसे पहली बात यह है कि वह अपनी निष्ठाका निर्णय, निश्चय कर ले। उसे निम्न चार निष्ठाओंमें-से अपने लिए कोई एक चुन लेना चाहिए-

(1) **कर्म**-यज्ञ-यागादि, वेदोक्त कर्मकाण्ड, अशिक्षा निवारण, रोग-निवारण, स्वच्छताका प्रचार, लोगोंमें नैतिक जीवनकी ओर रुचि उत्पन्न करना।

(2) **उपासना**-गायत्री-जप, नाम-जप, देवाराधन, संकीर्तन, कथा-श्रवण, भक्तिके विभिन्न अंगोंका अनुष्ठान।

(3) **योग**-आसन, प्राणायाम आदिके द्वारा चित्तवृत्तियोंके निरोधका अभ्यास।

(4) **ज्ञान**-श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कारके लिए प्रयत्न।

इन चारोंमें-से किसी एकको प्रधान और शेषको गौणरूपसे धारण करना चाहिए। सभी निष्ठाओंमें इन्द्रिय संयम, मनोनिरोध एवं सदाचार युक्त मृदु व्यवहारकी अपेक्षा है। किसी एक निष्ठाको स्वीकार किये बिना-अकर्मण्यता-बेकारी आनेका डर रहता है, जिससे मनमें विकारोंके आनेकी सम्भावना रहती है। निकम्मे आदमीका जीवन प्रमादका घर रहता है।

(II) साधकमें दम्भकी मात्रा बिलकुल नहीं होनी चाहिए। झूठे अभिमान और दम्भसे बढ़कर कोई पतन नहीं है। अपनी कमजोरियोंको जानना, अज्ञानको पहचानना, सतत आत्मनिरीक्षण करना सबसे बड़ी शिक्षा है।

(III) साधकके जीवनकी आधार-शिला, श्रद्धा और विश्वास ही है। यदि अन्तःकरणमें ईश्वर और धर्मपर विश्वासकी स्थापना नहीं की गयी तो संसारकी कोई भी शिक्षा मनुष्यको ईमानदार, चरित्रवान् बनानेमें सफल नहीं हो सकती। कोई भी शासन, विधान, पुलिस, सेना एवं अस्त्र-शस्त्र मनुष्यके हृदयको नहीं गढ़ सकता। श्रद्धा, भावना, विचार और आचारके द्वारा ही उसका निर्माण हो सकता है।

(IV) साधकके लिए भोजन पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। अत्याहार और अनाहार दोनों कब्ज (constipation)के कारण बनते हैं। कब्जसे ही आलस्य, प्रमाद आदिकी सृष्टि होती है। पेटकी खराबीसे मनमें विकार आने लगते हैं। सात्त्विक भोजन भी मात्रासे अधिक लेनेपर विष हो जाता है।

(V) अपनी उन्नति, अन्तर्मुखता और संयमका लेखा-जोखा (record)चाहिए।

(VI) जीवनको आत्मबल, उत्साह और आशासे पूर्ण कर देना चाहिए।

(VII) साधकका संकल्प दृढ़ और अविचल हो।

(साधना और ब्रह्मानुभूति-पृ. 170,171,174,175)

तुम्हें अपना काम करना है! (क्षान्तिः सद्गुण)

साधकके जीवनमें 'क्षान्ति' अर्थात् क्षमाका भाव होना चाहिए। साधक कहीं ऐसे झगड़ेमें न पड़ जाय, बदला लेने न लग जाय जिससे कि उसकी साधनामें ही बाधा उपस्थित हो जाय और उसका मूल उद्देश्य ही गायब हो जाय।

जब हम झूँसीमें (प्रयागमें) रहते थे तो एक महात्मा गंगा किनारे घूमता था। सिर्फ कमरमें लंगोटी और धूल शरीरमें पुती हुई। जाड़ा हो, गर्मी हो, एक-रस जीवन, गंगा किनारे विचरण करता था एवं बड़ा मस्ताना था। यह बात सन् 33-34 की है। उसके कोई दस वर्ष बाद मैं हरिद्वारसे पैदल लौट रहा था। जब मेरठ पहुँचा और वहाँ एक कुँएपर, पानी पीनेके लिए गया तो देखा वही महात्मा चोटी (शिखा) रखे हुए, जनेऊ पहने हुए, तौलिया शरीर पर डाले, कुँएसे पानी खींच रहा था। उसने हमको भी पानी पिलाया। हमने तो पहचान लिया उसको। मैंने कहा-'तुम वही हो न?' बोला-'हाँ वही हैं।' पूछा-'अब तुम्हारी यह क्या स्थिति है? तब तो तुम बड़े मस्ताने थे।'

उसने वर्णन किया-'स्वामीजी! मैं एक गाँवमें भिक्षा लेनेके लिए गया, तो एक भैंसने हमारी पीठमें ऐसी सींग लगायी कि मैं घायल हो गया। मैंने कुछ स्वस्थ होने पर गाँववालोंसे कहा कि तुम भैंस रखना बन्द कर दो। यह महिषासुर वंशज है, इसका रंग भी तमोगुणी अर्थात् काला है। इसका दूध पीनेसे मनुष्यकी बुद्धि बिगड़ जाती है, इसको हटाओ गाँवसे।'

'वहाँ गाँवमें कोई पण्डित था, उसने कहा कि भैंसका दूध तो पेय है और श्राद्धमें एक दिन भैंसके दूधसे पिण्डदान करनेका विधान है। अब जब वे पण्डित शास्त्र ले आये तो हमको शास्त्र आता नहीं था, हम चुप हो गये। बादमें हमने गाँव-गाँवमें व्याख्यान देना शुरू किया, तो लोग लाकर किताब रख दें सामने। तब मैं मेरठ आया और अब ब्रह्मचारी होकर विद्याध्ययन कर रहा हूँ जिससे कि मैं यह सिद्ध कर सकूँ कि भैंसका दूध नहीं पीना चाहिए और भैंस नहीं रखनी चाहिए।'

अब बेचारेकी वह साधना, वह ब्रह्मचिन्तन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, सब भैंसके प्रति दुश्मनीके कारण छूट गया। बड़ा अच्छा विरक्त महात्मा था। असलमें, जब मनुष्य बदला लेनेमें पड़ जाता है तो सारी मस्ती उड़ जाती है। अरे, किसीने कुछ कह दिया तो कह दिया; किसीने तिरछी आँखसे देख लिया तो देख लिया; किसीने अँगूठा दिखा दिया तो दिखा दिया; तुम्हें अपना काम करना है। वह तो तुम्हारे काममें बाधा डालना चाहता है और यदि तुम उससे प्रभावित हो जाते हो, तो तुम अपने दुश्मनका काम करते हो, अपना काम कहाँ करते हो? तुम तो उसकी चालमें आ गये, उसके षड्यन्त्रमें फँस गये, वह तुमको तुम्हारी साधनासे च्युत करना चाहता है और तुम च्युत हो गये।

(ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना-पृ. 23-24)

मनका स्वभाव

मनकी शक्तियाँ असीम हैं। उसकी एक ममता-वृत्तिने मनुष्यको खिलौना बना रखा है। मनुष्यके अधीन मन नहीं है; अपितु मनके अधीन मनुष्य है। वह शुद्ध रूपसे सोना, जमीन, स्त्री या पुरुषको नहीं देखता, किसीके साथ सम्बन्ध जोड़कर देखता है-'मेरा है, तेरा है, उसका है।' इस सम्बन्धको इतना दृढ़ बना देता है कि मनुष्य वस्तुकी रक्षाके लिए नहीं, सम्बन्धकी रक्षाके लिए राग-द्वेष करता है, लड़ता है, हँसता है और मिलने-बिछुड़नेपर अपने आपतकको खो देता है। आज विश्वके रंगमंचपर जो सन्धि-विग्रहका ताण्डव नृत्य हो रहा है, उसका मुख्य संचालक मन ही है।

हमने मनोराज्यमें, स्वप्नमें और उपासना-जनित तन्मयतामें-मनकी शक्तियोंका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। बिना किसी घटनाके केवल मनोराज्यसे ही दिलका धड़कना; बिना स्त्री-संसर्गके ही स्वप्नमें शुक्रपात; ध्यानकी तन्मयतामें देवी-देवताओंके दर्शन, उनसे आलाप और वरदानकी प्राप्ति भी होती है।

हमारे मनका एक स्वभाव है-वह यह है कि जब मन किसी भी स्थिति, विचार, संकल्प, स्मृति, सम्भावना, भाव, मूर्ति आदिका रूप ग्रहण करता है या उसे विषय करता है तो उसमें पूर्णताका ही दर्शन कराता है। वह स्वप्न-कालमें, स्वप्नके पदार्थोंको भी जाग्रत-कालीन पदार्थोंके समान सत्य ही दिखलाता है। वह अपनी आँखको कभी झूठी नहीं कहता।

मनके द्वारा मालूम पड़नेवाले पदार्थ, स्मृति, कल्पना, निश्चय, स्थिति, साधन और फल-सब-के-सब इन्द्रजाल हैं। माटी और सोनेका भेद, उनके साथ अपना या किसी दूसरेका सम्बन्ध, उनका संयोग-वियोग और उससे होनेवाला सुख-दुःख, त्याग और ग्रहण-यह सब मनके विलास, मनकी प्रवंचना हैं। जैसे किसी-किसी मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा होता है कि हलकी-फुलकी बातपर भी बहुत जिद्द करता है या सुनी-सुनायी बातका भी वह प्रत्यक्ष वर्णन करता है, मनोराज्यको ही सत्य घटनाका रूप दे देता है; वैसे ही यह मनका स्वभाव है कि वह अपनी परिवर्तनशील झूठी प्रतीतियोंको भी चट्टानसे भी दृढ़, मृत्युसे भी ठोस और अपनी आत्मासे भी अधिक सत्य करके दिखाता है।

यह मन जिसको 'मेरा' कहता है, वह 'मेरा' नहीं है; जिसको 'तेरा कहता है, वह 'तेरा' नहीं है; जिसको 'सत्य' कहता है, वह 'सत्य' नहीं और जिसे मिथ्या कहता है वह मिथ्या नहीं है। जिसने इसके स्वभावको पहिचान लिया उसने एक महान् अनुभव प्राप्तकर लिया और वही हर्ष-शोकमय संसारको साँपके केंचुलकी तरह छोड़कर अलग हो जाता है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. ९८,100)

ईमानदारीकी आवश्यकता

दो वर्ष पहलेकी बात है। एक सज्जन मिलनेके लिए आये। स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुए, चिकने-चुपड़े, सविनय-मधुर वाणी। झूठी-सच्ची बात बनाकर धोखा-धड़ीसे कुछ रुपये ले गये। ले गये, कोई बात नहीं। विचार तो यह है कि झूठ और धोखा क्यों? बाहरसे दूधकी भाँति सफेद, फिर यह भीतर विष क्यों, यह आजकी एक समस्या है। आजकी ही नहीं, गम्भीरतासे देखो तो हमेशाकी है; परन्तु ऐसा क्यों है?

मनुष्य बाहर देखता है, भीतर नहीं। वह स्थूल शरीरको खिलाता-पिलाता है, सजाता-सँवारता है, हजामत आदिसे दुरुस्त रखता है, स्फटिक-सा स्वच्छ, परन्तु इसका भीतरी हिस्सा गन्दा है। बाहरकी चमक-दमक, भीतरसे मैला-कुचैला, भूखा-प्यासा, दीन-हीन, नंग-धड़ंग। इसका अर्थ है कि मनुष्यने अपने सूक्ष्म शरीरकी सेवा-शुश्रुषा, जाँच-पड़ताल, देख-भाल छोड़ दी है, वह दम्भी हो गया है। हृदयमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चोर-लुटेरोंको जान-बूझकर आश्रय दिये हुए है, और बाहरसे भले-मानुष बननेका ढोंग रचता है। आज विश्वके सामने जितनी समस्याएँ हैं-युद्ध, संघर्ष, बेकारी, भूखमरी, अभाव, शिक्षाकी असुविधा आदि-उसके मूलमें यही मनोवृत्ति है। हृदयका आकाश स्वच्छ हो तब चाँदनीका आनन्द आता है। इसके लिए ईमानदारीकी आवश्यकता है।

एक किसी भले मनुष्य या अपने-आपको ही समाजमें बैठा दीजिये और छूट दे दीजिये कि जो मनमें आये सो बोलते जाओ। आध-घण्टेके भीतर पागलपनका प्रमाण-पत्र प्राप्त हो जायगा। आज मनुष्यका मन पागल हो गया है। बिना क्रम, बिना संगति और बिना स्वारस्यके न जाने क्या-क्या सोचता रहता है? इसी पागलकी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिए बाजारकी सारी दुकानें सजा दी गयी हैं। यह मनुष्य क्या चाहता है-इसका पता मनुष्यको देखनेसे नहीं लगता, बाजारको देखिये।

आज ढोंगी, धूर्त, लठैत, बेईमानकी दसों अँगुलियाँ घी में हैं, यह कबतक चलेगा? यह कथा व्यक्तिकी नहीं, व्यक्तियोंके समूहकी है। दुःख भी अभावका नहीं, मनका है। समाज और सरकार अभावका दुःख पूरा करनेके लिए तो प्रयत्नशील है। होना ही चाहिए और उन्हें सफलता भी मिलेगी; परन्तु मनका दुःख कौन मिटाये?

लोगोंका सूक्ष्म शरीर सुन्दर, सुपुष्ट हो, विनयमधुर हो, स्वच्छ शीतल, तृप्त हो-उसके लिए जीवनदानकी, आदर्श जीवनकी आवश्यकता है। है कोई आगे आकर अपनेको नमूनेके रूपमें उपस्थित करनेवाला?

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 101,102)

कुएँमें ही भाँग पड़ गयी है!

जीवन-निर्वाहके लिए मनुष्य शरीरको उपादानभूत पञ्चतत्त्वोंके विशेषाकार परिणत अन्न, फल, गरमी, सरदी, हवा आदिकी आवश्यकता है। उनके बिना इसका प्रवाह-रस सूख जायगा—इसमें सन्देह नहीं। परन्तु आवश्यकताका अर्थ यह तो नहीं होना चाहिए कि उन्हींके लिए इस मनुष्य शरीरको बेंच दिया जाय। आजके समाजमें मनुष्य जीवनकी प्रधानता है अथवा अर्थकी? मनुष्यने अर्थके लिए लड़की-लड़केका विक्रय कर दिया। अपनी सुख-सुविधा और अपनी बुद्धि भी अर्थकी कीमत लेकर पराधीन कर दी। जड़ताके भारसे शिव शव हो गया। मुर्देपर जिन्दा न्यौछावर कर दिया गया।

पैसा, पैसा, पैसा! यह कैसी चीख-पुकार है? पैसेकी बाजी जीतनेके लिए सदाचार, सद्भावना और सद्बुद्धिकी सम्पत्ति जान-बूझकर खो दी। एक वादी पैसेके लिए झूठी गवाही देता है। वकील पैसेके लिए झूठी बहस करता है। ज्ञानी पैसेके लिए अपनी बुद्धि द्वारा निश्चित झूठको सच बतलाता है। यह क्या विडम्बना है? व्यापारीकी तो बात ही मत पूछो। सब सेर भर तो वह सवा सेर। डाक्टर पैसेके लिए लोगोंकी जिन्दगीके साथ खिलवाड़ कर रहा है। किसकी-किसकी कहें? कुएँमें ही भाँग पड़ गयी है।

आज संसारमें जितने अनर्थ हो रहे हैं, पैसेकी कीमत बढ़ जानेसे। इसीके लिए अणुबम और इसीके लिए विज्ञान। दर्शनशास्त्र भी तो अछूता नहीं बचा। ऐसा अनुभव हो रहा है कि मनुष्य अभी अपनी कीमत नहीं समझ रहा है। पैसेकी कीमत बढती जा रही है और अभी और भी बढ़ेगी। यही रफ्तार रही तो एक दिन ऐसा भी आयेगा जब पैसा-ही-पैसा रहेगा, मनुष्य नहीं। तब पैसेकी कीमत अपने आप ही समाप्त हो जायेगी।

तब क्या विश्वके सम्पूर्ण उपद्रव, उत्पात और संघर्षकी जननी यही अर्थकी मूल्य-वृद्धि नहीं है?

बाहरसे अन्दरकी ओर, जड़से चेतनकी ओर, अर्थसे मनुष्यकी ओर जब हमारी बुद्धि मुड़ेगी तभी सदाचार, सद्भावना, सद्गुरु और सद् विचारकी प्रतिष्ठा होगी—अनुभवकी आँखसे यह प्रत्यक्ष दीखता है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 97,98)

प्रेम एक भ्रम

संसारमें प्रेम किससे है? धनके लिए स्त्री-पुत्रका परित्याग करके परदेश जाते हैं। स्त्री-पुत्रके लिए अत्यन्त परिश्रमसे उपार्जित धनका भी परित्याग कर देते हैं। स्त्रीके लिए पुत्रका, पुत्रके लिए स्त्रीका, अपने शरीरके लिए दोनोंका और दोनोंके लिए अपने शरीरका भी परित्याग देखनेमें आता है। लोकके लिए परलोकका, परलोकके लिए लोकका, ईश्वरके लिए जगत्का, जगत्के लिए ईश्वरका त्याग भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।

जिससे राग है उससे द्वेष और जिससे द्वेष है उससे राग हो जाता है। शत्रु, मित्र और मित्र शत्रु हो जाते हैं। इस देश, काल और अवस्थाका प्रिय पदार्थ, दूसरी परिस्थितीमें ठीक विपरीत देखनेमें आता है। किससे, कब, कहाँ, क्यों, किस रूपमें राग हो और किससे विराग, यह न्याय कौन करे? हाँ, इतना अवश्य अनुभवमें आता है कि अपने आरामके लिए सुषुप्ति-पर्यंक पर शयन करनेके लिए ऐसी कोई भी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया अथवा भाव नहीं है, जिसको जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों छोड़कर मनुष्य अपने आपमें लिपट न जाय।

तब क्या यह संसारका राग-वैराग्य, हानि-लाभ, ह्रास-उल्लास-कथा, चित्रपट पर भिन्न-भिन्न दृश्योंको देखकर उठनेवाले भाव-तरंगोंके समान ही अस्थायी-क्षणिक नहीं है?

मनुष्य एक चित्रशालामें प्रवेश करता है, भयानक चित्र देखकर डरता है, बीभत्स चित्र देखकर घृणा करता है, करुण चित्र देखकर करुणासे द्रवित हो जाता है; परन्तु क्या उसके ये सारे भाव मनोरंजन मात्र नहीं है? एक बार अपनी बुद्धिकी गर्दन पीछेकी ओर मोड़कर देखें, सिंहावलोकन करें। कितनी बार कितनोंके प्रति प्रेमकी, प्रेमास्पद होनेकी वृत्तियाँ नहीं आयीं। कुछ दिन रहीं। कुछ महीनों तक, वर्षोंतक उन्होंने सुख-दुःख दिया। आज प्रयत्नपूर्वक स्मरण करनेपर भी वे नहीं लौटती। इसका क्या आश्वासन है कि आज जिसके प्रेममें हम मर-जी जा रहे हैं और जो हमारा सर्वस्व बना बैठा है, वह भी उसी कोटिमें नहीं चला जायगा, जिस विस्मृतिके गम्भीर गर्तमें पहले वाले पदार्थ पहुँच चुके हैं? तब क्या सचमुच हमारे हृदयमें इस समय प्रेम है? क्या वस्तुतः हमारा कोई प्रेमास्पद है? किसी शत्रु-मित्रमें वास्तविक स्थायित्व है?

यह प्रेम एक भ्रम है। यह अपने कालमें सच्चा भासता है। राग-द्वेषका जीवनमें केवल वहीं तक उपयोग है जहाँतक वे मनोरंजनके दो पहलू हैं। चित्रशालाके करुण, बीभत्स, शृङ्गार आदि रसोंके चित्र देखनेसे उदय होनेवाले भावमात्र ही, जैसे मनोरंजन मात्र हैं, वैसे ही संसारके राग-वैराग्य भी मनोरंजन मात्र हैं। साथ-ही-साथ ये आत्मतृप्तिकी एकरसताके उद्बोधक हैं। चलसे ही अचलकी सिद्धि होती है। छोटे से ही बड़ा सिद्ध होता है और क्षणिक ही अविनाशीका साधक है—यह अनुभव है।

(साधना और ब्रह्मानुभूति : पृ. 100,101)

पौरुषको जीवनमें प्रकट करो!

आपने सुना है न कि 'जो खुद अपनी मदद नहीं करता, खुदा भी उसकी मदद नहीं करता।' 'जो अपनेको जोखिममें नहीं डालता, वह कभी फायदा नहीं उठा सकता।'

देखो! गुलामी केवल आदमीकी ही नहीं होती; गुलामी अपनी वासनाकी भी होती है। जब हमारा मन शरीरको कुमार्गपर घसीटता है, तब हम मनके गुलाम होते हैं। कोई भी साधक मनका गुलाम कैसे हो सकता है? जो अपने जीवनमें आशावान है; और, अपने लक्ष्य प्राप्तिके लिए साधनमें दृढ़ है, वह मनकी-वासनाकी गुलामीको-पराधीनताको कबूल नहीं कर सकता है। हमारा मन जो कहेगा, सो ही हम करेंगे-ऐसा कोई साधक कैसे कर सकता है?

पौरुष माने साधना। साधना छोड़ देनेका उपदेश, आपकी प्रगतिका सहायक नहीं है। प्रगति माने आगे बढ़ना।

जीवनमें, अच्छी-बुरी दोनों वासनाएँ आती हैं। यदि आप अपना झुकाव अच्छी वासनाओंकी ओर कर देंगे, तो बुरी वासनाएँ भी अच्छी बनकर, अच्छीमें आकर मिल जायेंगी। अतएव आप बुरी वासनाओंका पक्ष न लें एवं अच्छी वासनाओंको जीवनमें लानेका प्रयत्न निरन्तर करते रहें।

योगवासिष्ठमें वसिष्ठजी कहते हैं-'रामजी! दुनियाका चाहे जो आदमी यदि अपने पौरुषका ठीक-ठीक प्रयोग करे, तो जैसे विश्वामित्रने ब्रह्माके मुकाबलेमें दूसरी सृष्टि बना दी थी, वैसे उसमें सृष्टिके निर्माणका सामर्थ्य हो सकता है। सद्-अंश होनेसे वह सर्वाकार हो सकता है। चिद्-अंश होनेसे वह सर्वज्ञ हो सकता है। आनन्द-अंश होसे वह सर्वभोक्ता हो सकता है। अद्वितीय होनेसे वह किसीके द्वारा अभिभूत नहीं हो सकता है-दब नहीं सकता है।

साधकके जीवनमें पौरुषका प्रगट होना अनिवार्य है।

आजतक जिस किसीको जब कभी जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह पौरुषसे मिला है।

पौरुषका ठीक-ठीक प्रयोग करो। पौरुषको जीवनमें प्रगट करो।

विचारवान्‌के लिए मृत्यु जरा भी भयङ्कर नहीं!

जब जय-विजय असुर हो गये तब उनका असुर भाव ही छुड़ाया भगवान्‌ने, उनकी मृत्यु नहीं हुई, उन्होंने असुर-भावका जो चोला पहिन लिया था और उसके साथ इतना एक हो गये थे कि अपने-आपको तो भूल ही गये थे, भगवान्‌को भी भूल गये थे। तो भगवान्‌ने उनका वह चोला उतार भर दिया, उनको मारा नहीं।

यह लोग जो शरीरकी मृत्युको मृत्यु मानते हैं वे आध्यात्मिक जगत्‌से सर्वथा ही अपरिचित हैं। जिनका यह ख्याल है कि पहले हमारा जीवन नहीं था और बादमें भी हमारा जीवन नहीं होगा—यह मनुष्य शरीर हमें फिर नहीं मिलेगा, वे लोग मौतको बहुत भयङ्कर मानते हैं और उससे डरते हैं। और जिनको मालूम है कि जीवन पहले भी था और बादमें भी रहेगा—सुख-दुःखकी परम्परा चलती रहेगी, इसमें हमारा कुछ बनने-बिगड़ने वाला नहीं है, वे चैनकी वंशी बजाते हैं। इसको ऐसे समझो—जैसे रात्रिमें जिस कमरेमें, जिस पलंगपर आप सोते हैं, उसी कमरेमें, उसी पलंगपर आप प्रातःकाल जागते हैं, वैसे ही मृत्युके समय आप जिस भावनाके साथ मरते हैं, उसी भावनाको लेकर आप जन्मते हैं। तो विचारवानोंके लिए मृत्यु जरा भी भयङ्कर नहीं होती।

और भगवान् किसी जीवका संहार नहीं करते, क्योंकि आत्मा तो भगवान्‌का स्वरूप है। यदि आत्माकी मृत्यु हो जायेगी तो फिर भगवान् रहे कहाँ? असलमें आत्मापर जो वासना की परत-पर-परत अर्थात् काई जम गयी है, भगवान् उसको धो-पोंछकर जीवको शुद्ध स्वरूप प्रदान कर देते हैं। इसी बातको इस तरहसे समझें—जैसे आपके हाथमें यदि मैल लग जाय, आपके चाममें कोई रोग हो जाय, आपके किसी अङ्गमें विष व्याप्त हो जाये तो आप उस अङ्गको धो-पोंछकर दवा लगाकर, यहाँ तक की अङ्गको काटकर भी अपनेको सुरक्षित करते हैं; ऐसे ही इस संसारके जीव जो हैं, ये भगवान्‌के ही अंश हैं और जब इनमें कोई दोष आ जाता है तब भगवान् उस दोषको मिटा देता है और उसको शुद्ध-सुन्दर बना देते हैं।

हमारे अवतार हिंसक नहीं होते हैं। कभी-कभी दूसरे लोग आक्षेप करते हैं कि हिन्दुओंके अवतार हिंसक होते हैं। क्योंकि उनके पास धनुष-बाण होते हैं, चक्र होता है। नहीं-नहीं, उनके पास ऑपरेशन करनेका औजार होता है, जिससे वे रोगीको, रोगसे मुक्त कर देते हैं, उसको विषैला होनेसे बचा लेते हैं। जो मरनेको आत्माका अन्त मानते हैं, वे तो बिल्कुल भौतिकवादी हैं, मूर्ख हैं एक तरहसे।

(प्रह्लाद-चरित : पृ. 78,79)

साधनाका आनन्द स्वास्थ्यका आनन्द है!

आप खेतीको, व्यापारको, नौकरीको, रोगको, अपने छोटे-छोटे बच्चोंको, भविष्यपर-होनहार पर नहीं छोड़ सकते। पर, आप अपने मनको होनहारपर छोड़ देते हैं। क्या यह आपकी बुद्धिमत्ता है?

साधनाका जो प्रयोजन है, वह वासनाके वेगको मर्यादाके अन्दर अर्थात् विधि (नियम) के अन्दर ले आना है। पौरुषको शास्त्रीय बना देना है। इस शिष्टानुसारी साधनामें ऐसा मजा आता है कि आपको क्या बतावें? यह भोगमें जो मजा आता है, उसमें तो कुछ है ही नहीं। वह तो जिन लोगोंने साधना नहीं की है और केवल भोग-ही-भोग किया है, उनको यह मालूम नहीं है कि साधनाका क्या आनन्द है! यह साधनाका आनन्द स्वास्थ्यका आनन्द है।

यदि बालकपन-से तुमने शास्त्रका और सत्सङ्गका अभ्यास नहीं किया है, तो कोई हर्ज नहीं है। आजसे शुरू करो। आपके जीवनका शुभ दिन आज है। आपकी साधनाके मङ्गलाचरणका दिन आज है। शुभ संकल्प धारण करनेका दिन आज है।

आओ! आप गुणोंको धारण करो और प्रयत्नशील रहो। आप जो चाहते हो, सो मिलेगा। आप वासनाकी परतन्त्रता-वासनाकी गुलामी मत स्वीकार करो।

एक सज्जन बोले-'हमारे मनमें धनकी वासना है।' हमने कहा-'यदि तुम्हारे मनमें धनकी वासना है, तो खेती करो, व्यापार करो, नौकरी करो। अपनी परिस्थितिके अनुसार-कायदेके अनुसार काम करो।'

साधनामें भी कायदेका काम, कायदेका क्रोध, कायदेका लोभ चलता है।

बेकायदेका काम-परस्त्री; बेकायदेका लोभ-पर द्रव्य हरण; बेकायदेका क्रोध-हिंसा, साधनाके मार्गमें नहीं चलते हैं।

देखो! यदि आपका जीवन शुभवासनाके अनुसार चल रहा है, तो धन्यवाद है। यदि अशुभ वासना आपको संकटमें ले जाती है, तो आपको उसपर विजय प्राप्त करना चाहिए।

(जीवन्मुक्ति विवेक : 230,231,235,236,241)

हाथ छीन लिये गये!

हमको एक सज्जनने कथा सुनायी।

कोई सज्जन घरसे त्याग-वैराग्यका भाव लेकर निकले। उनको जाकर माँगनेमें शर्म आवे। भीतर वैराग्य नहीं था। वैराग्यमें भूख लगनेपर अन्न माँग लेना भी अहंको छुड़ानेवाला है। प्यास लगनेपर पानी माँग लेना भी अहं भावसे छुड़ाने वाला है। कभी-कभी तो अहं भाव बड़ा दुःख देता है।

तो वह सज्जन पेड़के नीचे जाकर बैठ गये। वहाँ अपना आसन जमा लिया। लोग देखते कि यह सज्जन पेड़के नीचेसे उठते ही नहीं है। कोई भोजन लाकर खिला देता। जब धीरे-धीरे गाँवमें बात फैलने लगी, तब उनके लिए वहीं दूध भी आने लगा; रबड़ी-मलाई भी आने लगी; मिठाई वगैरह भी आने लगी। वह पेड़के नीचे बैठकर खूब मजेसे खाते-पीते और बड़ी मस्तीसे रहते। वह कहते–'देखो! हमारे प्रारब्धने सब भेज दिया। ईश्वरने हमारे पास यह सब खान-पानका समान भेज दिया।

थोड़े दिनोंके बाद गाँवमें चोरी हुई। चोरोंने सोचा-वही साधु, जो कहीं जाता नहीं। उसकी कुटियाके पास माल छिपा दिया जाय तो किसीको पता नहीं लगेगा। चोरोंने ऐसा ही किया। धीरे-धीरे पुलिसको पता लगा। बाबाजीकी कुटियाकी दीवारमें-से वह माल निकला। बाबाजी पकड़े गये।

पुराना जमाना। उस समय तो चोरीकी बड़ी कड़ी सजा थी। उनके हाथ कटवा दिये गये। फिर भी, उन्होंने इसपर कुछ बहुत ध्यान नहीं दिया। परन्तु, उन्होंने ईश्वरसे पूछा कि 'जब मैंने चोरी नहीं की और मुझे उसके बारेमें कुछ मालूम भी नहीं था, तब मेरे हाथ क्यों कटवाये गये? यह मेरे किस अपराधका दण्ड है? ईश्वरने उनके हृदयमें बताया कि 'हमने तुमको काम करनेके लिए दो हाथ दिये थे। जब तुमने उनको बिल्कुल निकम्मा बना दिया, तब उनको तुम्हारे पास रखनेसे क्या फायदा है? इसलिए, तुमसे छीन लिये गये।'

ईश्वरने उनके दिलमें यह जवाब दिया। अब बेचारेको उसके प्रश्नका उत्तर मिल गया। महात्मा था। सन्तोष हो गया। वहाँसे उठा और जाकर फिर दूसरी जगह बैठ गया।

(जीवन्मुक्ति-विवेक : पृ. 283,284,285)

मनकी शान्ति

'हाय पैसा! हाय पैसा!'की करुण चीख कानोंका पर्दा फाड़े डालती है। भला यह भी कोई मनुष्यता है! जिसका सब कुछ होना चाहिए मनकी शान्तिके लिए, भगवान्की प्रसन्नताके लिए; वही मानव आज कौड़ी-कौड़ीके लिए दर-दर भटक रहा है। कहीं क्षण भरके लिए भी उसे शान्ति नहीं मिलती। परन्तु यह सब किसलिए? जिस सुखके लिए यह परिश्रम किया जा रहा है, उसे पानेके पहले ही सदाके लिए चल बसे तो वह किस काम आयेगा? भैया, सच्ची बात तो यह है कि जगत्की सारी सम्पत्ति भी मनकी एक क्षणकी शान्तिकी तुलनामें कुछ भी नहीं है।

महात्मा लीलातीर्थ, महान् सन्त हुए हैं। वे जब डाक्टरी पढ़ रहे थे, उनका नाम था रामहरि। उस समय कालेजमें लड़कों और लड़कियोंके बीच बड़ी चखचख चल रही थी। एक दिन किसी लड़कीसे कालेजकी कोई वस्तु नष्ट हो गयी। लड़कियोंने एक मतसे उसकी जिम्मेवारी रामहरि पर थोप दी। अधिकारीने रामहरिको बुलाया और जब रामहरिने उस अपराधको न स्वीकार किया, न अस्वीकार, तब उसने उनपर पचास रुपया जुर्माना कर दिया। उन्होंने चुपचाप जुर्मानेकी रकम दाखिल कर दी। लड़कोंने इकट्ठा होकर रामहरिकी इस चुप्पीका विरोध किया और कहा कि तुम इसकी अपील करो। हम लोग यह बात प्रमाणित कर देंगे कि तुमने वह वस्तु नष्ट नहीं की थी, वह काम अमुक लड़कीका था। तुम्हारे रुपये वापिस मिल जावेंगे। रामहरिने कहा-'आप लोगोंका कहना ठीक है। यदि दस-पाँच दिन तक प्रयत्न किया जाय, प्रमाण इकट्ठे हों, सोच-विचारकर काम हो तो मेरे पचास रुपये लौट सकते हैं। परन्तु; पचास रुपयोंके लिए मैं अपने मनको इतने समय तक बैचेन नहीं रखना चाहता। प्रमाणित करनेकी चिन्ता, तरह-तरहकी बन्दिशों और व्यर्थका उद्वेग मोल लेकर मैं पचास रुपये नहीं चाहता। जब लोग भोजनके लिए, वस्त्रके लिए, झूठमूठकी बनावट, शान-शौकत और आमोद-प्रमोदके लिए हजारों रुपये पानीकी तरह बहा देते हैं तब मैं अपने मनको बैचेन होनेसे बचानेके लिए पचास रुपयेका त्याग कर दूँ, इसमें क्या बुरा है? रुपये गये तो गये, मेरा मन तो शान्त रहेगा न?' रामहरिकी इस बातका लड़कों पर तो प्रभाव पड़ा ही, लड़कियाँ भी प्रभावित हुए बिना न रहीं। उन्होंने पश्चात्ताप किया, क्षमा माँगी, पचास रुपये लौटा दिये और उनका आपसका मन-मुटाव हमेशाके लिए मिट गया। इसका यह अर्थ नहीं है कि धन कोई चीज ही नहीं है। वह एक उत्तम वस्तु है, परन्तु है मनकी शान्तिके लिए। मनको शान्त रखते हुए ही उसे कमाओ, भोगो और छोड़ दो। उसके कमाने, भोगने या त्यागनेमें मनकी शान्ति न खो बैठो। उसके द्वारा तुम्हारी सेवा होनी चाहिए, तुम उसके सेवक नहीं हो।

(भक्ति सर्वस्व-पृ. 184-185)

भगवान्से प्रेम करना-बड़ा कल्याणकारी है, मंगल है!

जो दुनियामें दुःखी हैं, आर्त है, वह भगवान्को पाता है। जिनको कोई बल है, धनका बल है, जनका बल है, बुद्धिका बल है, पदका बल है, विद्याका बल है, उनके ऊपर यह नन्दनन्दन श्यामसुन्दरकी कृपा जो गिरती है, उसका अनुभव नहीं होता। आर्तका दिल थोड़ा गीला होता है तो जो भगवान्की कृपा आती है वह उसमें अटक जाती है। और अभिमानीका जो दिल है वह थोड़ा सख्त होता है-तो भगवान्की कृपा उनके अभिमानके ऊपरसे छलककर बह जाती है।

देखो हमारी वेदान्तमें, बचपनसे बहुत रुचि थी; सत्सङ्गमें भी रुचि थी। एक महात्माके पास गये तो उन्होंने कहा कि देखो तुम चाहे वेदान्त सीखना चाहो, चाहे भक्त बनना चाहो, चाहे धर्मात्मा होना, एक बात हमारी याद रखना-जबतक शास्त्रका एक-एक अक्षर तुमको सच्चा मालूम न पड़े, तबतक समझना कि हमारे ज्ञानमें गलती है और शास्त्र सच्चा है। यह शास्त्र जिस देशमें, जिस कालमें, जिस जातिमें, जिस अवस्थामें, जिस अधिकारीके लिए, जिस वस्तुका वर्णन करते हैं उस रूपमें वे बिलकुल ठीक हैं। और जिस ब्रह्मज्ञानके हो जानेपर शास्त्र बाधित हो जाते हैं—यह वर्णन भी शास्त्र करते हैं कि हम बाधित हो जाते हैं; शास्त्र बताते हैं कि अमुक अवस्थामें सब मिथ्या है। तो उन्होंने कहा—देखो वह अवस्था तो प्राप्त न हो अर्थात् तत्त्व साक्षात्कार तो प्राप्त न हो और यह भक्ति जो अन्तःकरणका निर्माण करनेवाली, सर्वोत्तम रसायन, सर्वोत्तम औषधि है; अब इसको मिथ्या कह देना माने दवाको अपने हाथसे फेंक देना है। जैसे रोगी दवाको अपने हाथसे फेंक दे—यह वैसा ही है।

जिसका अन्तःकरण अशुद्ध है, जिसके अन्तःकरणमें विकार है; जिसका अन्तःकरण संसारके राग-द्वेषसे दूषित है यदि वह भगवानकी भक्तिका त्याग कर दे तो उसने क्या किया? कि रोगीने अपने रोगकी दवा पानीमें फेंक दी। कैसे सुधरेगा उसका अन्तःकरण?

तो वह जो सिद्ध महापुरुष थे उन्होंने हमको जो बात बतायी कि जैसे जिज्ञासुके लिए वेदान्त, सत्य वस्तुका प्रतिपादन करता है, वैसे भगवत्प्रेमीके लिए, भक्ति शास्त्र, अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवदाकार करनेके लिए बिल्कुल शुद्ध वस्तुका प्रतिपादन करता है। भगवान्से प्रेम करना, यह बड़ा कल्याणकारी है, मंगल है!

(युगलगीत पृ.58,59,60)

जब बोलना ही पड़ता है तो श्रीकृष्णकी चर्चा करो!

भगवान् जब वृन्दावनमें आये तो वैकुण्ठकी कोई चीज नहीं पहनते हैं। ब्रह्मलोक अथवा स्वर्गलोकसे कुछ नहीं मँगाते हैं। सब स्वदेशी वस्तु लेते हैं।

एक बार कलकत्तेमें दो धनियोंमें लड़ायी हो गयी। ऐसे हुआ कि हम एक धनीके घरमें ठहरे हुए थे और दूसरे जो थे वह बहुत प्रेम करते थे, उनके घर नहीं ठहरा था। तो दिन भरमें छः दफे वे कुछ न कुछ लेकर आवें। कभी सौंफ लेकर आये, कभी लड्डू लेकर आ रहे हैं। कभी मलाई लेकर आ रहे हैं। तो जिनके घरमें मैं ठहरा था, वे नाराज होकर बोले–क्या हमारे घरमें नहीं है? क्या हमारा प्रेम स्वामीजीसे नहीं है? आप हमारा तिरस्कार करनेके लिए आते हैं; तो दोनों धनी लड़ गये।

तो जब भगवान् धरतीपर आते हैं तो व्रजभूमिमें जो वस्तु पैदा होवे उसका आभूषण–सिरपर मयूर पिच्छ, कानोंमें फूल, गलेमें फूलोंकी माला, कन्धेपर पीताम्बर, शरीरपर जगह-जगह खड़िया और कमरमें पत्ते बाँध लिये। तो देखो आपका ध्यान, आपका मन जायेगा वहाँ! अरे दिन भर फालतू चर्चा करते हो भाई, वाणीका अपव्यय होता है।

व्यर्थ भोजन, जो शरीरके लिए जरूरी न हो; व्यर्थ वचन; व्यर्थ चेष्टा, व्यर्थ दर्शन; व्यर्थ श्रवण–बेमतलब, न तो अन्तःकरण शुद्ध होकर लोक बने और न परलोक बने और अपना समय भी खराब हो ऐसा काम क्यों करना?

ले चलो न अपना मन भगवान्में। देखो अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है। यह राग-द्वेषकी चर्चा, किसीकी निन्दा और स्तुति, यह तो हृदयको अशुद्ध करती है। हम कहते हैं कि यदि बिना बोले तुमसे रहा जाता है तो रहो, बहुत बढ़िया। अगर बिना कोई शक्ल-सूरत मनमें आये रहा जाये तो रहो, बहुत बढ़िया। लेकिन जब मनमें शक्ल-सूरत आती है तो कृष्णकी शक्ल-सूरत लाओ जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो। जब बोलना ही पड़ता है तो श्रीकृष्णकी चर्चा करो, जिससे विचार पैदा होता है, अन्तःकरण शुद्ध होता है।

ग्वाल-बालोंने कहा कि 'श्यामसुन्दर! हम गायोंको डण्डेसे हाँक-कर लाते हैं।' श्यामसुन्दरने कहा–'हम वेणुसे गायको बुलाते हैं।' डण्डेसे हाँको तो यह भी एक उपाय है और बाँसुरीसे बुलाओ तो यह भी एक उपाय है। विवेकका डण्डा मार-मारकर इन्द्रिय रूपी गायको ठीक करो तो यह भी एक उपाय है और इनको प्रेमका, भक्तिका, साकार ईश्वरका रस देकरके रास्ते पर ले आओ–यह भी एक इन्द्रिय गायको चराना हुआ। अरे भाई, किसीको मार-मारकर ठीक नहीं किया जा सकता, मनको इन्द्रियोंको ऐसा कृष्ण प्रेम दो, ऐसा रस दो, ऐसी मिठायी दो कि ये वशमें हो जाय।

(युगलगीत : पृ. 81, 82, 83, 84)

साधुके जीवनका रहस्य

महाभारतकी कथा है–इन्द्रको बृहस्पतिने भेजा था कि प्रह्लाद जैसी दैवी-सम्पदा यदि तुम्हें प्राप्त करनी है, तो जाकर प्रह्लादकी सेवा करो। बिना प्रह्लाद जैसा शील-स्वभाव प्राप्त किये इन्द्र! तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। इन्द्रने शिष्यका रूप धारण करके बरसोंतक प्रह्लादकी सेवा की। सद्गुरुके पास रहनेका यही अर्थ होता है–कि वे कैसे व्यवहारमें असंग रहते हैं, कैसे संकटोंका सामना करते हैं, कैसे लोगोंके साथ प्रियताका बर्ताव करते हैं–साधुका स्वभाव है वह! सत्पुरुषका सहज स्वभाव है–हमको कितना श्रम होगा, यह नहीं देखते हैं। प्रेमसे दूसरेका भला करते हैं। कोई आकर तारीफ करने लगे, तो ऐसे लगता है–जैसे कोई पाप कर रहा हो। जितनी विद्या बड़ी होती है, धन बड़ा होता है, कुल बड़ा होता है–उतने ही झुक जाते हैं, नम्र हो जाते हैं। यह सत्पुरुषोंके जीवनकी प्रक्रिया है।

उनकी रहनी दूसरोंको सुख पहुँचानेवाली होती है। उनके जीवनमें विनयकी मधुरता रहती है। वाणीपर नियन्त्रण रहता है। स्वभावसे ही सबके कल्याणमें उनकी बुद्धि लगती है। उनके आसपासके लोग भी शुद्ध हो जाते हैं।

पहले दिन मिले कि अन्तिम दिन मिले; एक रस उनका प्रेम होता है। नयेसे हिचकते नहीं हैं, और पुरानी पड़ जाने पर प्रीति कम नहीं हो जाती है। उनका रस, उनका स्वाद कभी बासी नहीं पड़ता है। यह साधुके जीवनका निष्कम्प रहस्य है।

धीरज नहीं खोना चाहिए

कोई उद्वेगका प्रसंग आ जाय, तो घबराना मत। धैर्य रखना। हमारे जीवनमें जो उद्वेगके, घबरानेके प्रसंग आते हैं, उनमें-से ९९ प्रतिशत तो अपने आप ही शान्त हो जाते हैं।

अंधकार देखकर घबराना नहीं चाहिए, प्रतिकूल परिस्थितिमें यह नहीं समझना चाहिए–कि यह अब हमेशाके लिए आ गयी, क्योंकि जो आता है, सो जाता है। यह नियम है–'यह भी नहीं रहेगा'। अच्छे दिन आते हैं, ये नहीं रहेंगे। बुरे दिन आते हैं, ये नहीं रहेंगे। अच्छे दिन आवें, तो फूल मत जाओ–यह भी धैर्यकी कमी है। बुरे आवे तो घबरा मत जाओ।

हमने एक महीनेकी पैदल यात्रा प्रारम्भ की। दो-तीन मील चलते-चलते बड़े जोरका बादल आया। वर्षा होने लगी। चारों ओर पानी भर गया। बोले–अरे, पहले दिन ही ऐसा हुआ! लेकिन फिर भी धैर्य बना रहा। एक दीपक दीखता था बड़ी दूर; उसकी सीधमें चले गये। छप्पर मिल गया, सूखी जमीन मिल गयी। रातको पीनेका दूध मिल गया। सो गये। दूसरे दिन सबेरे उठे और फिर क्रमशः 29 दिनों की यात्रा की। कहीं कोई विघ्न आया ही नहीं। पहले-पहल किसी काममें विघ्न आता हो तो धीरज नहीं खोना चाहिए।

(दैवी सम्पद् योग : पृ. 109, 116-117)

निर्गुण ज्ञान भक्तिमें उपयोगी नहीं है।

भक्त लोग जिस ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं, उसका मतलब ईश्वरके ज्ञानसे होता है। जो ईश्वर, सृष्टिका कर्ता, भर्ता और हर्ता है, सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, परम दयालु है, भक्तका पक्षपाती है–उसके ज्ञानको भक्त लोग ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान भक्तिका मददगार होता है।

किन्तु निर्गुणिया लोग, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अह्रस्व, अदीर्घ, अनघ परमात्माके ज्ञानको ज्ञान कहते हैं। उनका परमात्मा निर्गुण, निर्विशेष, निर्धर्मक है, इसलिए वह ज्ञान, भक्तिमें उपयोगी नहीं होता। भक्त लोग ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं सगुण परमेश्वरके ज्ञानके अर्थमें और अद्वैत-वेदान्ती ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं आत्मा और ब्रह्मकी एकताके अर्थमें। वे निर्विशेष ज्ञानको ज्ञान कहते हैं। दोनोंके शब्दार्थमें भेद है।

देखो भाई, यदि आपको मुक्ति चाहिए तब तो वह निर्विशेष ज्ञानके बिना, निर्धर्मक ज्ञानके बिना नहीं होती–'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' मुक्ति देनेमें ज्ञान परम स्वतन्त्र है।

किन्तु जहाँ सगुणका ज्ञान, सगुणका दर्शन, सगुणका साक्षात्कार प्राप्त करना है, वहाँ भक्ति ही स्वतन्त्र है। निर्गुण ज्ञान भक्तिमें उपयोगी नहीं है। सगुण परमेश्वरके ज्ञानसे ही भक्ति होती है। इस प्रकार दोनोंका विषय अलग है।

अब देखो, दोनोंको अलग-अलग।

जिसका हृदय कोमल है। भगवान्‌का नाम सुनकर, रूप एवं गुणानुवाद सुनकर, उनका सौन्दर्य-माधुर्य सुनकर, जिसका हृदय पिघल जाता है और भगवान्‌की भक्तिमें मस्त हो जाता है, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसको भक्तिके मार्गसे ही चलना चाहिए।

किन्तु, जिसका हृदय भगवान्‌का नाम सुनकर, गुण सुनकर, सौन्दर्य-माधुर्य सुनकर भी द्रवित नहीं होता, कण्ठ गद्‌गद नहीं होता वह अद्रुतचित्त साधक ज्ञानका अधिकारी है। उसके लिए ज्ञानका ही मार्ग होता है।

जिसमें ये दोनों हों, वह भक्ति भी करता चले और ज्ञानकी प्राप्तिका प्रयास भी करता रहे। निर्विशेष परमात्माकी प्राप्तिमें भक्ति अन्तःकरणको शुद्ध करती है।

जो शमदमादिसे सम्पन्न और विचारमें निपुण होता है, वह तत्त्वज्ञानका अधिकारी होता है। किन्तु जो श्रद्धालु होता है वह भक्तिका अधिकारी होता है।

(गीतामें भक्ति ज्ञान-समन्वय : पृ. 10-11)

भक्तिका मार्ग कोई साधारण मार्ग नहीं है!

जो लोग ध्यान करना नहीं चाहते हैं उनको छोड़ें। जो लोग ध्यान करना चाहते हैं, संसारसे ऊबे हुए हैं उनके लिए ध्यानका आलम्बन कृष्णसे बढ़कर कोई नहीं हो सकता। यह व्यक्तिगत बात है, यह तो हमारे चित्तके निर्माणकी बात है।

जैसे हम रोटी खायें कि दालभात खायें इसमें किसी ब्रह्मज्ञानीको क्या हक है कि वह कहें कि यह खाओ और यह नहीं; वैसे ही यह तो व्यक्तिगत विचार हुआ कि हम अपने मनको कौन-सा आलम्बन देकर सुखकी खोज करते हैं।

वह तो जैसे अपने पतिसे प्रेम करते हैं, अपनी पत्नीसे प्रेम करते हैं, अपने बेटेसे प्रेम करते हैं; वैसे ही एक ऐसे अनदेखे अनमिले साजनसे प्रेम करते हैं, जिससे हम संसारमें नहीं फँस सकते।

असलमें यदि कृष्णसे प्रेम हो गया तो दुनियामें कोई तुम्हें चक्करमें नहीं डाल सकता। एक तो दुनियामें फँसोगे नहीं और किसीसे बिछुड़नेका दुःख नहीं होगा। यहाँ तक कि किसीके मरनेका दुःख नहीं होगा और किसीका भरोसा छूट जानेका दुःख नहीं होगा, क्योंकि सबसे बड़ा भरोसा तुम्हारे मनमें ईश्वरका बना रहेगा।

बड़ा-से-बड़ा अपना आश्रय कोई साहूकार मर जाय तब भी तुम्हें दुःख नहीं होगा, अपना बड़ा-से-बड़ा सगा-सम्बन्धी बिछुड़ जाय तब भी तुम्हें दुःख नहीं होगा, क्योंकि सबसे बड़ा सगा-सम्बन्धी सबसे बड़ा प्यारा ईश्वर श्रीकृष्ण तुम्हारे दिलमें ऐसा बैठा है जो मारे मरे नहीं, बिछुड़ाये बिछुड़े नहीं; और जिसका आलम्बन आश्रय कभी छूटे नहीं एवं मनमें चौबीसों घण्टे मौजूद रहे। यह भक्तिका, प्रेमका मार्ग कोई साधारण मार्ग नहीं है।

तो यह जो श्रीकृष्णका ध्यान है यह सम्पूर्ण आपत्ति, विपत्तिसे, दुःखसे, रागसे-द्वेषसे, संसारके झगड़े-झंझटसे, बचाकर भीतर सुरक्षित करनेवाला है-इतना बड़ा सहारा है श्रीकृष्ण!

(युगलगीत : पृ. 197-199)

अपने दिलमें ईश्वरको भर लो, सारी दुनियामें ईश्वर है।

साधु कौन है? बोले कि उसके चित्तमें संसारके लिए वैषम्य नहीं है। कोई आवे, कोई जाय, कोई मरे, कोई जीये! जैसे दिन आता है और जाता है, रात आती है और जाती है, कालके अवयव जैसे स्वभावसे आ-जा रहे हैं।

देखो, हमारे हाथ हिलानेसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जैसे बदलते जा रहे हैं और जैसे मिनट-मिनट बदलता जा रहा है, ऐसी सारी दुनिया चरखेकी तरह घूम रही है। उसको ईश्वरने एक बार घुमा दिया है। यह मनुष्यके रोके रुकती नहीं। इसमें दुःखी वह होता है, जो उसको पकड़कर रोकना चाहता है। रुकेगा तो कुछ नहीं रोकनेवालेका हाथ ही टूट जायेगा। यही इसका नियम है। बाप लाख कहे कि बेटा, हम जैसे चौकेमें बैठकर खाते थे, तुम भी वैसे ही खाओ! बेटा नहीं मानेगा।

तो यह तो बहती हुई दुनिया है, इसको मुट्ठीमें करनेकी कोशिश मत करो। इसका मजा लो, इसका तमाशा देखो! ये सिनेमाके चित्रपट हैं। बदलते जा रहे हैं। अतएव दुनियाकी ओरसे अपने चित्तको सम कर दो। 'होनी होवे से होऊ रे'! किसीको मरनेसे रोक नहीं सकते। किसीको जानेसे रोक नहीं सकते। किसीको बदलनेसे रोक नहीं सकते। तो उधरसे अपना ध्यान जरा सम रखो! आग्रह सम रखो!

भगवान्‌के चरणोंमें अपने आत्माका निवेदन कर दो। हे प्रभु! मैं तुम्हारा हूँ! जैसी तुम्हारी मौज हो, वैसे रखो!

जाही विधि राखे राम, ताही विधि रहिए।

गंगा किनारे रखे तो गंगा किनारे; समुद्र किनारे रखे तो समुद्र किनारे; पहाड़ पर रखे तो पहाड़ पर रहो! जो थारी राय, सो म्हारी राय! प्रलय करो तो प्रलय, सृष्टि करो तो सृष्टि!!

आत्म निवेदन कर दो। जगत्‌की घटनाओंमें अपने चित्तको सम रखो और अपनेको भगवान्‌के प्रति निवेदन कर दो—यही सन्तका स्वरूप है।

सन्तको जो प्रेरणा आती है, वह बाहर देखकर भीतर प्रेरणा नहीं आती है। बाहरकी घटनाओंको देखकर और अन्तःकरणका परिचालन—यह पौरुषेयताके द्वारा अन्तःकरणका परिचालन है। और, भीतरसे, ईश्वरकी तरफसे, ईश्वरकी प्रेरणासे अन्तःकरणका परिचालन—यह अपौरुषेय, वैदिक प्रेरणा है। माने जो अपने संस्कार और विकारसे अतीत है, उसके प्रभाव मात्रसे जो प्रकाशित हो रहा है, जो जगमग-जगमग ज्योति जल रही है, वह सन्तका अन्तःकरण है।

बाहरका असर चित्त पर मत पड़ने दो। और, अपना दिल ठण्डा रहे तो दुनिया ठण्डी है। भागवतमें यह लिखा है कि जब अपने पाँवमें जूता है तो सारी धरती चामसे ढँक गयी है। आया ध्यानमें? तो अपने दिलमें ईश्वरको भर लो, सारी दुनियामें ईश्वर है।

(ऊखल-बन्धन लीला : पृ. 246-248)

हम चोरके सखा हैं!

हमारे एक ग्वारिया बाबा थे वृन्दावनमें! हम लोगोंने दर्शन किया था। बहुत पुरानी बात नहीं है। एक बार लुटेरिया हनुमानके मन्दिर पर रातको जाकर बैठ गये। बिलकुल सुनसान जगह। रातको चार-पाँच चोर आये। अब चोरोंके मनमें यह शंका हुई कि यह साधु हम लोगोंको देख रहा है, तो कहीं जाकर पुलिसमें हम लोगोंकी खबर न कर दे। वे बोले कि कौन रे? बाबा बोले कि तुम लोग कौन हो? 'हम तो चोर हैं।' बाबा बोले कि हम चोरके सखा हैं! वे बोले कि अच्छा, चोरके सखा हो तो चलो हमारे साथ चोरी करने! बाबा बोले कि चलो, मौजसे चलें। अब बाबा चोरोंके साथ हो गये।

चोरोंने एक घरमें सेंध लगायी। चोरोंने बाबाको कहा कि तुम बाहर खड़े रहो और हम सब अन्दर सामान इकट्ठा करेंगे। वे बोले कि नहीं हम भी भीतर घुसेंगे, हम बाहर नहीं रहेंगे! तुम लोग भीतर जाकर मौज करोगे, माल इकट्ठा करोगे, दही-दूध खाओगे; मक्खन खाओगे और हम बाहर ताकते रहेंगे? हम तुम्हारी बात माननेवाले नहीं हैं दोस्त! हम भी तुम्हारे साथ भीतर चलेंगे। भीतर घुस गये।

चोर तो सब माल इकट्ठा करने लगे और वे देखने लगे कि मक्खन कहाँ है, दही कहाँ है, दूध कहाँ? ढूँढ़ा और इकट्ठा कर लिया। चोरोंने धन आदि इकट्ठा किया और, उन्होंने खानेकी चीज इकट्ठी की और वहाँ एक ढोल (drum) रखा हुआ था, सो उठाकर जोरसे बजाया! चोर घबड़ाये कि यह क्या? वे बोले कि ठाकुरजीको भोग लगा रहे हैं! वह जो ढोल बजायी तो घरके लोग जग गये। चोर तो भग गये, वे पकड़े गये। अब वे गाली दें कृष्णको कि यह हमारा सखा चोर है, हमको तो चोरी करने लेकर आया और खुद भग गया, हमको पकड़वा गया।

उस घरमें उनको कोई पहिचानता नहीं था। गृहस्थ लोगोंने थोड़ा मारा-पीटा भी। पकड़कर पुलिसमें ले गये। पुलिस इन्स्पेक्टरने देखा कि यह तो ग्वारिया बाबा हैं। बड़े प्रसिद्ध महात्मा वे व्रजमें! बड़े-बड़े राजा-महाराजा उनके शिष्य! बड़े मस्ताने ढंगसे रहते थे। इन्स्पेक्टरने कहा कि महाराज आपने यह क्या किया? वे बोले कि हम तो अपने सखाके साथ चोरी करने गये थे।

चोरके रूपमें भी ईश्वर-बुद्धिका होना यह बात या तो ब्रह्मबुद्धि हो कि चोर-चमार, सब ब्रह्ममें अध्यस्त हैं, ब्रह्मरूप है; (क्योंकि जो जिसमें अध्यस्त होता है, वह उससे जुदा नहीं होता) और, या तो सबमें श्रीकृष्ण बुद्धि हो-तभी सम्भव है। श्रीकृष्ण सर्वरूपमें अपनेको प्रकट करते हैं भला! यह सच्ची घटना है।

(ऊखल-बन्धनलीला : पृ. 125-126)

ईश्वर दर्शनकी लालसा भी कृपा करके ईश्वर ही देता है!

एक मन्दिर है। उसका नाम झारखण्डेश्वर है। मैं एक बार गया, बड़ी गर्मी पड़ रही थी, लू चल रही थी तो पुजारीसे कहा, 'भाई गर्मी तो बहुत तेज है। बाहर लू चल रहा है, बालू उड़ रही है, बैठनेमें तकलीफ होती है।' तो उसने कहा-'महाराज आप मन्दिरके भीतर बैठ जाओ।' फिर मैं बैठ गया भीतर। पुजारी किवाड़ खोलकर चला गया खाने-पीनेके लिए, जेठ-आषाढ़का महीना, घोर दोपहरी और लू चल रही। हमको ऐसा लगा कि मन्दिरमें-से शंकरजी निकल आये, जटा, त्रिशूल और गंगा सहित! उन्होंने हमसे बात भी की। यह आपको हम इसलिए बताते हैं कि जो श्रद्धालु पुरुष हैं, उनके मनमें विश्वास होवे।

हम आपको बताते हैं कि यह जो ईश्वरका खेल है सृष्टिमें, इसमें जितना हम लोगोंको इन्द्रियोंसे दिखता है उतना ही नहीं है। जितना मशीनोंसे इसका पता चलता है उतना ही नहीं है और उसका रहस्य समझे बिना जो हम मान लेते हैं कि बस यह इतना ही है वह गलत है। जो सगुण ब्रह्म, सविशेष ब्रह्म है, उसका पार नहीं मिलता है। नेति-नेतिके द्वारा उसका निषेध करके सबका बाधित हो जाना दूसरी चीज है; लेकिन यह जो सविशेष ईश्वर है, और यह जो सधर्मक जगत् है, इसके ऐसे-ऐसे रहस्य हैं; इसके अन्दर ऐसी तह पर तह हैं, इसमें ऐसे चमत्कार हैं; इसमें ऐसे जादूके खेल हैं! यह नहीं समझ लेना कि हमने अपनी आँखसे सारी दुनिया देख ली; हमने अपनी जीभसे सारे स्वाद चाट लिये-ऐसा नहीं समझना, हमने सारे स्पर्शका अनुभव कर लिया और हमने सारे गन्ध सूँघ लिये, ऐसा नहीं है। यह तो गन्धमें गन्ध है, रसमें रस है, स्पर्शमें स्पर्श है, रूपमें रूप है; इसका अन्त नहीं है, ऐसे रहस्य हैं। सगुण, सविशेष ईश्वरकी उपासना है, यह साधारण नहीं है। यह तो सचमुच जिसको पसन्द करता है-जिसको यह वरण करता है कि आओ तुम हमारी तरफ!

वस्तुतः भक्तको जब कोई अनुभव होता है तो वह ब्रह्मदृष्टिसे प्रातिभासिक होने पर भी, मिथ्या होने पर भी, व्यावहारिक दृष्टिसे सत्य है।

तो भक्तिमार्गमें जब चलते हैं तो ईश्वर बुलाता है। किसीको नुपूर बजाकर बुलाता है, किसीको उँगलीसे बुलाता है, किसीको आँखसे बुलाता है, तिरछी चितवनसे बुलाता है, किसीको बाँसुरी बजाकर बुलाता है।

ईश्वरके लिए हृदयमें कामनाका उदय होना, कि वह हमको मिले, यह भक्तिकी बहुत ऊँची स्थिति है। 'मैं इसी जीवनमें ईश्वरको प्राप्त करूँ, मुझे ईश्वरका दर्शन हो।' यह लालसा भी कृपा करके ईश्वर ही देता है।

यह हमारा समझदारीका विभाग है

संसारका कोई भी मजहब यह बात स्वीकार नहीं करता कि संसारमें एक ही वस्तु परिपूर्ण है। परन्तु हमारा जो सनातन धर्म है–उसकी गति निराली है। वस्तुतः धर्म वह होता है जो हमारे जीवनमें अज्ञानान्धकारको रहने ही नहीं देता।

तो, यह जो श्रीकृष्ण हैं–इनमें आपने ईश्वरत्वका आधान किया है कि नहीं? अरे; जहाँ देखो भाई ईश्वरको मिलाकर देखो! जो चीज देखो, उसमें ईश्वरको भर दो और फिर देखो! देखो आपका आनन्द कैसे बढ़ जाता है! एक बच्चा देखता है कंगन! तो उसकी चमकको देखकर वह खुश होता है। तो, आप बच्चेकी तरह श्रीकृष्णकी शक्ल-सूरत मत देखिये। उसमें जो सच्चिदानन्दघन तत्त्व जो आकृति धारण कर प्रगट हुआ है, उस तत्त्वको देखिये! तब देखो कितना आनन्द आता है। यही इसकी महिमा है।

देखो! हम आपकी समझमें ईश्वरताको भरना चाहते हैं–यह बात आप नहीं भूलना। हमारा-विभाग ही, केवल समझ शुद्ध करनेका है। जब समझ शुद्ध होगी, तब वासना शुद्ध होगी। जिसको आप ठीक समझेंगे, उसको चाहेंगे और जब वासना शुद्ध होगी तब आपका चरित्र भी शुद्ध हो जायेगा। तो, समझकी शुद्धि ही अन्तःकरणकी वासनाओंको कायदेमें ले आती है और कायदेमें आयी हुई जो वासनाएँ हैं वे हमारे आचरणको शुद्ध कर देती हैं।

'जानाति, इच्छति, करोतिः–पहले आदमी जानता है, फिर चाहता है और फिर करता है। अतः अन्तःकरण शुद्ध करना हो तो चाहना शुद्ध कीजिये। और चाहना शुद्ध करना हो तो समझना शुद्ध कीजिये। ठीक समझेंगे तो ठीक चाहेंगे और ठीक चाहेंगे तो ठीक करेंगे। इसलिए बुद्धिकी शुद्धि, संकल्पकी शुद्धि और कर्मकी शुद्धि–यह हमारा समझदारीका विभाग है।

कर्मकाण्डी पण्डित कहते हैं कि अच्छा करोगे, तब अच्छा संकल्प उठेगा और तब अच्छी समझ आयेगी। और भक्तोंका विभाग इनसे भी दूसरा है। वे कहते है कि पहले अच्छा चाहो। ईश्वर चाहो, ईश्वरसे प्रेम करो तो कर्म भी शुद्ध हो जायेगा और समझ भी शुद्ध हो जायेगी। इस तरह ये तीन अलग-अलग विभाग हैं।

(मया ततमिदं सर्वम: पृ.1,3,4)

जो ईश्वरको पहचान लेता है उसको सब जगह ईश्वरका दर्शन होता है।

यदि किसी मनुष्यको कृष्ण दर्शन मिल जाय तो–*जिन आँखिनमें यह रूप बस्यो, तिन आँखिन ते अब देखिये का?* जिन नेत्रोंमें यह रूप बस गया, उन नेत्रोंसे अब कुछ भी देखने लायक नहीं रहा। *बावरी वे अँखिया जरि जायँ, जो साँवरो छाड़ि निहारत गोरो।* जो साँवरेको छोड़कर गोरेको देखना चाहती हैं, वे आँखें जल जायँ।

संसारसे ऐसा वैराग्य बिना भक्तिके, बिना उपासनाके, बिना कृतोपास्ति हुए नहीं हो सकता। यह तो बात ऐसी हुई कि जो जैसी संगतिमें पड़ जाता है, जो जैसी बात सुनने लगता है; अपनी बुद्धि तो ज्यादा काम देती नहीं, दूसरेकी सुन-सुनकर, दूसरेकी अक्ल अपने भीतर घुसेड़ लेते हैं।

यह जो 'अपवाद-अपवाद', वेदान्ती कहते हैं–अपवाद माने नेति-नेति; परमात्मा यह नहीं, परमात्मा यह नहीं–इसको ऐसे समझो कि एक बच्चेको सोनेकी पहचान करानी थी। माँ-बाप चाहते थे कि हमारा बच्चा सोना पहचान ले। तो तिजोरी खोल दी और बेटेसे कहा कि बेटा, तिजोरीमें से सोना उठा करके लाओ। बेटा अँगूठी उठाकर ले आया कि देखो यह सोना है। बोले–नहीं, यह तो अँगूठी है, इसका नाम सोना नहीं है। तो फिर गया और हार उठाकर ले आया। तो माँ-बापने कहा, नहीं, यह हार है; सोना नहीं है। सिल्ली उठाकर ले आया तो कहा यह तो सिल्ली है, सोना नहीं है। बोला, बाबा, हमको तो सोना नहीं मिला। तो यह अपवाद हुआ कि कंगन सोना नहीं है, हार सोना नहीं है, अँगूठी सोना नहीं है, सिल्ली सोना नहीं है।

लेकिन; आप इस निषेधको, इस अपवादको क्या सच्चा समझते हैं? यह तो केवल नामरूपसे वृत्ति हटाकरके सोनाकी पहचान करवानेकी एक युक्ति है। बच्चेने पूछा–तब फिर पिताजी, सोना क्या है? बोले–यह अँगूठी भी सोना है, यह हार भी सोना है, यह सिल्ली भी सोना है। बोले–तुम केवल अँगूठी केवल हार अथवा सिल्लीको स्वर्ण न समझ लो। इसलिए मना किया। मना करनेका मतलब यह नहीं था कि वे सोना नहीं हैं। मना करनेका मतलब था कि अँगूठी, हार एवं सिल्ली आदिसे जुदा स्वर्ण नामकी जो धातु है, उसको तुम पहचान लो तो सब सोना है।

नेति-नेति सिखाया जाता है वेदान्तमें, इसका मतलब यह नहीं है कि दृश्य-प्रपञ्च छोड़ने, मारने अथवा ईर्ष्या-द्वेष करनेके लिए है। द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, स्पर्धा इनका नाम वैराग्य नहीं है। 'नेति-नेति', वस्तु तत्त्वको पहचाननेके लिए है।

श्री वैष्णवाचार्य इसी बातको पकड़ते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा आया है कि जो ईश्वरको पहचान लेता है उसको सब जगह ईश्वरका दर्शन होता है।

(युगलगीत : पृ. 78-79)

साधुका स्वभाव

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च। सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्।।
भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्। छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः।।

–भागवत 11.2-5-6

श्रीवसुदेव : हे देवर्षि नारद! देवताओंके चरित्र भी कभी प्राणियोंके लिए दुःखके हेतु, तो कभी सुखके हेतु बन जाते हैं। परन्तु जो आप जैसे भगवत्प्रेमी पुरुष हैं–जिनका हृदय, प्राण, जीवन, सब कुछ भगवन्मय हो गया है–उनकी तो प्रत्येक चेष्टा समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ही होती है।....सत्पुरुष दीनवत्सल होते हैं अर्थात् जो सांसारिक सम्पत्ति एवं साधनसे भी हीन हैं, उन्हें अपनाते हैं। 'साधु'का संस्कृतमें अर्थ होता है *साध्नोति परकार्यं*–माने जो दूसरेका भला कर दे, उसका नाम है साधु। जिनका मन कभी च्युत अर्थात् गिरता नहीं–जिनका मन 'अच्युत'–भगवान्में लगा रहता है–उसको 'अच्युतात्मनाम्' कहते हैं। ऐसे अच्युतात्मना साधुओंका जो चरित्र है वह केवल दूसरोंके सुखके लिए है। वे दूसरोंकी भलाई-ही-भलाई करते हैं। उनसे कभी किसीकी हानि नहीं होती। जिसका कोई नहीं है–उसका अपना साधु है।

एक आदमी एक महात्माके पास गया और बोला कि हमको भगवान् मिलें–आप ऐसी युक्ति बताओ। महात्मा बोले कि भक्ति करो! वह बोला कि मेरेमें दोष है–मैं झूठ बहुत बोलता हूँ। महात्माजी बोले–'आओ, हमारे श्रीराम भगवान्के दरबारमें झूठ बोलकर उनको हँसानेवालेकी बड़ी जरूरत है। आज तुमको हम भगवान्के दरबारमें भर्ती करते हैं, भगवान्को तुम जब तक वे न हँसे, यह सेवा करो।' अब वह झूठा बेचारा भगवान्की मूर्तिके सामने बैठा और तरह-तरहकी बात गढ़े, तरह-तरहसे झूठ बोले-लेकिन, मूर्ति तो ज्यों-की-त्यों रही। अब उसको आया गुस्सा और गाली देने लगा। अब तो भगवान्को हँसी आगयी। इस प्रकार महात्माने उसको भगवान्से जोड़कर उसका कल्याण कर दिया।

संस्कृतमें 'वत्सला' नयी ब्यायी गायको कहते हैं। तो जब बछड़ा पैदा होता है तो उसके शरीर पर मल-मूत्र-रक्त-जेर आदि लगा रहता है उस सबको गाय झट अपनी जीभसे अपने नव-शिशुको चाटने लगती है और उसकी गन्दगीको अपना भोग्य बना लेती है। इसीको 'वत्सला' बोलते हैं। नवजात बछड़ेके दोषको अपना भोग्य बना लेना जैसे गायका वात्सल्य है, इसी प्रकार सन्त दोषोंकी ओर न देखकर उनका विनियोग भक्तिमें कर देते हैं–यही उनका 'वात्सल्य' है। यह नहीं कि साधु यह कहते हों कि तुम सब साधु बनकर हमारे पास आओ। साधु अगर यह कहे कि जो बिलकुल सदाचारी हो, बिलकुल भक्त हो, वही हमारे पास आवे तो वह साधु कैसा? यह तो दुनियादार लोग कहते हैं कि साधुके पास साधु ही जाये। अब भला बताओ–जिसके अन्दर कोई दोष नहीं वह साधुके पास क्यों जावे? तो दोषी जो हैं उनके लिए और स्थान कहाँ है? वास्तवमें यही जो दीन-हीन पुरुष हैं–वे जब महात्माओंके पास जाते हैं तब उन्हें प्रेम मिलता है। जिसको दुनियामें कोई आदर नहीं करता, साधु उसका भी आदर करता है। उसी आदर और प्रेमसे खींचकर लोग साधुताके मार्ग पर चलते हैं। वे शुद्ध हो जाते हैं। भगवान्को प्राप्त कर लेते हैं। दीनोंके प्रति पक्षपात, उनपर करुणा करना साधुका स्वभाव है।

(मुक्ति-स्कन्ध, पृ. 43-46)

हमारा सिर नीचा हो जाता है

उपनिषदोंमें जितने भी साधनोंका वर्णन है, क्या धर्मका, क्या भक्तिका अथवा योगका-सभी साधन कर्त्तव्य हैं। असलमें सत्संगियोंसे हमें ज्यादा अपेक्षा है भाई! क्योंकि, जो लोग सत्संगमें नहीं आते हैं, वे यदि झूठ बोले तो उनके बारेमें यह बात होती है कि भाई, इन्होंने कभी सत्संग नहीं किया और झूठ बोलते हैं तो अनजान हैं बेचारे! अब एक आदमी सत्संग तो करता है और फिर वह झूठ भी बोलता है तो हमारे पास आकर लोग कहते हैं कि महाराज, यह देखो ये इतने दिनसे सत्संग करते हैं, लेकिन इनका व्यवहार तो शुद्ध हुआ ही नहीं! ये तो झूठ बोलते हैं।

वृन्दावनमें हमसे कम्युनिस्ट आकर मिलते हैं और कहते हैं कि देखोजी, तुम्हारे महापुरुषोंने पहले यह प्रयोग किया था कि आदमी जब ईश्वरको मानेगा, महात्माको मानेगा, ब्रह्मको मानेगा, तब उसका व्यवहार शुद्ध हो जावेगा और लोगोंसे ईमानदारीका व्यवहार करेगा। तो उसका नतीजा तो कुछ निकला नहीं, वह प्रयोग व्यर्थ हो गया। क्योंकि जो लोग सत्संगमें जाते हैं, ईश्वरको मानते हैं, राम-कृष्णका नाम लेते हैं, वेदान्तका विचार करते हैं और सोऽहम्-सोऽहम् करते हैं, वे लोग भी तो झूठ बोलते हैं, हिंसा-अनाचार करते हैं। सो तुम्हारे सत्संगका प्रयोग बिलकुल निष्फल हो गया, व्यर्थ हो गया। अब इसकी कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि, इससे दुनियाका कोई लाभ नहीं हुआ। अब यह बन्द करो। अब लोगोंको भावनाके राज्यमें ले जाकर, उनको ख्याली पुलाव पकानेके लिए प्रेरित मत करो! अब तो लोगोंको ठोस दुनियाकी बात बताया करो-ऐसा कम्युनिस्ट हमको कहते हैं। तो उस समय बताओ कि हमारे पास क्या जवाब है?

जो हमारा सत्संगी होकर झूठ बोलता है, अनाचार-व्यभिचार करता है, उसके कारण हमारा सिर नीचा हो जाता है। तो इसीसे देखो, ये उपनिषदें, जो यह मानती हैं कि आत्मा-परमात्मा एक है, संसार मिथ्या है। जिनका यह प्रतिपादन है कि एक परब्रह्म परमात्माको छोड़कर दूसरी कोई चीज है ही नहीं; वही उपनिषदें कहती हैं कि भाई, जब-तक तुम्हारा चरित्र शुद्ध नहीं होगा, तबतक ज्ञान नहीं होगा-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। कठो. 1-2-24

जबतक तुम्हारा चरित्र शुद्ध नहीं हुआ; जबतक तुम्हारे मनसे काम-क्रोध दूर नहीं हुए; जबतक मन एकाग्र नहीं हुआ और जबतक तुम एकाग्रताके फल-सिद्धियोंको भी छोड़नेके लिए तैयार नहीं हुए, तबतक तुम्हें यह परमात्माका ज्ञान नहीं होगा।

तो नारायण, अद्वैतज्ञान प्राप्त करनेके लिए, क्या पूँजी चाहिए? तो उपनिषदोंने बताया कि-'**शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितो श्रद्धावित्तोभूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्।**

इसके लिए मनकी शान्ति चाहिए, इन्द्रियोंका दमन चाहिए, उपरामता और दुःखोंका सहन चाहिए, समाधि चाहिए, वैराग्य चाहिए।

अब कोई कहे कि भाई, यह वर्णन किसके लिए है? यह सब वर्णन सत्य अर्थात् परमात्माको जाननेके लिए है।

(माण्डूक्य प्रवचन : आगम प्रकरण-पृ. 374-375)

कुत्तेकी पूँछ फिर टेढ़ी-की-टेढ़ी

हमको बचपनमें इस बातका बहुत शौक था कि हम अपने विचारके अनुसार जो बात ठीक समझते थे, वह कभी-कभी बड़े-बूढ़ोंसे भी कह देते थे कि आपको ऐसा करना चाहिए और आपको ऐसा नहीं करना चाहिए; लेकिन हमने यह अनुभव किया कि हमारे उपदेशसे हमारा अत्यन्त आत्मीय भी अपने स्वभावका परित्याग नहीं करता है। नारायण! अत्यन्त आत्मीय जो अपना व्यक्ति है, जब वह भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या करनी है?

अब देखो, हमारे गाँवके जो ब्राह्मण है, उनमें भी लहसुन-प्याज चलता है। हमारे घरमें तो नहीं चलता था; परन्तु औरोंके घरमें चलता था। हमने कोशिश की कि ये छोड़ दें; लेकिन उन्होंने छोड़ा नहीं। अच्छा! और देखो! हमारे गाँवमें देवीके लिये बलि देनेकी प्रथा थी; हमने कोशिश की कि गाँवके बड़े-बूढ़े मान जायें और यह बलिदानकी प्रथा बन्द हो जाये। जो समझदार पुरुष होते थे, वे हमारी बात मान तो जाते थे; लेकिन, बादमें स्त्रीकी बातको टाल नहीं सकते थे। अब देखो न! घरमें उनकी स्त्रीको सिरमें दर्द हो गया। उसने कहा—'तुमने देवीके लिये पशु-बलिदान बन्द कर दिया है; इसलिए मेरे सिरमें दर्द हो गया है। तुम बलिदान करो।' बस! फिर चालू हो गया। माने कोई-न-कोई बात ऐसी आ जाती थी कि हमारी बात बेमतलब हो जाती थी।

पहले हमने 'पारसभाग'में—'पारसमणि'में पढ़ा था कि यदि कुत्तेकी पूँछ बारह वर्ष तक बाँसकी नलीमें सीधी करके रखो और फिर उसमें-से निकाल दो, तो वह फिर टेढ़ी-की-टेढ़ी होती है। लोग अपनी गतिसे चलते हैं। सबकी अपनी-अपनी स्वतन्त्र गति होती है। यह जो दूसरोंको सुधारनेका प्रॉब्लम है, यह भी मनुष्यकी नजरको एक व्यक्ति पर या एक परिवार पर या सम्प्रदाय पर सीमित कर देता है। अपने दृष्टिकोणको बहुत उज्ज्वल, बहुत निर्मल, बहुत व्यापक बनानेकी जरूरत है। अब हम अपनेसे ही कहते हैं कि हमारे मनमें शिक्षा देनेकी जो वासना है, वह हमारा दुःख है। दूसरेका मानना या न मानना तो उसके स्वभाव पर ही निर्भर करता है।

(जीवन्मुक्ति-विवेक : पृ. 335-338)

अपनी मान्यताको दूसरेके सिरपर नहीं लादना चाहिए

हमलोग अपनी धारणाको इतनी सच्ची समझते हैं कि क्या कहें? हम जानते हैं कि हमारे द्वारा मानी हुई कितनी बातें एक-एक करके छूटती गयीं। आपको कैसे बतावें? हम बचपनमें क्या-क्या मानते थे और वे मान्यतायें कैसे-कैसे मिटती गयीं।

जब हम अपनी मान्यताओंके इतिहास पर ध्यान देते हैं, तब सब बातें सामने आती हैं। आप कभी ध्यान देना। जिस समय आपने जो मान्यता मानी या बनायी, उस समय आप उसमें इतने तन्मय हो गये कि यही ठीक है और सब गलत है। जब आपने किसी पर गुस्सा किया, तब सोचा कि इसको दण्ड देना ही उचित है। जब आपने किसीसे प्यार किया, तब सोचा कि यही सर्वस्व है। इसके लिए हम मर जायेंगे।

आपके जीवनमें ऐसी-ऐसी मनोवृत्तियाँ आयी हैं या नहीं?

जिससे दुश्मनी हुई, वही बादमें दोस्त हो गया। जब आपने क्रोध किया, तब कहा कि यही उचित है। जब आपने राग किया तब कहा कि यही उचित है। आपकी मान्यताओंका ऐसा इतिहास है कि नहीं? यह मैं आपके दिलकी बात बोल रहा हूँ कि नहीं?

इस समय आपका जो राग है, अथवा जो द्वेष है, उसके बारेमें क्या आप कह सकते हैं कि बिलकुल परिपक्व एवं पूर्ण ज्ञानके आधार पर आपका वह राग अथवा आपका वह द्वेष है? क्या आप कह सकते हैं कि आपकी वह मान्यता कभी नहीं बदलेगी? आज भी आप गलत हो सकते हैं, जैसे दस वर्ष पहले गलत थे।

जैसे पहले हमने अपनी मान्यताके कारण राग अथवा द्वेष करके पश्चात्ताप किया, वैसे आजका राग-द्वेष भी हमको आगे पश्चात्ताप नहीं देगा, इसका क्या प्रमाण है?

सावधानी तो यही है कि जब आप अपनी वृत्तिकी प्रवृत्तियों पर ध्यान देंगे, जब आप अपनी मान्यताओंका इतिहास देखेंगे, तब आपको इस समय जिस दलमें आप शामिल हैं, उसको शायद बदलना पड़े।

यह ममताका दल, दल नहीं दलदल है।

जबतक आप परिपक्व ज्ञानदृष्टिमें-जिससे बड़ा और कोई ज्ञान नहीं है, जिससे विशाल और कोई दृष्टि नहीं है, जिसके परे और कोई अनुभव नहीं है-नहीं पहुँच जाते, तबतक आप अपनी ही मान्यताको कैसे ठीक बता सकते हैं? उसको दूसरोंके सिरपर कैसे लाद सकते हैं?

(जीवन्मुक्ति-विवेक : 355-357)

यह काम आपके स्वरूपके अनुरूप नहीं है

हमको अपने बचपनकी एक बड़ी मामूली-सी घटना याद है। हम खलिहानमें सोया करते थे। खेतोंमें-से अनाज काटकर जहाँ रखा जाता है। वहाँसे रातको कोई खेतसे कटा हुआ अनाज उठा न ले जाय, इसके लिये सावधान रहनेके लिये हम खलिहानमें सोते थे।

गाँवका छोटी किस्मका कोई आदमी था। वह अपनी बकरियोंको रातको छोड़ देता था और वे खेतोंमें-खलिहानमें घूमकर, अपना पेट भरकर, रात-रातमें उसके घरमें लौट आती थीं। हमारे पास काम करनेवाला एक आदमी था। रातको जब बकरीका बच्चा आया, तब उस आदमीने उसको पकड़ लिया और हमारे पास आकर कहा–'मालिक! यह आदमी छोटी किस्मका बहुत परेशान करता है। यह बकरीका बच्चा बहुत नुकसान करता है। आज हम इस बच्चेको ले जाते हैं। हम लोगोंके घरमें तो खाया जाता है। हम काटकर खा लेंगे।' उन लोगोंके घरमें खानेकी रिवाज है। हमने कह दिया–'ले जाओ।' हमारे पास, खलिहानके बगलमें, एक छोटी जातिका आदमी बैठा था। वह यह बात समझ रहा था कि यहाँ क्या हो रहा है? बकरीका बच्चा क्यों पकड़ लिया गया? इस आदमीने उनके पास जाकर क्या पूछा? इन्होंने इसको क्या सलाह दी? आदि।

उस आदमीको बकरीका बच्चा ले जाते देखते ही वह छोटी जातिका आदमी झट हमारे पास आ गया और बोला–'भैयाजी! यह काम आपके स्वरूपके अनुरूप नहीं है।' छोटी जातिका आदमी हमसे उम्रमें बड़ा था। बुजुर्ग था। हमने तुरन्त कहा–'जरा पुकारो उस आदमीको।' उसने जोरसे चिल्लाकर उसको पुकारा। उसकी पुकार सुनकर वह लौटकर आ गया। हमने कहा–'अच्छा भाई! इसको छोड़ दो।'

उसने बकरीका बच्चा छोड़ दिया।

नारायण! जब आप गुण्डेके साथ, बदमाशके साथ एक होते हैं, तब यह आपके स्वरूपके अनुरूप नहीं है।

हमको वही बात याद आती है, 'भैयाजी! यह आपके स्वरूपके अनुरूप नहीं है।'

(जीवन्मुक्ति-विवेक : 377-379)

कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति

एक दिन मैं गंगास्नान करके लौट रहा था, रास्तेमें पलाशके विशाल जंगलको देखकर इच्छा हुई कि यहाँ जायँ। मैं एक छोटेसे वृक्षकी मनोहर छायामें बैठ गया। मैंने स्वास्तिकासनसे बैठकर हाथोंको गोदमें रखा और आँखें बन्द करके कृष्ण-कृष्णकी ध्वनि पर तनिक जोर लगाया। परन्तु यह क्या? पलकें बन्द रहना नहीं चाहतीं। एक शक्तिमान् प्रकाश आँखोंके तारोंमें घुसा जा रहा था। मैं देखता हूँ कि न वहाँ जंगल है, न वह वृक्ष है जिसके नीचे मैं बैठा था। चारों ओर एक घना प्रकाश फैला था और उसके बीच मैं ज्यों-का-त्यों। मैंने सोचा-शायद यह मेरे मनकी ही लीला हो।

मैंने फिर आँखें बन्द करनेका प्रयत्न किया; परन्तु मेरी पलकें टस-से-मस नहीं हुई। विवश होकर मैंने अपने सामने देखा-पृथिवीसे करीब एक हाथ ऊपर एक त्रिभुवन सुन्दर बालक मुस्करा रहा है। शरीर गौर वर्ण था, फूलोंका ही दिव्य आभूषण था, साथ ही मुकुट पर मयूरपिच्छ था और दोनों हाथोंमें बाँसुरी थी जो अधरोंसे लगी हुई थी और जिसकी सुरीली आवाज मेरे कानोंमें प्रवेश कर रही थी। देखकर मैं चकित हो गया। मैंने मनमें कहा-कृष्ण तो श्यामसुन्दर हैं, ये गौर-सुन्दर कहाँसे? मैंने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग लेट जाना चाहा, परन्तु मेरा शरीर जड़ हो गया था। मैं बोल तक न सका। हाँ, मेरा हृदय आनन्दित था, शरीर रोमांचित था और आँखोंमें आनन्दाश्रु थे। मैं उनको केवल देख रहा था। वे मुस्कराते हुए, बाँसुरी बजाते हुए ठुमक-ठुमककर नाचते हुए, ऊपर-ही-ऊपर कभी दायें, कभी बायें और कभी सामने आकर ठिठक जाते थे। इस प्रकार न जाने कितना समय बीत गया।

उन्होंने अपना मौन तोड़ा। मेरे कानोंमें मानो अमृतकी धारा प्रवाहित होने लगी। वे बोले-'मैं गौर भी हूँ, श्याम भी हूँ! मैं अपनी लाड़िलीका ध्यान करता रहता हूँ न! तुम मुझे स्पर्श करना चाहते हो इस समय, केवल इस रूपके साथ यह सम्पूर्ण जगत् जिसमें तुम हो, जिसे तुम देखते हो-यह मेरी लीला-भूमि है। इसके एक-एक कणमें मेरी रासलीला हो रही है और यह सब मेरा, मेरी प्रियाका ही रूप है। तुम इन्हें स्थूल, सूक्ष्म, अथवा कारणके रूपमें देखते हो, यह तुम्हारा दृष्टि दोष है। तुम पूर्वको पश्चिम क्यों समझ रहे हो? तुम मुझको जगत् क्यों समझ रहे हो? यह सब मेरे युगल स्वरूपकी क्रीड़ा है।'

भगवान् चुप हो गये। मेरी आँखे जिधर जाती थीं, युगल सरकार और उनको घेरकर नाचती हुई सखियाँ दीखती थीं। अपना शरीर, जगत् एक-एक संकल्प और सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसी लीलासे परिपूर्ण हो रही थीं। न जाने कितनी देर तक यही लीला देखता रहा। अन्तमें मैंने देखा युगल सरकार मेरे सामने खड़े हैं और सखियाँ उनकी सेवा कर रही हैं।

जब मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेके लिए झुका, तो स्पर्श करते-न-करते देखा कि वे वहाँ नहीं हैं और मैं उसी जंगलमें उसी वृक्षके नीचे बैठा हूँ और मेरे रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्णकी गम्भीर ध्वनि निकल रही है!

(ईश्वर-दर्शन : पृ. 79-89)

देखनेसे बहुत सीखनेको मिलता है!

महात्मा लोग लोभकी परिस्थितिमें, कामकी परिस्थितिमें, क्रोधकी परिस्थितिमें कैसे रहते हैं-यह सब देखनेसे बहुत सीखनेको मिलता है।

एक ब्राह्मण श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके पास आता था, उसने बाबासे कहा कि किसीसे हमको दो सौ रुपये दिलवा दो, हमको बहुत जरूरत है। बाबाने कहा कि देखो भाई, हम तो किसीसे कहते नहीं कि हमको पाँच रुपया दे दो या इनको दो सौ रुपया दे दो; हमने अपने जीवनमें कभी किसीसे कहा नहीं, माँगा नहीं। यदि कोई धनी व्यक्ति आकर हमसे पूछेगा कि हम इस ब्राह्मणको दो सौ रुपये दे दें क्या, तो हम उसको बता सकते हैं कि हाँ, तुम इनको रुपया दे दो।

अब वह ब्राह्मण इतना सुनते ही क्रोधमें आगया और चाकू उठाकर, बाबाकी नाकपर ही उसने चाकू मार दिया। नाक कटी तो नहीं, पर छिल गयी और दो-तीन दिन पट्टी लगानी पड़ी, फिर ठीक हो गयी। लेकिन उस ब्राह्मणको बाबाके भक्तोंने पकड़ लिया और बाबाके सैकड़ों भक्त मारनेको तैयार! तो बाबाने दोनों हाथोंसे पकड़कर उस आदमीको अपनी छातीसे लगा लिया और ले जाकर उसको अपनी कुटियामें रखा। बाबाने लोगोंको कह दिया कि यदि इसको कोई गाली देगा या मारेगा तो मैं यह देश छोड़कर चला जाऊँगा और कभी लौटकर नहीं आऊँगा। सब शान्त हो गये। यह वृन्दावनकी बात है। तो विषम परिस्थितियोंमें महात्मा लोग कैसे रहते हैं, यह यदि उनके सम्पर्कमें रहो तो उपदेश सुने बिना ही बहुत कुछ सीखनेको मिलेगा। यह नहीं कि जो ज्यादा उपदेश करे वही बहुत बड़ा महात्मा!

एक बात याद रखिये-अगर कभी किसीका कुछ भला आप कर सको तो कर दो पर उसको याद मत रक्खो कि मैंने इसका यह उपकार किया था; बल्कि उस पर ध्यान ही नहीं जाना चाहिए। और यदि कोई आपका उपकार कर दे, मीठा बोल ले आपसे, प्यार भरी नजरसे आपको देख ले, तो उसको जिन्दगी भर याद रक्खो। मनुष्यके जीवनमें यदि कृतज्ञता नहीं है तो वह पशु हो जाता है।

कभी-कभी अपनी बुद्धि कुछ काम नहीं देती, तो बड़ोंका आश्रय लो। उनके जीवनकी ओर देखो, उसको पढ़ो कि जब उनके ऊपर कोई कष्ट आता है तब वे कैसे रहते हैं? सुखके जाने पर रोते हैं कि नहीं, दुःखके आनेपर घबड़ाते हैं कि नहीं? यह तो पढ़नेकी चीज है, बिना उपदेशके ही तुम यह सीख सकते हो। तो जब वयोवृद्धके पास रहोगे, विद्यावृद्धके पास रहोगे तो तुम्हें अनेक संकटोंसे बचनेकी विद्या, युक्ति अपने आप ही आजायेगी।

(प्रह्लाद चरित : पृ. 121-122-125-126)

राग-द्वेषको हटानेकी युक्ति सीखनी पड़ती है!

जहाँ तक काम चलानेका प्रश्न है, वहाँ तक नाम, रूप, क्रिया व्यवहार पर दृष्टि जाती है और जहाँ तत्त्वका, सचाईका अनुसन्धान करना होता है वहाँ नाम-रूपके परम-अर्थ पर दृष्टि जाती है अर्थात् परमार्थ पर दृष्टि जाती है।

जो परमार्थका चिन्तन करनेवाले हैं, उनका सृष्टिके चिन्तनमें आदर नहीं है। वे तो जो सच्ची वस्तु है, उसका चिन्तन करते हैं। परन्तु जिन लोगोंका चिन्तन राग और द्वेषसे प्रेरित है, उनका चिन्तन समझ लो कैसा होगा! 'यह हमारा राष्ट्र है, यह हमारा प्रान्त है, यह हमारा शास्त्र है, यह हमारी जाति है, यह हमारा परिवार है, यह हमारा व्यक्तित्व है आदि'-इस सीमित दायरेमें बैठकर जब हम वस्तुका चिन्तन करेंगे तो अपने उपयोगकी दृष्टिसे करेंगे, अतएव जिससे उसकी सिद्धि होगी, उससे राग होगा और जिससे अपने स्वार्थकी सिद्धि नहीं होती होगी, उससे द्वेष होगा। और, तब हम अपने अन्तःकरणको राग-द्वेषसे मलिन करके विचार करेंगे। और, जब किसीसे राग हो जाता है, मुहब्बत हो जाती है तो उसके गुण-ही-गुण दिखते हैं, दोष नहीं दिखते हैं। और, जब किसीसे दुश्मनी हो जाती है, तब उसके दोष-ही-दोष दिखते हैं, गुण नहीं दिखते।

माने जबतक हमारे अन्तःकरणमें राग-द्वेष हैं, तबतक हम वस्तुकी सच्चाईको समझनेमें बहुत-बहुत कठिनाईका अनुभव करेंगे और, जब अन्तःकरण राग-द्वेषसे रहित होता है, तब सत्यका ज्ञान होता है।

राग-द्वेषको हटानेके लिए भी युक्ति होती है और वह भी सीखनी पड़ती है। एक कल्पित पदार्थमें राग करो। यह जो संसारके ठोस पदार्थोंमें राग-द्वेष है, वह मिट जायेगा। इसका नाम 'उपासना' है। उपासना चाहे कर्म प्रधान करो, चाहे भाव प्रधान करो : कर्म प्रधान उपासनाको 'कर्मयोग' कहते हैं और भावप्रधान उपासनाको 'भक्ति' कहते है।

किसीसे भी राग-द्वेष मत करो, चित्तवृत्तिको सम करो, यह जो निर्वृत्तिक चित्तका अवस्थान है, इसको 'योग' कहते हैं। और, यह जो भेद मानकर राग-द्वेष होता है, विचारके द्वारा उस भेदको ही मिटाओ-यह 'सांख्य' अथवा 'ज्ञान-मार्ग' है।

अब इन चारोंका फल है कि हम परम वस्तुका, जो सच्ची वस्तु है उसका चिन्तन करें।

जो लोग परमार्थके मार्ग पर चलते हैं, वे परमार्थका चिन्तन करते हैं। उन्हें सृष्टिकी खटपटमें उतना रस नहीं आता है। क्यों? जो मायाके रूप हैं उनके चिन्तनसे किसी विशेष स्वार्थकी सिद्धि नहीं होती है।

(माण्डूक्य कारिका (आ. प्र.) प्रवचन-पृ. 332,333,334)

बाहरकी वस्तुओंके प्रति महत्वबुद्धि, ध्यानमें बाधक है!

ऋषिकेशमें हमारे एक ध्यानी महात्मा थे। पेड़के नीचे बैठते और ध्यान करते। एक दिन वहाँ कोई सेठजी पहुँच गये। जाकर उन्होंने महात्माके सामने पुराने जमानेके चाँदीके पच्चीस रुपये (आजकलके दो सौ रुपयेके बराबर) रख दिये।

साधुने कहा-'बाबा! हम माँगकर खा लेते हैं और पेड़के नीचे सो जाते हैं। ये रुपये लेकर क्या करेंगे?

सेठने कहा-'नहीं महाराज! अब तो हमारी जेबसे निकल गया। आप किसीको दे देना। जो मौज हो सो करना।

अब सेठजी तो चले गये। जब साधुजी बैठे ध्यान करने तो सोचने लगे कि-'पच्चीस रुपयेका भण्डारा कर दें, तो एक ही दिनमें खत्म हो जायेगा। अच्छा, कपड़े खरीदकर गरीबोंको बाँट दें। पच्चीस रुपयेमें तो सौ गज कपड़ा आ जायेगा। अब विचार आया-'कपड़े भी लोग नंगा देखकर दे देते हैं। कोई बिमार होता है तो दवा नहीं मिलती, इसलिए दवा मँगा लें।'

एक साथ पाँच-सात संकल्प महात्माके हृदयमें उठे। उसने कहा-'राम-राम! कहाँ तो मैं वृत्तिको अपने लक्ष्यमें एकाग्र करनेमें लगा था और कहाँ ये संकल्प-पर-संकल्प? तो वह महात्मा अपने गुरुजीके पास चला गया।

गुरुजीने बात सुनी और कहा कि-'बाबा! ये जो पच्चीस रुपये हैं न, तुम्हारे पास ये बड़े कीमती हैं, बड़े महत्वपूर्ण हैं! इनसे भण्डारा हो सकता है, कपड़े खरीदे जा सकते हैं आदि आदि। तुम्हारी महत्वबुद्धि साक्षी होकर बैठनेमें है कि तुम्हारी बुद्धि पैसोंको महत्त्वपूर्ण मानती है? तो देखो, छूना नहीं अपने हाथसे पैसोंको। चाँदीके रुपये। ले जाकर गोबर डालो उनके ऊपर और गोबर डालकर उनको कस लो और कसकर गंगाजीमें डाल दो। और उसके बाद ध्यान करने बैठो।'

अब उस महात्माने गुरुजीकी आज्ञासे ज्यों ही उन रुपयोंको गंगाजीमें डाला और ध्यान करने बैठे, वह निर्द्वन्द्व ध्यान लगा कि बस! देखो! पैसोंकी जो समस्या आ गयी थी वह छूट गयी। इतना ही नहीं, वह जो गुरुजीकी आज्ञाका पालन किया, उससे अहंभावका उदय नहीं हुआ। यदि वे महात्मा अपने मनसे रुपयोंको फेंकते तो-'हमने रुपयोंको फेंक दिया'-इसका अहंभाव उसके मनमें आ जाता। और अहं-भाव आ जाने पर फिर ध्यान आदि नहीं लगता। फिर अपने कर्तृत्वपनेका, अपने त्यागीपनेका ध्यान होता, कि 'मेरे जैसा त्यागी और कौन है, जिसने आये हुए रुपयोंको फेंक दिया!

तो ये जो बाहरकी वस्तुओंके प्रति महत्त्वबुद्धि है, आकर्षण है, यह ध्यानमें बाधक है।

(ध्यान और ज्ञान : पृ. 109-110)

व्यवहार शुद्धिकी चार बातें!

आपका अन्तःकरण सात्त्विकताका एक महान् समुद्र है।

आपके अन्तःकरणके क्षीर सागरमें मानों अमृत छिपा हुआ है।

आपका जो धवल एवं निर्मल अन्तःकरण है, उसमें मन्थन करके 'ध्यानामृत'को प्रकट करना है।

यदि आपका मन खारा-खारा (क्षार सागर) होगा और उसका मन्थन करके उसमें अमृत प्रकट करना चाहेंगे तो नहीं होगा।

यदि आपका मन क्षार न हो क्षीर हो अर्थात् दूधके जैसे धवल, तरल, स्निग्ध और उज्ज्वल हो, इसके लिए आपको व्यवहार शुद्ध करना पड़ेगा। व्यवहारमें जो कड़वाहट है, वही आपके अन्तःकरणको क्षार बना देता है।

योगदर्शनकी रीतिमें यह बात बताते हैं कि व्यवहारमें भी आप विस्तारमें न जायँ; केवल गिनतीकी चार बातें आप धारण कर लें और इसीसे संसारका सारा व्यवहार शुद्ध हो जायगा।

(1) **'मैत्री'** जो संसारमें सुखी हैं, उनसे ईर्ष्या न करके 'मैत्री' कीजिये।

(2) **'करुणा'** संसारमें दुःखी हैं, उनसे घृणा न करके उनके ऊपर करुणा कीजिये।

(3) **'मुदिता'** संसारमें जो पुण्यात्मा हैं, उनको देखकरके आनन्द लीजिये।

(4) **'उपेक्षा'** जो संसारमें पापी हैं, उनकी उपेक्षा कर दीजिये। उनसे द्वेष मत कीजिये।

आपको दुनियामें बस चार ही तरहके लोग मिलेंगे।

लोगोंके साथ व्यवहार करनेमें सुखीके साथ मैत्री, दुःखी पर करुणा, पुण्यात्माको देखकर मुदिता और पापीको देखकर उपेक्षा। तो आपके हृदयमें जो व्यवहार करते समय बारम्बार कटुता अर्थात् अन्तःकरण समुद्रसे विष तो निकलता है, पर अमृत नहीं निकलता है, तो ध्यानामृतकी उत्पत्तिके लिए व्यवहारको ठीक करना होगा। इसको बोलते हैं चित्तको मनाना। जैसे घरमें श्रीमतीजी रूठ गयी हों तो तरह-तरहकी युक्ति करके उन्हें मना लिया जाता है। इसी तरह आपकी जो चित्तभूमि है वह किसीसे ईर्ष्या, किसीसे घृणा, किसीसे द्वेष, तो किसीको देखकर दुःखी होती है। तो, विषके स्थान पर अमृत प्रकट करनेके लिए व्यवहार शुद्धि द्वारा चित्तको मनाना होगा। तब जाकर अन्तःकरण रूपी क्षीरसागरमें-से ध्यानामृत प्रकट हो सकेगा।

आपके इसी अन्तःकरणमें (क्षीरसागरमें) नारायण और लक्ष्मी रहते हैं। और इसीमें अमृत अर्थात् 'मोक्ष' रूपी अमृतत्व रहता है।

प्राचीन कथाका आलम्बन लेकर यह बात आपको सुनायी है।

(ध्यान और ज्ञान-पृ. 92-93)

नियमकी महिमा एवं जीवनमें नियमकी आवश्यकता!

लोग चाहते तो यही हैं कि हमारे जीवनमें किसी प्रकारका बन्धन न रहे, हम सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त रहें, परन्तु ऐसी स्थिति प्राप्त करनेका साधन लोगोंकी समझमें सुगमतासे नहीं आता। सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्तिका साधन एकके साथ बँध जाना है। जीवनको सब बन्धनोंसे छुड़ा लेनेका साधन उसे किसी नियममें बाँध देना है। जीवनको नियमके अधीन कर देना, आलस्य और प्रमादको सदाके लिये विदा कर देना है। नियमित हो जाना अर्थात् प्रपञ्चके अनेकों झंझटोंसे छूट जाना है। नियम जीवनकी सब बुराइयोंको पीसकर-गलाकर एक ऐसे साँचेमें ढाल देता है कि वे आमूल-चूल परिवर्तित होकर भलाइयोंके रूपमें बन जाय।

चाहे जो हो, नियम, नियम ही है। उसका उलङ्घन नहीं होना चाहिए। किसी प्रकारका बहाना बनाकर यदि नियमका भङ्ग कर दिया जायगा तो वह नियम बार-बार टूटता रहेगा। नियममें कभी भी शिथिलता नहीं होनी चाहिए। एक बार नियम टूट जाता है तो उसकी पूरी नींव हिल जाती है।

अपनी प्रतिज्ञाका पालन, नियमों पर दृढ़ता और भगवान्‌का भरोसा मनुष्यको सब प्रकारकी आपत्तिसे बचा लेता है। अनेकों प्रकारकी विपत्तियोंसे मुक्त होनेका एकमात्र साधन है–नियमोंमें बँध जाना। जो नियमोंका उलङ्घन करके अपने जीवनको मर्यादाहीन और उच्छृङ्खल बना लेते हैं, वे किसी भी बात पर स्थिर नहीं रह सकते।

जिसके जीवनमें नियम नहीं, उसका जीवन शृङ्खलाहीन है। वह कोई भी बड़ा काम नहीं कर सकता। वह घबरा जाता है, चिन्तित रहता है। वह अपने कर्मकी सफलतामें संदिग्ध रहता है। जीवनको, परिवारको, जातिको, समाजको और राष्ट्रको नियन्त्रित, नियमित रखनेसे ही सच्चे सुख और शान्तिके दर्शन होते हैं।

नीतिशास्त्रमें कहा गया है कि जैसे मलिन वस्त्रवाले पुरुष जहाँ-कहीं भी बैठ जाते हैं, उन्हें वस्त्रकी गन्दगीका ख्याल नहीं रहता; वैसे ही एक बार सदाचारके नियमसे च्युत हुए पुरुष, शक्ति और सुविधा रहने पर भी सदाचारके नियमोंका पालन करनेमें प्रमाद करने लगते हैं।

इसीसे संसारके सभी महापुरुष जीवनके नियमका आदर करते हैं और अपने-आपको अपने ही बनाये नियमोंसे नियन्त्रित रखते हैं।

(सती द्रौपदी : पृ. 45,46,50,108)

कल्पनासे अपने मनको मत बिगाड़िये!

आजकल हमारे साधक लोगोंके मनमें एक ऐसी बात समा गयी है कि हम संसारके सुख-दुःखसे तो छूट जायँ और उनके जो हेतु अर्थात् कारण हैं, उनमें लगे रहें।

तो, यह जो असंगता आप चाहते हैं कि 'मैं दुःखी हूँ' इस वृत्तिसे हमारा सम्बन्ध न हो। वह तो आप अपने 'मैं'को दुःखके साथ मिला देते हैं तभी दुःखका अनुभव होता है और 'मैं दुःखी हूँ' वृत्ति बनती है। और जब आप अपने 'मैं'को सुखके साथ मिला देते हैं तब आपको सुखका अनुभव होता है और 'मैं सुखी हूँ' वृत्ति बनती है।

तो, साधक जब यह चाहने लगता है कि हम राग-द्वेष न छोड़ें और सुख-दुःखसे मुक्त हो जायँ; हम पाप-पुण्य न छोड़ें और सुख-दुःखसे मुक्त हो जायँ; तो पाप-पुण्य छोड़े बिना, राग-द्वेष छोड़े बिना जो सुख-दुःखसे मुक्त होनेका ख्याल करेगा, उसका वह ख्याल हमेशा अधूरा रहेगा और वह संसारकी ओर खिंचता रहेगा। अभिप्राय यह है कि पाप-पुण्यसे छूटकर, राग-द्वेषसे छूटकर यदि आप सुख-दुःखसे छूटना चाहेंगे तो छूट जायेंगे।

जो लोग शास्त्रीय प्रणालीसे 'वस्तु-तत्त्व'को नहीं समझते हैं, वे खण्डन-मण्डन एवं राग-द्वेषके चक्करमें फँस जाते हैं। हम इस मनमानी प्रणालीको बिलकुल स्वीकार नहीं करते हैं। यदि तुम्हें एक स्थान पर राग और दूसरे स्थान पर द्वेष होता है, तो डर-डरकर होता है, भला! यह डरके कारण जो काम होता है, वह बिलकुल गलत होता है।

एक हमारे पास स्वामी रहते थे। 'दण्डी स्वामी'—उनका नाम है। परन्तु अब दण्डित्व नहीं है। एक बार उन्होंने हमको चिट्ठी लिखी कि आपसे अमुक व्यक्तिने हमारी यह निन्दा की होगी, वह निन्दाकी होगी....। लम्बी चिट्ठी महाराजने लिखकर भेजी। अब! हे भगवान्! उन्होंने जिन व्यक्तिका नाम लिया उन्होंने कभी उनकी निन्दा ही नहीं की थी हमसे! हमको मालूम ही नहीं था कि दण्डी स्वामीके अन्दर ये-ये दोष हैं। अमुक उनकी यह निन्दा कर सकते हैं, बिलकुल ही नहीं मालूम था। उन्होंने जब चिट्ठी हमको लिखी कि हमारी यह-यह निन्दा आपसे की गयी होगी, तब हमें मालूम हुआ कि उनके अन्दर ये-ये दोष हैं।

तो, मनुष्य कभी-कभी अपनी कल्पनासे अपने मनको बिगाड़ लेता है।

(ध्यान और ज्ञान : पृ. 187,188,193)

भजन माने है मनका निर्माण!

असलमें जो श्रोतावर्ग होते हैं, वे न तो शुद्ध ध्यान चाहते हैं और न तो शुद्धज्ञान चाहते हैं। उनकी स्थिति तो कुछ इस प्रकार है-एक श्रीमतीजी थीं। बहुत मोटी थीं। वजन कम करनेका उपाय पूछनेके लिए वह गयी डाक्टरके पास। तो डाक्टरने बताया कि-'तुम हरी-हरी सब्जी खाया करो। तुम फल अर्थात् सेव, सन्तरा आदि खाओ। ठीक हो जायेगा। तुम्हारा वजन घट जायेगा।'

अब घर आयीं तो नौकरको सब लिखा दिया-'हमको यह-यह चाहिए।' नौकर ले आया। खा लिया। फिर उसके बाद रोज खानेवाली थाली मँगायी और वह भी खाया। महीने भर बाद जब डाक्टरके पास गयी, तो वजन तो बढ़ा हुआ उनका मिला। पाँच पाउण्ड और बढ़ गया था।

'अरे डाक्टर! तुमने जैसा बताया, वैसा मैंने किया। वजन क्यों बढ़ गया?' डाक्टर भी सोचमें पड़ गया कि बात क्या है? उसने पूछा-'तुमने सब्जी खायी?' 'खूब खायी।' 'सेव खाया?' 'खाया' 'संतरा खाया?' 'खाया।' 'पत्ते भी जब तुमने चबाये तो वजन क्यों बढ़ा?' रोज जो भोजन खाती थीं उसको भी खा लिया। सो उतना और बढ़ गया। आया आपके ध्यानमें?

तो, ये संसारी लोग जो हैं, वे जब महात्माओंके पास जाते हैं, और महात्मा लोग बताते हैं कि 'थोड़ा भजन करो, थोड़ा ध्यान करो, थोड़ा जप करो।' बहुत बढ़िया! तो होता क्या है कि पैसा तो हमारे पास ज्यों-का-त्यों बना रहे। हमारा भोग ज्यों-का-त्यों बना रहे। कुर्सी ज्यों-की-त्यों! रोजका जो भोजन है, ज्यों-का-त्यों बना रहे और जो शौकिया सब्जी है, यह जो ध्यान है, यह जो भजन है-यह सब्जी है, वह भी खा ली। माला फेरते हैं, सब्जी खानेकी तरह। ध्यान करते हैं फल खानेकी तरह, भजन करते हैं सलाद खानेकी तरह और रोजका वासना रूपी भोजन तो ज्यों-का-त्यों। उसमें तो कोई फर्क नहीं। अरे भाई! रोजके भोजनमें थोड़ा फर्क करो। उसको थोड़ा कम करो और फिर सब्जी खाओ, तो देखो तुम्हारा वजन घटता है कि नहीं। कम होता है कि नहीं?

तो ये जो संसारी लोग हैं, वे अपनी वासनाको घटावेंगे नहीं। भोगको घटावेंगे नहीं। 'ब्लैक मार्केट' रोज बढ़ता जायेगा। चिन्ता रोज बढ़ती जायेगी। बोले-'हमने इतना भजन किया। हमको तो कोई फायदा नहीं हुआ। हमारा मन नहीं टिका।'

तो, ध्यानको शौककी सब्जी मत बनाओ। अपने कर्ममें, अपने भोगमें, अपने संग्रहमें, अपने वचनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर डालते जाओ! और फिर देखो भजनका प्रभाव! भजन माने है मनका निर्माण!

(ध्यान और ज्ञान : पृ. 280-281)

साधु सावधान!

हम आपको बिलकुल सीधी-सीधी बात बताते हैं और यह सबकी समझमें आने लायक है। कम-से-कम शरीरसे ऐसा काम बिलकुल मत करो जिससे दूसरेको नुकसान पहुँचता हो। और, इन्द्रियकी प्रवृत्ति, मनकी प्रवृत्ति, औचित्यकी मर्यादाका उल्लंघन न करे। आप बुद्धिके द्वारा कभी भी अनर्थका समर्थन न करें। और, बाहरकी चीजोंको लेकर आप बड़प्पनमें मत भटकें। वह तिजोरीमें रखा हुआ जो पैसा है, वह आपके बड़प्पनका हेतु नहीं हो सकता और, यह विद्या-बुद्धि भी अभिमान करने योग्य नहीं है।

यह हम बिलकुल नहीं चाहते कि इन्द्रियोंसे आप कोई भोग न भोगें, आप कर्म न करें अथवा आपका मन बिलकुल ठप्प पड़ जाय। बल्कि जहाँ तक हो सके, शरीरसे सेवा हो, श्रम हो-आलसी न बने शरीर। वेदान्तका काम शरीरको आलसी बनाना बिलकुल नहीं है। इस प्रकार उपरोक्त रीतिसे यदि आप अपने जीवनमें पहले सत्कर्म और सद्गुणोंको धारण कर लेते हैं एवं इष्टदेवका ध्यान कर लेते हैं और ज्ञानके उपयोगी आत्म चिन्तन कर लेते हैं तो आप देखेंगे कि वेदान्त तुमको ब्रह्म बनाता नहीं है। वेदान्त तो, असलमें जो तुम हो, अपनेको नहीं जानते हो, वह तुम्हारा न जानना जो है, उसको मिटाता है।

तुम अपने तटस्थ, कूटस्थ, असंग, उदासीन, द्रष्टा, साक्षी, सर्वावभासक, स्वयं-प्रकाशरूपमें बैठे हुए हो; परन्तु फिर भी तुम अपनेको परिच्छिन्न घेरेवाला जो मान रहे हो, यह तुम्हारी मान्यता अविवेक मूलक है, अज्ञानमूलक है, भ्रान्तिमूलक है। इस भ्रान्तिको वेदान्त हटाता है।

यह तो आप जानते ही हैं कि 'ध्यान' योगका विभाग है। 'ध्यान' जब धर्मके साथ मिलता है तब देवताका ध्यान होता है; उपासनासे मिलने पर इष्ट देवताका ध्यान हो जाता है; अष्टाङ्ग योगसे मिलने पर समाधिका साधन हो जाता है और 'ध्यान' जब वेदान्तके साथ मिलता है तो अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन बन जाता है।

परन्तु **ध्यान** मुख्यतः योगका विषय है और **ज्ञान** मुख्यतः वेदान्तका विषय है।

होता यह है कि लोग खिचड़ी मचा देते हैं। ज्ञानकी महिमा सुनकर चार दिन, 'विवेक चूड़ामणि' और 'पञ्चदशी' पढ़ी। चार दिन ध्यानकी महिमा सुनी कि समाधि लगाओ, फिर उधर भागे। इष्टदेवकी महिमा सुनी तो उधर भागो। चार दिन ध्यान किया फिर जपकी महिमा सुनी तो जपकी ओर भागे। तो असलमें कहीं भी मनुष्यकी निष्ठा जब नहीं होती है, तब वह अपने स्थानसे च्युत हो जाता है।

अतएव, साधु सावधान!

(ध्यान और ज्ञान : पृ. 235-237)

अपना दोष तो किसीको सूझता ही नहीं है

जब श्रीरामचन्द्रजीने शूर्पणखाके विवाहके प्रस्तावको ठुकरा दिया तो वह लक्ष्मणजीके पास गयी। लेकिन लक्ष्मणजीने भी उसको टका-सा उत्तर देते हुए कह दिया कि मैं तो इनका दास हूँ, सेवक हूँ। मेरे साथ रहने पर तुम्हें दासीकी तरह, सेविकाकी तरह रहना पड़ेगा। फिर तुमको क्या सुख मिलेगा?

इसके बाद शूर्पणखा कभी श्रीरामचन्द्रके पास तो कभी लक्ष्मणके पास जाने लगी। उसके मनमें जो काम था, वह भी परिनिष्ठित नहीं था, कामाभास था। कामाभासका यह अर्थ होता है कि किसीसे भी अपनी कामनाकी पूर्ति कर लो।

अन्तमें शूर्पणखा क्रुद्ध होकर सीता पर झपट पड़ी। श्रीरामचन्द्रने उनकी रक्षा की और लक्ष्मणसे कहा कि इस कुलटाको तो कुरूप ही कर देना चाहिए। लक्ष्मण इशारा समझ गये, शूर्पणखा नाक-कान-विहीन होनेके पश्चात् जोर-जोरसे रोने लगी और उसी अवस्थामें खरदूषण-त्रिशिराके पास पहुँची। उन तीनोंको रावणने दण्डकारण्यमें अपना प्रतिनिधि बना रक्खा था। उनके पास पहुँचकर शूर्पणखा यही बोली- 'पञ्चवटीमें दो राजकुमार आये हैं, उनके पास एककी पत्नी भी है। मैं वनमें यों ही घूम रही थी कि उन्होंने मुझे पकड़कर मेरी यह दुर्दशा कर दी है।'

शूर्पणखाने अपना कोई भी दोष नहीं बताया-न यह कहा कि मैं उनसे विवाह करना चाहती थी और न यह प्रकट किया कि मैंने सीतापर आक्रमण करनेकी चेष्टा की थी।

देखो, यह केवल शूर्पणखाकी ही बात नहीं है। अपना दोष तो किसीको सूझता ही नहीं है।

विधाताने ऐसा किसी-किसीको ही बनाया है, जो श्रीरामचन्द्रकी भाँति दूसरेके दोषोंके साथ-साथ अपने दोषोंको भी जानते-समझते और स्वीकार करते हैं।

असलमें मनुष्यको अपने दोषका पता आत्म-निरीक्षण करने पर ही मालूम पड़ता है। जो लोग कभी आत्म-निरीक्षण नहीं करते, वे दूसरेकी आँखका छोटे-से-छोटा दाग (अर्थात् दोष) देख लेते हैं, परन्तु उनकी अपनी आँखका बड़ा-से-बड़ा फफोला (दोष) भी मालूम नहीं पड़ता।

होना यह चाहिए कि मनुष्य अपने छोटे-से-छोटे दोषको भी समझे, देखे और उसका त्याग करे।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायण : पृ. 161-162)

श्रीरामचन्द्रके अनुकरणीय गुण

श्रीरामचन्द्रके गुणोंकी कोई सीमा नहीं है। उनमें अनन्त गुण हैं। लेकिन उनमें-से एक भी गुण मनुष्यके लिए दुर्लभ नहीं है। सभी गुण ग्रहणीय और अनुकरणीय हैं।

श्रीरामचन्द्र सदा शान्त रहते थे। वे ऐसे मीठे वचन बोलते थे, जिसमें सुननेवालेके प्रति स्नेह, सान्त्वना और सहानुभूति भरी रहती थी। यदि उनसे कोई कठोर बात कह देता था तो वे उसकी उपेक्षा कर देते थे, उसका उत्तर नहीं देते थे, चुप लगा जाते थे।

यदि कोई एक बार भी श्रीरामचन्द्रका उपकार कर देता तो वे उसको सदा याद रखते थे, कभी भूलते नहीं थे। उनका अपने मन पर इतना नियन्त्रण था कि चाहे कोई सैकड़ों अपराध करे, लेकिन वे एक अपराधको भी याद नहीं रखते थे।

श्रीरामचन्द्र परम बुद्धिमान और व्यवहार-कुशल थे। जब कोई उनसे मिलता था तब वे बड़े प्रेमके साथ उससे बात करते थे और उसके बोलनेके पहले ही अपनी ओरसे बातचीत प्रारम्भ कर देते थे, जिससे कि उसको अपनी बात कहनेमें कोई संकोच न हो।

झूठी बात तो श्रीरामचन्द्रके मुखसे निकलती ही नहीं थी। वे सदा अपनेसे बड़े-बूढ़ोंका सम्मान किया करते थे। उनका प्रजाके प्रति बड़ा अनुराग था।

श्रीरामचन्द्र जो कुछ भी बोलते थे, अवसरोचित बोलते थे। इस बातका बराबर ध्यान रखते थे कि उनकी वाणीसे किसीको कोई उद्वेग न हो। अमंगलकारी वार्तालापमें उनकी कभी रुचि नहीं होती थी। उनको अकारण अपनी वाणीका अपक्षय करना पसन्द नहीं था।

श्रीरामचन्द्रके हृदयमें सद्गुरुओंके प्रति दृढ़ भक्ति थी। वे स्थिरप्रज्ञ थे एवं उनका जीवन आलस्य एवं प्रमादसे सर्वथा रहित था।

श्रीरामचन्द्र, शीलवृद्धों, ज्ञानवृद्धों, आयुवृद्धोंकी संगति इसलिए करते थे कि इनसे एक समझ मिलती रहती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमें भी ऐसा करना चाहिए।

असलमें शील, सौजन्य, समता, असंगता, त्याग, तपस्या-ये सब सद्गुण मनुष्य-जीवनके सर्वस्व हैं और वे श्रीरामचन्द्रमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। इन सद्गुणोंके अभावमें न तो श्रीरामचन्द्रकी श्रेष्ठता समझमें आसकती है और न जीवनमें उतर सकती है।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 93-97,133)

हमारा हाथ भगवान् है, इतना ही नहीं भगवान्‌से भी बढ़कर है

मनुष्य-जीवनमें कितना पौरुष होना चाहिए, इसके प्रतीक हैं श्रीरामचन्द्र। वे अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए समुद्र बाँधनेको तैयार हैं। इसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि यदि जीवनमें आपका कोई लक्ष्य है, और आप उसको प्राप्त करना चाहते हैं तथा उसके लिए समुद्र पर सेतु बनाना अनिवार्य है तो बनाइये और अपने गन्तव्य-दिशाकी ओर आगे बढ़िये। इसका प्रतीकार्थ इससे अधिक और क्या हो सकता है कि हमारे जीवनमें अदम्य पौरुषका संचार होना चाहिए।

अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः। अथर्ववेद 4.13.6

अथर्ववेदके उपरोक्त मन्त्रमें यह कहा गया है कि हमारा यह हाथ भगवान् है, इतना ही नहीं भगवान्‌से भी बढ़कर है। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि हमारे ये जो वेद-शास्त्र हैं, ये पशु-पक्षियोंके लिए नहीं, देवी-देवताओंके लिए भी नहीं, केवल मनुष्योंके लिए ही होते हैं। इसलिए हमें इनसे पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए।

असलमें मनुष्यके लिए दुष्कर कुछ भी नहीं है। उसके जीवनमें विघ्न-बाधाओं और आपत्तियों-विपत्तियोंका आना भी कोई अनहोनी बात नहीं है। इनका आना-जाना तो बना ही रहता है। श्रीरामचन्द्रके सामने अनेकानेक संकट आये, लेकिन उनका उत्साह कभी भंग नहीं हुआ। किसी भी शोक अथवा भयके अवसरपर वे ठिठके नहीं, आगे बढ़ते गये।

श्रीकृष्णके जीवनमें भी बहुत सारे संकट आये। उनको मथुरा छोड़कर नंगे पाँव भागना पड़ा और उन्हें कहाँ-कहाँ नहीं रहना पड़ा? हम लोग बहुधा उनकी बाल-लीलाओं, रास-लीलाओंका ही स्मरण करते हैं, किन्तु उनके जीवन पर संकट कितने आये, इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। यदि हम उनके समग्र जीवन पर दृष्टि डालें और उनकी गीता पढ़ें तभी हमें उनसे सच्ची प्रेरणा मिल सकती है। गीता हमको यह शिक्षा देती है कि मनुष्यको किसी भी परिस्थितिमें उदास अथवा निराश नहीं होना चाहिए। असलमें मनुष्यका गिरना अपराध नहीं है, गिरकर न उठना और उठकर आगे न बढ़ना अपराध है।

श्रीरामचन्द्रका एवं श्रीकृष्णका जीवन अदम्य पौरुषका सन्देश-वाहक है और हमें यह प्रेरणा देता है कि हमको अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए निरन्तर पौरुष करना चाहिए, सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 279-281)

भक्त प्रत्येक अवस्थामें प्रसन्न रहता है

एक बार भगवान् गौरीशंकर कहीं जा रहे थे। मार्गमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार मिल गये। उन्होंने उमा-महेश्वरको प्रणाम नहीं किया। इससे शंकरजी तो कुछ नहीं बोले किन्तु उमाको बहुत बुरा लगा। वे बोलीं-'पाँच वर्षके बालक ऊँटकी भाँति सिर उठाये चले जा रहे हैं। भगवान् नीलकण्ठको प्रणाम करने तककी इनमें शिष्टता नहीं है। अतः ये ऊँट हो जायँ।

चारों कुमार शान्त भावसे चले गये। कुछ दिन बीतने पर उमा-महेश्वरको स्मरण हुआ कि सनकादिको शाप दिया था, चलकर देखें कि उनकी क्या दशा है? वृषभपर बैठकर उन्हें ढूँढ़ने निकले। देखा कि एक वृक्षके नीचे चारों ऊँटके रूपमें बैठे मजेसे पागुर कर रहे हैं। शंकरजीने पूछा-'कहो क्या दशा है?'

चारों बोले-'भगवन्! वैसे तो सभी देह आत्माके वस्त्र ही हैं, क्या सूती कोट और क्या ऊनीकोट? जैसा मनुष्य देह, वैसा ऊँटका देह। लेकिन माता पार्वतीने हम लोगों पर बड़ी कृपा की। मनुष्य देहमें भिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। शौच जाने का स्वच्छता करो तथा अन्य कई नियम पालन करो-यह सब लगा था। अब ऊँट होने पर मानवधर्मके बोझसे छुट्टी मिल गयी। खड़े-खड़े वृक्षोंके पत्ते खा लेते हैं। आवश्यकता हुई-शौच कर लेते हैं। कहीं भी वृक्षकी छायामें बैठे रहते हैं। हम सब इस रूपमें बड़े आनन्दमें हैं।'

भक्तमें चाहे सुखीपनेका अभिमान जागे या दुःखीपनेका, उसके लिए दोनों समान हैं अर्थात् हेय हैं। भक्तकी दृष्टि सुखपर जाय तो भगवान् छूट गये। वह उत्तम भवन, वस्त्र, सवारी, धनको सम्हालेगा या भगवान्को? इसी प्रकार यदि-'यह मेरा मरा, यह मेरा खोया, यह मेरा लुट गया' करके रोओगे तो भगवान् स्मरण आयँगे या दुःख देनेवालोंसे शत्रुता होगी?

भक्त तो प्रत्येक अवस्थामें प्रसन्न रहता है। जब जड़ भरतको डाकू पकड़ ले गये-उन्हें नहलाया, उत्तम वस्त्र पहनाकर चन्दन लगाया, पुष्पमाला पहनायी। खूब खिलाया; तब भी वे प्रसन्न थे और बलिदानके लिए देवीके सम्मुख ले जाकर खड़ा किया, तब भी वे प्रसन्न थे।

(भक्तियोग : पृ. 180-181)

सुख-दुःख दोनोंका देनेवाला तो एक ही है

संसारमें सुख-दुःखको बनाने-बिगाड़नेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है अपने मनको ठीक रखनेकी। संसारकी ऐसी कौन-सी दिशा है, जिसमें दुःख नहीं है? दुःखका दावानल तो सभी दिशाओंमें है। सड़कपर कहीं सुन्दर दृश्य है, तो कहीं कूड़ा भी पड़ा है। जीवनकी सड़क भी ऐसी ही है। कभी मनके अनुकूल स्थिति आती है, कभी प्रतिकूल। यदि तुम बात-बातपर सुखी-दुःखी होने लगे तो सदा अशान्त रहोगे। यह सम्भव नहीं है कि सदा सब कुछ तुम्हारे मनके अनुसार ही हो। केवल ईश्वर ही ऐसा है कि उसके संकल्पमें कभी बाधा नहीं पड़ती। सृष्टिमें ऐसा कोई जीव नहीं है, जिसके सब संकल्प पूरे होते रहें। तुम्हारे संकल्पमें बाधा पड़ती है तो तुम्हें दुःख और संकल्प पूरा होनेपर सुख होता है। लेकिन यदि तुम यह देखो कि जिस ईश्वरने तुम्हें अज्ञानान्धकारसे जगाकर यह मनुष्य जीवन दिया, जो तुमपर निरन्तर नानरूपोंमें कृपाकी वर्षा करता है, दुःख भी उसीका दिया है, तो उस दुःखमें भी तुम्हें प्रसन्नता होगी।

एक बार दो मित्रोंको एक स्थान पर पंक्ति लगाकर खड़ा होना पड़ा। उनमें-से एक मित्रके जेबसे 'पर्स' निकल गया। इससे वे बहुत दुःखी और नाराज हुए। 'यहाँके लोग चोर हैं'...ऐसी गालियाँ देते रहे। थोड़ी देरमें उनके मित्रने उन्हें 'पर्स' दिया तो हँसने लगे। बोले-'यह शरारत तुमने की थी? मित्रने कहा- 'मैंने तुम्हें सावधान किया है, शरारत नहीं की है। तुम इतनी लापरवाहीसे 'पर्स' रखते हो। मेरे स्थान पर कोई भी उसे निकाल सकता था।' लोग जब समझते हैं कि हमें सुख देनेवाला दूसरा है और दुःख देनेवाला दूसरा तो सुख देनेवालेकी प्रशंसा करते हैं और दुःख देनेवालेको गाली देते हैं; किन्तु सुख-दुःख दोनोंका देनेवाला तो एक ही है।

दुःखीपना परमात्माके अज्ञानसे आता है। मनमें दुःख-सुखका आना तो मनके सहज भावसे होता है। जैसे कभी धूप, कभी छाया आती है। संसारमें अच्छे-बुरे निमित्त आते ही रहते हैं। इनको पकड़कर, 'मैं सुखी', 'मैं दुःखी' अपनेको मान लेना, यही मूर्खता है। 'मैं दुःखी' 'मैं दुःखी' यह क्यों दोहराते हो? तुम्हें कुछ दोहराना ही है तो-'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ' यह दुहराओ और इसमें भय लगता हो तो 'दासोऽहं' दुहराओ।

यह सब ईश्वरका नाटक चल रहा है, ऐसा समझ लो तो सुख-दुःखमें समान हो जाओगे। यह सब पञ्चभूतोंका प्रपञ्च है, यह सब प्रकृतिका खेल है, यह त्रिगुणोंका कार्य है, यह मनकी लीला है-इनमें-से कोई भी बात मान-समझ लो तो दुःख-सुखमें तुम समान रहोगे।

(भक्तियोग : पृ. 176-179)

परमात्मा कब वशमें होता है?

हरिद्वारमें एक विद्वान् पण्डित एक महात्माके पास आकर बोले—'सुना है कि गुरु नानक बड़े ज्ञानी थे; किन्तु ग्रन्थ-साहबमें बहुत अशुद्ध शब्द हैं। यह कैसे हुआ?

महात्माने कागज, स्याही, लेखनी मँगाकर पण्डितको दी और बोले—'पण्डितजी! पहले आप मुझे एक श्लोक लिख दीजिये। जो श्लोक आपको अच्छी प्रकार स्मरण हो, वह लिखिये; किन्तु मेरी ओर देखते हुए लिखिये। कागज-लेखनीकी ओर मत देखिये।'

पण्डितजी लिखने लगे; किन्तु दृष्टि तो महात्माके मुख पर थी। पहली पंक्तिमें ही चार अशुद्धियाँ हुईं। महात्माजीने समझाया—'इसी प्रकार गुरु साहबकी दृष्टि तो परमात्मा पर रहती थी। मुखसे क्या निकला है, इस पर उनका ध्यान ही कहाँ जाता था?'

भक्त जब भगवान् पर दृष्टि रखकर चलता है, तब संसारके शुभ-अशुभ बहुत छोटे पड़ जाते हैं। शुभाशुभ पर दृष्टि न डालना उसका स्वभाव बन जाता है।

महाभारतमें कथा है कि युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें श्रीकृष्ण अपनी पटरानियोंके साथ इन्द्रप्रस्थ पधारे। यज्ञकी पूर्णाहुति हो जाने पर एक दिन सत्यभामाजीने द्रौपदीसे पूछा—'सखि पाञ्चाली! हम सबके तो एक ये श्यामसुन्दर ही पति हैं और वही हमारे वशमें नहीं होते, किन्तु तुमने तो अपने पाँच पतियोंको वशमें कर रखा है। इसका रहस्य क्या है? क्या तुम कोई टोना-टोटका जानती हो?'

द्रौपदी बोली—'टोने-टोटकेका सहारा कोई साध्वी पत्नी अपने पतिको वशमें करनेके लिए नहीं लेती। पतिको यदि पता लग जाय कि पत्नी उसे वशमें करना चाहती है, तो वह उससे दूर-ही-दूर रहना चाहेगा। पतिको वशमें करनेका उपाय है, स्वयं उसके वशमें हो जाना।'

परमात्मा जो सबका पति है, वह कब वशमें होता है? जब अपनी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और अपने सब साधन-सब शुभाशुभका आश्रय त्यागकर मनुष्य परमात्माकी शरण ग्रहण करता है।

(भक्तियोग : पृ. 256,260,261)

ऐसी भक्ति करो कि वह तुम्हारी नस-नसमें समा जाय!

भक्ति जीवको भगवान्‌से जोड़नेकी लाइन है। जैसे हमारे घरका बिजलीका बल्ब पावर हाउसके लाइनके द्वारा जुड़ा है। यदि लाइन कट जाय तो बल्बमें प्रकाश नहीं रहेगा। ऐसे ही भक्त भक्तिके द्वारा निरन्तर भगवान्‌से जुड़ा है।

भगवान्‌के साथ सेवाका, विश्वासका तथा प्रेमका सम्बन्ध जोड़ लेना ही भक्तियोग है। योग अर्थात् लगे रहना–

हरि से लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बन जाई।।

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला, सौन्दर्य-माधुर्यका श्रवण करके चित्त द्रवित हो अर्थात् पहलेसे पकड़े हुए आकारको त्याग दे। लाख, जस्ता, चाँदी, सोनेको गलाते हैं तो क्या होता है? पहले उसमें जो आकार था वह नष्ट हो जाता है। सोना पहले कंगन था। किन्तु पिघलाये जानेपर उसने कंकणाकार छोड़ दिया। इसी प्रकार चित्तमें जो पहले स्त्री, पुत्र, भवन, धन आदिका आकार था, द्रवित होनेपर चित्तने वह आकार त्याग दिया। अब उसे भगवान्‌के आकारवाले साँचेमें ढालो। नेत्र बन्द करने पर पहले पुत्र-स्त्री, भवन-मोटर दीखती थी, अब मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर अथवा धनुषधारी लक्ष्मणाग्रज या चतुर्भुज मेघवर्ण श्रीनारायण दीखते हैं। इसको भक्ति कहते हैं।

भगवान्‌को सतत चिन्तन करनेवाला प्रेमी चाहिए। भक्तिमें छिपाव-दुराव नहीं है। वह तो डंका बजाकर-गाकर, कीर्तन करके की जाती है। जो लोग छिपाकर भक्ति करते हैं उन्हें अनेक बार संकोचवश दूसरे जान न जायँ, इस भयसे कीर्तन, भजन, सत्सङ्गसे वञ्चित रहना पड़ता है। छिपाकर करनेके कार्य हैं चोरी, बेईमानी, अनाचार आदि। भक्ति तो प्रकट करनी चाहिए।

भक्ति मनोवृत्ति मात्र नहीं है। मनोवृत्ति सतत नहीं रहती; वह सुषुप्तिमें तमोगुणमें लीन हो जाती है। भक्ति तो ऐसी वस्तु है जो मनोवृत्तियोंके लीन हो जानेपर भी रहती है। स्मृति तथा विस्मृति दोनोंमें वह रहती है, इसीसे उसे सतत रखा जा सकता है।

पुत्रका स्मरण होना एक बात है, उसे भूल जाना दूसरी और उससे प्रेम होना–इन दोनोंसे भिन्न बात है। कार्य करते समय तथा निद्रामें पति, पुत्र, धन आदि सब भूल जाते हैं; किन्तु उनका प्रेम बना रहता है। प्रेम विस्मृति अर्थात् भूल जानेसे नष्ट नहीं होता। वह स्मृति-विस्मृतिसे भिन्न है। वह रागात्मक संस्कार है। भक्ति रागात्मक संस्कार है। अतः ऐसी भक्ति करो कि वह तुम्हारी नस-नसमें समा जाय।

(भक्तियोग : पृ. 9-12)

आदर्श परायणता

लोग भजन तो भगवान्‌का करते हैं; किन्तु चाहते हैं संसार। भजनका फल वे धन, आरोग्य, पुत्र आदि चाहते हैं। भगवान्‌की बात तो दूर, मेरे पास लोग आते हैं, पूछने पर कहते हैं-'केवल आपका दर्शन, आपकी सेवा करने आया हूँ।' 'घरमें कौन-कौन हैं'-यह पूछने पर परिवारका वर्णन करके कहते हैं-'एक कन्या है, विवाह योग्य हो गयी है। उसके विवाहके लिए पाँच हजार रुपयेकी आवश्यकता है। इसलिए तो मुझे आना पड़ा है।' यह या ऐसी ही कोई दूसरी सांसारिक माँग-यह संसारके परायण होना है। भगवत्परायण अथवा सन्तके परायण होना तो यह नहीं है। अतः भजन करो, पर वह भी अपने किसी स्वार्थ पूर्तिके लिए नहीं, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए भजन करो।

एक बार श्रीकृष्णचन्द्र अन्य किसी गोपीके यहाँ रात्रि व्यतीत करके श्रीराधारानीके यहाँ सबेरे पहुँचे। जबतक श्रीकृष्ण आये नहीं थे, श्रीराधा उनके वियोगमें व्याकुल थीं। रूदन-क्रन्दन कर रही थीं; किन्तु श्रीकृष्णचन्द्रको आते देखकर वे अत्यन्त क्रोधमें भर गयीं। रूठकर उन्होंने द्वार बन्द कर लिये। ललिताजी उन्हें समझाने लगीं-'सखी! तुम तो नन्दनन्दनकी सर्वश्रेष्ठ प्रेमकी मूर्ति हो। प्रेमका आदर्श संसार तुमसे सीखेगा। प्रियतमके सुखमें तुम्हें सुखी होना चाहिए। यदि माधवको कहीं और किसीके द्वारा सुख प्राप्त होता है तो तुम्हें अप्रसन्न क्यों होना चाहिए?'

श्रीराधारानी बोलीं-'ललिते! मैं इसलिए रुष्ट तथा दुःखी नहीं होती हूँ कि प्यारे मेरे पास नहीं आये और इससे मुझे सुख नहीं मिला।'

ललिता-'तब आपके दुःखी होनेका कारण?'

श्रीराधा-'मैं प्रियतमकी नस-नस पहचानती हूँ। मुझे पता है कि मेरे पास आये बिना उन्हें कितनी व्याकुलता, कितनी पीड़ा होती है! लेकिन लोग तो अपना सुख, अपना स्वार्थ देखते हैं। अपने आनन्दके लिए इन्हें रोक लेते हैं और ये श्यामसुन्दर इतने कृपालु, इतने मृदुल चित्त, इतने संकोची हैं कि जहाँ प्रेमका किञ्चित् लेश, किञ्चित छाया भी है, वहाँ उस हृदयकी पुकारको ये अनसुनी नहीं कर पाते। स्वयं व्याकुल रहते हैं। मेरे पास आनेको इनका हृदय छटपटाता रहता है और फिर भी उसे सुख देनेके लिए वहीं रुके रहते हैं। मेरे कष्टका कारण तो यह है।'

यह आदर्श परायणता है। प्रियके कष्टको मिटानेके लिए, उन्हें सुखी करना भले न हो, उनका कष्ट किञ्चित कम हो सकता हो तो उसके लिए हम अपनेको नरकमें लाख-लाख वर्ष रखेंगे।

भक्तिकी रीति ही अटपटी है। श्रीराधाको दृढ़ निश्चय है कि श्रीकृष्ण उनके समीप आये बिना सुखी होते ही नहीं हैं। भक्तके लिए ऐसा दृढ़ विश्वास अपेक्षित है।

(भक्तियोग : पृ. 58-60)

जीवकी शक्ति भगवान्के आश्रय की ही है

एक योरोपियन दम्पत्ति किसी जहाजसे समुद्र-यात्रा कर रहे थे। समुद्रमें भयङ्कर तूफान आगया और ऐसा लगने लगा कि अब जहाज डूबने ही वाला है। जहाजके कर्मचारी तथा यात्री व्याकुल हो उठे और इधर-उधर दौड़ते हुए प्रार्थना करने लगे। इस सब हलचलमें उस योरोपियन दम्पत्तिमें जो पुरुष थे, वे शान्त, जहाज पर खड़े थे और समुद्रको ऐसे देख रहे थे, जैसे कोई खेल देख रहे हों। उनकी पत्नीने उनसे कहा-'तुम देखते नहीं कि जहाज डूबनेवाला है? ऐसे निश्चिन्त क्यों हो? कुछ तो करो।'

उन्होंने हँसकर जेबसे पिस्तौल निकाली और उसकी नली पत्नीकी ओर करके, घोड़े पर अँगुली रख ली। पत्नी झुँझलाकर बोली-'इस खिलौनेको जेबमें रख लो। यह भी कोई हँसी करनेका समय है? यहाँ प्राण संकटमें हैं और तुम्हें हँसी सूझती है?'

पुरुषने पूछा-'तुम्हें भय नहीं लगता? तुम जानती हो कि यह पिस्तौल भरी है।'

पत्नी-'पिस्तौल भरी होनेसे क्या होता है। वह तुम्हारे हाथमें है और मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे बहुत प्रेम करते हो।' पुरुष-'इसी प्रकार मैं जानता हूँ कि यह तूफान मेरे परम प्रियतम परमात्माके हाथमें है और वह मुझसे बहुत प्यार करता है। मुझे तो तुम पर क्रोध आ सकता है। मुझसे भूल हो सकती है; किन्तु उसे क्रोध नहीं आता, उससे भूल नहीं होती। इसलिए तूफानसे डरने-घबरानेकी क्या आवश्यकता?'

एक कथा है—भगवान् नारायण एक बार गरुड़पर बैठकर कैलास गये। श्रीनारायणको आया देखकर भगवान् शंकर उनका स्वागत करने उठ खड़े हुए। लेकिन शंकरजीके कण्ठमें लिपटा सर्प बड़े क्रोधसे फूत्कार करके गरुड़की ओर लपका। यह देखकर गरुड़को हँसी आ गयी। उससे चिढ़कर वह सर्प बोला-'हँसते क्यों हो? मुझे जानते नहीं?'

गरुड़ने उत्तर दिया-'मैं आपको भली प्रकार जानता हूँ। किन्तु तभी तक, जबतक आप भगवान् शंकरके कण्ठमें लिपटे हैं। नागराज! प्रधानता स्थानकी होती है, बलकी नहीं। ठीक, सुरक्षित स्थानपर रहकर कायर व्यक्ति भी धैर्यवान् बन जाता है। इस समय आप भगवान् शिवके गलेमें लिपटे होनेसे मुझे फुफकार रहे हैं। उनसे पृथक होकर जब फुफकारेंगे, तब मैं आपको देख लूँगा।'

तात्पर्य यह कि जीवमें जो शक्ति है, वह भगवान्के आश्रय की ही है। भगवान्का आश्रय छोड़कर यदि संसारमें जाकर गर्जना करोगे तो संसार तुम्हें नरकमें पटककर छोड़ेगा। अतएव हमको भगवान्का दृढ़ विश्वास रखना चाहिए।

(भक्तियोग : पृ. 32-33/57-58)

आज तुम्हारे दिलका राज जाहिर हो गया

एक बार जब अर्जुन द्वारिकामें थे, श्रीकृष्णके राजभवनमें सो गये। सोते हुए उनके श्वाससे 'कृष्ण-कृष्ण'की ध्वनि निकलने लगी। जागते हुए लोगोंका नाम-संकीर्तन तो श्रीकृष्णचन्द्रने बहुत सुना था, किन्तु यह सोते हुए अर्जुनके श्वाससे निकलती नाम ध्वनि पहली बार सुनायी पड़ी थी। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेम-गद्‌गद शान्त होकर उसे सुनने लगे। उधर महारानी रुक्मिणीजीके राज भवनमें कोई उत्सव था। उसमें पूजन, दानके लिए समयसे श्रीकृष्णचन्द्र नहीं आये तो रुक्मिणीजीको चिन्ता हुई। देवर्षि नारदने कहा-'मैं बुला लाता हूँ।'

देवर्षि पहुँचे तो श्रीकृष्णने संकेत कर दिया कि 'चुप रहिये! बोलिये मत!' अर्जुनके श्वाससे निकलती नाम-ध्वनि सुनकर देवर्षि भी प्रेम-विभोर हो गये और अपनी वीणापर धीरे-धीरे अँगुली चलाने लगे। जब देर तक नारदजी नहीं लौटे तो सत्यभामाजी बुलाने आयीं। द्वारिकाधीशने उनको भी चुप रहनेका संकेत कर दिया। वे भी उस ध्वनिसे प्रेम मग्न होकर ताली बजाकर ताल देने लगीं। इन्हें भी जब देर हुई तो स्वयं महारानी रुक्मिणी पधारी; उन्होंने भी जब अर्जुनके श्वाससे निकलती 'कृष्ण, कृष्ण'की ध्वनि सुनी, देवर्षिको वीणा बजाते, सत्यभामाको ताल देते तथा श्रीकृष्णको प्रेम-विभोर देखा तो वे प्रेम-विह्वल होकर नृत्य करने लगीं। उन्हें नृत्य करते देख नटनागर भी नाचने लगे। प्रेमके इस आवेशमें सब यह भूल गये कि अर्जुन कि अर्जुन सो रहे हैं। इस नृत्य-संगीतके कोलाहलसे अर्जुन जागे तो चकित रह गये। उन्होंने पूछा-'आज यह उत्सव कैसा?' भगवान् बोले-इस 'अर्जुन! आज तुम्हारे दिलका राज जाहिर हो गया, इसलिए यह उत्सव हो रहा है।

इस कथाका तात्पर्य यह है कि भक्त भगवान्‌से सदा युक्त रहे। जागते-सोते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते सभी स्थितियोंमें श्रीकृष्णसे जुड़ा रहे।

हर स्थानपर, हर समय भगवान्‌में मनको आविष्ट किये रखनेकी शक्ति श्रद्धामें ही है। यह अडिग श्रद्धा कि 'भगवान् मेरे हैं, जन्म-जन्मके मेरे हैं' होनी चाहिए। दुर्बलता तुम्हारे ही हाथमें आ सकती है, भगवान्‌के हाथमें नहीं। वे तो जिसे पकड़ लेते हैं, उसे छोड़ते नहीं। पकड़कर छोड़ना उन्हें आता ही नहीं। पूतनाको उन्होंने पकड़ा, तृणावर्तको पकड़ा या और जिसे पकड़ा-फिर नहीं छोड़ा। सदाके लिए उसे अपनेमें मिला लिया।

(भक्तियोग : पृ. 12-13,36)

प्रेममें होनेवाला दुःख भी सुखस्वरूप ही है

भक्तिमें अष्टाङ्गयोग, लययोग, मन्त्रयोग, राजयोग, पूर्णयोग, राजाधिराजयोग, सविकल्प समाधि अथवा निर्विकल्प समाधि आदि किसीकी आवश्यकता नहीं है। दूसरे सभी योगोंमें चित्तको शान्त करना है; किन्तु प्रेममें शान्ति नहीं है। ईश्वरमें प्रेम होगा तो दूसरे किसी साधनमें चित्त नहीं जायेगा। वस्तुतः प्रेममें तो मिलन-वियोग-दोनोंमें अशान्ति है।

जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुःख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करै जनि कोय।।

मीराकी यही बात दूसरे प्रेमियोंने भी अपने शब्दोंमें कही है-

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो। प्रीति पतंग करी दीपक सों पावक माहिं दह्यो।।

लेकिन; प्रेममें होनेवाला यह दुःख भी सुखस्वरूप ही है। इस दुःखमें, पीड़ामें अमृतसे अधिक मधुरता है।

भक्तकी अनन्यता ही उसका योग है और इस अनन्यतासे ही उसका ध्यान चौबीस घण्टे अखण्ड चलता है। नारद भक्ति सूत्रके अनुसार भगवद् विरोधी भावोंसे उदासीन हो जाना ही भगवान्‌में अनन्यता है। उदासीनका अर्थ है 'उत्-ऊपर, आसीन' उनसे ऊपर उठ जाओ। अर्थात् उनका स्मरण ही मत करो। अपने प्रियतम प्रभुके और समीप चले जाओ। हमें दूसरोंसे कोई प्रयोजन ही नहीं। भगवान् के अतिरिक्त हमें दूसरा कुछ नहीं चाहिए। यह अस्पर्श योग है, मनसे भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुका स्पर्श ही नहीं करना। अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन कर देना।

ऐसे भक्तके जीवनमें ये तीन बातें अवश्य आजाती हैं-1. ईश्वरका जीवन ही उसका जीवन हो जाता है। ईश्वरकी इच्छासे भिन्न जन्म-मरण उसके लिए रहता ही नहीं। ईश्वरमें जो सत् है, वही उसका जीवन बन गया है। 2. ईश्वरकी बुद्धि ही उसकी बुद्धि हो जाती है। उसके सब विचार भगवान्‌के दिये हुए हैं। और भगवान्‌के लिए हैं। भगवत्प्रेरणा ही उसकी बुद्धिमें व्यक्त होती है। ईश्वरका 'चित् ' ही उसमें बुद्धि बनकर प्रकट होता है। 3. ईश्वरका आनन्द ही उसमें सुख होकर प्रकट होता है। प्रेमास्पदके सुखमें, उनकी प्रसन्नतामें ही वह सुखी-प्रसन्न रहता है। ईश्वरके सुखसे वह अपना सुख एक कर देता है-

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।

जिससे प्रेम होगा, उसका ध्यान होना स्वाभाविक ही है।

(भक्तियोग : पृ. 63-64)

गुनाह तुमने किया है!

मुसलमान धर्मके अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद साहबसे बहुत पहले हजरत मूसा एक पैगम्बर हुए हैं। एक बार वे कहीं जा रहे थे। मार्गमें उन्होंने देखा कि एक गड़रिया एक पत्थरपर आँखें बन्द करके बैठा है और कह रहा है-'ए खुदा! अगर तू मेरे पास आ जाय तो मैं तेरी दाढ़ीमें कंघी कर दूँ और तेरे सिरमें तेल लगा दूँ।'

हजरत मूसा उस गड़रियेके पास गये और डाँटकर बोले-'यह तू काफिरोंके समान क्या कुफ्र बकता है। खुदाके कहीं शक्ल है और उसके क्या दाढ़ी और सिर है कि तू कंघी करेगा और तेल लगायेगा? यह तू कसूर कर रहा है।'

गड़रिया घबरा गया। उसने हजरत मूसाके कदमोंपर सिर रखकर माफी माँगी और बोला-'मैं तो बेवकूफ गड़रिया हूँ। हुजूर बता दें कि मैं खुदाका खयाल किस तरह करूँ?'

मूसाने दो क्षण सोचकर कहा-'आफताब (सूर्य)की रोशनीकी तरह खुदा रोशन है और उसका नूर सब कहीं फैला है। उसमें कोई शक्ल नहीं है।' गड़रियाको उपदेश देकर मूसा आगे बढ़े तो आकाशवाणी हुई-'मूसा! तुम दुनियामें किसलिए भेजे गये हो?'

हजरत मूसा-'बन्दोंको खुदामें लगानेके लिए।'

आकाशवाणी-'मगर तुम तो ठीक उल्टा काम करने लगे। जो लोग मुझमें लगे हैं, उनको तुम मुझसे दूर करते हो! वह गड़रिया जो कुछ कर रहा था, वह गलत था तो तुमने जो खुदाको रोशनीकी तरह बताया, क्या वह ठीक है? क्या करोड़ों आफताबोंकी रोशनी मिलकर भी मेरा मुकाबला कर सकती हैं?' मूसा-'नहीं मेरे मालिक! आफताबोंकी रोशनी भी आपकी कभी बराबरी नहीं कर सकती।'

आकाशवाणी-'जब तुम्हारा बतलाना भी गलत ही है तो उस गड़रियेको तुमने डाँटा क्यों? वह भले ही कुछ भी सोच रहा हो, लेकिन मेरे बारेमें ही तो सोच रहा था। गुनाह वह नहीं कर रहा था, गुनाह तुमने किया है।'

हजरत मूसाने लौटकर उस गड़रियेसे क्षमा माँगी। इसलिए जिसका भगवान्के जिस रूपसे प्रेम हो, जिसकी भगवान्के सम्बन्धमें जो मान्यता हो, उसे उसीके अनुसार चिन्तन करना चाहिए। मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह आदि चाहे जिस रूपमें, साकार या निराकार-चाहे जैसा मानकर चिन्तन करो; किन्तु करो भगवान्का ही।

(भक्तियोग : पृ. 75-77)

सिद्ध पुरुषोंसे सेवित मूर्तिमें विशेषता आजाती है

एक सेठ एक सोनेका मन्दिर बनवा रहे थे। उनका ऐसा विचार था कि जब स्वर्ण मन्दिर बन जायेगा, तब उसमें भगवान् विराजेंगे। वहाँ समीप ही एक साधुकी झोपड़ी थी। साधुके पास धन था नहीं; उसने यह करना प्रारम्भ किया कि जैसे-जैसे सेठके मन्दिरमें सोनेकी ईंटे रखी जायँ, वैसे-वैसे वह अपने मनमें भी सोनेकी ईंट जमानेका चिन्तन करे। दिन भर जबतक सेठके मन्दिरका काम हो, साधु भी चिन्तन करे। सेठके मन्दिरके ही ढंगका मन्दिर साथ-ही-साथ अपने मनमें वह स्वर्णका बनाने लगा। सेठका मन्दिर पूर्ण हुआ तो साधुके मनमें बननेवाला मन्दिर भी पूर्ण हो गया। सेठने बड़ी सुन्दर मूर्ति मँगवायी और धर्मशास्त्रके बड़े-बड़े विद्वानोंको बुलाकर प्राण प्रतिष्ठा प्रारम्भ करवायी। साधुने भी अपने मनके मन्दिरमें भगवान्को पधराया। अब साधुके मनमें तो भगवान् प्रकट हो गये। वे हँसने-बोलने तथा पूजा स्वीकार करने लगे। यहाँ सेठके मन्दिरमें विद्वान् पण्डितोंने, श्रीविग्रहके सब अभिषेक किये। सिरसे पैर तक और पैरसे सिरतक मातृकादि न्यास भी किये; किन्तु मूर्तिमें तेज नहीं आया। ब्राह्मणोंने सेठसे कहा- 'सेठजी! हमारे कर्ममें तो त्रुटि है नहीं; किन्तु पता नहीं क्या बात है कि मूर्तिमें भगवदीय ज्योति प्रकट नहीं हो रही है।'

सेठजी बहुत दुःखी हुए। सबने परस्पर सलाह की और एक महात्माके पास गये। महात्माजीने ब्राह्मणोंकी बात सुनी और ध्यान करके देखा तो बोले-'भगवान् इस समय अन्यत्र व्यस्त हैं, इसलिए मूर्तिमें नहीं आ रहे हैं। तुम्हारे मन्दिरके पड़ोसमें जो साधु हैं, उसने अपने मनमें वैसा ही स्वर्ण मन्दिर बनवा लिया है और वहाँ, वह भगवान्की सेवा-पूजा कर रहा है। वे उसकी सेवा स्वीकार करनेमें लगे हैं। यदि वह साधु तुम्हारे मन्दिरमें दर्शन करने आये तो भगवान् मूर्तिमें उसे दर्शन देने आ जायेंगे।

सेठका स्वर्ण मन्दिर बनानेका गर्व नष्ट हो गया! वे ब्राह्मणोंके साथ उस साधुकी झोपड़ीपर गये और उससे मन्दिरमें पधारनेकी प्रार्थनाकी। साधु आये और जैसे ही हीरे-पन्ने आदिसे सजी उस मूर्तिपर उनकी दृष्टि पड़ी, मूर्तिमें भगवदीय तेज प्रकट हो गया। भगवान् भक्तके हृदयसे मूर्तिमें आते हैं। मूर्तिमें विशेष तेज या तो उपासनाकी पूर्णतासे, विधि तथा सामग्री सम्पूर्ण होनेसे अथवा कर्ताकी प्रधानतासे आती है। सिद्ध महापुरुषोंसे सेवित मूर्तिमें विशेषता आजाती है।

(भक्तियोग : पृ. 126-127)

ईश्वरकी प्रत्येक क्रियामें सौहार्द है

ईश्वरका अनुग्रह ही दुःख और सुख बनकर आता है। वह कभी-कभी मनुष्यको तपानेके लिए दुःखके रूपमें आता है, जिससे कि उसकी तपस्या बढ़े। उसके मनमें सहनशक्ति आवे। और कभी-कभी वह सुख बनकर ललचानेके लिए आता है कि हम ललच न जायँ। लालचमें आकर ईश्वरको हम कहीं छोड़ न दें।

तो जो लोग पहचानते हैं उसको, वे तो कहते हैं कि भाई, पहचान गया-

'देख मौतका रूप धरे, मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ,
भले बने हो लम्बकनाथ, योजन भर-भर हाथ!'

'अरे ओ लम्बकनाथ! तुम बहुत बढ़िया बने हो! पहचान लिया मैंने तुमको।'

भक्तके जीवनमें, साँप आने पर कहता है-'ओह! हमारे प्रभुने हमारे लिए दूत भेजा है। प्रभु कह रहे हैं कि अब तुम धरती पर मत रहो, वैकुण्ठमें आ जाओ।'

यह भावात्मक व्याख्या जो होती है, यह ईश्वरके अनुग्रहसे आती है।

एक बालक जंगलमें गया। वहाँ उसने देखा कि सामनेसे शेर आ रहा है। वह बहुत डरा-'पेड़ पर चढ़ना आता नहीं। भाग सकता नहीं। अब प्राण गये।' लेकिन शेर जब कुछ पास आगया तो बालकने देखा कि वह तो उसका बड़ा भाई ही शेरकी खाल ओढ़े है। बालक दौड़कर भाईके गलेसे लिपट गया और बोला-'भैया, मुझे आप डराते हो?'

बड़े भाईने कहा-'डरानेकी क्या बात है? यह तो हम दोनों खेल रहे हैं।'

वस्तुतः ये संसारके लोग ईश्वरको पहचान नहीं रहे हैं; इसलिए दुःखी हो रहे हैं। संसारमें दुःख तो कोई वस्तु ही नहीं है।

प्रश्न होता है कि जब संसारमें दुःख है ही नहीं तो ये कंगाल, कोढ़ी, अनाथ, दुःखीजन क्यों दीखते हैं? अरे, इन रूपोंमें भी वह परमेश्वर ही है। उसने ये रूप इसलिए धारण कर रखे हैं कि उसे इन रूपोंमें देखकर तुम्हारा कठोर हृदय कुछ तो पिघले। कुछ तो हृदयमें पड़ी माया, मोह, लोभकी गाँठ ढीली पड़े। तुम्हारा हृदय द्रवित करनेके लिए कभी वह चार चपत लगाता है और कभी दीन बनकर तुम्हारे सामने आता है। उसकी प्रत्येक क्रियामें सौहार्द है।

(सांख्ययोग : पृ. 552-553) (भक्तियोग : पृ. 164-165)

ईश्वर क्षमाका खजाना है!

क्षमा जो है वह प्रियतमके मार्गमें बढ़नेका साधन है और क्षमा भगवान् देता है।

जीवन्मुक्ति विवेक नामक ग्रन्थमें एक प्रसंग आता है-

बोले-तुम अपराधीके प्रति तो क्रोध करते हो; अरे, इस क्रोधके प्रति ही क्रोध क्यों नहीं करते?

बोले-इस क्रोधने हमारा क्या नुकसान किया?

तो देखो, क्रोधने आकर तुम्हारा धर्म बिगाड़ा। क्रोधने आकर तुम्हारे धनका नुकसान किया। क्रोधने तुम्हारे भोगमें बाधा डाली। क्रोधने अन्तःकरण अशुद्ध करके मोक्षकी प्राप्तिमें विघ्न डाला। इतना बड़ा दुश्मन तो तुम्हारा क्रोध; उसके ऊपर क्रोध करके तुम उसको तो अपने दिलसे निकालते नहीं हो और बाहरी आदमी पर क्रोध करने जाते हो!

इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ कि ईश्वर कहता है अभी दुनियामें रहो, हमारे पास मत आओ।

बात यह है कि जिसको ईश्वरके पास पहुँचनेकी जल्दी होती है, वह अपराधीको क्षमा करते हुए चलता है। क्योंकि देखो, संसारमें कई पुरुष अज्ञानी हैं, वे यदि अज्ञानवश कोई अपराध करते हैं, तो जैसे वे हैं, वैसे ही अपनेको बना देना-यह किसी बुद्धिमान्‌का काम नहीं है। उन्होंने गाली दी इसलिए वे बुरे हैं, ऐसा तो तुम समझते हो; किन्तु जब तुम उनको गाली दोगे तो तुम कौनसे बड़े हो जाओगे?

इसलिए कहते हैं-अपने हृदयमें क्षमाकी शक्ति जो दे रहा है, उस ईश्वरसे ले लो। वह खजाना है, घर है क्षमाका। धरती पर विष्ठा करते हैं और थूकते हैं, धरती गुस्सा नहीं करती। जलमें मुर्दा डालते हैं, जल गुस्सा नहीं करता। आगमें दुनिया भरका कूड़ा जलाते हैं, अग्नि गुस्सा नहीं करती। वायुमें दुर्गन्ध फैलाते हैं, वह गुस्सा नहीं करता। आकाशमें बुरी-बुरी आवाज करते हैं, लेकिन आकाश गुस्सा नहीं करता है।

देखो मनमें भली-बुरी दोनों तरहकी बातें आती हैं। बुद्धि भले-बुरे दोनों पक्षोंमें जाती है। द्रष्टा आत्मा दोनों तरहकी बातोंको प्रकाशित करता है। अधिष्ठान, अच्छा-बुरा दोनों तरहके अध्यास ग्रहण किये हुए हैं। कहीं भी धरतीसे लेकर अधिष्ठान परमात्मा पर्यन्त जो सत्य है, वह क्षमाका विरोधी नहीं है। यह तुम्हारा अहंकार ही क्षमाका विरोधी है। बीचमें यह कहाँसे घुस पड़ा? यह अहंकार अज्ञानका बेटा और दुःखका बाप है, भला! इसे त्यागकर क्षमा अपनाओ!

(विभूतियोग : पृ. 67-68)

जब तक कामना है तबतक ईश्वर दर्शन नहीं।

ये जितने चोर-चमार, झूठे-सच्चे, ईमानदार-बेईमान, शत्रु-मित्र, पक्के-कच्चे जो कुछ मालूम पड़ते हैं सो सब अपना स्वरूप ही है, परमात्मा ही है। परन्तु सब परमात्मा है इसका दर्शन सबके लिए संभव नहीं है-क्योंकि उसको वह देख पाता है जो स्वार्थी नहीं होता है।

संसारमें सत्यके विपरीत ले जानेवाली कोई वस्तु यदि है तो वह कामना है। आदमी दुनियामें झूठ क्यों बोलता है? कि सोचता है कि अगर सच बोलेंगे तो हमारे मनके मुताबिक काम नहीं होगा-अपनी कामना पर जब चोट पड़ती दीखती है तब आदमी ईमानदारीसे और सत्यसे विचलित हो जाता है।

दो मित्र यात्रा कर रहे थे, रास्तेमें पड़ा बड़ा भारी जंगल। कैसे रात बितायें? शेर बहुत थे वहाँ। तो दोनों पेड़ पर चढ़ गये और दोनोंने यह तय किया कि बारी-बारीसे सो जायँ। तो जब एक सो गया तो नीचे आया शेर, उसने जगतेसे कहा कि यह जो तेरी गोदमें सिर रखकर सोया है यह तेरा दुश्मन है, इसको तू ढकेल दे, मैं तुमको अपना खजाना दूँगा। वह बोला कि यह मेरे विश्वास पर सो रहा है, मैं ऐसा नहीं कर सकता। जब दूसरेकी बारी आयी तो फिर शेर आया और शेरने फिर वही बात कही, तो वह आ गया शेरकी बातोंमें और उसने उसे नीचे धकेल दिया। अब जब शेर उसको खाने चला तो वह बोला–हट-हट छूना नहीं मुझको, अब हम तुम्हारे छूने लायक नहीं है। जब हमारे मित्रने हमारे साथ द्रोह किया मैं तो तभी मर गया। हमारा मित्र हमारी रक्षाका वादा करके टल गया, उसके सारे पुण्य जल गये और मेरे मित्रके पुण्य जल गये तो मेरे पुण्य भी जल गये। अब मैं किसी कामका नहीं हूँ। इतना सुनते ही शेरने उसे छोड़ दिया।

तो संसारके लोग लोभ, चोरी, हिंसा, व्यभिचार मोह क्यों करते हैं कि कामनाके वश होकर-और जो कामनाके वश हो गया उसकी पीठ ईश्वरकी ओर हो गयी और मुँह संसारकी ओर हो गया।

जिसको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए–दुनियाकी छोटी-छोटी चीजोंमें जिसकी कामना फँसी पड़ी है वह बार-बार वहीं-वहीं उत्पन्न होगा। शरीरका तो कुछ ठिकाना नहीं, आज रहे कल नहीं रहे। जब तुम्हारे साथ धर्म भी नहीं, ईमान भी नहीं, ईश्वर भी नहीं–सबकी ओरसे तुमने पीठ फेर ली तो क्या इस दुनियाके रिश्तेदार जायेंगे तुम्हारे साथ? क्या दुनियाका पैसा जायेगा तुम्हारे साथ? ये कुर्सियाँ ले जाओगे साथ उठा करके?

तो दृष्ट और अदृष्ट माने लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके बाह्य विषयोंसे जिसकी बुद्धि उपराम है, उसकी इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, मन निर्मल हो जाता है, अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। और तब वह देखता है कि आत्माका स्वरूप क्या विलक्षण है! पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, आना-जाना सबसे विलक्षण! परन्तु जबतक कामना होगी तबतक यह आत्मदर्शन नहीं होगा।

(कठोपनिषद् प्रवचन-पृ. 361-363)

भगवान् केवल यह देखते हैं कि यह मेरे पास आ गया है

गीतामें अर्जुनने कहा है कि प्रभो, मैं प्रपन्न हूँ, अर्थात् तुम्हारा पाँव पकड़कर तुम्हारी शरणमें आ गया हूँ। लेकिन यह कहनेके बाद वह बोलता है कि मुझे युद्धमें मत लगाओ। इसपर भगवान् हँसने लगे। उनकी हँसीका लक्ष्य यह था–अरे बाबा, जब तुम मेरी शरणमें आगये, मेरे शिष्य बन गये, प्रपन्न हो गये तब यह जिद क्यों? शरणापन्न हो गये तब अपना यह निश्चय कि मैं नहीं लड़ूँगा–क्रियान्वित क्यों करना चाहते हो?

मैंने एक बार किसी महात्माको लिखा कि मैं आपका सत्संग करनेके लिये आना चाहता हूँ। उनका उत्तर आया कि अबतक तुमने देख, सुन, सोच-समझ और पढ़कर जो मान्यताएँ बना ली है, वे यदि मेरे समझानेसे गलत सिद्ध हो जायें तो तुम उनको छोड़नेके लिए तैयार हो या नहीं? यदि हो तो मेरे पास आ जाओ, यहाँ रहो, सत्संग करो। अन्यथा यदि तुम्हें अपनी अविवेकपूर्ण मान्यताओंको मानते रहना है तो मेरे पास आनेसे कोई लाभ नहीं होगा। पहले यह विचार कर लो कि तुम्हारे भीतर गलत बातको छोड़नेकी ताकत है कि नहीं?

तो, भगवान्‌की शरणमें जानेका एक भाव तो यह है कि देह और देह मूलक जो सम्बन्ध हैं, मान्यताएँ हैं, उन सबको भगवान्‌के प्रति समर्पित कर देना। दूसरा भाव यह है कि 'तवास्मीति च याचते'– मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारी शरणमें हूँ।

भगवान्‌में अपना-पराया नहीं है। उनका तो सम्पूर्ण विश्व ही अपना स्वरूप है। मजहबवाद तो व्यक्तियोंकी देन है। बौद्धों, जैनोंके बाद आचार्यमूलक धर्मोंकी बहुत ज्यादा सृष्टि हुई। अन्यथा धर्म तो ज्ञानमूलक ही होता है, तत्त्वमूलक ही होता है। यह हमारा धर्म, वह तुम्हारा धर्म–इस प्रकार जब धर्म व्यक्तिवादसे आक्रान्त हो गया तब उसमें अनेक विकृतियाँ पैदा हो गयी और उनके भिन्न-भिन्न प्रकार बन गये।

भगवान्‌के पास जानेके लिए, उनका शरणागत होनेके लिए किसी जाति, भूगोल, मजहब या किसी प्रकारकी रहनीका कोई फर्क नहीं पड़ता।

इसलिए शरणागति किसी खास जाति या मजहबके लिए नहीं है। सब जातियों और मजहबोंके लोग भगवान्‌की शरणमें आ सकते हैं। भगवान् यह नहीं देखते कि यह किस मजहबको या किस आचार्यको माननेवाला है; किस जातिका है और क्या करके आया है? वे तो केवल यह देखते हैं कि यह मेरे पास आगया है। इसलिए मनुष्यको उनके सामने केवल एक बार प्रपन्न हो जाना चाहिए।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 271-272)

ईश्वरकी शरणागति सर्वथा सबसे अभय करनेवाली है

शरणागति अभयदान है। इसमें कहीं किसीसे भयकी परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती। जब हम किसीसे डरते हैं तो क्या ईश्वरपर विश्वास करते होते हैं? क्या प्रकृति अथवा अपने प्रारब्ध अथवा अपने आत्मबल पर विश्वास करते हैं? जिस समय हमारे जीवनमें भय या शोक आते हैं, उस समय हम यथार्थसे सर्वथा वञ्चित हो जाते हैं।

अतः हमारा अध्यात्मशास्त्र अथवा भक्तिशास्त्र मनुष्यके जीवनमें सर्वदा निर्भयताकी स्थापना करनेके लिए है और यह बोध करानेके लिए है कि सबको निर्भय-निर्द्वन्द्व होकर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिए। हमको अपने कर्तव्यसे च्युत अथवा विमुख करनेवाला भयके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

अभय होनेका उपाय यही है कि दुनियामें निस्सङ्ग रहो। यदि किसीके होकर रहोगे तो उसके छूटने पर तुम्हें भय होगा। यदि तुम ईश्वरके होकर रहोगे तो न तुमसे ईश्वरके छूटनेका भय होगा और न उससे तुम्हारे छूटनेका भय होगा। इतना मजबूत है ईश्वरका हाथ कि उससे तुम कभी गिर नहीं सकते। उसकी मुट्ठीसे कभी बाहर नहीं जा सकते।

ईश्वरकी शरणागति सर्वथा सबसे अभय करनेवाली है और सबको अभय करनेवाली है। और यह अभयदान भगवान् श्रीरामचन्द्रका व्रत है। बस, एकबार कह दो कि प्रभो, तुम मेरे और मैं तुम्हारा। मुझे तुम्हारा ही विश्वास है, तुम्हारा ही भरोसा है, तुम्हीं सब कुछ हो। इसीका नाम है शरणागति।

जिसको अपने लिए भय होता है, वह दूसरेको अभय नहीं कर सकता। इसलिए शरणागति भयरहित पुरुषकी ही होती है। भययुक्त या भयभीत पुरुषकी शरणागति नहीं होती।

भगवान् सर्वथा निर्भय हैं और इसीलिए उनकी शरण ग्रहण की जाती है। वे अपने मानवरूपमें भी अभयदाता हैं और ईश्वररूपमें भी अभयदाता है।

मैंने एक हँसीकी बात सुनी थी। एक श्रीमतीजी रोज-रोज अपने पतिसे धन, जेवर, कपड़े आदि माँगा करती थीं। एक दिन पतिदेवने तङ्ग आकर कह दिया कि तुम मुझसे यह सब माँगती रहती हो, थोड़ी बुद्धि क्यों नहीं माँग लेती? पत्नीने झटसे जवाब दिया कि देखो, जिसके पास जो चीज होती है, वही उससे माँगी जाती है।

तो हमको अभय परमात्मासे ही माँगना चाहिए।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 274-275)

केवल बुद्धि-बलसे आत्मज्ञान नहीं

निषिद्धका आचरण और विहितका त्याग मनुष्य क्यों करता है? इसका विज्ञान हम आपको सुनाते हैं। असलमें मनुष्य वस्तुमें जबतक गुण समझता है, इन्द्रियमें सुख समझता है और जबतक अपने मनकी अमुक स्थितिमें ही मजा लेना चाहता है तबतक वह विशेष वस्तुका ही प्रेमी होता है, वह निर्विशेषका प्रेमी नहीं होता है अर्थात् विशेषमें उसकी महत्त्व बुद्धि है।

देखो, एक आदमी शहरमें बेईमानीसे कमाई कर रहा है और एक आदमी ईमानदारीसे कमाई कर रहा है; तो दोनोंमें क्या फर्क है? कि एकके मनमें कमाईकी वासना इतनी प्रबल है कि वह मर्यादा तोड़कर कमाई करता है और दूसरे आदमीके मनमें भी पैसेकी वासना है और वह भी कमाईका काम करता है; लेकिन पैसेकी वासना उसके काबूमें है जिसके कारण वह बेईमानी नहीं करता है। पैसेमें महत्त्वबुद्धि तो इस दूसरे आदमीको भी है, परन्तु इतनी नहीं है कि अपनी आत्माका सत्यानाश करके वह पैसा कमाये! तो आप देखो कि प्रतिषिद्धके आचरणमें वासनाका वेग तीव्र है और विहितके आचरणमें वासनाका वेग कम है।

महत्त्वबुद्धि तुम्हारी कहाँ है? पैसेमें महत्त्व-बुद्धि है कि ईश्वरमें महत्त्वबुद्धि है कि अपने हृदयमें महत्त्वबुद्धि है कि कहीं महत्त्वबुद्धि है ही नहीं? परमात्माकी ओर जानेके लिए तो निर्विशेषका प्रेमी होना पड़ता है।

तो जो पाप-कर्मसे विरत नहीं हुआ माने पाप-कर्म करनेमें जिसकी रति नष्ट नहीं हुई, उसे केवल बुद्धि-बलसे आत्मज्ञान नहीं होता। देखो, पाप कर्म होना दूसरी चीज है और पापमें रति होना दूसरी चीज है। कभी असावधानीसे किसीके पाँवके नीचे चींटी आयी और मर गयी अथवा रातको मच्छरने काटा और हाथ जाकर उसपर पड़ा और वह जीव पटापट मर गया—उसको पापकर्ममें रति नहीं बोलते हैं। वहाँ मारनेमें रति नहीं है। तो पापकर्मसे विरत हो जाये, उसमें रुचि न हो! यह नहीं कि खाये नहीं, पीये नहीं, पैसा रखे नहीं—सब रहे, परन्तु रुचि कहाँ रहे? कि आत्मामें। जिसका अपने बच्चेसे प्रेम है वह दुकान पर काम करते हुए भी बच्चेका ख्याल तो करता है-रति तो उसकी बच्चेमें है। पत्नी है, घरका काम करते हुए भी रुचि उसका पतिमें ही रहती है—अलग रहकर भी उसकी रुचि पतिमें होती है। तो विरतिका अर्थ है कि दुश्चरित्रता-पापमें रति नहीं रहे।

जानबूझकर पाप करते हैं, जानबूझकर झूठ बोलते हैं, जानबूझकर चोरी-बेईमानी करते हैं, तो जबतक दुश्चरित्रताको आदमी छोड़ेगा नहीं तबतक यह विद्या-बुद्धि काम नहीं देगी।

(कठोपनिषद् प्र०, भाग-1-पृ. 406-407)

आपका मन आपकी बुद्धिके अनुसार चलना चाहिए

देखो, वेदान्ती लोग ज्ञान-भक्तिका समन्वय करते हैं, उसका प्रकार थोड़ा दूसरा होता है। आत्मा ब्रह्म है-इसको न जानना अज्ञान है। ज्ञानके साथ पहले कर्मयोगका, फिर भक्तियोगका और फिर अष्टाङ्ग-योगका समन्वय होता है। वहाँ कर्म, भक्ति और योग द्वारा शुद्ध अन्तःकरणमें ही तत्त्वज्ञानका प्रकाश होता है। वेदान्तका उपदेश, जो सचमुच तत्त्वको जानना चाहता है, उसके लिए होता है। परन्तु ऐसे जिज्ञासुओंकी संख्या बहुत थोड़ी होती है। इसलिए लोगोंके व्यवहारमें भक्ति और ज्ञानके समन्वयका अर्थ दूसरा होता है। यहाँ भक्ति और ज्ञानके समन्वयका तात्पर्य है बुद्धि और मनका व्यवहारमें समन्वय। मनमें भक्ति रहती है और बुद्धिमें ज्ञान रहता है।

हमारे जीवनमें एक होती है वासना और दूसरा होता है विचार। हमें देखना चाहिए कि हमारा जीवन वासनाके पक्षमें चल रहा है या विचारके पक्षमें चल रहा है? इन दोनोंमें झगड़ा नहीं होना चाहिए। विचारके अनुसार ही जीवन चलाना चाहिए। जब तक हमारा सुख हमें बेईमानीकी ओर, व्यभिचारकी ओर, हिंसाकी ओर, झूठकी ओर खींचेगा, तबतक हमारी बुद्धि डाँवाडोल होती रहेगी। हम अपने आदरणीयकी, गुरुकी, शास्त्रकी और समुदायकी अवज्ञा करके मनमाना काम करते हैं, बुरे काम करते हैं। इसका कारण यही है कि हम मनके वशमें हो गये हैं और हमारी बुद्धिका, ज्ञानका तिरस्कार हो गया है। दुनियामें जितना भी दुःख है, स्वार्थकी प्रवृत्ति है, भोगमें आसक्ति है, ऐश्वर्यके लिए, हुकूमतके लिए जो अनुचित आचरण है उसका कारण क्या है? यही कारण है कि लोग भगवान्‌से, वेदशास्त्रसे विमुख हो गये हैं। संसारके सारे दोष-दुःख, ईश्वर और धर्मसे विमुखताके कारण ही होते हैं।

इसलिए आओ गीताके मैदानमें। गीता बताती है कि हमारे जीवनमें, विचार और मनका समन्वय होना चाहिए। अर्थात् आपका मन आपकी बुद्धिके, आपके ज्ञानके अनुसार चलना चाहिए। यदि आप अपने ज्ञान-देवताका आदर करेंगे तो इनका स्वभाव ऐसा है कि ये आपको समय पर रोशनी देंगे, प्रकाश देंगे और बतायेंगे कि यह ठीक है, यह गलत है।

इसका उपाय यही है कि पहले आप बुद्धिसे भगवान्‌के स्वरूपको समझें और फिर मनसे उनके प्रति प्रेम करें। पहले आप बुद्धिसे धर्मको समझें और फिर मनसे श्रद्धापूर्वक उसका अनुष्ठान करें। पहले आप बुद्धिसे समाधिको समझें फिर अभ्यासके द्वारा समाधिस्थ हों और बुद्धिसे ब्रह्म एवं आत्माका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें और फिर उसमें निष्ठावान् हो जायें।

(गीतामें भक्ति-ज्ञानसमन्वय, पृ. 5,65,66)

झूठ-सचका भेद व्यवहार पर्यन्त रहता है

मैं प्राय: प्रतिवर्ष कनखल जाया करता था। वहाँ अटल अखाड़ेके एक खण्डहरमें भिक्षु शंकरानन्द नामके एक विरक्त महात्मा रहते थे। रोग और वृद्धावस्थाके कारण शरीर निर्बल हो रहा था। परन्तु उनकी वाणीमें व्यंग, हँसी, दृढ़ता टपकती रहती थी।

इधर बीचमें उन्होंने मठ-मण्डलेश्वरोंके विरुद्ध कई पुस्तकें लिख दी थीं और वह सब प्रकाशित हो गयी थीं। संन्यासियोंके मनपर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। अधिकांश उनसे रुष्ट हो गये।

इसमें सन्देह नहीं कि वे मुझसे बहुत प्रेम करते थे। परन्तु मुझे उनका यह विरोध-कार्य पसन्द नहीं था। अत: मैंने एक दिन उनसे कहा–

'आप इनकी निन्दा न करें तो अच्छा है।'

वे हँसकर बोले–'तुम ऐसे लोगोंका पक्ष क्यों लेते हो?'

मैंने कहा–'उनकी निन्दा नहीं होगी, यदि प्रशंसा होगी तो लोगोंके हृदयमें उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति बढ़ेगी।' वे बोले–'मैं निन्दा इसलिए करता हूँ कि पाखण्डियोंके प्रति लोगोंके हृदयमें अन्धविश्वास न रहे। वे भूले-भटकें नहीं। साधनाके मार्गपर अग्रसर हों।'

मैंने एक दिन कहा–'आप जो लोगोंके बारेमें निन्दाके प्रवचन करते हैं, वे द्वेषसे प्रेरित है।' वे ठहाका मारकर हँसने लगे और बोले–कोई भी व्यक्ति सोकर, बैठकर, खड़े होकर, क्रोधमें, व्यंगमें कैसे बोलता है, इससे क्या? वह जो बोल रहा है, वह सत्य है कि नहीं? यदि उसका वचन यथार्थ है, सत्यका बोध करानेवाला है, तो वक्ताकी स्थिति और वचनकी भाषा देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं जो कहता हूँ वह सत्य है, इसकी जाँच-पड़ताल कोई भी कर सकता है।'

मैंने बड़ी ढिठाईसे मुस्कराकर कहा–'मुझे तो आपका कहा झूठ लगता है।'

वे हँसकर बोले–'तुम सत्य बोलकर बताओ।'

वे समझाने लगे कि परमार्थ दृष्टिसे जो मैं कहता हूँ, वह भी झूठ है और जो तुम कहते हो वह भी झूठ है। झूठ सचका भेद, जबतक व्यवहार है, तबतक रहता है और उसको मानना भी हितकारी है। यही भेद जिज्ञासुको अभेद तक पहुँचाता है।

एक आश्चर्यजनक अनुभव!

निष्काम अनुष्ठानका फल वैराग्य एवं भगवत्प्रेमकी वृद्धि ही है। परन्तु उन दिनों भगवान्‌की यह कृपा अनुभवमें नहीं आती थी। दिन-दिन उदासी बढ़ती चली जाती थी। परन्तु अनुष्ठान बराबर चलता रहा।

मैं घरपर ही बैठकर, रात्रिके समय अनुष्ठानमें संलग्न था। जपके समय सुविधाके अनुसार खुली, अधखुली या बन्द आँख रखता। बीच-बीचमें श्रीकृष्णका स्मरण होता। परन्तु ध्यान नहीं लगता। एकाएक शरीरमें एक विशिष्ट स्पन्दन सा हुआ। ऐसे लगा जैसे कोई शरीरमें-से प्राणोंको ऊपर खींच रहा है। सारा शरीर शून्य-सा हो गया। केवल शिरोभागमें एक ज्योतिश्चक्र बनने लगा। प्रकाश ही प्रकाश! पहले तो मृत्युका भय लगा। पीछे शरीरका विस्मरण हो गया और मैं एक दिव्य प्रकाशके लोकमें खो गया।

कुछ समयके बाद सारे शरीरमें जीवन और प्राणोंका पूर्ववत् सञ्चार हो गया। जब यह स्थिति पुन:-पुन: होने लगी तो सारा भय मिट गया। और यह एक साधनकी स्थिति है, ऐसा अनुभव होने लगा। इससे उठनेके बाद यह ध्यान आता-हाय, हाय, यह प्रकाश तो है, परन्तु इसमें अपने प्यारे इष्टदेवका दर्शन नहीं होता! यह कितने दु:खकी बात है!.....

कभी-कभी अपनी दीनता-हीनता, असमर्थताको देखकर ग्लानि होती। श्रीचैतन्य महाप्रभुका वह श्लोक याद आता जिसमें कहा गया है कि सर्व-त्यागके बिना पूर्णरूपसे भजन होना शक्य नहीं है। अन्ततोगत्वा त्यागका ही निश्चय हुआ।

दूसरे दिन प्रात:काल चार बजे नित्यकर्म करके घरसे निकल पड़ा। काशीके पार, गाँवसे लगभग बीस मील दूर शिवपुर पहुँच गया। एक सज्जन जो कि मेरे चाचा लगते थे, वहाँ आ पहुँचे। वे मुझे बनारस ले आये और दूसरे दिन उन्होंने मुझे घर पहुँचा दिया। मैं अपनी बैठक चारों ओरसे बन्द करके विचार करने लगा-अब मैं क्या करूँ? जप, उपवास, अनुष्ठान यथाशक्ति अबतक करता रहा। चला था भगवान् का दर्शन करनेके लिए कि हिमालयमें जाकर तप करूँगा; त्याग-वैराग्यका प्रयास किया तो यह गति हुई!

एक बार 'मैं'का साधन, उपाय, युक्तिका बल चकनाचूर हो गया। मेरा 'मैं' भूल गया।

निस्साधन एवं निरभिमान स्थिति होते ही उस घोर अन्धकारमय गृहमें एक महान् प्रकाशका आविर्भाव हुआ। उसमें धरती, घर, खपरैल, खाट एवं शरीरका लोप हो गया। बिना किसी वस्तु, साधन, वृत्ति और करणके, अनुभवमें आनेवाला यह प्रकाश क्या? कुछ आश्चर्य और भी हुआ। मुझे दीन-दुनिया भूल गयी। मैं जैसे आनन्दमें मतवाला हो गया। मेरा रोम-रोम खिल उठा। मैं न हाथ जोड़ सका, न सिर झुका सका, न दण्डवत् कर सका। हाँ, एक प्रेरणा मिली और वह थी अद्वैत सिद्धान्तके लिए जिज्ञासा एवं मनको उस ओर उन्मुख करने की। कुछ समय पश्चात् वहाँ कुछ नहीं था। फिर वही अन्धकार! कमरेसे बाहर निकलनेपर माँके दर्शन हुए और मैं अपनेको गुप्त नहीं रख सका, बोल पड़ा कि मुझे भगवान् मिल गये।

(पावन प्रसंग : पृ. 129,130,131,132,252)

देवता होकर देवताका यजन करना पड़ता है

यदि कोई चोरी करके आवे और महात्मासे कहे कि हमको ब्रह्मज्ञानका उपदेश कर दो तो कैसे बनेगा? पहले चोर शरीरको छोड़ो। व्यभिचारी शरीरको छोड़ो। उससे अलग हो जाओ। यह लोभी, कामी, क्रोधी यह जो हड्डी, माँस, चाम, विष्ठा, मूत्रका पुतला है–उसमें तो 'मैं' करके बैठे हैं। कहाँ साकार मिले, कहाँ निराकार मिले, कहाँ समाधि लगे और कहाँ ब्रह्मज्ञान होवे?

इसलिए, पहली शर्त परमात्माके मार्गमें चलनेकी यह है कि इस शरीरमें-से अपने 'मैं' को निकालो। इसमें-से अपने 'मैं' को निकालकर देखोगे कि तुम्हारा 'मैं' तो व्यापक है, द्रष्टा है और भरपूर है।

ईश्वरकी सम्पत्ति पानेकी यही युक्ति है कि हम अपनेको ईश्वरसे एक कर दें। जो अपनेको अलग रखेगा वह ईश्वरके ऐश्वर्यसे अलग हो जायेगा। वह अमृतकी जगह जहर पावेगा। वह सुखकी जगह दुःख पावेगा। वह ज्ञानकी जगह अज्ञान पावेगा। वह सत्ताकी जगह असत्ता पावेगा। और, ईश्वरसे अपनेको एक करके देखो तो सारी सृष्टिसे तुम एक हो।

यह वेदान्त विद्या किसीको दीन-हीन-मलीन नहीं रहने देती। यह अखण्डतत्त्वके साक्षात्कारकी विद्या है और इस विद्याकी प्राप्तिके लिए इस हड्डी, माँस, चामकी मैली पोशाकको छोड़ना होगा। यह बड़ी गन्दी पोशाक है। देखो, किसी बड़े आदमीसे मिलना हो तो एकदम गन्दी पोशाक पहनकर उसके पास जाओगे क्या?

तो जबतक यह स्थूल शरीरसे अपने अहंको ऊपर नहीं उठावेंगे, तबतक ईश्वरसे भला कैसे मिल पायेंगे?

इसमें एक बात और सुना देते हैं–इसमें सगुण, निर्गुण, साकार-निराकारका भेद नहीं है। साकार भगवान्–राम कृष्णादिका दर्शन भी इस गन्दी पोशाकसे नहीं होगा। यह पोशाक छोड़कर जब भावमय शरीर बनता है, उस भावमय शरीरसे उनका दर्शन होता है। निराकारमें स्थिति भी इस पोशाकमें नहीं होती। इसको छोड़कर समाधि लगानी पड़ती है, तदाकारवृत्ति करनी पड़ती है।

कर्मकाण्डमें यह बात आती है कि–

देवो भूत्वा देवं यजेत्।

अर्थात् देवता होकर देवताका यजन करना पड़ता है।

(माण्डूक्य : वैतथ्य प्रकरण पृ. 50-51)

श्रद्धा कभी हारती नहीं है!

जब मैं गीताप्रेसमें रहता था तो एकबार भूकम्प पीड़ितोंकी सहायताके लिए गया। साथमें कई लोग थे। श्रीजयदयालजी कसेरा हमारे दलमें मुख्य थे। हम लोग अन्न तथा कपड़े बाँटनेके लिए नौकामें ले गये थे। बड़ा करुण दृश्य था। गाँवोंके मकान गिर गये थे। लोग चाहे जैसे रहकर दिन काट रहे थे। सब ओर पानी-ही-पानी और उससे घिरे गाँवोंमें मनुष्य तथा पशु अत्यन्त संकटमें पड़ गये थे। उन्हें आटा-नमक भी मिलना प्राण बचानेवाला साधन था।

एक रातको हम लोग, एक गाँवके पास नौका लगाकर भोजनकी व्यवस्थामें लगे थे। इतनेमें समीप ही अनेक लोगोंके बोलनेका स्वर सुनायी पड़ा। थोड़ी देरमें लाठी, भाले लिये बहुतसे लोग आ पहुँचे। वे लूटने आये थे। वहाँ पुलिस आदि सुरक्षाका कोई साधन नहीं था। मैंने उन लोगोंसे कहा-'आप लोग लूटना चाहते हैं तो लूट ले जाइये। यह सब सामान हम बाँटनेके लिए ही लाये हैं। घर लौटाकर ले नहीं जाना है। अब यदि आप लोग लूटते हैं तो हम दुबारा नहीं आयेंगे।'

उन लोगोंमें-से एक बोला-'चलो, लौटो! इन लोगोंको लूटना ठीक नहीं है। अपने हाथों अपने पैरपर कुल्हाड़ी मत मारो!'

उन लोगोंमें परस्पर मतभेद हो गया। उनमें-से एक बोला-'हम आये हैं तो खाली हाथ लौटकर नहीं जायँगे।' अन्तमें वे सब इस बातको मान गये कि उन्हें दस-दस सेर अन्न दे दिया जाय और अन्न लेकर वे लौट गये। वे गरीब थे, भूखे थे, उनके परिवार कई-कई दिनोंसे भूखे थे, किन्तु उनमें श्रद्धा थी। उन जैसे ही दूसरे विपत्तिमें पड़े लोगोंको सहायता मिलना बन्द न हो जाय, इसे उन्होंने महत्त्व दिया।

श्रद्धाका अर्थ है, भगवान्‌के सम्बन्धमें शास्त्र, सत्पुरुष जो कुछ कहते हैं, उसे सत्य मान लेना। उसमें शंका-सन्देह न करना। जैसे कोई कहे-'सब प्राणियोंके प्रति अद्वेष्टा होना, किसीसे द्वेष न करना, यह कैसे हो सकता है? यह भी क्या सम्भव है?' तो यह श्रद्धा नहीं हुई।

शबरीको उसके गुरु मतङ्ग ऋषिने कह दिया-'तेरे यहाँ एक दिन भगवान् श्रीराम आयेंगे!' उसने गाँठ बाँध ली, 'आयेंगे! आयेंगे राम!' वह प्रातःसे सायंतक प्रतिदिन प्रतीक्षा करती, उनके स्वागतकी तैयारी करती। 'आज नहीं आये तो कल आयेंगे।' श्रद्धा कभी हारती नहीं। भक्तके हृदयमें भगवान्‌के प्रति सम्पूर्ण विश्वास होता है। अपने साधनमें पूर्ण विश्वास होता है। अपनी सफलतामें पूर्ण विश्वास होता है-'ये सद्गुण मुझमें अवश्य आयेंगे। भगवान् मुझे अवश्य अपनायेंगे।'

(भक्तियोग : पृ. 345-347)

मनकी शक्ति

भक्तिमार्गमें ध्यान कहते हैं–दर्शनसमानाकार वृत्तिको। जैसे मैं आप लोगोंको देख रहा हूँ और आप लोग मुझे देख रहे हैं-यह देखना सच्चा लगता है; ऐसे ही भगवान्‌का ध्यान करें तो भगवान् हमारे सामने बैठे हुए लगें। वे हँसते-बोलते, खाते-खेलते दिखायी पड़ें। ध्यानमें हमारी इतनी तन्मयता हो कि यह संसार भूल ही जाय। हमको अपने ध्यानमें, भगवान्‌का स्वरूप कि वे व्यापक, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन हैं; भगवान्‌के गुण-दयालुता, उदारता, कृपा, वात्सल्य आदि; भगवान्‌का परम मनोहर सौन्दर्य श्यामरूप; उनकी चेष्टा-शरीरका हिलना आदि; उनकी लीला; उनका नाम, उनका वृन्दावन-वैकुण्ठ आदि धाम-ये सब अनुभवमें आये और संसारके दृश्योंके समान ही प्रत्यक्ष एवं सत्य लगें।

एक सन्तकी कथा इस विषयकी कही जाती है। वे एक धनी व्यक्तिके यहाँ हल जोतनेकी नौकरी करते थे। हल जोतते जाते और नेत्र बन्द करके भगवान्‌का ध्यान करते जाते थे। इससे कभी-कभी कुछ भूमि बीच-बीचमें जोतनेसे छूट जाती थी। लोगोंने उनके स्वामीसे शिकायत की-'आपका हलवाहा खेती नहीं जोतता।' वे धनी सज्जन एक दिन खेत देखने आये तो देखा कि बैल चल रहे हैं। हलकी मूठ पकड़े हलवाहा भी चल रहा है; किन्तु उसके नेत्र बन्द हैं। उन्होंने हलवाहेको धक्का दे दिया-'हल चलाता है या सोता है?' धक्का लगते ही एक कटोरा गरम-गरम कढ़ी कहींसे वहाँ गिर पड़ी। धनी सज्जनने चौंककर पूछा-'यह कढ़ी कहाँसे, कैसे आगयी?'

हल चलानेवाले सन्तने बड़े संकोचसे बतलाया-'मैं ध्यानमें भगवान्‌को नैवेद्य अर्पित कर रहा था। कढ़ी परोसनेको मैंने उठायी ही थी कि आपने मुझे हिला दिया, इससे वह मेरे हाथसे छूटकर गिर पड़ी।'

यदि तुमको इस घटनाके सम्बन्धमें शंका होती है कि मनमें संकल्पित कढ़ी स्थूल रूप धारण करके बाहर कैसे गिर सकती है तो इसका यही अर्थ है कि तुमको मनकी शक्ति ज्ञात नहीं है। यह मनकी ही शक्ति है, जो तुम्हारे हाथ, जिह्वा और वाणीको गति दे रही है। मनका ठीक संयम हो, संकल्प दृढ़ हो तो मनमें सोचा पदार्थ स्थूल रूप धारण कर सकता है। मनमें भगवान्‌के लिए जो कुछ सोचोगे, वह होता जायेगा। यह संसार ब्रह्माजीने मनके संकल्पसे ही बनाया है। भगवान् नारायणने मनके संकल्पसे ही उर्वशी अप्सराको प्रकट किया था। योगी अपने मनके ही संकल्पसे अनेकरूप (कायव्यूह) बना लेता है।

(भक्तियोग : पृ. 66-67)

महात्माओंकी युक्तियाँ

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि केवल एक निश्चय करो कि 'हमारे जीवनमें प्राप्तव्य एकमात्र भगवान् हैं।'

वेदमें आया है-'इस जीवनमें भगवान्‌को जान लिया तो जीवन सफल हुआ और उन्हें यदि जीवनमें नहीं जाना तो महान् हानि हुई।'

तुम्हें सर्वत्र भगवान्‌को देखना है। अब बुद्धि लगाओ कि मन कैसे उनमें लगे और वे सर्वत्र कैसे दीखते रहें। जैसे गड़ेरियेकी भेड़ें एक-के-पीछे-एक भागती जाती हैं, वैसे क्षणके पीछे क्षण भागता जा रहा है। काल बीता जा रहा है। इस कालमें चिह्न कर दो-यह एकादशी, द्वादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, शिवरात्रि, जन्माष्टमी, रामनवमी भगवत्स्मरणके दिन हैं। कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ, चैत्र, श्रावण ये भगवदुपासनाके महीने हैं। दोनों नवरात्र उपासनाके दिन हैं। प्रातः सायं उपासनाका काल है। इस प्रकार दिनमें, सप्ताहमें, महीनेमें, वर्षमें भगवान्‌के स्मरणके लिए कालमें अवकाश निकालो। सब काल भगवान्‌की उपासनाका है, यह तर्क ठीक है; किन्तु इसे प्रारम्भमें मान लोगे तो उपासना चलेगी नहीं। कालमें चिह्न करो। उसमें भगवान्‌के स्मरणकी खिड़कियाँ-अवकाश निकालो। इस प्रकार भगवान् रहेंगे और काल मिट जायेगा।

देशमें भगवान्‌के स्मरणका स्थान निश्चित करो। सब देश भगवत्स्मरणके हैं-इसपर निश्चिन्त होकर मत बैठो। तुम्हारे कमरेमें अमुक स्थान जप करनेका, घरमें अमुक कमरा पूजाका, नगरमें अमुक-अमुक मन्दिर, दर्शन-सत्सङ्गके लिए निश्चित करो। समय निकालकर देशमें जो भगवद् धाम हैं, तीर्थ हैं-वृन्दावन, द्वारका, डाकोरजी, पंढरपुर, अयोध्या, काशी, रामेश्वर आदि उनकी यात्रा करो।

व्यक्तिमें तथा पदार्थमें चिह्न करो-माता-पिता और गुरु भगवान्‌के स्वरूप हैं। गौ, तुलसी, पीपल, शालग्राम, नर्मदेश्वर अथवा मन्दिरकी मूर्ति ये भगवत्स्मरण करानेवाली हैं। इनको देखकर प्रणाम करो। भगवान्‌का रूप मानकर इनका पूजन करो।

महात्माओंको 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिका पता था; किन्तु उन्होंने भगवान्‌का स्मरण करनेकी ये युक्तियाँ निकाली हैं। तुम क्रियामें भी भगवान्‌का स्मरण करनेकी युक्ति करो! फूल चुनते हैं भगवान्‌के लिए, माला बनाते हैं भगवान्‌के लिए, घरमें भोजन बनता है भगवान्‌को नैवेद्य लगानेके लिए..आदि-आदि।

इस प्रकार बुद्धि लगाकर क्रम-क्रमसे मनको भगवान्‌के चिन्तनमें लगाओगे, तभी मन भगवान्‌में लगेगा।

(भक्तियोग : पृ. 82-83)

जिन्दा रहना है तो अपनेसे गरीबकी ओर देखो!

जो-जो सत्य समझमें आता जाय, उसे ग्रहण करो।

यह नहीं कि पहली जो पकड़ है, बेवकूफीसे जो पकड़ लिया था उसे, अब जब सत्य समझमें आता है, तो भी छोड़ नहीं सकते। ऐसा नहीं करना। सत्यको स्वीकार करो।

सत्य यह है कि दुःख-सुख जो होता है, वह मनमें आता है। बाहरी चीजसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। न किसीके मरने-जीनेसे; न किसीके मिलने-बिछुड़नेसे। अपने मनीरामको सत्यके साथ जोड़ दो। और जो शक्ल-सूरत, जन्मे-मरे, उसको जादूका खेल देखो!

यह संसारका खेल बड़ा विलक्षण है। सत्यको पकड़ो और ये झूठे जो आकार-विकार-प्रकार हैं, इन सबको जादूका खेल देखो!

अरे! दुनियामें सब मरते हैं, वे सब दुःख नहीं देते; मेरा-मेरा-मेरा दुःख देता है। सत्य दुःख नहीं देता है; यह तो सत्यको जब हम अपने लिए अलग कर लेते हैं, तब वह दुःख देता है। दुनियामें चोरी कब नहीं होती? पर जब 'मेरी' होती है, तब दुःख होता है। दुनियामें आग कब नहीं लगती? पर जब 'मेरे' लगती है तब दुःख होता है।

सत्यको स्वीकार करो। सत्यको स्वीकृति देनेके लिए व्यक्तिगत जीवनमें थोड़ी तैयारीकी जरूरत पड़ती है। होता यह है कि जो ऐन्द्रियक भोगमें फँस जाते हैं, वे एक परिस्थितिमें आबद्ध हो जाते हैं। वे कहते हैं-'हाय, हम इसको छोड़कर कैसे रहेंगे? ऐसा पलंग नहीं होगा, तो कैसे सोयेंगे? ऐसा मकान नहीं होगा तो कैसे बैठेंगे? ऐसे नौकर-चाकर हाथ जोड़े साथ नहीं होंगे तो कैसे जीयेंगे?' उनको पता नहीं चलता है कि संसारमें हजारों-लाखों आदमी कैसे जिन्दा रह रहे हैं?

देखो; जिन्दा रहना है तो अपनेसे गरीबकी ओर देखो कि वे कैसे जिन्दा रहते हैं? यह जो ख्याल है कि ऐसे महलके बिना और ऐसे पैसेके बिना, और ऐसे नौकरके बिना जिन्दगी ही नहीं होती है; यह ऐसा ही है जैसे बगीचेमें लगाये हुए फूलसे कह दो कि वह सोचे कि जंगलमें फूल ही नहीं होते। अरे भाई! जंगलमें तो बिना बोये, बिना क्यारी बनाये, बिना सींचे, बिना खाद डाले, ऐसे-ऐसे फूल होते हैं कि बगीचेमें नहीं मिलते। उनको ढूँढ़नेके लिए विदेशोंसे लोग आते हैं, भला! हिमालयमें, जोशीमठसे आगे एक स्थान है, वहाँ ऐसे-ऐसे फूलके पौधे हैं, जो सामान्यतः कहीं नहीं पाये जाते।

ऐसे-ऐसे सुन्दर महात्मा लोग निकल आते हैं, हिमालयकी गोदमें-से और पहाड़ी जंगलमें-से ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ निकलती हैं कि शहरके लोग उनका दर्शन करने जाते हैं।

(विभूतियोग : पृ. 68-70)

गहराईमें घुसो!

एक बार श्रीआनन्दमयी माँने कथा सुनायी कि एक बार सन्तोंकी सभा लगी हुई थी। कोई भक्त, एक घड़ा गंगाजल भरकर ले आया और सन्तोंके बीचमें रख दिया—महात्माओं! यह गंगाजल पीओ।

एक सन्तने कहा–'यह घड़ेका भी क्या भाग्य है कि इसमें गंगाजल भरा गया और यह सन्तोंकी सेवाके लिए आया।'

कहते हैं कि वह घड़ा बोला–'मैं पहले माटी था। एक दिन एक कुम्हार आया और वह फावड़ा मारने लगा मेरे ऊपर; मैंने कहा–बड़ा दुःख आया। फिर मुझे वह गधे पर लाद कर घर ले गया। वहाँ कूटा, पीसा और पानी मिलाया, फिर मुझे खूब रौंदा, मैंने कहा कि कितना दुःख है। उसके बाद जब 'मैं' घड़ा बनाने लायक होगया, तब उसने चाकपर चढ़ाकर घड़ा बनाया और फिर मुझे काटा। चाक परसे उतारनेके बाद फिर पीट-पीटके थापीके साथ, उसने हमको ठीक किया उसके बाद आगके आवेंमें डाल दिया। किसी तरहसे पका, बाजारमें आया तो जो आवे, सो ठोंकके देखे कि कहीं फूटा तो नहीं है, थोड़ी कीमतमें बिका। मैं तो समझता था कि मेरे जीवनमें दुःख-ही-दुःख है, परन्तु अब मालूम पड़ा कि दुःखके बाद सुख जरूर आता है। सचमुचमें हमारा तप सफल हो गया और हमारा यह जीवन आज सार्थक हो गया।'

अभिप्राय यह है कि यह मत देखो कि क्या दुःख आ रहा है, गहरायीमें घुसो और देखो कि कौन दुःख दे रहा है। अगर हमारा प्रियतम, हमारा प्रभु ही हमको सतानेवाला है, वह परम दयालु, वह उदार चूड़ामणि, वह रसिक चक्रवर्ती, हमको दुःख देनेवाला है, तो उस दुःखके आनेमें भी कोई-न-कोई रहस्य होगा और उसमें भी हमारे सुखका बीज निहित है।

ऐसी-ऐसी बात है इसके बारेमें, यदि हम यह बतावें कि तुम्हारे घरमें, जो घाटा हुआ है, यह ईश्वरकी बड़ी कृपा है, तो आप इसे सुनना पसन्द नहीं करेंगे। तुम्हारे घरमें जो मृत्यु हुई है, तुम्हारे शरीरमें जो रोग हुआ है, यदि हम बतावें कि यह ईश्वरने दिया है और बड़ी भारी तुम पर कृपा की है तो वह आपको समयसे समझमें आवेगा। बात सत्य यही है कि इसमें ईश्वरकी कृपा है। कैसे? तो देखो, ईश्वर इसमें तुम्हारी आसक्ति छुड़ाता है, बन्धन छुड़ाता है, दुःख छुड़ाता है, अहंकार छुड़ाता है, इसमें ईश्वर तुम्हारा राग-द्वेष छुड़ाता है। बड़ी कृपा ईश्वर करता है। यदि हम इस कृपाकी व्याख्या व्यक्तिगतरूपसे करें तब तो आदमी चिढ़ जायेगा, सुनेगा नहीं और सामूहिक रूपसे करें तो अपने लिए नहीं समझेगा, अपने पड़ोसीके लिए समझेगा।

(विभूतियोग : पृ. 110-111/78)

हम लोगों पर सत्सङ्गका असर क्यों नहीं पड़ता?

यह जो बुद्धि है, यह कहीं-न-कहीं, छोटी-छोटी चीजमें आदमीको ले जाकरके फँसाती है, धनमें फँसावे, भोगमें फँसावे, कर्ममें फँसावे, रिश्तेदार-नातेदारमें फँसावे। इस प्रकार यह मनुष्यको गलत जगह पर लगा देती है।

अब इसी बुद्धिसे यदि ईश्वरके बारेमें विचार किया जाय तो जिन विचारोंके कारण चित्तमें बड़ा विक्षेप होता है, वहाँसे उठ करके यह ईश्वरकी ओर चली जाती है।

आप देखो आपके जीवनमें ऐसे कितने क्षण व्यतीत होते हैं, जब आप संसारके बारेमें न सोचकरके अपनी बुद्धिसे ईश्वरके बारेमें विचार करते हैं। वह आपका पुण्यकाल है, जीवनमें सबसे बड़ा पुण्यकाल वही है।

तीर्थयात्रा करनेसे पाप कटता होगा। एकान्तमें रहनेसे लड़ाई-झगड़ा किसीसे नहीं होता होगा, विक्षेप कम होता होगा! परन्तु ईश्वरके बारेमें विचार करने पर अज्ञानान्धकारकी निवृत्ति होती है। इसलिए तीर्थयात्रासे सत्सङ्ग बड़ा है। एकान्तमें बैठकर अपने विचारोंमें डूब जानेकी अपेक्षा भी सत्सङ्ग बड़ा है। क्योंकि वह ईश्वरका विचार देता है। एकान्तमें हम अपनी मान्यताओंसे आगे नहीं बढ़ पाते हैं और सत्सङ्गमें अपनी मान्यताओंसे आगे बढ़ पाते हैं। हमारे चित्तमें एक नये विचारका संस्कार पड़ता है जो अभी नहीं है।

एक थे गुरुजी। अपने एक शिष्यको तो अच्छा खाना, कपड़ा न दें और एकको दें। एक व्यक्तिने पूछा-'अपने दो चेलोंमें ऐसा क्यों करते हो?' बोले-जिसको संसार चाहिए उसको संसार दे रहे हैं और जिसको परमार्थ चाहिए उसको परमार्थ दे रहे हैं। कोई जबरदस्ती नहीं देता, यह भी ध्यान रखना।

अभी आज एकने सबेरे हमसे पूछा कि हम लोगोंपर सत्सङ्गका असर क्यों नहीं पड़ता? अरे भाई, सत्सङ्ग है कि यह कोई आग है कि शरीर जलने लग जाय! यह सत्सङ्ग स्थूल शरीर पर असर डालनेके लिए नहीं होता है और सूक्ष्म शरीर पर तबतक असर नहीं पड़ता जबतक वह आदमी खुद असर लेनेके लिए तैयार न हो। सूक्ष्म शरीर तो इच्छात्मक है, जब जिज्ञासु स्वयं कहेगा कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो तो शुद्ध होगा। और वह कहे कि हमारा मान-सम्मान बढ़े तो सत्सङ्ग करके उसका अन्तःकरण थोड़े ही शुद्ध होगा।

अहंकार बढ़ा, हमारी जानकारी बढ़ गयी, सिंहासन पर बैठकर उपदेश करने लग गये। इसका अर्थ तो यह हुआ कि चार-छह बात समझ गये और पाँव धुलवाने लग गये। ऐसे तो सत्सङ्ग नहीं बनता।

(विभूतियोग : पृ. 7,58)

कायरता सबसे बड़ा पाप है!

धर्म उसको कहते हैं जो अन्तःकरणकी वृत्तियोंपर रोक लगावे, अपने बुरे कर्मोंपर रोक लगावे।

कायदा-कानून अर्थात् विधिके अनुसार चलना, निषिद्ध कर्म नहीं करना एवं अपने मन-इन्द्रियोंको रोकना, धर्म है।

क्या तुम्हारे मनमें जो काम आ जाय, वह ही करोगे? विचार नहीं करोगे, रोक नहीं लगाओगे? जो मनमें आ जायेगा, वही बोलोगे? जीभपर रोक नहीं लगाओगे? अगर ऐसा करोगे तो पशुमें और मनुष्यमें कोई भेद नहीं रहेगा। तो जीभपर भोगपर एवं कर्मपर लगाम लगानेके लिए, अन्तःकरणमें अपनी इन्द्रियों एवं मनको रोक रखनेकी जो शक्ति है, उस शक्तिको धर्म बोलते हैं।

अन्तरंग मनोबलको अपने यहाँ धर्म कहते हैं।

जो दोष और दुर्गुणोंके सामने आत्म सर्मपण कर देता है, वह शत्रुओंके सामने भी आत्मसमर्पण कर देगा। इसलिए मनुष्यके जीवनमें ऐसी वीरता, ऐसी शूरता, ऐसी बहादुरी रहनी चाहिए कि अपने मनमें जो दोष-दुर्गुण आवें उनके सामने वह आत्म समर्पण न करे, उसके सामने कायर न हो जाय। क्योंकि यह कायरता जो है, वह सबसे बड़ा पाप है।

देखो इसका एक अभिप्राय आपको बताते हैं कि आजका एक मनोविज्ञानका डाक्टर ऐसे बोलता है कि मनमें जो आवे सो आने दो, उससे लड़ाई मत करो। ये नेचरकी माँग पूरी करते हैं पट्ठे!

अब इसमें यह बात हुई कि मनमें अच्छे-बुरेका भेद करके और लड़ाई करके बुरी भावनाको दबा देना और अच्छी भावनाको प्रबल करना, अगर यह अभ्यास आपको रहता तो बाहर भी बुराईसे लड़ाई करनेका अभ्यास होता। कि भाई; पापकी क्रिया जब होनेवाली हो तो पुण्यकी क्रियासे उसको दबा देना चाहिए। विषय-भोगकी भावना यदि बढ़े तो ईश्वरकी भावनासे उसको दबा देना चाहिए। किन्तु यहाँ तो ठीक इसके विपरीत हो गया। मनमें काम आया तो सिर झुका दिया कि चलो भोग करेंगे। क्रोध आया बोले-मारेंगे, लोभ आया तो दूसरेकी चीज उठाकर ले आवेंगे मोह आया तो पक्षपात करेंगे।

असलमें बात यह है कि जब, जिस जातिमें, जिस सम्प्रदायमें, जिस देशमें अन्तःकरण शुद्धिका भाव शिथिल हो जाता है, साधनाका भाव शिथिल हो जाता है, उस देशमें फिर वीर भी पैदा नहीं होते। क्योंकि जब अन्तरंग ही निर्वीर्य हो गया तो बाहरसे वीर्य एवं शौर्य आवेगा कहाँसे? अतएव जीवनमें धर्मकी भावनाको प्रबल रखना चाहिए।

(बिभूति योग : पृ. 127-128)

ईश्वर दो नहीं होता

आपको धर्मकी एक साधारण-सी बात सुनाता हूँ। जो 'प्रवृत्ति-धर्म'के पालनसे फल मिलता है, वहीं 'निवृत्ति-धर्म'के पालनसे भी फल मिलता है।

यदि तुम्हें ऐसा लगता है कि हम गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं और बाल-बच्चे भी रहें, धन भी रहे और हम सब अनासक्त निष्काम भावसे अपनी साधना करते हुए परमात्माको प्राप्त करें, तो शास्त्रकी दृष्टिसे इसमें कोई आपत्ति नहीं है; बल्कि ठीक है। गृहस्थको भी वही ईश्वर मिलता है जो संन्यासीको मिलता है; क्योंकि ईश्वर दो नहीं होते।

अब इसके सम्बन्धमें एक रहस्य और है, वह यह है कि कोई पूछे कि तब धर्मको दो प्रकारका क्यों बताया? एक प्रवृत्ति धर्म और दूसरा निवृत्तिधर्म?

समाधान : धर्म दो प्रकारके इसलिए बताये जाते हैं कि किसी-किसीके अन्तःकरणमें सहज वैराग्य होता है और किसी-किसीके अन्तःकरणमें सहज राग होता है। अतएव यह दो फलके लिए दो धर्म नहीं है; यह दो अधिकारीके लिए दो धर्म हैं। क्योंकि फलमें तो भेद ही नहीं है।

बोले-भाई, इसमें वैराग्य श्रेष्ठ है और राग कनिष्ठ है। तो यह बात बिलकुल नहीं है। अन्तःकरणमें जो राग और वैराग्य आता है, वह तो भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंका स्वभाव होता है।

यदि कहो कि शास्त्रमें निवृत्ति धर्मकी महिमाका वर्णन मिलता है और संन्यास, वैराग्य आदि सबसे श्रेष्ठ मान्य हैं। तो इसमें बात यह है कि इस महिमाका वर्णन मुख्यरूपसे गृहस्थ लोग ही करते हैं। क्योंकि जब वे देखते हैं कि हम बिना बाल-बच्चे, स्त्री, धनके नहीं रह सकते और कोई रह रहा है, तो उनके हृदयमें स्वाभाविक श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है।

एक बात इसमें यह भी है कि निवृत्ति-धर्मको श्रेष्ठ माननेसे प्रवृत्ति धर्मवाला संसारमें आसक्त नहीं होता। वह कहता है कि अन्तमें भाई सबसे बढ़िया बात यही है तो यही करना है।

तो अन्तःकरण दो तरहके स्वभावके होते हैं और दोनों भगवान्के पास पहुँच सकें, इसके लिए शास्त्रमें, दोनोंके लिए व्यवस्था है। वानप्रस्थ धर्म, गृहस्थ धर्म, ब्रह्मचर्य धर्म, इनका पालन करके रागप्रधान अन्तःकरण वाला भी अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके, प्रवृत्ति प्रधान धर्मके द्वारा ईश्वरको प्राप्त कर सकता है। और, जिसके अन्तःकरणमें वैराग्य हो जाय वह संन्यासकी ओर जाय। बिना वैराग्यके घर-गृहस्थी छोड़ना नहीं चाहिए, वह आरूढ़ पतित हो जाता है।

(विभूतियोग : पृ. 190.191,193)

क्रोध आग है

ध्रुवको भगवान् मिले और उनका मनोरथ भी पूरा हुआ। परन्तु उसके बाद जब उन्होंने यह सुना कि यक्षने उनके भाईको मार दिया है तब वह बड़े कुपित हुए। उनके मनमें भयंकर क्रोधका उदय हुआ। फिर जब ध्रुवके दादाजी, स्वायम्भुव मनु, भगवान्के भक्तोंमें-से मुख्य भक्त, आये और उन्होंने उनको समझया कि मेरे प्यारे बेटे इतना क्रोध मत करो-तब वे शान्त हुए। मैं ध्रुवके जीवनकी इस बातकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि भक्तको भी कितना सावधान रहना चाहिए। इसीलिए सन्त रज्जबने कहा :

रज्जब रोष न कीजिये कोई कहे क्यों ही।
हँसकर उत्तर दीजिये हाँ बाबा यों ही।।

कुछ भी हो जाये मनुष्यको क्रोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि क्रोधसे अपने हृदयमें धर्मका रस, श्रद्धाका रस, भजनका रस अथवा तत्त्वज्ञानका रस जल जाता है। क्रोध आग है। जैसे आग लकड़ीमें लग जाने पर उसको जलाती है। वैसे ही जिसके हृदयमें क्रोध आता है, उसको भस्म कर देता है। इसलिए यदि तुम्हें परमात्माका अनुभव है। तो सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपने आत्माका स्वरूप देखो; यदि तुम्हें सम्पूर्ण प्रपञ्च मायामय भासता है तो उसको जादूका खेल समझो। यदि तुम्हें सम्पूर्ण प्रपञ्च प्राकृत या पाञ्चभौतिक प्रतीत होता है तो सबमें एक ही प्रकृति एक ही पञ्चभूत देखो। जब हमारी इच्छामें कोई बाधा पड़ती है, प्रतिरोध होता है तो उसके फलस्वरूप हमारे हृदयमें एक अग्निकी उत्पत्ति होती है। और वह हमारे हृदय को ही जला देती है। इसलिए हमारी ही इच्छा पूरी हो इसका आग्रह-दुराग्रह अपने जीवनमें नहीं रखना चाहिए। यही पापग्रह है। इससे बचनेके लिए ईश्वरका स्मरण करना चाहिए। यह समझना चाहिए कि सबके हृदयमें वही है अतएव दूसरेकी इच्छाका भी ध्यान रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रकृतिसे, कालसे, स्वभावसे ईश्वरसे जो कुछ हो रहा है, उसको स्वीकार भी करते जाना चाहिए। जिसके जीवनमें ईश्वरेच्छाकी स्वीकृतिका अभ्यास नहीं है, वह कभी-कभी क्रोधसे अन्धा हो जाता है।

(भागवत व्यञ्जन-पृ. 84-85)

जो शक्ति सत्सङ्गमें है, वह दूसरी जगह कहीं भी नहीं है!

एक कथा आती है विश्वामित्र और वशिष्ठकी। उन दोनोंमें बड़ी स्पर्धा थी। विश्वामित्र ब्रह्मर्षि होनेके लिए बड़ी-बड़ी तपस्या करते थे और उनको अभिमान था कि मैं ब्रह्मर्षि होने योग्य हूँ। परन्तु वशिष्ठ स्वीकार नहीं करते थे।

एक दिन दोनों गये शेष भगवान्के पास और बोले कि महाराज, आप निर्णय कर दें। हम दोनोंमें कौन बड़ा है? शेषजीने कहा कि विश्वामित्र मेरे सिर पर तो धरतीका बोझ है, इतना भार सिर पर लेकर मैं न्याय कैसे करूँगा? थोड़ी देरके लिए तुम धरतीको अपने सिर पर ले लो। अब विश्वामित्र धरतीको अपने सिर पर कैसे लें! उन्होंने अपनी तपस्याको लगाया। पर एक क्षणके लिए भी वे पृथिवीको अपने सिरपर धारण नहीं कर सके। शेषने कहा कि अच्छा वसिष्ठ तुम ले लो। वसिष्ठने कहा कि मैंने जीवनमें जितना सत्सङ्ग किया है, उसमें-से एक क्षणके सत्सङ्गका जो फल है, वह हम लगाते हैं। अब तो पृथिवी उनके सिरपर आये बिना ही ऊपर टिक गयी। शेषजीने कहा कि देखो विश्वामित्र, अब भी क्या निर्णय करनेकी जरूरत है? निर्णय तो बिलकुल स्पष्ट है कि जो शक्ति सत्सङ्गमें है, वह दूसरी जगह कहीं भी नहीं है।

इस कथाके सन्दर्भमें आजकी परिस्थितिको देखना चाहिए। जो भी आता है, वह कहता है कि महाराज, हमारे मनमें बड़ी अशान्ति है। यह मत समझना कि गरीब लोग ऐसा बोलते हैं। जिनके पास बहुत सम्पत्ति इकट्ठी है, वे लोग गोली खाकर नींद लेते हैं, क्योंकि उनको ऐसे नींद नहीं आती। उनके उद्वेगकी सीमा नहीं। वे कहते हैं कि भाईने इतना ले लिया, भतीजेने यह कर दिया और मेरी पत्नी मेरे साथ ऐसा बर्ताव कर रही है, आदि-आदि। अब देखो इतनी अशान्ति क्यों? उनके मनमें जो इच्छा है, वह पूरी नहीं होती। उनके परिवारके जो लोग हैं, वे उनके मनके अनुसार काम नहीं करते। वे समझते हैं कि मन तो उनका ही है, दूसरेका मन तो है ही नहीं। पति समझता है मेरा मन, मन है; पत्नीका मन, मन ही नहीं है। पत्नी ठीक इससे विपरीत समझती है। इस प्रकार सब चाहते हैं कि अपने ही मनका हमेशा हो और यही उनकी अशान्तिका मूल है।

यह तो ईश्वरके लिए ही सम्भव है कि हमेशा उनके ही मनका काम हो। संसारमें जब व्यवहार करना पड़ेगा तो एक दूसरेको मिलाकर करना पड़ेगा। थोड़ी पत्नीकी माननी पड़ेगी, थोड़ी पतिकी माननी पड़ेगी। थोड़ा अपने मनका होगा; थोड़ा परायेके मनका होगा। दोनोंमें ईश्वरका मन है।

जब तक सत्सङ्ग नहीं करेंगे, तब तक बाहरी वातावरणका यह जो प्रभाव है, वह हमारे अन्तःकरणको छोड़ नहीं सकता, मुक्त नहीं कर सकता।

(व्यवहारशुद्धि : पृ. 95-96)

मनुष्यका भला केवल सत्सङ्गसे!

हमारे एक महात्मा थे। वे कहते थे कि प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें-से एक प्रकारकी तन्मात्रा निकलती है। जैसा उसका मन होता है, वैसा एक वातावरण उसके साथ बना रहता है। जैसे कोई आदमी क्रोधसे भरा हो, और तुम उसके पास जाओ, थोड़ी देर बैठो। अब वह बातचीत करने लगेगा–उसने हमको ऐसे सताया, इसलिए क्रोध कर रहे हैं। अब तुम्हारे मनमें भी थोड़ा क्रोध फुरफुराने लगेगा। और नहीं, तो कहोगे–हाँ भाई, जिसको तुम कहते हो, वह सचमुच बड़ा दुष्ट है। उसको दुष्ट तो कह ही दोगे न! तो क्रोधीके पास बैठनेसे मनुष्यके चित्तमें क्रोध आता है। कामीके पास बैठनेसे मनुष्यके मनमें कामका संचार होता है। लोभियोंके पास बैठो, तो ऐसी कोई बात वे अपनी बतावेंगे, कि फँसा लेंगे। इसलिए बताया है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसको सत्संग करना चाहिए, साधुओंके संगमें बैठना चाहिए। अच्छा काम करना, अच्छा बोलना और अच्छा सोचना चाहिए–इससे हृदय शुद्ध हो जाता है और भगवान्‌से मिलनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

इसलिए अपने स्मरणको ठीक बनाओ। स्मरणमें जो 'स' है न, वह भगवान्‌का वाचक है। 'स' शब्द जुड़ जानेसे ही 'स्मरण' शब्द महत्त्वपूर्ण बन जाता है, क्योंकि उसमें भगवान् आजाते हैं। और यदि 'स' नहीं होवे, तो क्या होगा? 'मरण' ही रहेगा। यदि परमात्मा स्मरणके पेटमें न हो तो स्मरण, 'मरण' हो जाता है और 'स्मृति', 'मृति' हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि भगवान्‌का स्मरण अपने जीवनमें किया जावे। तो–

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। 8.7

तस्मात्–इसलिए, माने स्मरणके अनुसार ही मनुष्यको गति प्राप्त होती है। अगले जन्ममें जो तुम्हारी उन्नति होगी, गति होगी–वह भी स्मरणके अनुसार होगी और इस जन्ममें भी जो तुम्हारी उन्नति होगी, गति होगी–वह स्मरणके अनुसार होगी। तो स्मरणको सत्सङ्गसे शुद्ध करो। क्योंकि–

मति कीरति गति भूति भलाई,
जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ,
लोकहुँ वेद न आन उपाऊ।।

लोकमें, वेदमें अपने कल्याणका दूसरा कोई उपाय नहीं है। मति, कीर्ति, गति, हित जिस किसी अधिकारीको, जिस किसी उपायसे, जिस किसी देशमें और जिस किसी कालमें, जो भी मिला है–वह सत्सङ्गका प्रभाव है। मनुष्यका अगर भला हो सकता है, तो केवल सत्सङ्गसे ही हो सकता है।

(अक्षरब्रह्मयोग-पृ. 72-73)

अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए तत्पर मनुष्यकी दुर्लभता

मनुष्य अपने मनसे एक वातावरण बनाता है और उसमें फँस जाता है। निरुक्तमें मनुष्य शब्दकी व्युत्पत्ति ही यही दी हुई है-'मनसा सीव्यती' अर्थात् जो मनसे सी लेता है। जैसे हम सूईसे एक कपड़ेके साथ दूसरे कपड़ेको सी लेते हैं तो क्या होता है कि दोनों कपड़े आपसमें बँध जाते हैं। तो मनुष्य किसको बोलते हैं? बोले-'मनसा सीव्यती'। मनसे जो सीवे।

अरे! अपने शरीरको उनका बना दे, उनके साथ रिश्ता जोड़ दे; उनका इनके साथ रिश्ता जोड़ दे! जो दुनियामें रिश्ता अथवा सम्बन्ध जोड़ता फिरे, सो मनुष्य। पैसेके साथ अपनेको सी दिया, पैसा मेरा, मैं पैसेवाला। पत्नीके साथ अपनेको सी दिया, पुत्रके साथ अपनेको सी दिया। उनका वह, तेरा मैं, मेरा तू। इस प्रकार मेरा-तेरा जो बनाता फिरे, उसका नाम मनुष्य। पक्षियोंमें ऐसा ज्यादा नहीं चलता है, उड़ जाते हैं वे तो। पशुओंमें, देवताओंमें भी ऐसा ज्यादा नहीं चलता है।

यह जो सम्बन्ध है, बन्धनका ही नाम सम्बन्ध है। कपड़ा तो एक दिन बँधता है और बँध जाते हैं जिन्दगी भरके लिए। तो मनुष्यके लिए कोई प्रत्यक्ष बन्धन नहीं है, मनसे ही बँधा हुआ है। मनसे बँध गये और मनसे खुल गये। बन्धन मनका ही है। मनसे ही बँधे-बँधे डोलते हैं।

अब यह मनुष्य कैसे छूटे?

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।। भगवद्गीता 7.3

हजारों मनुष्योंमें-से कोई एक **सिद्धिके** लिए प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमें-से कोई बिरला ही मुझे तत्त्वतः जान पाता है।

गीतामें **सिद्धि** शब्दका प्रयोग कर्मकी सफलता और अन्तःकरणकी शुद्धि-इन दो अर्थमें किया हुआ है।

सालभरमें पाँच-दस आदमी तो ऐसे आते हैं हमारे पास जो आकर थोड़ा रोते हैं और कहते हैं कि हमको तत्त्वज्ञान करा दो, बड़ी व्याकुलता है। लेकिन दो-दो, चार-चार वर्षमें भी कोई एक आदमी, ऐसा नहीं आता जो यह कहे कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध कर दो। लोग दुश्चरित्रताको छोड़नेके लिए राजी नहीं हैं; दुर्भावको, दुर्गुणको छोड़नेके लिए राजी नहीं हैं। ईश्वरको पानेके लिए तो कभी-कभी उत्सुक भी हो जाते हैं। जब ईश्वरकी महिमा सुनते हैं और सोचते हैं कि पैसेसे ज्यादा कीमती है, तो मनमें आता है कि उसको भी हम अपने घरमें इकट्ठा कर लें। लेकिन उसके लिए जो तैयारी है-दुश्चरित्रता, दुर्भाव, दुर्गुणका परित्याग-वह करनेके लिए राजी नहीं हैं। तो हजार-हजार मनुष्योंमें कोई ऐसा मनुष्य होता है जो अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए तत्पर होता है।

(ज्ञान-विज्ञानयोग-पृ. 42,43)

आगे बढ़कर पीछे हटना काम नहीं मरदानोंका

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।

उठना चाहिए! जागना चाहिए। समृद्धिदायी कामोंमें लग जाना चाहिए।

'यह काम अवश्य होगा।' ऐसा निश्चय करके कर्त्तव्य कर्ममें निरन्तर लग जाना चाहिए। घबराओ मत। कष्टकी ओर ध्यान मत दो। जो कष्टसे डरेगा, वह लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकेगा।

भले तुम अद्वैत ब्रह्मको नहीं जानते। भले तुम यह नहीं जानते कि 'आत्मा अकर्ता है और सारा कर्म प्रकृति कर रही है।' पर ऐसे ढंगसे कर्म करो कि मोह छूट जाय–एक विवेक बुद्धि धारण करो। इसलिए भगवान् कर्म करनेकी रीति बतलाते हैं :

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः।। गी. 3.30

अध्यात्म चित्तसे सब कर्मका मुझमें संन्यास करके आशाहीन, ममताहीन होकर बिना व्यथाके युद्ध करो।

अन्तर्यामी परमेश्वरका आश्रय लेकर जो बुद्धि होती है, उससे युक्त होना अध्यात्मचेता होना है।

सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पित कर दो।

यह ईश्वर बाहर तो बैठा नहीं है कि कर्म उठाकर उसको दे दिया जाय। इसको ऐसे समझें;

जैसे जलकी सब तरंगें समुद्रमें समर्पित हैं, जैसे सूर्यकी सब किरणें सूर्यमें समर्पित हैं, वैसे ही सब-का-सब कर्म ईश्वरमें समर्पित है। ईश्वरके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

एक सेवकको काम करते समय एक दिन कोई अच्छी बात सूझी। उसके अनुसार काम करके उसने स्वामीको बतलाया। स्वामी बोले–"वाह, यह तो तुमने बहुत अच्छा किया।" सेवक–"मैने क्या किया? यह तो आपके प्रतापसे हुआ।" अर्थात् अपना अभिमान मत करो।

निराशी अर्थात् आगेके लिए यह स्थिति मिलेगी, यह आशा मत करो। फलकी आशा भगवान् पर छोड़ दो, अपने ऊपर उसे मत लो।

निर्ममो भूत्वा अर्थात् वर्तमानमें किसीमें ममत्व करके रुको मत। आगे बढ़ते चलो।

युद्ध्यस्व अर्थात् परिस्थितियोंसे संघर्ष करते हुए कर्त्तव्यका पालन करो। आगे बढ़ो।

विगतज्वरः अर्थात् जो बीत जाय, छूट जाय, उसके लिए शोक मत करो, उसके लिए जलो मत। जहाँ कुश्ती द्वेष से नहीं, दर्शकोंकी प्रसन्नताके लिए हो रही है, वहाँ राग-द्वेषका क्या काम? जहाँ ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए काम किया जाता है, वहाँ ज्वर कैसा?

जब आशा और ममता छूट जायेगी, निराशी और निर्मम होकर काम करोगे तो 'विगतज्वर' हो जाओगे। तब जोर नहीं लगाना पड़ेगा। बिना तनावके काम होगा। तनाव तभी होता है, जब कर्तृत्व बड़ा बलवान होता है।

(कर्मयोग : पृ. 188-191, 198)

केवल सुन-सुनाकर मत मान लो!

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपोमानसमुच्यते।। भगवद्गीता 17.16

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तः-करणके भावोंकी भली-भाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।

भावसंशुद्धिः-भावसंशुद्धिका अर्थ हैं, जहाँ किसीके बारेमें अपने दिलमें बुरा भाव आवे तो उसका संशोधन कर लो, उसमें-से बुरा निकाल दो और भाव रहने दो। केवल सुन-सुनाकर मत मान लो।

देखो, अपने मनकी परीक्षा करके तुम देख लो। तुमने चोरी करते अपने जीवनमें कितने लोगोंको देखा है? लेकिन चोर बहुतोंको मानते हो। तुमने अनाचार-व्याभिचार करते कितने लोगोंको अपने जीवनमें देखा है? लेकिन बहुतोंको अनाचारी और व्याभिचारी मानते हो। यह कहाँसे मानते हो? या तो सुन-सुनाकर मानते हो या फिर अन्दाज लगाते हो।

अन्दाज कैसे लगाते हो?

वैसी परिस्थितिमें होनेपर तुम जैसा काम करते हो।

दूसरेके दोषकी चर्चा करना माने अपने दोषकी ख्याति करना।

वस्तुतः हमारा दिल शुद्ध रहना चाहिए। क्योंकि अपने शुद्ध हृदयमें परमात्माका निवास होता है। दूसरेकी चरित्रकी शुद्धिके तुम ठेकेदार नहीं हो।

एक महात्माका सत्सङ्ग हम लोग करते थे, तो जब कभी कोई दूसरेकी चर्चा करता तो वे कहते- 'क्योंजी, क्या उसने तुमको अपने चारित्र्यकी रक्षाका कोई ठेका दिया है? क्या उसने तुमको जज बनाया है? यदि नहीं, तो उसके बारेमें तुम जो चर्चा करते हो, वह कोई हक रखकर चर्चा करते हो कि बेहक चर्चा करते हो?'

भावकी शुद्धिका अर्थ है, सबके प्रति अपने मनमें पवित्र भावकी उपस्थिति।

अपना हृदय पवित्र है तो सारी दुनिया पवित्र है।

हमें सारी दुनियाको स्वच्छ बनाते हुए नहीं जाना है; हमें अपने हृदयको सुरक्षित रखकर जाना है।

तेरे भावे जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार।।

तुम अपने आँगनको साफ रखो। अपना-अपना आँगन सब साफ रखें, तो सारी दुनिया साफ रहे।

इसका अभिप्राय यह है कि असलमें जो दूसरेके दिलको गन्दा सोचते हैं, उनका दिल खुद ही गन्दगी सोचते-सोचते गन्दा हो जाता है। तो अपने दिलको साफ रखनेका उपाय यह है कि अपने भावको शुद्ध रखा जाय।

(विभूतियोग : पृ. 166-168)

गुरुकृपा

श्री बल्लभाचार्यजी महाराज एकबार व्रजकी यात्रा कर रहे थे। उन्हें एक कोई गड्ढा-सा दिखा। जाकर झट जल लिया, अपने सिरपर डाला और आचमन किया। उनके साथ जो कोई सेवक था, वह बोला-महाराज, यह कौन-सा तीर्थ है? पूरा जल भी नहीं, यह तो कीचड़ है। जो पानी है, सो भी गँदला-गँदला दीख रहा है। यह भी कोई तीर्थ है? तो कहते हैं कि आचार्य महाप्रभुने क्रोधकी लीलाकी और उसकी गर्दन पकड़कर गड्ढेमें डाल दिया। जब वह गड्ढेमें गिरा-तो देखता है कि निर्मल जलका सरोवर है, उसमें कमल खिले हुए हैं, हंस खेल रहे हैं, रत्नोंकी सीढ़ी बनी हुई है। वह तो युगल सरकारके विहारका स्थल है। बोले-देखो, यह है व्रज माने, बिना आचार्यकी कृपाके, बिना गुरुकी कृपाके अगर भगवत्प्राप्ति हो जाय, भगवान् स्वयं दर्शन भी दे दें, तो उसका भी मजा नहीं आता है। कोई दिखानेवाला चाहिए-कि देखो, यह रस है। यह मजा है!

प्रेमकी आधार शिला

जब ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि सामने वालेका हमसे बहुत प्रेम है, और उसके सामने हमारा प्रेम तो कुछ है ही नहीं-तब प्रेमकी नींव मजबूत होती है। तब यह होता है कि ये जो करते हैं, ठीक करते हैं, प्रेमसे करते हैं। उन्होंने गाली दी तो प्रेमसे दी होगी। उन्होंने तुम्हारी निन्दा की तो प्रेमसे की होगी। और यह ख्याल हो जाय कि प्रेम टूट गया है उनका, तो किसीने कहा वह तुम्हारी तारीफ कर रहे थे-तो बात बनावटी मालूम पड़ेगी। सामने वालेके प्रेममें जो विश्वास है, वही प्रेमकी नींव है, प्रेमकी आधार शिला है।

दिलकी प्रीति भगवान्से जोड़कर रखो

संसारमें किसीसे भी प्रेम करो, तो कभी मर जाये, बिछुड़ जाये, कभी बेवफा हो जाये, कभी मिले, कभी न मिले, दुःख दिये बिना नहीं रह सकता।

व्यवहार संसारका सब करो-पुत्रसे पुत्रकी तरह, पतिसे पतिकी तरह, पितासे पिताकी तरह, लेकिन अपने दिलकी जो प्रीति है, वह भगवान्से जोड़कर रखो-फिर कभी दुःख नहीं होगा।

(उद्धव व्रजगमन)

'बोध वाक्य'

यह क्यों बोलते हो कि तुम यह काम नहीं कर सकते?
अभ्यास करो-आदत डालो, तुम क्या नहीं कर सकते!

दुःख सहनेकी तरकीब

अपना दुःख कह-कहके दूसरेके दिलको भी दुःखी करते फिरना यह कोई अच्छी बात नहीं है। स्वयं तो दुःखी हैं-ही-हैं। दूसरेके दिमागमें क्यों भरते हैं? ये दुःखके प्रचारक लोग हैं। अरे, उसको पचा लो, उसको पी जाओ, उसको सह लो। दूसरोंका दिमाग क्यों बिगाड़ना?

सत्पुरुष पर कोई दुःख आता है, तो वह तुरन्त भगवान्में-जैसे घरकी किवाड़ी बन्द करके भीतर बैठ गये। आँधी आयी और बह गयी। वैसे भगवान्को याद करके अपनी हृदयगुहामें बैठ गये।

एकबार हम लोग कहीं यात्रा कर रहे थे। आँधी आ गयी, बालू उड़ने लगा। सो श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने कहा-'सब लोग बैठ जाओ। सब लोग अपने सिरको कपड़ेसे ढँक लो।' आँधी आयी, धूल उड़ी और आध घंटेमें, पौन घंटेमें आँधी चली गयी। बोले-'अब आगे चलो।' बस, यही है। आँधी-तूफान कोई आजाय, तो अपने हृदयकी गुहामें जाकर, बाहरकी किवाड़ी बन्द करके बैठ जाना चाहिए। यह सत्पुरुषका काम है।

(दशम स्कन्ध-पृ. 67,69)

'मन'-खतरेकी चीज

लोग कहते हैं, हम परमात्मामें मन एकाग्र करेंगे।

अरे बाबा! यह मन एकाग्र करनेका नहीं है। यह मन तो जैसा है वैसा भगवान्में डाल देनेका है। अपने पास रखनेका इतनी खतरेकी चीज? अपने पास रखनेकी नहीं है। साँप तो मदारीके पास रहे। यह साँप जो है मन-कालीयमर्दन भगवान् श्रीकृष्णके पास इस मनको डाल दो। वे उसको खिलावेंगे। वह अपने पास रखने लायक नहीं है।

इस मनको पकड़नेमें बहुत लोगोंकी मिट्टी खराब हो गयी। यह पकड़में तो आवे ही नहीं। इसको अपने पास रखते काहेको हो? 'मन सच्चा है' ऐसा काहेको मानते हो? अरे, फेंक दो न! जो कुछ है सो है। इसको फेंक दो भगवान्के चरणोंमें।

भक्तिका सिद्धान्त बड़ा विलक्षण है। यह मनको न समाधिकी गुहामें डालनेका है, न मनको ब्रह्ममें लीन करनेका है। यह मन तो जो है-'जिस सिरका है यह बाल, उसी सिरमें जोड़ दे।'

(दशम स्कन्ध-पृ. 103)

शरीरका स्वास्थ्य ठीक रखें

शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहने पर बुद्धि भी ठीक रहेगी और तभी ईश्वरके बारेमें चिन्तन हो सकेगा! यदि शरीर बिगाड़ दोगे, तो बुद्धि भी बिगड़ जायेगी और तुम्हारे भीतर दीनता-हीनता आ जायेगी!

(उद्धव व्रजगमन-पृ. 202)

सद्गुरुकी आवश्यकता

वृन्दावनमें, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको एक विद्वान्ने पूछा–महाराज! यह गुरु बनानेकी क्या आवश्यकता है?

महाराजजीने उनसे उल्टा प्रश्न किया–'तुम मुझसे क्यों पूछ रहे हो?' उन्होंने कहा–जानकारी प्राप्त करनेके लिए। महाराजजी–'अबतक जो जानकारी तुम्हें प्राप्त है, उसमें कुछ संशय होगा तभी तो हमसे अपनी जानकारीकी पुष्टि करवाना चाहते हो!' विद्वान्–'महाराज! आप कह देंगे तो निर्णय हो जाएगा।' महाराजजी बोले–'तो यही तो गुरुकी आवश्यकता है।'

असलमें, जीवनमें मनुष्य अपने आप कुछ इधरकी, कुछ उधरकी छिटपुट हजारों बातें सुनता रहता है। हजारों अधिकारीके लिए हजारों शास्त्र-वचन हैं और साधनाके एक-एक मार्गको दिखानेवाले हजारों ऋषि हैं। उनमें हमारे लिए कौन-सा ठीक है, यह हम अपनी बुद्धिसे निर्णय करना चाहें तो कुछ-न-कुछ दुविधा बनी रहेगी। इसलिए इसमें सद्गुरुकी आवश्यकता है कि वो हमारी बुद्धिकी दुविधा मिटाकर हमको एक साधन-भजनकी पद्धतिमें निष्ठावान् बना दें।

बरदाश्त करना ही सिद्धि

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजकी सिद्धियोंके बारेमें तो बहुत ही प्रसिद्धि थी। हम लोगोंने अपने जीवनमें अनेक बार उनकी सिद्धियोंका अनुभव किया था। एक बार किसीने उनसे पूछा कि महाराज यह सिद्धि क्या है आप बता दीजिये। देखो भाई, बात तो ऐसी है कि यदि आप उसको सुन लें और मान लें और कर लें तो आप भी सिद्ध हो जावेंगे। पर भरी सभामें बतावें की न बतावें? अच्छा भाई, सबकी राय है कि हम बता दें। पर बतानेके बाद आप यह मत कहना कि यह बहुत हल्की-फुल्की बात है।

महाराजजीने उत्तर दिया–'बरदाश्त करना'-सहन करना ही सिद्धि है। वे एक श्लोक बोलते थे–

वाचो वेगं मनसः क्रोध वेगं, हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् सहते यस्तु विद्वान् निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्।।

मनमें किसीको भला-बुरा कहनेकी आवे, रोक लो; मनमें किसीकी बुराईका चिन्तन आवे रोक लो। मनमें क्रोध, हिंसाका वेग आवे, सहन कर लो; भूख प्यास आवे, कामका वेग आवे, रोक लो। जो विद्वान् इन वेगोंको सहन कर लेता है तथा जिस पर निन्दाका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह दैवी सम्पत्तिवान् है।

इन वेगोंको भीतर ही पचा लो। ये पहले तो जहर होकर आते हैं, बड़े कड़वे बनकर आते हैं, परन्तु जब ये पचा लिये जाते हैं तो इनका रसायन बनता है शरीरमें और वह अमृत हो जाता है।

एक बात इसमें मुख्य यह है–उनका कहना था कि दुनियामें चाहे कोई कितनी भी निन्दा करे उस निन्दाकी चोट अपने दिल पर नहीं लगनी चाहिए। यदि ऐसा है तो समझ लो कि आप महात्मापनके बहुत निकट पहुँच गये हो।

(ब्रह्ममूर्ति उड़ियाबाबाजी)

नारायणसे प्रेम करें

संसारके भोग चाहे जितने भी हों, उनसे कोई तृप्त नहीं हो सकता। अन्ततोगत्वा उससे बैचेनी जरूर होगी। आप इस बातको जरा सीधे-सीधे समझें। यह तो साफ है कि हमारा मन हमारे शरीरके भीतर रहता है। सब लोग इस बातको समझते हैं। यदि आप शरीरसे बाहर किसी भी वस्तुसे प्रेम करेंगे तो अपने मनको जोर-जबरदस्तीसे लगाना पड़ेगा। जब नींद लेनी होगी तो वह उसको छोड़कर फिर अपने भीतर लौट आयेगा। चाहे कोई कितना भी प्यारा हो, वह सुषुप्तिके समय छूट ही जायेगा। उसको छोड़े बिना विश्राम मिलनेवाला नहीं है। आपको निश्चित रूपसे यह समझ लेना चाहिए कि यदि आप ऐसी किसी चीजसे प्रेम करेंगे, जो आपके हृदयमें नहीं है, हृदयसे बाहर है-तो वह छोड़नी पड़ेगी और फिर छोड़नेमें बैचेनी होगी। बिना उसको छोड़े आप शान्तिसे, सुखसे शयन नहीं कर सकते। किन्तु यदि आप अपने हृदयमें रहनेवाले अन्तरात्मा नारायणसे प्रेम करेंगे-अपने आपमें बैठेंगे, तो शान्तिसे रहेंगे। यदि आप अपने आपको और हृदयमें रहनेवाले अन्तर्यामी नारायणको छोड़कर बाहर कहीं प्रेम करने जायेंगे तो वहाँसे पीट-पीटकर भगाये जायेंगे। भले ही बाहर वाली वस्तुका नाम कुछ भी हो।

संसारमें सोने, चाँदी, मकान, स्त्री, पुत्र, मित्र आदिसे जितना भी प्रेम है, वह तो उसी तरह है, जिस तरह हम प्याऊ या क्लबमें किसीके साथ दोस्ती करके घण्टे-आध घण्टे बातचीत कर लेते हैं और फिर उसको छोड़कर हमें चल देना पड़ता है। बाहरी वस्तुके प्रति जो भी प्रीति है, उसे छोड़ना ही पड़ता है। (भागवत दर्शन-2, पृ. 9,44)

भगवान्के चरणारविन्द

देखिये, मैं आपको केवल स्मरण दिलाता हूँ, शिक्षण नहीं देता-'स्मारये न तु शिक्षये।' आप यह ध्यान रखें कि हम लोगोंको संसारमें जो हजार-हजार सुख-दुःख होते रहते हैं, वे सब मनकी कल्पनासे ही होते हैं। इनको दूर करनेके लिए किसी सच्ची दवाकी जरूरत नहीं है। आप झूठ-मूठ ही कल्पना कर लें कि आपके हृदयमें भगवान्के चरणारविन्द हैं और उनकी अंगुलियोंकी नखद्युतिसे आपका हृदयान्धकार दूर हो रहा है। बस, वे कल्पित चरणारविन्द ही आपके दुःखको दूर करनेमें समर्थ हैं। फिर आपके हृदयमें यदि भगवान्के सच्चे चरणारविन्द स्थापित हो जायें तो कहना ही क्या है? वे तो सारे पाप-तापको ही मिटा देते हैं।

भगवान्के चरणारविन्द जिसके हृदयमें आजाते हैं, उसको छोड़ते नहीं। क्योंकि भक्त उनको प्रेमकी रस्सीसे बाँधकर रख छोड़ता है। वास्तवमें ऐसा पुरुष ही भक्तोंमें प्रधान होता है।

(भागवत दर्शन-2-पृ. 11,9,10)

पूज्य महाराजश्रीके 'गर्भ-स्तुति' प्रवचनमें बिखरे मोती

सम्पूर्ण दुःखोंकी दवा : भगवान्के चरण-कमलका आश्रय लो। अपने मनको दुनियासे उठा लो। ले चलो भगवान्के चरणोंमें। अब ऐसी आदत डालो कि जैसे गर्मी पड़े अथवा बरसात हो तो अपने मकानमें चले आते हैं, इसी प्रकार जब संसारमें कहीं दुःख मालूम पड़े, चिन्ता मालूम पड़े, शोक मालूम पड़े, भय मालूम पड़े तो झट अपने घरमें घुस गये अर्थात् भगवान्के चरण कमलकी जो शीतल छाया है उसमें जाकर चिपक गये-देखो, तब मजा आवेगा। तुम्हारे सब दुःखोंकी यह दवा है। शरीरमें रोग हो तो वैद्यकी दवा करना। लेकिन तुम्हारे मनमें कोई दुःख हो, तो भाई मेरे, भगवान्के चरणकमलका चिन्तन करना-उसी समय तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायेगा। भगवान्के चरणारविन्दको कभी भुलाओ मत। यही सम्पूर्ण दुःखोंकी दवा है।

हाथ खींचो : हमको बचपनमें एक महात्माने एक मन्त्र बताया था। वह तुम्हारे समझनेके लिए बताता हूँ। मन्त्र है, 'हाथ खींचो।' जहाँ फँसनेका डर लगे वहाँसे अपना हाथ खींच लो। चार आदमी बात कर रहे हों और ऐसा मालूम पड़े कि अब आगे लड़ाईका मौका आरहा है, तो चुप हो जाओ। बात काट दो। जब लोग संसारके राग-द्वेषकी बात करने लगें तो झट बातका रुख भगवान्की ओर मोड़ दो। प्रसंगको काटना सीखो। अगर मन कहीं बाहर जा रहा हो तो झट बोलो-जीवन सर्वस्व, प्राणबल्लभ हृदयेश्वर, गोपीरमण, राधारमण, श्रीकृष्ण, श्यामसुन्दर, पीताम्बरधारी और उस प्रसंगको मनमें-से निकाल दो। यह निकालनेकी युक्ति है। एकको भरोगे तो दूसरा अपने आप ही निकल जायेगा।

सत्पुरुषका स्वभाव : पुराणमें एक साधुका वर्णन आता है, वह काशीमें दशाश्वमेधघाट पर स्नान कर रहा था। सावनका महीना। गंगाजी बढ़ी हुई थी। एक काला-काला बड़ा-सा बिच्छू पानीमें बहा जा रहा था। तो साधुने सोचा कि यह तो मर जायेगा। दोनों हाथसे उठा लिया। और, बिच्छूने क्या किया? टपसे डंक मार दिया। हाथ काँपा और बिच्छू गिर गया। फिर उठाया, फिर उसने डंक मारा और पानीमें गिरा। इस प्रकार नौ बार बिच्छूने डंक मारा और नौ बार उसने पानीमें-से बिच्छूको उठाया। और नवीं बार किनारे पर रख दिया। एक आदमी देख रहा था। उसने कहा कि बड़े बेवकूफ हो जी! यह डंक मारता है और तुम उसको बचानेकी कोशिश करते हो। उसने कहा कि अरे! यह तो हमारा गुरु है। यह जब अपने स्वभावमें इतना दृढ़ है कि अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है, बार-बार डंक मारता है-बुराईके स्वभावमें इसकी इतनी जिद्द है; तो बचानेका स्वभाव इतना अच्छा है, उसके लिए हमको कितनी जिद्द होनी चाहिए!! नौ दफे नहीं, नौ लाख दफे यह डंक मारे, लेकिन यदि हमको होश रहेगा तो हम बचानेकी भावना नहीं छोड़ेंगे। यह है सत्पुरुषका स्वभाव। तकलीफ सहकर भी अपनी अच्छाई पर अडिग रहना।

(गर्भ-स्तुति-पृ. 89,92,88)

पूज्य महाराजश्रीके 'गर्भ-स्तुति' प्रवचनमें बिखरे मोती!

प्रेम भगवान्से, व्यवहार दुनियासे : अपने हृदयको अमृतसे भर दो। दुनियामें दोस्ती बहुत की और दुःख उठाया और दुनियामें दुश्मनी बहुत की और अपने दिलको जलाया। अपने दिलमें कड़वाहट भर ली, रोया-गाया, उदास हुए। दुनियामें कोई किसीका वफादार है? नहीं-नहीं, ये सब भ्रम हैं। अगर तुम्हें अपने दिलको सुखी रखना हो तो प्रेम करो भगवान्से, जो अपने हृदयमें हैं। अपने दिलदारसे प्रेम करो, दिलवरसे प्रेम करो।

दुनियामें किसीसे प्रेम नहीं करें क्या, भाई? छोड़ दें?

नहीं, दुनियासे व्यवहार करो। दुनियाके प्रति शिष्टाचारका पालन करो-हँसो, खाओ, खेलो, मिलो-जुलो, मर्यादा रखो, कायदा रखो, भलमनसाहतका व्यवहार करो। लेकिन दुनियामें अगर फँसोगे भाई तो रोना पड़ेगा। दुनिया प्रेम करनेके लिए नहीं है, व्यवहार करनेके लिए है और प्रेम करनेके लिए भगवान् हैं जो अपने दिलमें रहता है।

जीवनको सुधारनेका रास्ता-भक्ति : जो लोग कहते हैं-अरे, यह साकार तो झूठा है! यह भक्ति तो मनका ख्याल है; वे इस बातको समझें कि अभी दिलकी सफाई तो हुई नहीं और 'ख्याल-ख्याल' करके जो एक अच्छा साधन था, उसको भी छोड़ दिया।

क्योंजी, ब्रह्माकारवृत्ति सच्ची है कि झूठी? महावाक्य सच्चा है कि झूठा? वेद सच्चा है कि झूठा? बिलकुल समान सत्ताक हैं। जिस सत्तामें भक्ति है उसी सत्तामें वेद हैं, उसी सत्तामें ब्रह्माकारवृत्ति है, उसी सत्तामें महावाक्य है। एक ही सत्ता है। अब उसमें-से एकको कहेंगे सच्चा, एकको कहेंगे झूठा! अरे भाई, एक संसारका मोह मिटाकर वैराग्य देनेवाली है-परमानन्दमयी भगवान्की भक्ति। एक चित्तका विक्षेप मिटाकर समाधि देनेवाला योग है। कोई वासना मिटानेवाला है, कोई विक्षेप मिटानेवाला है, कोई अज्ञान मिटानेवाला है। हैं तो सब-के-सब उपाय, साधन! क्यों भक्तिका तिरस्कार करते हो?

इसलिए, जीवनको सुधारनेका रास्ता है भगवान्की भक्ति। जोड़ो सम्बन्ध भगवान्से और बोलो भइया राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, शिव-शिव! अपने जीवनमें भगवान्की भक्ति ले आओ, इसीमें भला है।

सद्गति : जो ईश्वरका भजन नहीं करेगा, वह संसारका भजन जरूर करेगा। देख लेना, जो ईश्वरका चिन्तन नहीं करेगा, वह सेठका चिन्तन करेगा। जो ईश्वरसे प्रेम नहीं करेगा, वह पैसेसे प्रेम करेगा। बिना प्रेम किये कोई रह नहीं सकता। ईश्वरका भजन किये बिना, क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी-किसीकी सद्गति नहीं है।

(गर्भ-स्तुति-पृ. 93,97,102)

बाबा! आप मुझे भगवान्‌की शरणमें कर दीजिये।

जब मैं सोलह-सत्रह वर्षका था, तब एक महात्माके पास जाता था। वे उच्चकोटिके सन्त थे और लोगोंका उनपर बहुत विश्वास था। उनकी उम्र नब्बेवर्षकी थी। जब दौड़ते थे तो हमलोग उनको छू नहीं सकते थे। हम लोग बालू लेकर रगड़ते थे उनके शरीरपर और शीशेकी तरह उनका शरीर चमाचम चमकता रहता था। हम तो उनको एक चमत्कारकी तरह ही देखते थे। एक दिन मैंने कहा कि बाबा, मुझको भगवान्‌की शरणमें कर दो।

देखो, जैसे पिता अपनी कन्याको कन्यादानके द्वारा वरको सुपुर्द करता है, वैसे ही ईश्वरके प्रति समर्पण होता है। गुरु, पिताकी जगह है; परमात्मा है, वरकी जगह, और स्वयं जो शिष्य है, वह है कन्याकी जगह।

तो, जब मैंने महात्माजीसे कहा कि आप मुझे भगवान्‌की शरणमें कर दीजिये, तब वे बोले कि तुम कल आना और यह निश्चय करके आना कि ऐसी कौन-सी चीज है दुनियामें, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है? क्या पानी भगवान्‌की शरणमें नहीं है? क्या तेज भगवान्‌की शरणमें नहीं है? क्या वायु भगवान्‌की शरणमें नहीं है? जो तुम्हारी दृष्टिमें भगवान्‌की शरणमें नहीं होगा, उसे मैं भगवान्‌की शरणमें कर दूँगा।

अब जब मैं घर आकर सोचने लगा तब ध्यानमें आया कि भगवान्‌की शरणमें तो मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान, प्रकृति, प्राकृत गुण ये सब-के-सब हैं। फिर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब सब भगवान्‌की शरणमें है तब क्या यह साढ़े तीन हाथका शरीर भगवान्‌की शरणमें नहीं है? हमारा यह मन भगवान्‌की शरणमें नहीं है? क्या यह नन्हा-मुन्ना जीव जो भगवान्‌का ही अंश है, भगवान्‌की शरणमें नहीं है? इसके बाद मैं दूसरे दिन उनके पास गया और बोला कि महाराज, हमको तो कोई ऐसी चीज नहीं मिली, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं हो। तब उन्होंने बताया कि देखो, 'मैं भगवान्‌की शरणमें नहीं हूँ'-यह एक भ्रम है। यह जीवका अज्ञान है जो वह समझता है कि मैं भगवान्‌की शरणमें नहीं हूँ, उनसे अलग हूँ। जरा देखो तो उसकी ओर, तुम्हारा रग-रग, तुम्हारा कण-कण, तन-मन-ये सब-के-सब भगवान्‌की शरणमें हैं। उनकी शरणसे बाहर कुछ भी नहीं है।

(व्यवहारशुद्धि : पृ. 179-180)

यह संसारका भरोसा झूठा है।

दो चीजें हैं। एक हम खेलते हैं और एक तुष्ट होते हैं। खेलें किससे? कि अपने आपसे, ईश्वरसे खेलें। उससे हाथापाई करनेमें कोई हर्ज नहीं। उससे दो-दो बात कर लो। लड़ लो, रूठ लो, मना लो; लेकिन दूसरेके साथ नहीं, ईश्वरके साथ ही क्रीड़ा करो।

दूसरा है 'तोष'। देखो, तोष कैसे आता है? चलो भाई हमारे पास इतना धन है, जिन्दगी तो कट ही जायेगी अथवा हमारे इतने मकान हैं, इतना किराया आता है। फिक्र करनेकी क्या जरूरत है? तो यह किससे सन्तोष आया? कि पैसेसे।

बोले हमारे इतने बेटे हैं। कोई-न-कोई तो ऐसा निकलेगा, जो जिन्दगी भर निभा देगा, फिक्र करनेकी कोई जरूरत नहीं है। यह देखो, यह बेटेका सन्तोष है।

नारायण! ये सारी चीजें झूठी हैं और टिकाऊ नहीं है। हमने तीस वर्षके भीतर करोड़पतिको भीख माँगते देखा है और भिखारीको करोड़पति होते देखा है। और, जिनके घरमें दस जन थे, उनके घरमें कोई पानी-देवा नहीं है। ऐसा भी देखा है। यह संसारका भरोसा झूठा है।

तुम किसका भरोसा रखते हो? किसके बलपर तुम्हारे मनमें सन्तोष है? अच्छा रातको सोते हो, तो क्या यह सोच सकते हो कि हम बन्द मकानमें सो रहे हैं, तो कोई बाहरका नहीं आवेगा और बहुत स्वच्छ मकान है तो इसमें साँप-बिच्छूका कोई काम नहीं है? नौकर-चाकर पहरा देनेवाले हैं, बड़े आनन्दसे निश्चिन्त होकर सोये, किसके भरोसे पर सोये? कि नौकर-चाकरके भरोसे पर।

लेकिन; आप एक बातपर ध्यान दो कि एक बार जब सुषुप्तिमें मन डूब जाता है, लय हो जाता है, हम बेहोश हो जाते हैं, उसके बाद हमारा मन जगे कि न जगे! तब क्या नौकर जगावेंगे? ये परिवारवाले जगायेंगे? किसपर भरोसा करके तुम सोते हो?

किसपर तुम्हे भरोसा है कि हम कल सोकर उठ गये थे, वैसे आज सोवेंगे तो उठ जायेंगे?

जो दिलमें बैठा है वही ईश्वर यदि सिर कुरेदकर जगाये तो जगावे और न जगावे तो न जगावे! है कुछ भरोसा?

तो ईश्वरके बारेमें सोचकर तुमको सन्तोष है, तब तो ठीक।

आत्मतुष्टि जो अपने मनमें होवे इस तरहसे होवे कि ईश्वर मेरा है, मैं ईश्वरका हूँ।

(विभूतियोग : पृ. 262,263)

ईश्वर अपने सेवकको श्रेष्ठ पदपर पहुँचाता है!

सचमें बोलनेवालेका बल होता है और वैसी चीज है, तो उस चीजका भी बल होता है। जबकि झूठ जो होता है उसमें केवल बोलनेवालेका बल होता है। झूठमें वस्तुका बल नहीं है, सिर्फ बोलनेवालेकी अपनी हिम्मत है। वह जितनी हिम्मत करे और जितनी तेजी उसमें लावे–उससे लोगोंको बरगलानेकी कोशिश करें; उसके अन्दर जितनी बुद्धि होगी, जितनी शक्ति होगी, जितनी वाणी होगी, उसके द्वारा वह झूठको सच सिद्ध करनेकी कोशिश करेगा।

सत्य वह होता है, ज्ञान वह होता है जिसमें ज्ञाताका अपना बल भी होता है और ज्ञेय वस्तु अर्थात् जो चीज जानी जाती है उसका भी बल होता है और अज्ञान जो होता है उसमें केवल अपना ही बल होता है, वस्तुका बल नहीं होता है, दिखा कुछ नहीं सकते। बिलकुल ठनठपाल!

तो, झूठमें वस्तुका बल नहीं होता और सचमें वस्तुका बल होता है। इसलिए आप देखो कि यह जो परमात्माका ज्ञान है, आत्माका ज्ञान है, इसमें वस्तुका बल है–इसका साक्षात् अपरोक्ष होता है।

वह मालिक, मालिक क्या कि जिसका सेवक हमेशा सेवक ही रहे। आखिर वह सेवा करने आया तो इसलिए कि हम भी कभी मालिक बनें। इसीलिए तो वह आया है। तो बड़े आदमीकी शोभा इसमें होती है कि वह अपने सेवकको श्रेष्ठ पदपर पहुँचावे।

अब देखो! ईश्वरकी कोई सेवा करे और ईश्वर उसको श्रेष्ठ पदपर न पहुँचावें, तो इसमें फिर ईश्वरकी सेवा कौन करेगा? तो ईश्वर कहता है–भाई, सेवकने हमारी सेवा की; भक्तने हमारी भक्ति की, और मैं ज्ञानका भासमान दीपक-प्रकाशवान दीप जला करके उसके अज्ञान-जनित तमका, माने जितने ये झूठ ख्याल हैं, मिथ्या प्रत्यय हैं, मिटा देता हूँ।

ऐसे देखो!

यह संसारमें जितना मोह है, जितनी ममता है, जितना मेरा-तेरा है; जितना अपना-पराया है, इसका मूल कारण क्या है? अज्ञान।

इस नासमझीका मूल कारण अज्ञान है।

अपने स्वरूपको न जानना अर्थात् अपने आपको ब्रह्म न जानना रूप 'अज्ञान' ही इन तरह-तरहके झूठे ख्यालोंका मूल कारण है-इसीको भगवान् दूर कर देते हैं।

(विभूतियोग : पृ. 302, 303)

ये सब मनके जाल हैं!

एक हमारे मित्र भजन कर रहे थे। उनको ऐसा लगा कि उनके सामने एक बिलकुल उज्ज्वल वर्णका देवता प्रकट हुआ, न दाढ़ी, न मूँछ, बाल बड़े सुन्दर और शरीर बिलकुल सोनेका, चमचम-चमचम आकर प्रकट हो गया। बोला कि मैं भगवान् हूँ। इन्होंने ऐसा रूप कभी देखा नहीं था अतएव उसको दण्डवत् किया।

एक बात यह भी आपको बतावें कि स्वप्नमें जितने सत्य स्वप्नके पदार्थ मालूम पड़ते हैं; जाग्रत्में उतने ही सत्य जाग्रतके पदार्थ मालूम पड़ते हैं और जब ध्यान लग जाता है तो ध्यानके पदार्थ भी उतने ही सत्य मालूम पड़ते हैं।

हाँ तो जब वह बोला कि मैं भगवान् हूँ, तो बोले–अच्छा भगवान् हो! आपकी बड़ी कृपा! तब देवता बोला–चलो, हम तुमको एक खजाना बताते हैं। अमुक पेड़के नीचे, इतनी दूरीपर इस दिशामें, इतना गड्ढा खोदने पर एक खजाना मिलेगा। अब महाराज, वह ध्यान तो हो गया, वह मूर्ति चली गयी।

अब वे सज्जन अपने गुरुजीके पास खुश होकर आये कि आज हमको भगवान्का दर्शन हुआ और खजाना देनेको बताया; खजाना अमुक जगह पर है। गुरुजी तो हँसने लगे कि वे भगवान् नहीं थे। वह तो कोई यक्ष था, कुबेरका कोई सेवक था। वह तो तुम्हारे भजनमें विघ्न आया था। यदि तुम वह धन स्वीकार कर लोगे और उसी सुनहले रूपको भगवान्का रूप स्वीकार कर लोगे, तो तुम भगवत्तत्त्व-ज्ञानसे वंचित हो जाओगे।

तो बात यह है कि वृत्तियोंमें बड़ी शक्ति होती है।

ये सब क्या हैं कि जब वृत्तियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं, तो वृत्तियाँ ही आन्तर विषयोंका रूप बनाती हैं। जब सत्यके साक्षात्कारमें सच्ची रुचि हो, सच्ची जिज्ञासा हो; हमको रूप नहीं चाहिए, हमको सत्य चाहिए; हमको मनकी बनावट नहीं चाहिए, जो असली भगवान् हैं, वे चाहिए!

यदि भगवान्के चरणोंमें सच्ची भक्ति हो, तब ये सब जो मनके जाल हैं, ये मिट जाते हैं।

ये सब मनके जाल है, भला!

(विभूतियोग : पृ. 388-389)

श्रद्धामें बड़ी भारी शक्ति होती है!

एक गुरु थे। उनके सामने एक पीतलका लोटा आया। गुरुजीने उठाकर देखा, बेचारे भोले-भाले थे। लोटा चमक रहा था इसलिए गुरुजीके मुँहसे निकल गया—यह सोनेका है क्या?

एक शिष्यने कहा—नहीं महाराज, यह सोना नहीं है, पीतल है।

दूसरे शिष्यने कहा—आपकी नजरसे यह सोनेका दिखता है तो सोनेका होगा। लेकिन हमारी दुनियाबी नजरसे यह पीतलका दिखता है।

तीसरा शिष्य बोला—महाराज, यह बिलकुल सोनेका है। आपके मुँहसे यह निकल गया कि लोटा सोनेका है तो आपके मुँहसे निकली हुई बात झूठी कैसे होगी? उसने लोटा उठाया और ले गया बाजारमें। और बाजारमें सर्राफके सामने उस लोटेको रखा। वह लोटा सोनेका हो गया!

देखो, गुरुजीने संकल्प नहीं किया कि 'यह सोना हो जाय'। वह जो श्रद्धालु शिष्यकी दृष्टि थी, श्रद्धालुकी जो श्रद्धासे सिक्त दृष्टि थी, उस दृष्टिने पीतलको सोना बना दिया।

श्रद्धामें बड़ी भारी शक्ति होती है। या तो सिद्धके संकल्पमें शक्ति होती है या तो साधककी श्रद्धामें शक्ति होती है। इन दोनोंसे ही वस्तुके स्वरूपमें परिवर्तन होता है।

यह बात हमको एक बहुत बड़े तार्किक महात्माने सच्ची घटनाके रूपमें नहीं, किन्तु श्रद्धाके तारतम्यको समझानेके लिए बतायी थी। उन्होंने बताया था कि शिष्यकी श्रद्धा कैसी होनी चाहिए, और श्रद्धाका स्वरूप क्या है? 'श्रत्'को धारण करना, वेदान्तके वचनको, गुरुके वचनको, सत्यके रूपमें धारण करना कि यही बिलकुल सत् है। उसमें यदि मनमें दुविधा आवे तो उसे अन्तःकरणकी अशुद्धि समझना चाहिए। इसलिए उपनिषद्में आता है—**श्रद्धत्स्व सौम्य श्रद्धत्स्व**। श्रद्धा करो बेटा, श्रद्धा करो!

परमार्थके मार्गमें चलना हो, तो श्रद्धाकी पूँजी लेकर चलना। जैसे किसीको यहाँसे विदेश यात्रा करना हो, तो पहलेसे ही व्यवस्था कर लेता है, हमको डालर मिल जाये, पौण्ड (विदेशी मुद्रा) मिल जाय तब विदेश जाता है। ऐसे ही अनजाने और अनदेखे साजनसे मिलनेके लिए जब चलना होता है, तो श्रद्धाकी बहुत बड़ी पूँजी लेकर चलना पड़ता है। इसमें पग-पग पर संशय आता है, अविश्वास आता है, विघ्न आता है। यदि श्रद्धाकी पूँजी न हो, तो इन विघ्नोंका सामना नहीं किया जा सकता।

(विभूतियोग : पृ. 351,352,353)

जन्म-मरण वास्तविक नहीं है

आप जानते होंगे कि हमारे शास्त्रोंमें जन्म-मरणको सच्चा नहीं माना जाता। जो लोग जन्म-मरणको सत्य मानते हैं, उनके लिए मृत्यु एक बहुत बड़ी भयानक घटना होती है। परन्तु हमारे यहाँ न मिट्टी मरती है, न पानी मरता है, न तेजस तत्त्व मरता है, न वायु तत्त्व मरता है और न आकाश तत्त्व मरता है। इनमें जो शक्लें होती हैं, वे अवश्य मिट जाती हैं। इसी तरह जीव तत्त्व भी नहीं मरता। फिर आत्म-तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्वकी मृत्युका तो प्रश्न ही कहाँ है?

जन्म-मरण वास्तविक नहीं हैं और इसीलिए हमारे वीर पुरुष जन्म-मरणसे नहीं डरते। डरते वे लोग हैं जो यह मानते हैं कि आगे जन्म होगा ही नहीं। वही लोग कहते हैं कि हाय-हाय फिर हमको यह मनुष्य-शरीर नहीं मिलेगा। इसी तरह जो पूर्वजन्म नहीं मानते, वे लोग मृत्युसे डरते हैं। किन्तु हमारे डरनेका कोई कारण नहीं है। तत्त्व तो लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे भी अजर-अमर होते हैं। फिर आत्माके अजर-अमर होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं है।

'मृत्यु', भावना बदलनेका ही एक नाम है। एक स्थान पर यह कथा आती है कि जब ब्रह्माजीके मनमें भावना आयी तब शरीर बन गया। उससे उनको सन्तोष नहीं हुआ तो दूसरी भावनाके अनुसार दूसरा शरीर बन गया। फिर तीसरी भावना उन्होंने ग्रहण की तो तीसरा शरीर बन गया। इस तरह ब्रह्माजी नयी-नयी भावनाएँ करते गये और उनके अनुसार नये-नये शरीर बनते गये। इसीलिए कहा गया कि यह सारी-की-सारी सृष्टि भावनामयी है।

यह बात विद्वानोंके ध्यानमें आने लायक है कि हम देहसे देहान्तरकी प्राप्तिको जन्म नहीं मानते, भावसे भावान्तरकी प्राप्तिको ही जन्म मानते हैं। जब देहमें 'मैं' हो गया तब उसका जन्म हो गया और उस 'मैं'-को देहमें ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं रही तो मरण हो गया।

कुछ धर्म देश-प्रधान होते हैं, कुछ धर्म काल-प्रधान होते हैं, और कुछ धर्म भौतिकता-प्रधान होते हैं; किन्तु हमारा धर्म शुद्ध ब्रह्म चैतन्य-प्रधान है। उसमें जन्म-मृत्युका कोई स्थान ही नहीं है।

इसीमें परम कल्याण है!

यह श्रवण जो है, वेदान्तका बड़ा विलक्षण है! योगाभ्यासमें अभ्यास साधन है। उपासनामें तदाकारवृत्ति साधन है। धर्ममें धर्मानुष्ठान-कर्मानुष्ठान साधन है और वेदान्तमें श्रवण-मात्र ही साधन है।

बोले-'एक बार सुननेसे तो कुछ नहीं हुआ! सुनते-सुनते पन्द्रह वर्ष हो गये हमको।'

पन्द्रह वर्ष हो गये तो क्या हर्ज है? और सुनो, थोड़ा और सुनो।

एक बार एक महात्माके साथ चार-पाँच आदमी जा रहे थे। यात्रा करते-करते एक जंगलमें पहुँचे। घोर जंगल था। अब रातको महात्माजी वहीं ठहर गये, तो उन लोगोंको भी रहना पड़ा।

अब रातमें सत्सङ्ग होने लगा। फिर ध्यान होने लगा। तीन पहर रात बीत गयी। चौथे पहरकी दो घड़ी बीत गयी। अब वे संसारी लोग जो साथमें थे, वे कहें कि-'महाराज! आजकी रात तो प्रलयकालकी रात हो गयी।' वे दुःखी होवें। यद्यपि सिर्फ दो घड़ी रात बाकी रह गयी तथापि वे घबड़ावें मरनेको, कि-'बिलकुल अब यह रात नहीं बीतेगी। हम लोग तो महाराज, आपके साथ आकर इस जंगलमें मर गये।'

महात्माजी समझावें कि-'बहुत बीत गयी। अब थोड़ी-सी बाकी है।'

आपने पन्द्रह वर्ष वेदान्त सुन लिया। थोड़े दिन और बाकी हैं सुननेके भला! वैसे वेदान्तमें थोड़े दिन भी सुननेकी जरूरत नहीं है। आपने बिना सोचे, बिना बिचारे, बिना अनुभवके ही अपनेको, पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, नारकी-स्वर्गी एवं परिच्छिन्न मान रखा है! बिना अनुभवके!!

कहाँ है आपका वह दुःखीपना-सुखीपना? जो थोड़े दिन पहले था।

सुखीपना गया, दुःखीपना गया। पापीपना गया, पुण्यात्मापना गया। कौन-सी चीज आपकी जिन्दगीमें टिकी हुई है? लेकिन आप बिना किसी प्रमाणके एक भावको पकड़कर बैठ जाते हैं! बिना युक्तिके, बिना अनुभवके! बल्कि अपने अनुभवके विपरीत आपने अपनेको जीवके रूपमें मान रखा है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।। (बृहदा. 4.4.23)

'यह ब्रह्मवेत्ताकी नित्य महिमा है, जो शुभ कर्मसे न तो बढ़ती है और न अशुभ कर्मसे घटती है।'-यह तत्त्वज्ञानकी महिमा है, यह ब्रह्मज्ञानकी महिमा है। एक ही बार सुननेकी जरूरत है। रात बीत चुकी है, दो घड़ी बाकी है। अब घबड़ानेकी जरूरत नहीं है। और सुनो, थोड़ा और सुनो। देखो, इसीमें, इसीमें परम कल्याण है! परम कल्याण है!!

(बृहदारण्यकोपनिषद् : पृ. 382-384)

मानवताके लिए एक बड़ी भारी घातक प्रवृत्ति!

आज दुनियामें एक हवा बह गयी है। लोगोंने कर्मको अत्यधिक कीमती समझ लिया है। वह है कीमती, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। हम तो यहाँ तक कहनेको तैयार हैं कि 'कर्मैव ईश्वरः'-कर्म ही ईश्वर है।

कौन-सा कर्म ईश्वर है? पानी पीटना ईश्वर है? न-न, जो लोकहितकर, लोकोपयोगी श्रम है, धर्म है, उसकी प्रतिष्ठा करो, पूजा करो-यह अभिप्राय है। परन्तु महाराज, श्रम(कर्म)के साथ, धर्मके साथ, उसका एक पहलू और भी होता है। श्रमके साथ-साथ शान्ति भी होती है। प्रत्येक पदार्थके दो पहलू होते हैं।

भाई, एकके समाधि होती है, ध्यान होता है, उपासना-भजन होता है इसकी भी एक कीमत होती है। इसकी भी एक प्रतिष्ठा होती है। कर्मकी इतनी प्रतिष्ठा तो नहीं होनी चाहिए कि जिस वस्तुकी प्राप्तिके लिए कर्म है, जिस ध्यान, समाधि; जिस ईश्वर, जिस आत्माके साक्षात्कारके लिए कर्म है, वह धर्म ही छूट जाय; वह समाधि ही छूट जाय, वह ध्यान ही छूट जाय! इतनी तो कर्मकी प्रतिष्ठा नहीं होनी चाहिए भाई! माने भजन न छूटे, योग न छूटे, उपासना न छूटे, भाई! हाँ, जो लोग उसके अधिकारी नहीं हैं, जो उसको नहीं कर सकते हैं या जो हर समय नहीं कर सकते हैं उनके जीवनके उस हिस्सेमें श्रम भी होना चाहिए!

तो महापुरुषका केवल यही अर्थ नहीं है कि जो चर्खा काते, उसीका नाम महात्मा। जो झाड़ू लगावे, उसीका नाम महात्मा! ध्यान लगानेवाले भी महात्मा होते हैं। समाधि लगानेवाले, वेदान्त-विचार करनेवाले भी महात्मा होते हैं। यह जो महात्मापनेकी आज कसौटी बदलती जा रही है, जो बदलनेका रुख है, जो नयी हवा आती है वह कहती है कि क्या एकान्तमें बैठ हो! अब माला फेरनेका युग गया! छोड़ो भजन! अब आओ-आओ, हमारे कन्धे-से-कन्धा मिलाओ और उतर पड़ो कर्म-क्षेत्रमें! यह जो प्रवृत्ति है, यह हमारे देशके लिए, विश्वके लिए, मानवताके लिए बड़ी भारी एक घातक प्रवृत्ति लोगोंके चित्तमें, लोगोंके जीवनमें आ रही है।

भइया, यदि तुमको साधुओंसे कोई लाभ उठाना हो तो उनसे जाकर कहो, हाथ जोड़ो कि महाराज, आप लोग जो ध्यान करते हैं, इससे विश्वका बड़ा भारी कल्याण है। आप जो समाधि लगाते हैं, वेदान्त-विचार करते हैं, भगवान्का भजन करते हैं, एकान्तमें रहते हैं, वह तो विश्वके लिए एक खजाना है। क्योंकि संसार तो भोगकी चक्कीमें पिस रहा है, कर्मकी आगमें जल रहा है, संग्रहके रोगसे पीड़ित है। इसमें ऐसे महात्माओंकी जरूरत है जो त्यागी हों, एकान्तवासी हों, ध्यान-परायण हों; जो भोग-निवृत्त हों कि उनको देखकर, उनके शरीरकी हवासे, लोग यह तो समझें कि बिना भोगके भी हम सुखी रह सकते हैं। सुखी होनेके लिए अन्तर्मुखताकी आवश्यकता है। इसलिए राष्ट्रको, विश्वको, मानवताको ऐसे ध्यान-परायण, निवृत्ति-परायण, समाधि-परायण, भगवद्-भजन परायण महात्माओंकी आवश्यकता हमेशा रहती है और रहेगी!

(माण्डूक्यकारिका प्रवचन (आगम) : पृ. 558, 559)

हनुमानजी प्रज्ञा और प्राण दोनोंमें पूर्ण हैं

प्रसंग आता है कि देवताओंकी मैनाक पर न रुकनेके कारण हनुमानजीके शारीरिक बलका तो ज्ञान हो गया। परन्तु केवल शारीरिक बलसे ही काम नहीं चलता, सफलताके लिए बुद्धिका, प्रज्ञाका बल भी चाहिए।

हनुमानजीकी मति अविश्रान्त और अनिरुद्ध है कि नहीं यह देखनेके लिए देवताओंने उनके पास सुरसाको भेज दिया। असलमें जहाँ धृति, मति, दृष्टि और उत्साह ये चारों पदार्थ होते हैं, वहाँ मनुष्यको अपने काममें सफलता अवश्य मिलती है।

तो, देवताओंकी भेजी हुई सुरसा हनुमानजीके सामने आकर खड़ी हो गयी और बोली कि तुम मेरे मुँहके भीतर चले आओ, मैं तुम्हें खाऊँगी।

देखो सुरसाका अर्थ होता है मजा लेनेवाली! बलका अवरोध तो बल करता है, लेकिन मतिका अवरोध मति नहीं करती-कामना अथवा लालसा करती है। हमको यह चाहिए, यह चाहिए, मर्यादासे मिले तो चाहिए, अमर्यादासे मिले तो चाहिए-इसका नाम कामना या लालसा है। यह कामना बुद्धिको, मतिको भ्रष्ट कर देती है और इसमें मनुष्यको इतना रस आता है, मजा आता है कि वह सुरसाका रूप धारण कर लेता है।

लेकिन हनुमानजीको कोई कामना नहीं थी, इसलिए उन्होंने सुरसासे कहा कि तुम अपना मुँह फैलाओ। अन्तमें उन्होंने बुद्धिसे काम लिया और जब सुरसाने अपने मुँहका विस्तार बहुत अधिक कर दिया तब हनुमानजी लघुरूप धारण करके उसके मुँहमें प्रवेश कर बाहर निकल आये।

इस प्रसंगमें यह तात्पर्य निकलता है कि कामनासे कामनाको नहीं दबाया जा सकता। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है, उसके बाल पक जाते हैं, दाँत टूट जाते हैं और इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, लेकिन उसकी तृष्णा ज्यों-की-त्यों रहती है। मनुष्य यदि चाहे कि वह अपनी कामना पूरी करनेके बाद कोई काम करेगा तो उसकी कामना कभी पूरी नहीं होगी और न वह अपना काम कर पायेगा। महाभारत, भागवत और विष्णुपुराणमें एक बात समान रूपसे आती है कि यदि मनुष्यको संसारकी सारी सम्पत्ति मिल जाय तब भी उसकी तृष्णा शान्त होनेवाली नहीं है। लेकिन वह अपनेको यदि अणु अथवा छोटा बना ले तो उसकी कामना भी सिकुड़कर छोटी हो जाती है और यही हनुमानजीने किया।

अब देवता लोग मान गये कि हनुमान्जीमें जितना अधिक बल है, उतनी ही प्रज्ञा भी है। प्रज्ञा और प्राण दोनोंमें वे पूर्ण हैं। इनके द्वारा श्रीरामचन्द्रका कार्य अवश्य सम्पन्न होगा।

(श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत : पृ. 210-212)

आनन्द रस-रत्नाकर

परमपूज्य स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती जन्मशताब्दी महोत्सव
स्मारिका विशेषांक

''........ईश्वरकी असीम एवं अहैतुकी कृपासे महापुरुषोंका सङ्ग एवं सान्निध्य प्राप्तकर यदि सत्सङ्गी भी राग-द्वेष करे तो समझना कि सत्सङ्गमें आकर उसने महात्माके संगका दुरुपयोग किया। अपने पत्नी, भाई, भतीजा वहाँ भी पहुँच गये? यह अपना पक्ष, यह पराया पक्ष वहाँ भी पहुँच गया? तुम अपने दिलको बनानेके लिए निकले थे कि दिलको बिगाड़नेके लिए निकले थे? क्यों गुरुके पास गये थे? क्यों जप किया था? क्यों साधन-स्वाध्याय किया था? ध्यान रखो, जिससे राग-द्वेष मिटे वही सच्चा दर्शन होता है।''

(अप्रैल 21 : आनन्द रस-रत्नाकर पृ.सं. 112)

सदाचार, भक्ति एवं ज्ञानपरक विविध प्रसंगोंका **आनन्द**दायक एवं **रस**से सराबोर यह **रत्नाकर** ग्रन्थ, पूज्य महाराजश्रीजीका एक अत्यन्त प्रभावशाली, प्रेरणादायी एवं कृपाप्रसादपूर्ण ''दैनिक-सत्सङ्ग'' है! इसके अनुशीलनसे व्यक्तिके इसी जीवनमें सर्वविध उत्कर्ष एवं परमकल्याणकी सहज सिद्धि सम्भव है। यह आपका सच्चा हितैषी और जीवनसंगी है, अतएव कृपया प्रतिदिनका पृष्ठ पढ़कर ही अपने दिनका शुभारम्भ करें।

विनम्र-निवेदन

(प्रथम संस्करण)

कथायां पीयूषं प्रवचनकलायां च पटुता
सुलेखे लालित्यं लसति किल यस्य क्षितितले।
स्मरामि प्रातस्तं भवजलधिभीतैकशरणं
अखण्डानन्दं श्रीगुरुवरमहं ब्रह्म परमम्।।

(रचयिता - श्री ओंकारदत्त शास्त्री)

जिनकी कथाकी अमृतमाधुरी, प्रवचनकलाकी निपुणता एवं गम्भीर लेखोंका लालित्य सम्पूर्ण विश्वमें प्रसिद्ध है; और जो भवसागरसे भयभीत प्राणियोंके लिये एकमात्र आश्रय हैं, उन परमब्रह्मस्वरूप अनन्तश्री गुरुवर अखण्डानन्दजीका मैं प्रातःस्मरण करता हूँ।

अबसे करीब छः वर्ष पूर्व, अपने नित्यके स्वाध्यायमें पूज्य महाराजश्रीके एक लेख 'साधनकी अनिवार्यता'ने मेरा ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट किया। 'भक्ति सर्वस्व'के उस लेखकी महत्त्वपूर्ण बातोंको मैंने अपने चिन्तन-मनन हेतु अलगसे एक पृष्ठ पर लिख लिया था।

तत्पश्चात् उपरोक्त प्रणालीसे पूज्य महाराजश्रीके विभिन्न ग्रन्थोंके आधार पर, एक पृष्ठकी चिन्तन-मननकी सामग्रीका संकलन, प्रति सप्ताह नियमितरूपसे, मैं अपने लिए करने लगा।

कालान्तरमें, श्रीसुरेन्द्र भाई शाह (बड़ौदा)के अनुरोध पर वहाँके 'साप्ताहिक सत्सङ्ग'में पठन हेतु संकलित किए हुए लेखकी प्रतिलिपि प्रेषित की जाने लगी। तदुपरान्त श्रीसोमदत्त द्विवेदीने, पूज्य महाराजश्री द्वारा संस्थापित एवं पोषित 'आनन्द बोध' मासिक पत्रिकामें, 'गहरे पानी पैठ' शीर्षकके अन्तर्गत उन संकलित लेखोंको क्रमशः देना प्रारम्भ कर दिया।

इसी बीच अपने दक्षिण प्रवासमें मुझे 'श्रीब्रह्मचैतन्य महाराज गोंदवलेकर प्रवचन' ग्रन्थके अवलोकनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। वर्षके 366 दिनोंके लिए-प्रतिदिन एक पृष्ठका प्रवचन इसमें सन्निहित है। परिणामस्वरूप मेरे हृदयमें यह भाव स्फुरित होने लगा कि पूज्य महाराजश्रीकी- 'जन्मशताब्दी स्मृति' अंकके रूपमें, 'संकलित लेखों'का उनका ही 'सत्सङ्ग-प्रसाद', दैनिक पाठ हेतु अध्यात्म समाजको उपलब्ध कराया जा सकता है।

कालान्तरमें, एक बार गोपालगढ़में परमपूज्य महाराजश्रीके परम कृपापात्र शिष्य दम्पत्ति, दिल्ली निवासी, श्रीसीतारामजी जीवराजका एवं सौ० सावित्री माताजीसे मिलना हुआ। उनके साथ हुई

(नोट-ग्रन्थ-संयोजन सम्बन्धी विशेष बातोंके लिए 'कृपया ध्यान दें' अवश्य देखें।)

चर्चाके अन्तर्गत मेरे उक्त मनोभावको उन्होंने सराहा एवं शीघ्र ही मुझे उनका संदेश प्राप्त हुआ- 'स्वामीजी ग्रन्थ तैयार करें; पूज्य महाराजश्रीकी कृपासे प्रकाशन हम करवायेंगे।' तबतक मेरे संग्रहमें तीन सौ से कुछ अधिक लेख थे। अतएव मैं शेष पृष्ठोंके संकलन-सम्पादनके सेवाकार्यमें जी-जानसे जुट गया। इसी बीच पेन-ड्राईवके सहयोगसे लेखोंकी एक फाईल श्रीलक्ष्मीनिवास झुनझुनवालाजीके अवलोकनार्थ ही प्रेषित कर दी गयी। पूज्य महाराजश्रीकी कृपासे निर्धारित समयमें संकलनका कार्य पूर्ण हुआ।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि 'दैनिक-सत्सङ्ग'का पूज्य महाराजश्रीका यह शुभाशीर्वाद 'आनन्द रस रत्नाकर' आपके कर कमलोंमें है। इसके नियमित पठन एवं चिन्तनसे हम, श्रीसद्‌गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर नित्य-निरन्तर आगे बढ़ते हुए परमानन्द एवं परमशान्तिको निश्चितरूपसे प्राप्त कर सकेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

पूज्य बाबाजी, श्रीसोमदत्त एवं श्रीशिवदत्त द्विवेदी - इन तीनोंके प्रेम एवं सेवासे मैं सदैवसे अभिभूत रहा हूँ, हूँ और रहूँगा। प्रिय सोम एवं शिवके अथक परिश्रमके फलस्वरूप यह 'आनन्द रस रत्नाकर', पूज्य महाराजश्रीका अनुपम उपहार लेकर इस रूपमें प्रस्तुत हुआ है। इनको श्रीसद्‌गुरुदेवके भूरि-भूरि आशीर्वाद!

मेरे आग्रह पूर्वक अनुरोध पर हमारे परम स्नेही मित्र आचार्य श्रीरामरंगजीने प्रस्तुत ग्रन्थके लिए प्राक्कथन लिखना स्वीकार किया एतदर्थ मैं उनका हृदयसे आभारी हूँ।

स्वामीश्री अखण्डानन्द जन्मशताब्दी समारोह समितिके अध्यक्ष : श्रीस्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती, मन्त्री : श्रीसीताराम जीवराजका; संयोजक : श्रीस्वामी महेशानन्द सरस्वती एवं सभी माननीय सदस्योंके प्रति श्रीसद्‌गुरुदेवके अमोघ आशीर्वादका आह्वान करते हुए अपने निवेदनको विराम देता हूँ।

विनयावनत!
श्रीगुरुचरणकमलाश्रित
गोविन्दानन्द सरस्वती

वृन्दावन
आनन्द जयन्ती 2010

प्राक्कथन

मोदन्ते पितरो, नृत्यन्ति देवताः, सनाथा चेयं भूर्भवति।।

श्रीनारद भक्ति सूत्र

कैसी अनिर्वचनीय आनंद की स्थिति, लोक में ही लोकातीत दृश्य का अवतरण, संसार में ही सांसारिकता के आकर्षण को भी आकर्षित कर स्वयं के प्रति समर्पित होने के लिए बाध्य कर देने वाली ऐसी सहजता जो पितरों (पूर्वजों) को मुदित कर दे, प्रहर्षित कर दे, आश्वस्त कर दे कि "आपके द्वारा संस्थापित सात्त्विक संस्कृति की परम्परा आपकी संतति द्वारा पूर्णतः संरक्षित है, सुरक्षित है। आपको गौरवान्वित सिद्धान्तों के प्रति संकल्पित चित्त, चैतन्य है। आपका प्रजापति पद अक्षुण्ण है।" पितरों की प्रमुदिता की सम्पुष्टि करती हुई धर्म ध्वजाओं की मुक्त उड़ान जैसी पावन यज्ञों की ऊर्ध्वमुखी सुरभित धूम्र-धाराएँ, दिशा-दिशा को जीवन्त-जागृति का संदेश देता मंत्रों का उद्घोष, त्रैलोक्य सौन्दर्य की सुषमा-स्वरूपा भगवद्-लीलाओं की कंकण-कंकणिका की काकली, मंजुल मंजीर मालिका की मधुरिमा-किस देवता के, किस लोक की वीथिका-वीथिका में सुरस सरित संचरित किए बिना रहेगी? ऐसी स्थिति में कौन देवता अंध-बधिर-पंगुल बनकर बैठा रह जाएगा? अरे, एक भी नहीं। अनेक उदाहरण हैं कि ऐसी स्थिति में अहं विसर्जित कर ऐसा नृत्य करते हैं कि अप्सराएँ पाषाण-प्रतिमाएँ बनकर देखती रह जाती हैं। गंधर्व-किन्नर-विद्याधर अवाक् हो जाते हैं।

पितरों और देवताओं की ऐसी परमाल्हादित अवस्था क्या भूमि भगवती वसुमती का मौन भंग कराए बिना रह जायगी? नहीं-नहीं कदापि नहीं, प्रातःस्मरणीया वह विष्णुपत्नी वनरानी के समान दहाड़ती हुई, अपनी ओर लालायित दृष्टि से ताँकने वाले कूकर-शूकर स्यार-बिड़ालों जैसे विदेशी-विधर्मी धर्मद्रोहियों को सावधान कर देती है कि, "यदि प्राण भार न बन गए हों तो अपने चित्त को चंचल मत होने देना। भगवान् यज्ञवराह की दंष्ट्रा-भुजाओं की आलिंगिता शेषशीशासना मुझ वसुन्धरा के सुभाल पर बिंदिया चक्रराज सुदर्शन द्वारा अंकित की गई है। कौमोदकी गदा मेरे चरणों में महावर लगाती है। नंदक खड्ग हाथों में मेंहदी रचाता है। नृसिंहदेव की नखमाला मेरे नख रँगती है। शार्ङ्ग धनुष की शिंजिनी शिविका से उतर-उतर कर प्रदीप्त शरावली मेरा उत्सादन करती है। महालक्ष्मी और मेरी सिंदूर-सम्पुटिका दो नहीं, एक ही है। 'महिषध्वज का आमंत्रण प्राप्त हुआ' इसकी स्वीकृति की अग्रिम सूचना संसार को विधिवत् देने के लिए कोई मेरा हरण तो कर सकता है किन्तु वरण तो कदापि नहीं। अनेकानेक ज्ञानी-ध्यानी संत-भक्त आवागमन-मुक्त करुणामयी आत्मा जिन श्रीहरि

की कलित कथाओं की जाड्यांधकार-ध्वंसिनी पावन ज्योति से जन-जन का जीवन-पथ प्रभासित करती हैं, उन्हीं भक्तवत्सल करुणा वरुणालय श्रीहरि की प्रेरणा से वे ही बार-बार मेरे आंगन को अपनी वाणी से मुखरित भी करती हैं। बंदिजनों के वेष में अद्वैत-द्वैत-द्वैताद्वैत– विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत-शब्दाद्वैत जैसे सिद्धांत विविध आसक्तिमयी भक्ति की अपरिमित राग-रागिनियों में जिनका प्रशस्ति गायन वेद-शास्त्र– उपनिषद्-काव्य-इतिहास आदि वाद्यों पर करते हैं, मैं उन अनंतकोटि ब्रह्माण्ड नायक की सौभाग्यवती परिणीता, अनाथ नहीं हूँ। यति-सती-दानी– शूरमा जिस सिंहासन के पाएँ हैं, जिसपर भक्ति का छत्र झूलता है, उसपर सुशोभित होने वाली संस्कृति मेरी आत्मा है।''

श्रीनारद भक्ति सूत्र का यह सूत्र जिन प्रतिभाओं के कृतित्व-व्यक्तित्व की संक्षिप्त किन्तु सम्पूर्ण व्याख्या करता है, जो इस कसौटी पर शुद्ध-विशुद्ध सिद्ध होती हैं, पूज्यपाद परम वंदनीय अभिनंदनीय अनंतश्री विभूषित परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी अखंडानंद जी सरस्वती इसी श्रेणी की एक श्लाघनीय विभूति हैं। प्रथम चरण में चारों चरणों के दृश्य प्रस्तुत करने वाले कलिकाल के वर्तमान कालखंड में तो यदि प्रमुख भी कहा जाए तो संभवतः अतिशयोक्ति नहीं होगी।

एक ओर महाराजश्री द्वारा प्रणीत मुंडक-मांडूक्य-ईशावास्य-केन-कठ-वृहदारण्यक-श्वेताश्वेतर-कैवल्य-छांदोग्य-ब्रह्मसूत्र आदि वेदांत परक उन ग्रंथों पर कारिका-व्याख्या- टीका-समीक्षात्मक बृहद् कृतियाँ हैं जिनपर अन्यों के अतिरिक्त शंकर-रामानुज-मध्व-वल्लभ-निंबार्क जैसे दिग्गज संप्रदायाचार्य अपने विचार विस्तृतरूपेण व्यक्त कर चुके हैं। दूसरी ओर श्रीमद्भागवत और उसमें भी गोपीगीत-प्रेमासक्ति परक रासपंचाध्यायी के अतिरिक्त मर्यादा प्रधान श्रीरामचरित मानस की विस्तृत टीका, इसपर क्या टीका की जाए? वस्तुतः विरोधी न होते हुए भी विरोधी से दिखने वाले भावों को अपनी भावभूमि के युगल ध्रुव बना लेना 'तन्मया' की प्रस्तुति ही कहा जाएगा। गंगा का पूजन गंगाजल से करना तो प्रत्येक के लिए सहज है किन्तु यह तो गंगा का पूजन आकाश-गंगा मंदाकिनी के जल से और भागीरथी का अर्चन पाताल-गंगा भोगावती के जल से करने जैसा क्या अपितु त्रिपथगा को पथ-पथ से लौटाकर अपने पथ पर प्रवाहित करने की कठिन कल्पना को मूर्त रूप देने जैसा ही है। किन्तु 'मैंने मिट्टी नहीं खाई' यह प्रमाणित करने के लिए, मुँह खोलकर मैया को ब्रह्मांड दर्शन कराने वाले गोविन्दप्रिय के लिए क्या कठिन, क्या असंभव?

समय-समय पर महाराजश्री का संपर्क जिन विशिष्ट महापुरुषों से हुआ उनकी एक बृहद् सूची है। उनमें से कुछ की प्रस्तुति का लोभ तो संवरण करना कठिन है। महाराजश्री ने एक कृतज्ञ सौम्य संत के रूप में कई देवपुरुषों को अपने आचार्य के रूप में मान्य किया है। उनमें सर्वप्रथम पूज्यपाद स्वामी श्री पूर्णानन्द जी महाराज उपाख्य उड़िया बाबा हैं। एक कृति में इनका सुस्तवन महाराजश्री

ने श्रद्धा सहित अपने आचार्य के रूप में किया है। बाइस श्लोकी यह लघु कृति दग्धाक्षर-गणदोषादि मुक्त, अलंकारालंकृत महाराजश्री को रससिद्ध कवि सिद्ध करने के लिए भी पर्याप्त है। निस्पृही विशुद्ध अपरिग्रही संन्यासी जैसे पं. शांतनुविहारी जी द्विवेदी ने इन्हीं की प्रेरणा से श्रीमज्ज्योतिष्पीठाधिपति जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानंद जी सरस्वती से विधिवत् संन्यास ग्रहण किया। दीक्षा देना जगद्गुरु जी ने कैसे स्वीकार किया और उनके द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का मन्तव्य कई प्रभावी विकल्प होते हुए भी कैसे सुस्थिर हुआ, यह असाधारण इतिहास की चर्चा इस समय विषयांतर मानकर आगे बढ़ते हैं। तो ब्रह्मविद् वरिष्ठ संत श्री मंगलनाथ जी महाराज से साक्षात्कार होता है। महाराजश्री इन्हें भी निजाचार्य का सम्मान देते हैं।

जिस बृहद् सूची की चर्चा अभी की है, उनमें कुछ नामों का महत्त्व तो ऐसा है कि जिसकी चर्चा किए बिना महाराजश्री के कृतित्व का आकलन करना उसी प्रकार सहज नहीं है, जैसे महर्षि वसिष्ठ-विश्वामित्र-भरद्वाज-अत्रि-अगस्त्य-बाल्मीकि आदि से लेकर निषाद-शबरी-गिद्ध- ऋक्ष-वानरों के नाम लिए बिना श्रीरामचरित का रसास्वादन किया ही नहीं जा सकता।

इनमें धर्मसम्राट पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज–झूँसी-प्रयाग के गोभक्त संत श्रीप्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी–माँ आनंदमयी–महामना पं. मदनमोहन जी मालवीय–सेठ जयदयाल जी गोयन्का–भाई श्रीहनुमान प्रसाद जी पोद्दार–स्वामी रामसुखदास जी महाराज–षड्दर्शनाचार्य श्री विश्वेश्वरानंद जी–स्वामी निर्मलचंद्र जी–ठा. सुदर्शन सिंह जी चक्र–श्री राधा बाबा–श्रीहरि बाबा बांध वाले–महामहोपाध्याय पं. गिरिधर जी शर्मा चतुर्वेदी–श्री रमण महर्षि–महर्षि अरविन्द–स्वामी प्रेमपुरी जी–ज्ञाननिष्ठ श्रीगणेशानन्द जी अवधूत–भिक्षु श्री शंकरानंद जी–समर्थस्वामी श्री योगानंद जी पुरी–बाबा मोकुलपुर–कविरत्न पं. अखिलानंद जी–दैवी संपद् मण्डल के स्वामी शुकदेवानंद जी–भजनानंद जी–स्वामी सनातन देव जी (मुनिलाल जी) राजा रामसिंह जी (सीतामऊ) श्री रामनारायण जी शास्त्री–गो. चिम्मनलाल जी–सेठ घनश्यामदास जी जालान–संत देवीगिरि जी–स्वामी आत्मानंद जी पुष्कर आदि के नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय मानकर दे रहे हैं किन्तु चित्त अपराध बोध से ग्रसित भी हो रहा है। क्योंकि अन्य अनेकों नाम ऐसे हैं जिनकी चर्चा करनी ही चाहिए थी किन्तु छूट रहे हैं। तदर्थ क्षमा याचना ही की जा सकती है।

अस्तु, संक्षेप में ये नाम उन विभूतियों के हैं जो–

'तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि'

अर्थात् वे जो तीर्थों को सुतीर्थ, कर्मों को सुकर्म और शास्त्रों को सत् शास्त्र कर देते हैं।

सृष्टि में गुण-कर्म-स्वभाव की दृष्टि से विभिन्न श्रेणियों की सृष्टियां बसती हैं। संन्यास के सन्दर्भ

में एक वे हैं जो पूर्णतः विरक्त भाव से भजन करते हैं। समाज से पूर्णतः उदासीन, केवल स्वयं की सद्गति प्राप्ति पर समग्र चिंतन केन्द्रित, मनन की परिधियों के वंदी। किसी से परिचय की आकांक्षा नहीं, सबसे अपरिचित, सब अपरिचित। अपना भोजन बनाना, आप की करना। किसी रसिक से पूछो तो, एक ही उत्तर 'जैसे कंता घर रहे, तैसे ही परदेश' न ऊधो से लेना, न माधो को देना। इन मात्र परलोक विचिंतक परमवंदनीयों के विषय में एक महात्मा का किसी समय का एक कथन स्मरण आ रहा है कि लोक कल्याण की भावना 'सर्वे भवंतु सुखिनः' से पूर्णतः शून्य ऐसे ही वे थे जिनकी अस्थियों को चबा-चबाकर निशाचरों ने दंडकारण्य में ढ़ेर लगा दिया।

दूसरी ओर वे संन्यासी विश्वामित्र जो अपनी तपस्या के बल पर विश्व को बाध्य कर देते हैं कि वह उन्हें ब्रह्मर्षि मान्य करे। साधना के बल पर वेदमाता गायत्री का दृष्टा-पद प्राप्त करते हैं। हुंकार मात्रा से विरोधी समूहों को स्तम्भित कर देते हैं। अपनी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ होते हुए भी विश्व रक्षा के निमित्त आश्रम से निकल पड़ते हैं। राजभवन की भित्तियों के व्यूहों से सुकुमारों को निकालकर प्रथम चरण में अपनी यज्ञशाला का द्वारपाल बनाते हैं। तुरंत ही दूसरे चरण में उन द्वारपाल को यजमान बनाकर एक युग-परिवर्तक यज्ञ का समारंभ कराते हैं। विश्व जानता है कि एक संन्यासी द्वारा प्रारम्भ किए हुए यज्ञ की सम्पूर्ति, दशानन कहलाने वाला आनन रहित होकर, सपिरवार धरती की धूलि में लोटकर कैसे करता है। दीक्षित यजमान का अवभृथ स्नान दैहिक-दैविक-भौतिक ताप विहीन रामराज्य की स्थापना से होता है।

हिन्दू पदपादशाही की स्थापना छत्रपति शिवाजी से कराने वाले समर्थ स्वामी रामदास महाराज, देश के दासता काल में सत्यसनातन धर्म की ध्वजा विश्व के कोने-कोने में फहराने वाले स्वामी विवेकानंद और भौतिकता के मद में उन्मत्त पाश्चात्य जगत के युवक समूहों के शिखा मुंडित मस्तकों पर गोखुरी शिखा सज्जित कराकर, गोपांगनाओं की भांति थिरकाने वाले हरे कृष्ण आंदोलन के जनक भक्ति वेदांत श्री प्रभुपाद स्वामी संन्यासी ही तो हैं। इसी कोटि में रहते हुए भी इनसे अनूठे अपने प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद अनंतश्री स्वामी अखंडानंद जी सरस्वती महाराज हैं। समय के प्रभाव से जो ग्रंथ मूक से प्रतीत होने जा रहे थे, उन्हें युग-वाणी देकर मुखरित कर दिया। मानो एक बार फिर एक ब्रह्मांशी ने अपने विक्रम को विस्मृत कर सामान्य वानरी जाये की मुद्रा में बैठे हुए हनुमान् को 'रामकाज लगि तव अवतारा' मंत्र के प्रताप से विक्रमाद्रि के स्वर्णिम सचल शिखर के सुवेष में धरती को अनिर्वचनीय श्रृंगार के रूप में प्रदान कर, उसकी उदासी को दासी बना डाला।

श्री लक्ष्मी नारायण मंदिर (बिरला मंदिर, नई दिल्ली) की गीतावाटिका के विशाल प्रांगण में नवरात्रों में महाराजश्री का प्रवचन सत्र कई बार चला। प्रवचन के पश्चात् कई सज्जन कई प्रकार के

प्रश्न किया करते थे और महाराजश्री उनके उत्तर यथायोग्य दिया करते थे। अपनी विनोदमयी शैली के लिए तो वे देशभर में प्रसिद्ध थे किन्तु जब एक व्यक्ति ने पूछा कि, "मंत्र महामणि विषयजाल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के।।" विषय में आपका क्या मत है? पूज्य महाराजश्री गंभीर होकर बोले, "यह विषय कक्षा का नहीं कक्ष का है।" भगवत् कृपा से जिस उत्तर साकेत महाकाव्य (राज्याभिषेक के उपरांत श्रीराम कथा पर आधृत महाकाव्य) की रचना प्रभु ने कराई, मैं भी उस समय उनके दोनों खंड भेंट करने के लिए खड़ा था। मेरी ओर देखकर बोले, "तुम भी आओ" बिरला धर्मशाला के कक्ष में उन सज्जन के साथ, कई अन्य लोगों के साथ मैं भी कक्ष में पहुँच गया। आसन ग्रहण करते ही मौन हो गए। नेत्र मूँद लिए। समस्त कक्ष में ऐसा मौन छा गया मानो वह जनशून्य हो। कुछ क्षण पश्चात् नेत्र खोलकर, छत की ओर एकटक निहारते हुए बोले, "हां, हां, हां, निश्चित् रूप से 'मेटत कठिन कुअंक भाल के', 'तुलसी रेखा कर्म की, मेटि सकहिं नहिं कोय' किन्तु 'मेटे तो अचरज नहीं' इस पर कौन क्या कहे? ग्रह नौ हैं। एक से एक शक्तिशाली है। मंगल-शनि-राहू तो बिचारे बदनाम हैं। गुरु-शुक्र-चंद्र भी बिगड़ जाएँ तो एड़ियां घिसा-घिसाकर मारें। किन्तु "मेटे तो अचरज नहीं" पर विश्वास रखो। ग्राह से गजराज की मुक्ति दिलाने वाले मौज में आ जाएँ तो समस्त ग्रह अपने ग्रह दिखाते रह जाएँ। लाल-लाल आँखें दिखाने वाले मारकेश के केश ऐसे मूँड दें कि मूँड थाम कर बैठ जाए। आँख से आँख मिलाने को तरस जाए। उसका प्रमाण और कहाँ से लाएँ?" कहकर पुनः मौन होकर आसन से उठ गए।

कक्ष से बाहर आकर कई सज्जन महाराजश्री के शब्दों के मर्म पर विचार करने लगे। कुछ समय पश्चात् विदित हुआ कि श्रीमहाराज की आयु ग्रहों के अनुसार उन्नीस वर्ष की थी किन्तु छिहत्तर वर्ष की अवस्था में उनका गोलोक गमन हुआ। एक प्रवचन में उन्हीं के श्रीमुख से सुनने के मिला कि "भगवतीय कार्य में लगे रहो, कालदेव की आँखें मोतियाबिंद ग्रसित होकर भाल की रेखाएँ पढ़ने में स्वयं असमर्थ हो जाएँगी। ऋषिवर मार्कण्डेय इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।" मार्कण्डेय तो उदाहरण हैं, किंतु क्या महाराजश्री नहीं रहे?

महाराजश्री अंतिम क्षण तक वैयिक्तिक साधना में, लेखनी धारण किए सतत लीन रहे किंतु लोक कल्याण-धर्मरक्षण-संस्कृति संवर्धक कार्यों में भी अग्रणी रहे।

भारत के तत्कालीन गृहमंत्री श्री गुलजारी लाल जी नंदा के सद्प्रयत्न से भारत साधु समाज की स्थापना हुई। अनेकानेक सम्प्रदायों से सम्बन्धित साधुओं के इस संगठन के उपाध्यक्ष-कार्यकारी अध्यक्ष और फिर अनेक वर्षों तक अध्यक्ष रहे। सार्वभौम साधुमंडल के अध्यक्ष और स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा निर्मित साधु संघ जिसके अध्यक्ष वेद भगवान्

मान्य किए गए, उसके भी उपाध्यक्ष रहे। श्री उड़ियाबाबा ट्रस्ट–ऋषिकेश, स्वर्गाश्रम ट्रस्ट–औरैंया, इटावा, श्री प्रेमानंद ट्रस्ट–जोधपुर, पटना सत्संग भवन ट्रस्टों के महाराजश्री आजीवन ट्रस्टी रहे। विधर्मियों द्वारा विध्वस्त श्रीकृष्ण जन्मभूमि उद्धार का कार्य महामना मालवीय जी द्वारा आरंभ किया गया। सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला–भाई श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार–श्री जयदयाल जी डालमिया आदि के साथ इस चुनौतीपूर्ण राष्ट्रीय कार्य में महाराजश्री समर्पित सहयोगी बने। आप ही के अध्यक्षीय काल में भव्य भागवत भवन का निर्माण हुआ। इन ट्रस्टों में और विशेषकर भारत साधु समाज एवं साधु संघ में कुछ गंभीर मतभेद और मनभेद जैसे प्रसंग भी कई कारणों से आए किन्तु महाराजश्री के प्रति दोनों संगठनों का विश्वास-सम्मान सदैव समान रहा। यह उनके चरित्र का अजातशत्रु पक्ष है।

प्रशासकीय दृष्टि से आनंद वृंदावन चैरिटेबल ट्रस्ट, जनताजनार्दन सेवा ट्रस्ट एवं सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट की महाराजश्री ने स्वयं स्थापना की। प्रकाशन ट्रस्ट के माध्यम से विपुल मात्रा में आध्यात्मिक साहित्य जनता जनार्दन को जिस प्रकार निरंतर प्राप्त हो रहा है, वह व्यवस्था तो अद्वितीय ही कही जा सकती है।

शताब्दी समारोह के सन्दर्भ में पिछले कुछ दिनों से महाराजश्री प्रणीत साहित्य एवं समय-समय पर उनसे सम्बन्धित रहे कई महानुभावों के संपर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण मंत्र की दीक्षा से श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के प्रशिष्य स्वामी योगानंद जी महाराज ने उस समय प्रदान की जब महाराजश्री से चौबीस लाख गायत्री का पुरश्चरण कराकर एक प्रकार से गुरु-दक्षिणा अग्रिम रूप में प्राप्त कर ली। कितने समय से कौड़ी-कौड़ी जोड़कर जिस निधि का संग्रह किया, उसे एक पल में देकर जिस वस्तु को प्राप्त किया, उसका मूल्य तो प्राप्तिकर्ता ही जानेगा। कान से सुनने वाले और सुनाने वालों की भीड़ उसका यथार्थ क्या जानेगी और कैसे जानेगी, कितना जानेगी, कौन जाने? 'माई रि मैंने गोविंद लेलिए मोल' सहज में कोई भक्तिमती विभूति ही कह सकती है।

कितना समय लगाकर, साधन विहीनता की दशा में कैसी-कैसी कठिन यात्राएँ करके, किन-किन दुर्लभ महापुरुषों से सत्संग किए। साधना के दर्शन किए। अनुभव प्राप्त किए। ग्रंथों को एकत्रित किया। उनपर प्राप्त विशाल सामग्री का अनुशीलन-मनन किया। अधिकारी विद्वानों से सम्पर्क किया। उसी के आधार पर एक दिन कह बैठे कि "शास्त्र ने मेरे सम्मुख अपने को निरावरण कर दिया है" शास्त्रों के अक्षर-अक्षर पंक्ति-पंक्ति से प्रकट तत्त्व को ऐसे लिपिबद्ध करके सुलभ करा दिया, मानो यशोदा माता ने तारों की छाया में शैया त्याग कर, गैया दुहकर, दूध जमाकर, बिलोकर अपने

कन्हैया के सम्मुख कटोरा भर माखन फिर रख दिया हो। 'प्रभुता पाइ काहिं मद नाहीं' सत्ता अहं से शून्य विद्वत्ता एक विशुद्ध संत के अतिरिक्त अन्य में नहीं हो सकती। महाराजश्री के चरित्र में इसके सहज दर्शन होते हैं।

आनंद रस रत्नाकर महाराजश्री के विभिन्न ग्रंथों से चयनित पृष्ठवार सामग्री का संवत्सरीय संकलन है। किस पृष्ठ की सामग्री का स्रोत कौन सा ग्रंथ है, यह प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है। कृति की प्रामाणिकता का साक्षी है। मूल कृति के पठन-पाठन का भी प्रेरक है। आर्ष ग्रंथों की वासंती वाटिका से चयनित प्रफुल्लित प्रसूनावली गुंफित भारतीय संस्कृति, भगवती की पदचुंबित ललन्तिका वनमाला जैसी इस कृति में अध्यात्म-जगत से लेकर भौतिक जगत के स्तर पर भक्ति-ज्ञान नीति-परक शब्दों पर जब दृष्टि जाती है तो अनायास अपरिमित रसमयी, विविध व्यंजन विभूषिता गिरिराज गोवर्धन के अन्नकूट महोत्सव की सज्जित बृहद् स्थालिका प्रतिवेषी यह संकलन प्रतीत होने लगता है। कहीं आत्मकथा, कहीं यात्रा प्रसंग और कहीं किसी चरित्र का शब्द चित्र–एक साथ साहित्य की विविध विधाओं के दर्शन इस संकलन में होते हैं। महाराजश्री के जीवन वृत्त पर जब दृष्टि जाती है तो आश्चर्य भी नहीं लगता। मात्र इकतीस वर्ष की अवस्था में सर्व सुलक्षणमयी पूर्ण यौवना परिणीता का प्रदीप्त सिंदूर, सर्वसाधन सम्पन्न सदन का ऐश्वर्य, यौवन की पौर में प्रवेश करती हुई सुस्मित संतति का वात्यल्य जिन्हें काषाय धारण करने से नहीं रोक पाया। उसे एक सिद्धार्थ का तथागत के रूप में पुनरावतरण, एक निमाई का चैतन्य के रूप में अभ्युदय का अगला संस्करण पं. शांतनुविहारी द्विवेदी का स्वामी अखंडानंद सरस्वती कह सकते हैं।

निरन्तर दस-बारह वर्ष अंग्रेजी राज्य से देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत अग्रणी नेताओं के कंधे से कंधा मिलाकर जूझना, सशस्त्र क्रांति-पथ के पथिकों के तलुवों को गुप्त रूप से, प्रकार-प्रकार से हथेलियों का आश्रय देना, गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले कल्याण के संपादक मंडल को वर्षों तक अवैतनिक सहयोग प्रदान करने के साथ-साथ श्रीमद्बाल्मीकि रामायण-श्रीमद्भागवत-महाभारत जैसे विशाल ग्रंथों का मात्र शब्दानुवाद नहीं, अनेक स्थानों पर मर्म के उद्घाटक कठिन प्रसंगों की प्रस्तुति चित्त को चमत्कृत किए बिना नहीं रहती। दूसरी ओर बालकों के चरित्र निर्माण-संस्कार सुदृढ़ीकरण हेतु पितामह भीष्म, सत्यवादी हरिश्चंद्र, नलदमयंती, भक्त ध्रुव और प्रह्लाद जैसी छोटी-छोटी कृतियों की रचना एक साथ एक ही समय में करना, इसे गणपति-वेदव्यास की आत्माओं के एक ही आकृति में दर्शन के अतिरिक्त अन्य क्या कहा जा सकता है? पूज्यपाद महाराजश्री के बहुआयामी कृतित्व-व्यक्तित्व के त्रिविक्रमाकार विराट स्वरूप की यह वामन-वेषी झांकी है।

आनंद रस रत्नाकर ईश्वरीय योजना का एक बृहद् प्रकल्प है। इसका प्रकाशन यद्यपि शताब्दी-पर्व पर हो रहा है किंतु इसका मूल्यांकन तो शताब्दियां उत्तरोत्तर करेंगी। यह मात्र कहने के लिए नहीं कहा जा रहा है, बल्कि इसका आकार-प्रकार स्वयं कहला रहा है। वर्ष भर के प्रत्येक माह की प्रत्येक तिथि का अरुणिम प्रभात जैसा एक-एक पृष्ट अनेकानेक श्रद्धालुओं की नित्य की जीवनचर्या का नियमित श्रीगणेश करेगा। आधुनिकता की चकाचौंध में भ्रमित हुए, तथाकथित प्रगतिशील वर्ग की दृष्टि में आमूलचूल परिवर्तन करेगा। भगवद्-भक्ति का बीजारोपण करेगा। यह निश्चित् है।

इस ग्रंथरत्न की सामग्री के संकलक-संपादक के रूप में पूज्यपाद स्वामी श्री गोविन्दानंद जी महाराज का चयन-मनोनयन स्वयं भगवान् गोविंद ने ही किया है। अनेक चरणों को स्वतः लाँघते हुए जिस प्रकार प्रकाशन कार्य सम्पन्न होने जा रहा है, उसे देखते हुए यही प्रतीत होता है। किसी विशेष योजना के बिना दक्षिण भारत का प्रवास, प्रवास के मध्य अनायास श्रीब्रह्मचैतन्य गोंदवलेकर महाराज के प्रवचन ग्रंथ का दृष्टि में आना, परिणामस्वरूप भावों का स्फुरण, महाराजश्री रचित साहित्य उपवन में प्रवेश की पुनः प्रेरणा, जीवनोपयोगी चित्ताकर्षक-अंश सुमनों का संचयन, उनका संग्रहित रूप में मेज पर स्थान ग्रहण, आयु के चतुर्थ चरण में प्रविष्ट मान देवी सावित्री जी जीवराजका की दृष्टि में उनका अकस्मात् आना, प्रकाशन की इच्छा उत्पन्न होना, पर्याप्त व्ययमयी इस इच्छा को उनके स्वामी श्रद्धेय श्री सीताराम जी जीवराजका का हार्दिक समर्थन और साथ ही शताब्दी समारोह का सुअवसर, प्रकाशन का सिद्ध मुहूर्त मानकर उसके मुद्रण कार्य युद्धस्तर पर समारंभ। योजना में पूज्य बाबा जी एवं श्री सोमदत्त-शिवदत्त द्विवेदी का मन-वचन-कर्म से संलग्न होना, इसे ईश्वरीय योजना नहीं तो अन्य कोई नाम विचार कर भी नहीं दिया जा सकता।

पूज्यपाद स्वामी श्री सच्चिदानंद जी सरस्वती की अध्यक्षता में आयोजित, पूज्यपाद स्वामी श्री महेशानंद जी सरस्वती द्वारा संयोजित एवं महामंत्री श्रीमंत सीताराम जी जीवराजका के अनुभव सिद्ध श्रद्धा समन्वित प्रबंध कौशल युत ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्री अखंडानन्द जी सरस्वती जी महाराज का शताब्दी समारोह, महाराजश्री के दिव्य साधना सिद्ध कर्तृत्व एवं व्यक्तित्व की गरिमानुसार एक आध्यात्मिक क्रांति का जनक सिद्ध होगा। भगवत कृपा से पूर्ण विश्वास है।

संतश्रीपदास्पद
आचार्य रामरंग

सम्पर्क सूत्र-
1167 कूचा पातीराम, दिल्ली-110006
011-23234384, 09312665855